विषयसूची ।

१ एक और अनेक	१	६ संग्रह करनेके लाभ	१३
२ आत्म निवेदन	२	७ अथर्ववेदका स्वाध्याय	२५-५६
३ साहित्यान्दोलन	४	सूक्त २ एक पूजनीय ईश्वर	२५
४ क्या योगी अकर्मण्य होता है	५	,, ३ आरोग्यसूक्त	४१
५ तप	१०	,, ४ जंगिडमणि धारण	४४

वर्ष ९
अंक १
क्रमांक९७

पौष
संवत् १९८४
जनवरी
सन १९२८

वैदिक धर्म।

वैदिक तत्त्वज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।
संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।
स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

एक और अनेक।

एक एवाऽग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं वि भात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ॥

ऋग्वेद. ८।५८।२

"एक ही अग्नि अनेक प्रकारसे प्रदीप्त होता है, एक ही सूर्य सब विश्वको (प्र भूतः) प्रभावित करता है। एक ही उषा इस सब संसार को (वि भाति) प्रकाशित करती है और (इदं एकं) यह एक ही ब्रह्म (सर्वं) सबमें (विबभूव) विशेष रीतिसे प्रकट हुआ है।"

इस एक के आधार से अनेक रहते हैं इस लिये उसी एक अद्वितीय सत्य वस्तु की उपासना करनी चाहिये।

आत्म निवेदन ।

नवम वर्ष !

आज इस अंकसे "वैदिक धर्म" मासिक का नवम वर्ष शुरु होता है। जिस परमात्माकी कृपासे गत आठ वर्षोंमें धर्म की सेवा हमसे हुई है, उस जगन्नियन्ता धर्म प्रवर्तक सच्चिदानन्द प्रभु का हम नतशः धन्यवाद गाते हैं और नम्रतासे प्रार्थना करते हैं कि वह इसी प्रकार धर्म की सेवा हमसे लेते रहें। धर्म ही सबका शासक है और धर्म की रक्षामेंही आत्मरक्षा होती है, इसलिये हमारी हार्दिक इच्छा यही है कि, प्रभुकी कृपासे हमारे अंदर धर्म भावना सदा स्थिर रहे और अवशिष्ट आयुष्यमें धर्म का कार्य ही हमसे अधिकाधिक होता रहे।

मासिक की अवस्था।

'वैदिकधर्म" मासिक प्रथम इससे आधे आकार वाले (क्रौन १६ पेजी) अठतालीस पृष्ठोंका था। उस समय दूसरे छापाखानेमें मुद्रित होता था, इस कारण व्यय बहुत अधिक होता था, इसलिये आकार बढाना असंभव था। अब जबसे अपना यंत्रालय हुआ है तबसे दुगणे आकारके (क्रौन ८ पेजी) अठतालीस पृष्ठ हम आज दे रहे हैं अर्थात् हम बराबर दुगणा लेख दे रहे हैं और मूल्य पहिले की अपेक्षा केवल आठ आने ही बढा है, अर्थात् जो पहिले ३॥) रु. था वह आज ४) रु. है। इसलिये इसमें पाठकोंका लाभ कितना है यह स्वयं स्पष्ट हो जाता है।

वैदिक धर्मका विशेपांक.

वैदिक धर्मका १०० वाँ क्रमांक सौ पृष्ठोंका विशेष अंक होगा। इसमें अथर्व वेद सुबोध भाष्यके पृष्ठ आधे होंगे और विविध सज्जनोंके वेद विषयक लेखोंके लिये आधे पृष्ठ होंगे। यह चित्रोंके साथ बडा चित्ताकर्षक अंक होगा। जो ग्राहक इस वर्षका चंदा भेजेंगे उनको यह अंक विना मूल्य मिलेगा अन्योंके लिये इसका मूल्य १) रु. होगा और डाक व्यय ।) होगा। पुराने और नये ग्राहक भी इस अंक को प्राप्त कर सकते हैं।

अथर्ववेद सुबोध भाष्य।

"वैदिकधर्म" मासिक का प्रारंभसे ही उद्देश्य था कि वेदका सुबोध भाष्य इसके द्वारा प्रकाशित हो। परंतु कई कारणोंसे इस समय तक वह उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सका। गत वर्ष से वेद भाष्य मुद्रण करनेका प्रारंभ हुआ है और इस समय प्रति- मास २४ अथवा ३२ पृष्ठ दिये जाते है। पाठक बार बार लिखते हैं कि यह अथर्व वेद भाष्य वैदिकधर्म में अधिक पृष्ठ संख्या देकर शीघ्र पूर्ण किया जाय। कईयोंने यहां तक लिखा है कि चाहे तो एक या दो रु० मूल्य बढाकर भी इसकी पृष्ठसंख्या अधिक मुद्रित की जाय। हम इन सब उत्साही पाठकों का हार्दिक धन्यवाद करते है।

इसमें कठिनता विचारपूर्वक लिखनेकी ही है। यह अथर्ववेद का भाष्य बहुत शीघ्रता से लिखा नहीं जा सकता। इसमें हमारी असमर्थता है, जितना तैयार हो जाता है उतना मुद्रित कर देते है, यदि परमात्माकी कृपासे अधिक लिखना संभव हुआ त अधिक मुद्रित किया जायगा। परंतु वैसा संभव कम प्रतीत होता है, क्यौंकि जितना प्रतिमास आवश्यक होता है उतना भी बडी कठिनतासे तैयार होता है।

ग्राहकसंख्या बढाइये।

थोडे ही दिन हुए हैं हमने वैदिकधर्म की पृष्ठ- संख्या बढाई है जिस कारण सवागुणा व्यय अधिक

हुआ है। यह व्यय भुगतानेके लिये यदि ग्राहक संख्या न बढी तो कार्य चलना कठिन है। पाठक इस आर्थिक कठिनतासे हमें बचानेके लिये ग्राहक संख्या बढाकर सहायता करें। अन्यथा सदा के लिये इतने पृष्ठ देना बडा कठिन है। आजकल हम कागज भी उत्तम वर्त रहे है। यदि पाठक इस बात का विचार करके ग्राहक बढानेद्वारा उचित सहायता करेंगे तो ही विना विघ्न यह धर्म कार्य चल सकता है।

गोमेध।

वैदिक यज्ञ संस्थाका तीसरा भाग " गोमेध " (पूर्वार्ध) छपकर तैयार हुआ है और जिन्होंने यज्ञ विषयक शास्त्रार्थ की सहायता हमारे पास भेजी थी उनके नाम पर भेजा गया था। कईयोंके पते बदलने के कारण पूर्व पतोंपर भेजे हुए पुस्तक मालक न मिलनेके कारण हमारे पास वापस आगये हैं, उनका नया पता न होनेके कारण उनको हम भेज नही सकते, यदि वे अपने नये पते से हमें सूचित करेंगे तो उनके नाम वह पुस्तक भेजी जायगी।

जिनके पाससे शास्त्रार्थ सहायता तीन रु. से कम आगयी थी, उनको केवल दोही भाग भेजे थे, तीसरा नहीं भेजा है क्यों कि उनका चंदा समाप्त हुआ है। जिन के पाससे तीन रु. अथवा तीनसे अधिक रु. आगये थे, उनके नाम यह तीसरा भाग भेजा है।

संभवतः यह ग्रंथमाला कमसे कम पांच भागोंमें पूर्ण होगी ऐसा पहिले अंदाजा किया गया था, परंतु गोमेध पूर्वार्ध लिखनेके बाद गोमेधके ही दो भाग होंगे ऐसा अनुमान हो रहा है। इसके पश्चात् अन्य यज्ञोंके विषयमें लेख तैयार होने है। इसलिये पांचसे अधिक भाग इस माला के अवश्य होंगे।

इस यज्ञ संस्था के लिये करीब चौदह सौ रु की सहायता आई थी, उनमें से ये तीन भाग सब मिलकर पांचसौसे अधिक पृष्ठोंके प्रकाशित किये गये हैं। आगे गोमेध उत्तरार्ध की तैयारी चल रही है, यह भाग भी पूर्वार्धसे किंचित बडा ही होगी।

इन तीनों भागों की मिलकर करीब सातसे पुस्तकें विना मूल्य हमारा डाकव्यय लगाकर भेजी गई है, इससे पाठक जान सकते है, कि यज्ञ की ज सहायता आगई थी उसका उपयोग किस रीतिस किया गया है। इस फण्डमें अब हमारे पास चतुर्थ भाग के लिये मुद्रणव्यय के लिये धन नहीं है। इस लिये यदि ग्राहक ये पूर्वमुद्रित पुस्तके खरीदेंगे त उस धनसे आगेके भाग मुद्रित किये जा सकते हैं। इस विषयमे हम धनकी सहायता नही चाहते हैं परंतु पुस्तक विक्रीमें सहायता चाहते हैं, अर्थात पाठक इनके प्रचारमें सहायता करें।

अथर्ववेद सुबोध भाष्य।

प्रथम काण्ड ग्राहकोंके पास रवाना हुआ है आगे द्वितीय काण्ड का मुद्रण शुरु है। द्वितीय काण्ड भी प्रथम कांडके इतनाही ग्रंथ होगा ऐसा हमारा ख्याल है। इस समयतक यह काण्ड लिख कर भी तैयार नहीं हुआ है, इसलिये इस समय ठीक अंदाजा कहना अशक्य है।

यजुर्वेद का मुद्रण।

इस समय तक यजुर्वेद के २०८ पृष्ठ छप चुके हैं और इसमें मूल यजुर्वेद १७० पृष्ठ, काण्वशाखाके पाठ विशेष ३४ पृष्ठ, ऋषि सूची चार पृष्ठ, सब मिल कर २०८ पृष्ठ छप चुके है। आगे देवता सूची और आठ पृष्ठोंमें देकर यह प्रथम भाग तैयार होगा और तैयार होते ही ग्राहकों के पास भेजा जायगा। ऋषि सूचीयां एक अक्षरानुक्रमसे तथा एक अध्यायानुक्रमसे ऐसी दो दी है, तथा देवता सूची भी अक्षरानुक्रमसे और अध्यायानुक्रमसे दी जायगी। इससे अभ्यास करनेवाले के लिये सब साहित्य इस में रहेगा।

इसके दूसरे भागमें यजुर्वेद की मंत्र पाद सूची यजुर्वेद सर्वानुक्रम आदि पूर्ण रूपसे दिया जायगा, और पश्चात् अथर्ववेद मूलका मुद्रण होगा।

मूल्य की सुविधा के लिये यजुर्वेद विना जिल्द और सजिल्द दोनों प्रकार विक्रीके लिये रखा जायगा। विना जिल्द १॥) सजिल्द २) और रेशम

जिल्द वालेका मूल्य २।) रु. होगा। पाठक मूल्यकी अनुकूलताके अनुसार जो चाहिये वह मंगावें। विनाजिल्द का डाकव्य. ।=) और सजिल्दवालेका डा व्य. ॥) होगा। वी. पी. से ।) अधिक होगा।

इन्द्रशक्ति की वृद्धि।

मनुष्यमें इन्द्रशक्ति रहती है, इसकी वृद्धिसे मनुष्य बडा प्रभावयुक्त होता है। इसलिये इस की वृद्धिके लिये वेदादि सत्य शास्त्रोंमें बहुतसे अनुष्ठान कहे है, उनमें से सुकर अनुष्ठान पद्धति का वर्णन अत्यंत सुबोध रीतिसे इस पुस्तकमें दिया है। इसके लिये खानपान का पथ्य आसन प्राणायाम आदि जो बातें अत्यंत आवश्यक हैं उनका पूर्ण वर्णन पाठक इसमें देख सकते हैं। स्थायी ग्राहकोंके पास यह पुस्तक भेजा गया है और अन्य ग्राहकोंके लिये भी यह पुस्तक अब मिल सकता है। पाठक इसको एकवार अवश्य पढें। मूल्य ॥) डा. व्य. ।)है।

पोषक वर्ग।

इस वर्ष पोषक वर्गके स्थायी ग्राहकोंको वै धर्म ४) महाभारत ११) इतर पुस्तकें ५) सं. पा. माला २) मिलकर करीब बाइस रु. की पुस्तकें भेजी हैं। हम आशा कर रहे हैं कि अगले वर्ष इस से अधिक रु. की पुस्तकें भेजी जायगी, क्यों कि प्रतिवर्ष ग्रंथ प्रकाशन अधिकाधिक हो रहा है। इस लिये पोषक वर्गका १००) रु. चंदा भेजकर इस वर्गमें नाम दाखल करना पाठकोंके लिये अत्यंत लाभदायक है। जो पोषक वर्गका चंदा भेज देंगे, यदि वे पूर्व प्रकाशित ग्रंथ लेना चाहें, तो उनको पिछले प्रकाशित ग्रंथ पंद्रह रु. फी सदी कमिशनके साथ मिलेंगे। आगे प्रकाशित होनेवाले ग्रंथ तो उनको भेट होते ही रहेंगे।

"संपादक"

साहित्यान्दोलन।

१ मदर इंडिया का जवाब। (लेखिका= श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल बी. ए गुरुकुल कागडी, जि० बिजनोर मू.॥।) मदर इंडिया नामक पुस्तक भारत वर्ष की अकारण निंदा करनेके लिये मिस मेयोने लिखी थी। हरएक विचार वान स्त्री पुरुषने इस पुस्तक का निषेध ही किया है। इस पुस्तक मे किये आक्षेपोका उत्तर सभ्य भाषाद्वारा इस पुस्तक मे दिया गया है। पुस्तक अत्यत पढने योग्य है और विशेष कर इस पुस्तक के अंतिम भाग " अमरिकामे पापकी पराकाष्ठा " की ओर पाठको का ध्यान हम आकर्षित करना चाहते है।

२ उपनिषदोंका वेदान्त। (ले० और प्र०- श्री. प. प्रियरत्नजी आर्ष, सार्वदेशिक अनुसधान कार्यालय, एस्प्लेनेड, देहली। मू. ≋)। तत्त्वमसि आदि महावाकावयोक अर्थ द्वैतपरक लगानेका यत्न इस पुस्तक मे कियाहै।

३ मानवीय शक्तियोंका परिचय [ले.-पूर्वोक्त। मू ।) ॥ मनुष्यकी मन आदि शक्तियोका वर्णन पाठक इस पुस्तक में पढ सकते हैं।

४ मेरे फूल। [कवि—श्री. पं. वशीधर विद्यालकार। प्र. हिंदीग्रंथरत्नाकर हिराबाग, मंबई मू. ।॥) हरएक पृष्ठ अनुपम काव्यरसमे परिपूर्ण भरा है। पाठक देखेंगे तो तल्लीन होंगे।

५ राजेश्वरी। (ले. श्री. प विद्याधर विद्यालकार। प्राप्तिस्थान प अर्जुन देव वि. अ रविवर्मा स्टील वर्क्स, अंबाला छा.। मू ॥=) मनोरंजक और बोध प्रद कथाए पाठक इसमे पढ सकते है।

६ अहिंसादर्पण। (ले०-श्री० हेतमुनिजी महाराज। प्र-श्री बा, धनपत सिहजी, तीर्थराज गृही जैनश्वेताम्बर कारखाना विहार। विना मूल्य) अहिसा प्रतिष्ठाके लाभ इस पुस्तकमे बताये है, अ श्य पढिये।

७ देवीजीके नामपर घोर हिंसा। ले० प्र०- श्री० स्वा० जगदीश्वरानद परिव्राजक, हाजीपूर मू) ॥] महात्मा हेतुमुनिजीके अहिसा विषयक बोधामृत जनताको हिंसासे अवश्य निवृत्त करेंगे।

८ संध्या। (ले० गं० हरिलाल गुप्त, रुर्की। मू.-) इसमे सध्या के गीत है।

संध्यासगीत। (ले०म०मुन्शीराम जी. द. कालेज कानपुर। प्र. आर्य कुमार सभा कानपुर=) मूल्य सध्याके मन्त्रोका रसदार काव्यमें उत्तम अनुवाद। हरएक सध्या प्रेमीको अवश्य गाने योग्य है।

योगमार्ग से अरुचि या भयके कारण

(२)

क्या योगी अकर्मण्य हो जाता है ?

(ले० - श्री० देवशर्माजी विद्यालंकार)

अब हम कमर्ण्यता के विषय पर आते है। योग का अकर्मण्यता से संबन्ध जोडना तो एक दृष्टि से बडा हास्यास्पद है,क्योंकि संस्कृत दार्शनिक साहित्य से परिचित लोग जानते हैं कि योग का तो कर्म से घनिष्ट संबन्ध है। साख्य और योग ये दो समान तन्त्र हैं, इन में जो कुछ परस्पर भेद है वह यही है कि ' सांख्य ' में जो ज्ञान विचार रूपमें कहा गया है उसका अनुभव क्रियात्मक रूप में ' योग ' से किया जाता है। योग का अभ्यासी तो दिनभर कर्म ही करता है- बडे बडे कठिन और दुःसाध्य कर्म करता है। एक विधिवत् कर्म को बार बार करना ही अभ्यास कहाता है। योग तो चीज ही करने की है।

पर असल में जब हम ' योगी कर्म नहीं करते ' ऐसा कहते हैं तो हमारा ' कर्म ' से ' एक विशेष प्रकार का कर्म ' मतलब होता है। हमारी दृष्टि में बहुत से ऐसे कर्म आये हुवे है (जिन्हें प्रायः हम करते भी है या करने का यत्न करते हैं) जिन्हे कि हम समझते है कि ये कर्म हर एक को करने चाहियें, येही लाभदायक उपकारक कर्म है। इन्हीं कर्मों को योगी नहीं करते दिखायी देते, अत एव हम उन्हें ' अकर्मण्य ' की उपाधि देते हैं। नहीं तो कर्म तो योगी भी करते ही है। पर उनके ये कर्म हमें निरर्थक तथा व्यर्थ समय खोना प्रतीत होते है और इन्हें हम कर्म की गिनती में ही नहीं गिनते। अतः हम चाहते है कि योगी लोग भी ' आंख मीच कर बैठे रहने ' जैसे अपने व्यर्थ कर्म या अकर्मको छोड देवें तथा हमारी तरह (प्रचार करने, व्याख्यान देने, लिखने जैसे) कर्म करें।

यह स्वाभाविक है कि मनुष्य को स्वयं जिस प्रकार के कर्म का अनुभव होता है, जिसे करने से उसे लाभ होता दीखता है वह उसे ही ' कर्म ' शब्द से पुकारता है। उदाहरण के लिये एक ऐसे ग्रामीण किसान की कल्पना कीजिये जो पढने लिखने की बात से सर्वथा अपरिचित है, जिसे इस विषय का जरा भी ज्ञान नहीं है। वह यदि मुझे दिनभर काले धब्बों की पंक्तिओं से अंकित कागजों के बंधे समूह (अर्थात् पुस्तक) को देखते हुवे (अर्थात् पढते हुवे) तथा सफेद कागजों को नाना तरह काले करते हुवे (अर्थात् लिखते हुवे) देखे, तो यही समझेगा कि मै व्यर्थ समय गँवा रहा हूं। मैं कोई बडा जरूरी या बडा लाभदायक कार्य कर रहा हूं यह उसकी समझ के बाहर है। वह तो हल चलाना, बैलों के पीछे डंडा लेकर चलना, बोना, नुलाना सींचना आदि खेती के कार्यों को (बल्कि हुक्का पीने को भी) ही कर्म व काम समझता है। यदि मैं उसे कहूं भी कि यह कागज काला करना आदि नहीं है, इसका नाम "लिखना पढना" है, इससे सब दुनिया के काम चलते हैं, संसार की सब सरकारें इसी द्वारा हुकुमत चलाती हैं, खेती के कामों में भी बडे बडे परिवर्तन कराने में यही साधन होता है. इस से बडे बडे आन्दोलन किये जाते है संसार में बडे बडे युद्ध और क्रान्तियां हो जाती हैं, तो भी वह न मानेगा। मन में यही सोचेगा कि ' खेती से तो अनाज पैदा होता है उससे पेट भरता है, पर इस कागज काले करने से क्या बनता है। खेती के कामों में इससे कुछ भी परिवर्त्तन कैसे हो सकता है ' ।

यदि हमने इस उदाहरण को (जो कि केवल कल्पना नहीं है किन्तु कभी और कहीं वास्तविक बात है) तो हम देख सकते हैं कि कर्म कैसे कैसे होते हैं, इसके समझने में हम कितने भ्रम में रह सकते हैं। कर्म और अकर्म को समझना सुगम नहीं है। ' गहना कर्मणो गतिः ' कह कर श्रीकृष्णजीने इस विषय की जटिलता को प्रकट किया है। इस जगत में चूंकि बहुत वार कर्म भी अकर्म दीखता है तथा इसके विपरीत अकर्म कर्म दीखता है इसी लिये श्रीकृष्ण जीने कहा है कि कोई ' युक्त ' और ' मनुष्यों में बुद्धिमान ' हो अकर्म में (ठीक) कर्म को तथा कर्म में (वास्तविक) अकर्म को पहिचानता है। इस सब कथन का तात्पर्य यह है कि ऊपर से देख कर निर्णय करना कि कौन सत्य अर्थ में कर्म करता है कठिन है। क्या मालूम जब हम योगी के ' आंख मीच कर बैठने ' के कर्म को अकर्म कहते हैं तो हम भी उपरिवर्णित किसान की ही बात करते हों। संभव है कि उसके इस अकर्म (?) में इतना बडा भारी कर्म छिपा हो कि हमारे लिखाई पढाई के संसारमें भी बडे बडे महापरिवर्तन करने का वही कर्म कारण होता हो।

यह कैसे संभव है इसकी कुछझलक निम्नलिखित विवेचन से मिल सकती है।

ज्यों ज्यों मनुष्य उन्नत होता है त्यों उसका कर्म स्थूल की जगह सूक्ष्मसे प्रवृत्त होनेवाला होता जाता है। स्थूल से सूक्ष्म तक पहुंचाने वाले इस मार्ग पर वैसे तो बहुत से पडाव, पद या पर्व है, किन्तु विचार की सहूलियतके लिये मोटे तौर पर केवल चार भागोंमें इस मार्ग को विभक्त किये लेते हैं:—

१	स्थूल	शारीरिक कर्म	अन्नमय स्थूल शरीरसे किया जानेवाला
२	सूक्ष्म	वाचिक कर्म	स्थूल (वैखरी) वाणीसे किया जानेवाला
३	सूक्ष्मतर	मानसिक कर्म	मन आदि अन्तःकरणोंसे किया जानेवाला
४	सूक्ष्मतम	आत्मिक कर्म	आत्म शक्ति द्वारा किया जानेवाला

अतिस्थूल दृष्टि वाले लोग केवल शारीरिक कर्म (अर्थात् हाथ पैर आदि की चेष्टाओंसे किये जाने वाले कर्म) को ही कर्म समझते हैं। पर हम जानते हैं कि इससे सूक्ष्म किन्तु इससे बहुत प्रभावशाली वाणी का कर्म है। एक प्रबल वाणी रखने वाला पुरुष अपनी वाणी से हजारों लोगों के हाथ पैर हिलवा सकता है-उनके हाथ पैरों से बडा कर्म पैदा कर सकता है। इस वाणी के क्षेत्र को ' भाषा ' ने और भी बहुत अधिक विस्तृत कर दिया है। अत एव पढने लिखने का कर्म का और भी व्यापक प्रभाव होता है तथा जैसा कि ऊपर कहा है इससे सरकारें चलती है, एवं बडी से बडी क्रान्तियां हो जाती हैं। पर इस वाणी के जगत् के ऊपर इससे सूक्ष्म किन्तु इसकी अपेक्षा बहुत व्यापक मानसिक जगत् का राज्य है। संसार की वाणिओं को-संस्कार के सब मौखिक या लिखित साहित्य (Platform और Press) को प्रभावित करने वाला मन होता है- संसार के मनस्वी महापुरुषों का मन होता है। इन महापुरुषों की सोची हुई बातों का, इनकी भावनाओं का, इनके 'स्वप्नों ' का ही अन्त में संसार पर संसारकी वाणी द्वारा स्थूल प्रभाव घटित होता है। अतः हम यह भी समझ सकते है कि मानसिक कर्म वाचिक कर्म से भी अति अधिक प्रभावशाली है। इसलिये हम लोग भी मानते हैं कि ' Ideas rule the world या sentiment rules the world'.

मनुस्मृति में भी वाचिक जप और मानस जप का भारी भेद बतलाते हुवे यही कहा है कि वाचिक से मानस कर्म शतसहस्रगुना फलदायी होता है। (देखो मनु० २-८५) पर इसके भी पीछे अतिसूक्ष्म और अत्यन्त प्रभावशाली आत्मिक जगत है जो कि असल में सब कर्मों का स्रोत है। यह विचारों और भावों (Ideas और Sentiments) की भी अधिष्ठात्री शक्ति है। यही आत्मिक शक्ति (मानसिक वाचिक जगत द्वारा) सब संसारको वास्तव में हिलाती है। सिद्ध योगी का कर्म इसी शक्ति से होता है।

संसारपाठशाला के पहिलो श्रेणी के लोग मुख्यतया स्थूल शारीरिक कर्म करते हैं और इसे ही सर्वोत्तम साधन समझते हैं। दूसरी श्रेणी के लोग वाणी की शक्ति से कर्म अपेक्षया अधिक करते हैं, इनमें साधारण शिक्षित जन आते हैं। मानसिक कर्म विशेषतया करने वाले तीसरी श्रेणी के हैं, ये कुछ असाधारण पुरुष होते हैं और सब साधक योगी लोग इनमें आजाते हैं। अन्त में सिद्ध लोग चौथी प्रकार के पुरुष हैं।

एवं देखने में तो बेशक प्रथम श्रेणी का मनुष्य ही बहुत कर्म करता दीखता है, क्योंकि चेष्टायें और स्थूल चेष्टायें - वहीं होती हैं। पर उसका कर्म वहीं खतम हो जाता है और कहीं उसका प्रभाव नहीं होता। इसके विपरीत वाणी का कर्म बहुत से शारीरिक कर्म को उत्पन्न और प्रभावित करता है, मानसिक कर्म संसार के वाचिक कर्मसमुदाय को प्रभावित करता हुवा फैलता है और आत्मिक शक्ति से हुवे कर्म अन्त में सब मनोमय जगत् को भी प्रभावित करते हुवे असल मे सब जगत् को चलाते हैं। एवं ज्यों ज्यों कर्म सूक्ष्म अदृश्य होता जाता है अर्थात् उसमें चेष्टा और स्थूल गति कम होती जाती है त्यों त्यों उसका प्रभाव और शक्ति और विस्तार बढता जाता है (क्यों कि अगला अगला क्षेत्र भी निर्बाध और विस्तृत होता जाता है)।

वास्तव में चेष्टा का अधिक होना कम की कमी, कर्म की निर्बलता का ही चिन्ह होता है। लोक में भी यह प्रसिद्ध है। लौकिक कहावत 'अधजल गगरी छलकत जाय' इसी बात की सूचक है कि अपूर्णता के कारण ही गति या चेष्टा अधिक होती है। सब वाचिक शक्ति के विषय में भी कहावत है (जो गरजते हैं वे बरसते नहीं) अर्थात् जल से अपूर्ण शून्य होने पर ही गरजना होता है। जब मन पूर्ण (भरा) होता है तो वाणी की चेष्टा (जो कि शरीर की चेष्टा की अपेक्षा पहिले ही सूक्ष्म है वह भी) भी बन्द हो जाती है। Words are few, when heart is full ' यह कहावत एक अंश में इसी सत्य की तरफ निर्देश करती है ॥ पर स्पष्ट तौर पर ही हम देखते हैं कि गंभीर विद्वान पुरुष कम बोलने वाले होते हैं। अर्थात् वे वाचिक कर्म भी कम करते हैं, मुनि लोग अर्थात् जो मननरत, ध्याननिष्ठ होते हैं। उनके कर्म का नाम 'मौन' है (व्याकरण के अनुसार 'मौन' का अर्थ यही है। मुनेः कर्म = मौनम्।) पर उनका यह उच्च कर्म वाचिक कर्म के त्याग द्वारा किया जाता है अतः अब मौन का अर्थ ही "वाचिक कर्म का बन्द करना" हो गया है। आगे जब मनुष्य मन से ऊंचा उठता है तो उसे अपना आत्मिक कर्म करने के लिये मन की सूक्ष्म चेष्टाओं को भी-मानसिक कर्म को भी-रोकना होता है। तब वह जिस अवस्था में होता है उसका नाम 'अथर्व' है (अर्थात् चेष्टा या गतिरहित) अथवा 'स्थितप्रज्ञ' (जब कि प्रज्ञा भी ठहर जाती है, गति नहीं करती) अथवा जिसके विषय में अन्यत्र कहा है "बुद्धिश्च न विचेष्टते"। इस समय का कर्म सब से ही अधिक प्रभावशाली और अचूक होता है। पर आत्मा में भी शायद कोई अलक्ष्य सूक्ष्म गति हो, किन्तु अन्त में परम आत्मा तो जो कि सब के मूल में अपनी परम शान्त किन्तु अनन्त अगम्य क्रियाशक्ति द्वारा सब ब्रह्माण्डों को-उनके एक एक अणु को-हिला रहा है बिलकुल ही निश्चेष्ट है, अचल है, कूटस्थ है।

महात्मा गांधी जी सन् १८२१ के बडी हलचल वाले वर्ष के अन्त मे जब सारे देश का दौरा समाप्त करके लौटे कि अब वर्ष के शेष दो महीने अपने स्थान पर ही स्थिर रह कर कार्य करेंगे तो 'नवजीवन' में उन्होंने जो "मुसाफिरी खतम" "शान्ति ही प्रवृत्ति है" आदि दो तीन बडी सारगर्भित टिप्पणियां लिखी थी वे इस प्रकरण में पढने योग्य है। उन्होंने ने भी परमात्मा का दृष्टान्त देकर लिखा 'ईश्वर के मौन को कौन पहुंच सकता है। और साथ ही उसकी प्रवृत्ति को भी कौन पा सकता है' 'उसकी गति की तो सीमा ही कहा है' 'शान्ति रखते हुवे भी वह अधिक से अधिक काम करता है,इससे हम यह सबक क्यों न लें कि शान्ति में ही अधिक से अधिक शक्ति है। आगे "शान्ति का अर्थ" बताते हुवे उन्होंने लिखा 'इस दिव्य शान्ति का अर्थ जडता नहीं, मूढता नही, और कमजोरी भी

नहीं। यह तो शुद्ध चेतना, ज्ञान, शूरवीरता है। जो अपनी काया को पत्थर बनाकर रहता है वह एक ही जगह बैठा हुवा सारे संसार को हिलाया करता है। ' इसके आगे उन्होंने भारतवासिओं से या असहयोगियों से ऐसे ही ' चेतन पत्थर ' बनने की अभ्यर्थना (अपील) की है।

यहां स्मरण आता है कि जो भाई परमानन्द जी ने समाधिस्थ योगिओं को हिमालय के वृक्ष ' कहा है वह भी ठीक है, पर वहां भी इतना विशेष सा और लगालेना चाहिये कि वे ' चेतनामय वृक्ष ' हैं। अत एव वे उसी जगह अचल स्थिर ठहरे हुये भी संसार को हिलाते हैं— उस अधिक से अधिक निश्चेष्ट अवस्था में होते हुवे अधिक से अधिक गति और प्रवृत्ति को चलाते होते है। उनकी इस महान गति को अनुभव करने के लिये हमें उनके नजदीक होना चाहिये-सूक्ष्म बनना चाहिये। क्योंकि उनके आत्मिक कर्म का सीधा प्रभाव उनके नजदीकी तीसरी श्रेणी के लोगों (अर्थात् जिन्होंने मानसिक शक्तिओं का विकास खूब प्राप्त कर रखा है) पर पडता है। उनके द्वारा संसार का वाचिक कर्म प्रभावित होता है और उसद्वारा फिर स्थूल जगत् में घटनायें होती जाती हैं-हाथ पैर हिलते हैं। यह है रीति जिससे कि योगी की आत्मिक शक्ति संसार को हिलाती है।

ये सिद्ध लोग अपने स्थूल शरीरों को बिलकुल बन्द कर के, सुला करके बल्कि बहुत वार बिलकुल छोड कर (मुक्त होकर) आत्मिक शक्ति से काम करते हैं। पर इस का यह मतलब नहीं कि वे स्थूल कर्म कर ही नहीं सकते या कभी करते नहीं। जरूरत होती है तो वे मानसिक वाचिक और बिलकुल कायिक कर्म भी करते हैं। सिद्ध योगी हल चलाते देखें जांय यह भी संभव है। पर उनके ये स्थूल कार्य भी सीधे अपनी आत्मशक्ति से प्रेरित होने के कारण अद्भुत प्रभाव रखते हैं। योगीश्वर श्रीकृष्ण वन में गौवें भी चराते फिरे थे। यह कायिक कर्म था। योगिवर व्यासजी ने महाभारत जैसे ग्रंथ रचने का बडा साहित्यिक कर्म किया। भगवान् बुद्धने उपदेश देते फिरनेका वाचिक काम किया। इत्यादि और बहुत दृष्टान्त हैं। पर हम जानते हैं कि उनके ये सब साधारण कर्म भी कितना आश्चर्यमय आकर्षण व शक्ति रखते थे। योगीश्वर कृष्णजी की छोटी पुस्तक गीता को देखिये जो कि हजारों वर्षों से लाखों मनुष्यों का जीवन पलटती आयी है और आगे भी न जाने कब तक पलटती रहेगी। महायोगी के स्थूल कर्म में भी ऐसी शक्ति होती है, क्यों कि वह आत्मशक्ति से प्रेरित (असल में आत्मिक कर्म ही) होता है। ऐसे योगिओं के इन स्थूल कर्मों का कभी तुरंत बडा प्रभाव न होता देख कर भी हमें भ्रम में नहीं पडना चाहिये, क्योंकि बहुतवार उनके महान कर्म इस विधिसे किये जाते है कि उनके अद्भुत फल शताब्दिओं बाद दृष्टिगोचर होते है। पर इसमे संदेह नहीं है कि इन आत्मशक्ति से कर्म करने वाले सिद्धों के स्थूल छोटे कर्म भी अन्त में अचूक तौर पर बडा भारी फल लानेवाले होते हैं।

एवं मानसिक शक्ति से प्रेरित कर्म करने वाले योगी वाचिक और शारीरिक कर्म भी किया ही करते है यह हम जानते है। पर उनके ये स्थूल कर्म भी उसी तरह उच्च शक्ति (मनः शक्ति) से प्रेरित होने के कारण बहुत अधिक प्रभाव शाली होते हैं।

अन्त में हम साधारण लोगों के कर्म वाणी या शरीर से ही प्रेरित होने के कारण अति तुच्छ होते हैं। वैसा आत्मा और मन तो हमारे भी हैं परन्तु हमारी आत्मा और मन बद्ध हैं (स्वाधीन नहीं है); अतः यद्यपि हमारे सब कर्म आत्मा और मन की शक्ति की सहायता से ही होते है, पर वे आत्मा व मन से प्रेरित नहीं होते। जो जितना ऊंचा गया है अर्थात् अपने उच्च स्वरूप की स्वाधीनता प्राप्त की है उसका कर्म (उसका स्थूल कर्म भी) उतने ही ऊंचे से प्रेरित होता है अतः उतनाही अधिक प्रभावोत्पादक होता है।

एवं स्थूल देह से भी काम लेने वाले पूर्ण योगी का शरीर संसार रूपी विराट् शरीर का पूर्णनमूना होता है। जैसे उसकी आत्मशक्ति के आधीन उसकी मानस क्रिया, तथा उसके आधीन वाचिक और

शारीरिक कर्म होते है, वैसे ही इस विश्व शरीर में आत्मिक शक्ति के स्थान पर विश्वके सिद्ध लोग है जिनके आधीन तीसरी और दूसरी श्रेणी के लोग (जो कि विश्व शरीर में क्रमशः मन और वाणी है) इनसे प्रभावित होकर कर्म करते है और अन्त मे विश्वशरीर के स्थूल भाग पहिली श्रेणी के लोग है जो कि हाथ पैर की तरह उनके आधीन हिलते है अब यह भी स्पष्ट है कि हम निचली श्रेणी के लोग बेशक अपने स्थूल, चेष्टापर्ण बहुत से कर्म करते हुवे समझते है कि हम बडा काम कर रहे है पर हमें यह ज्ञान नही है कि हमारे ये कर्म स्थूल से ही प्रेरित होने के कारण जहा उतना ही थोडासा परिमित प्रभाव वाले है वहा ये कर्म परतन्त्र भाव (हमारे वासनाओं और कामनाओंमे बद्ध होने के कारण चारों तरफ के उच्च जगत के नियमो से प्रभावित और परवश किये गये है। (अत एव ये कर्म हमे बांधते भी है) क्योंकि हम जो कुछ (सकाम) करते है वह दृश्य बहुत सी अवस्थाओं मे तो जैसे शिवाजी के कार्यों कमूलमे श्रीरामदास की मानसिक या आत्मिक कर्म थे वैसे सब संसार के इतिहास में बहुत सी घटनाओं के प्रेरक कारण दृश्य महात्मा के रूप में ढूंढे जा सकते है। श्रीकृष्ण जी की प्रेरणा से अर्जुन का लडना, सिक्खों के महान कार्यों के मूल मे उनके प्रारंभिक गुरु नानकजी का होना इत्यादि बहुत से दृष्टान्त पाठक स्मरण कर सकते है। या अदृश्य उच्च शक्तिओंसे प्रभावित होकर और उनके नियमों के बन्धन में आये हुवे ही करते है। दूसरी तरफ योगी लोग जब सूक्ष्म जगत् मे स्थित होकर कार्य करते है तो वे उनके स्वाधीन (अबद्ध) कर्म निचले लोगों को परवश कर उनके द्वारा स्थूल में प्रकट होते है, पूरे होते हैं। और जब वे अपनेही स्थूल शरीरों द्वारा अपने सूक्ष्मप्रेरित कर्म को स्थूलमें लाते हैं तब तो वे सीधे ही पूर्ण और अबद्ध कर्म होते है।

यहां यह भी लिख देना चाहिये कि योगी के कर्म संबन्धी इस सब कथन से कोई यह अशुद्ध परिणाम न निकाले कि हमें जैसे तैसे सब स्थूल कर्म छोड देना चाहिये। यह तो हम जानतेही है कि साधक को प्रारंभ में स्थूल कर्म ही बहुत करने होते हैं, क्योंकि सूक्ष्म कर्म करने के योग्य होने के लिये पहिले स्थूल देह का सिद्ध (तय्यार)होना आवश्यक है और यह स्थूलसिद्धि स्थूल कर्मों द्वारा (जिन्हें कि हठयोगके कर्म कह सकते है) ही प्राप्त की जाती है। पर जो इस मार्ग से नहीं चलते या जो उच्च (यहां तक कि सिद्ध) हो जाते है उन्हें भी स्थूल कार्य तो स्थूल कर्म द्वारा ही करने मे सुगमता होती है। अत एव देखा जाता है कि मुक्त पुरुषों को भी स्वयं स्थूल कार्य संपन्न करने के लिये स्थूल देह ग्रहण करने पडते है। वैसे जब तक देहहैं (फिर देही चाहे सिद्ध जीवन्मुक्त हो या असिद्ध)तब तक स्थूल कर्म सर्वथा छुट नहीं सकते और नहीं यह वांछनीय होता है। अत एव अपने स्थान पर स्थूल कर्म पूरा महत्वशाली है यहां यह कहनेसे कि सूक्ष्म कर्म का प्रभाव स्थूल से अपरिमित गुना अधिक होता है उस स्थूल का महत्व जरा भी नही घटता है। वहां वही सब कुछ है। अस्तु।

अब स्पष्ट है कि योगमार्ग पर चलनेवाला साधक साधना द्वारा अवश्य स्थूल कर्म की तरफ से सूक्ष्म कर्म की तरफ जाता है। अत एव यदि कहीं योगी के लिये कर्म त्याज्य भी लिखा हो-यद्यपि लेखक ने ऐसा कोई स्थल अभीतक देखा भी नहीं है-तो बहुत संभव है कि उसका अभिप्राय स्थूल कर्मोंका अधिकार समाप्त करके, उन्हें त्याग करके सूक्ष्म कर्मों में प्रवृत्त कराना होगा। " ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः " इस योगसूत्र में व्यासजीप्रभृति सभी टीकाकार 'कर्म' शब्द का अभिप्राय कर्मवासना या सकाम कर्म लेते है। इसका अभिप्राय कर्म (क्रिया) का त्याग नहीं है। पर कर्म का परित्याग कभी नहीं करता। बल्कि उसके कर्म की शक्ति उत्तरोत्तर बढती जाती है। जब हम ऊपर यह देख चुके है कि योगमार्गावलंबी प्रारंभ से अन्त तक सच्चा परोपकार करता हुवा चलता है तो अब हम यूं कह सकते है कि योगका साधक प्रत्येक अवस्था में अधिक से अधिक लाभदायक (अर्थात् परोपकारक) कर्म करता हुवा उन्नत होता है और अन्त में सिद्ध होकर ऐसा परोपकार कर्म करता है। अपने वास्तविक स्थान आत्मतत्त्वमें पहुंचकर वहां की अपरिमित शक्ति द्वारा ऐसे सर्वमंगलकारक कर्म करता है-जो कि परिपूर्ण होते हैं, अबद्ध होते है और अत एव अपरिमित फलोत्पादक होते है।

तप ।

(ले० – श्री० उदयभानुजी)

(भाग २)

[इसका पहला भाग वै. ध. क्रमांक ८८में प्रकाशित हो चुका है।]

आर्य ग्रंथों में तप का वर्णन –

नमस्ते प्रवतो नपाद्यतस्तपः समूहसि ।
मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥
अथर्व. १३। २

अन्वय – हे प्रवतः नपात् ? ते नम । यतः (त्वं) तपः समूहसि । नः तनूभ्यः मृडय, तोकेभ्यः मयः कृधि । इसका अर्थ स्पष्ट है।

इसका भाष्य करते हुवे श्री० सातवले करजी अपने अथर्व वेद के स्वाध्याय में लिखते हैं 'हे उच्चतासे न गिराने वाली देवी ईश्वरी ? तू तपोमय जीवनको हमारे अंदर इकट्ठा करती है अर्थात् हमारे में तपः शक्ति बढाती है, उस तप से हमें तथा हमारे संतानोंको सुखी कर. तेरे लिए हम प्रणाम करते है।

"तप प्रत्येक शक्तिसे किया जाता है— वाणी का तप, मनका तप, शरीर का तप आदि । इन तपों का जितना बडा समूह होगा, उतना उच्च स्थान उस मनुष्य को प्राप्त होगा । अर्थात् तप के जीवन पर मनुष्य का महत्त्व अवलंबित है । "

" जिस कारण तपके प्रभाव से मनुष्य उच्च होता है, उसी कारण तप के प्रभाव से ही मनुष्य नहीं गिरता । इसी लिये इस द्वितीय मंत्र में उच्चता से न गिरने का हेतु तप का प्रभाव कहा है । '

" तपसा सपत्नान्प्रणुदामारातीः । "
महानारा. उप. २२-१.

तपसे शत्रुओं का पराजय किया जाता है।

'बलेन तपः । ' महाना. उ. २३-१.

बल से तप होता है । अर्थात् जो मनुष्य बलहीन हैं वे तप नहीं कर सकते । इसी कारण शारीरिक बल को बढाना भी एक प्रकार का तप है । भारतीय ग्रन्थों में स्वास्थ्य का इतना विचार किया जाता था कि स्वास्थ्य का संरक्षण एक आवश्यक एवं अनिवार्य कर्त्तव्य इसी कारण कहा है ' बलं वाव विज्ञानाद्भूयः " छां. उ. ७-८-१. विज्ञान से बल बढकर है।

' भृगूणामंगिरसां तपसा तपध्वम् । '
श. ब्रा.. १-१-२-१.

भृगु और अंगिराओं के तपसे पवित्र बनो ।

तपः श्रुतं च योनिश्च एतद्ब्राह्मणकारणम् ।
महाभाष्य २-३६. ३

ब्राह्मण बनने का तप एक साधन है।

तपका अर्थ-

तप् धातु का अर्थ है- वृद्धि को प्राप्त होना. अभ्युदय, द्वन्द्वों का सहना, पवित्र होना, ऐश्वर्य प्राप्त करना, उच्च बनना । जैसे अग्नि में सोना तपाया जाता है वैसे ही तप वह साधन है जिससे मनुष्य पवित्र, उच्च और उन्नत बनता है । अर्थात् तप वह साधन है जिससे मनुष्य सफलता प्राप्त करता है।

तपका कारण कर्म है-

तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे।
तपो ह जज्ञे कर्मणस्तत्ते ज्येष्ठमुपासत॥
अ. ११-८-६

तप और कर्म महान् समुद्र में विद्यमान थे। निश्चय से तप कर्म से उत्पन्न हुआ। उन्होंने इस कर्म की बड़ी उपासना की अर्थात् महान् तप किया। अतः सिद्ध होता है कि वेदानुसार तप कर्म रूपही है

कर्म के दो प्रकार हैं। इसीलिए तप भी दो प्रकार का होता है- १ शारीरिक और (२) मानसिक जिसे आभ्यन्तर तप भी कहते है। शास्त्रों में आभ्यन्तर तप के ६ प्रकार हैं-

प्रायश्चित्त, वैयावृत्ति, स्वाध्याय, विनय, व्युत्सर्ग और ध्यान।

यहाँ पर कई लोग एक शंका कर सकते है कि जब वेद तपका अर्थ कर्म करता है तो यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक समय हम तपही करते हैं; क्यों कि बिना कर्मके मनुष्य एक पल भी नहीं रह सकता। इसके उत्तर में निवेदन है कि प्रत्येक कर्म तप नहीं कहा जा सकता। क्यों कि तप की व्याख्या पहले की जा चुकी है कि तप वह साधन है जिससे सफलता प्राप्त हो। इसी कारण तपके अन्दर इन तीन बातों का होना अत्यावश्यक है- ध्येय, आत्मिक उन्नति और प्रयत्न। जिस कर्म में इन तीनों में से एकका भी अभाव है वह तप कभी नहीं कहा जा सकता। इस सम्बन्ध में भगवान् कृष्ण चन्द्र का उपदेश मननीय है—

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कार संयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥

दम्भ और अहंकार के वशमें होकर आसक्ति और दुराग्रह के बलसे जो लोग शास्त्रविरुद्ध घोर तप करते हैं और शरीरस्थ पञ्चभूतों को तथा उनके भीतर रहने वाले आत्मा को भी कष्ट देते हैं, उनको आसुरी भाव वाले निश्चय से जानो।

जो तप अपने उद्देश्यकी पूर्तिके निमित्त फल की आशा को छोड़कर श्रद्धा और भक्ति के साथ किया जाता है, वही सात्विक तप होता है और उसी तप से सिद्धि, आत्मकल्याण और अपवर्ग मिलते हैं किन्तु जो मनुष्य निरुद्देश्य, औरोंकी प्रेरणासे, श्रद्धा रहित, प्रशंसा के लिए, सम्मानके लिए, फल की कामनासे, अभिमानसे, औरों को बतलाने के लिए या अपनी आत्मा के शासन के प्रतिकूल किया जाता है, वह सफलता की अपेक्षा अवनत और पतित करता है।

तपकी महिमा शास्त्रोंमें भरी पड़ी है। उनका परिचय आगे के भागोंमें क्रमशः दिया जायगा। इस समय यहाँ तप के विषयमें कुछ विचार किया जाता है।

हम कह चुके हैं कि तप सफलता का हेतु है। 'सत्यमेव जयते नानृतम्' अर्थात् सत्यसे ही विजय होती है—यह वैदिक सिद्धान्त है। अतः सिद्ध होता है सत्य ही तप है। सत्य शब्द के दो अर्थ होते हैं- १ मन, और कर्म की एकता (२) मन और वचन की एकता। हमारे मत में पहला तप है और दूसरा केवल सामाजिक नियम है। किसी विशेष अवस्था में सत्य का दूसरा अर्थ तप माना जा सकता है; पर सर्वदा और सर्व अवस्थाओं में उसे तप मानना हमारा अज्ञान और मूर्खता है। हमारी इस उक्ति को श्रवण कर कई वैदिक धर्मी भाई क्रुद्ध हो जायँगे पर मेरी उनसे बड़ी नम्रताके साथ प्रार्थना है कि वे मेरे कथन की पुष्टि को भी ध्यानपूर्वक पढ़ें और निष्पक्षपात से विचार करें।

मन और कर्म की एकता को तप कहते हैं, क्यों कि उससे सफलता और अभ्युदय मिलता है। इसके प्रमाण वेद में कई है किन्तु यह विषय इतना सरल और निर्विवाद है कि अन्य प्रमाणों की अपेक्षा नहीं रखता। वैदिकधर्म में इस विषय पर पहले कई बार लिखा जा चुका है।

अब हम विवादास्पद विषय पर आते है। हमारा सिद्धान्त है कि मन और वचन की एकता रखना चाहिए पर यदि किसी अवस्था मे वह हमारी सफलता का बाधक होता दिखाई दे तो इस नियम का उल्लंघन कर देना कोई पाप नहीं। इसकी पुष्टि में महाभारत का निम्नांकित उद्धरण पढ़िए

"एक समय युधिष्ठिर महाराज रण संग्राम से भागकर चले आये । उस दिन युद्ध इतना घनघोर हो रहा था कि अर्जुनको रणक्षेत्र छोडना पडा। अर्जुनको लौटते हुवे देखकर धर्मराजने गाण्डीव धनुषकी तीव्र निन्दा करते हुवे अर्जुनको बहुत धिक्कारा। अर्जुन की यह प्रतिज्ञा थी कि जो कोई उस के गाण्डीव धनुषकी निन्दा करेगा; उसका नाश मैं स्वयं अपने हाथों से करूंगा। इस प्रतिज्ञाके अनुसार अर्जुन युद्दिष्ठिर को मार डालनेके लए उद्यत हुआ परन्तु भगवान् कृष्णचन्द्रने अहिंसा का उपदेश देकर अर्जुन को शान्त कर दिया।"

पाठकगण? क्या आप इस कथाका मर्म समझे !! जिस भगवान् कृष्णने रणसे भयभीत हुवे अर्जुनको सहस्त्रो सम्बन्धियों को मार डालने के लिए बाध्य किया था, वे ही कृष्ण आज अर्जुन को अहिंसा का उपदेश देकर उसकी प्रतिज्ञा को भंग करवाते हैं।

इस का एक मात्र उद्देश्य यही था कि उस समय एक ओर आत्महनन था और एक ओर सत्य का हनन। एक ओर अर्जुन अपनी शक्ति का संहार कर रहा था और दूसरी ओर भगवान् उससे सत्य का संहार कराना चाहते थे। कृष्ण चन्द्र जैसे योगी थे वैसे ही राजनीति में भी निपुण थे। उन्होंने इस बात को भली भाँति समझा कि सत्यसे अहिंसा बढकर है और इस कारण यदि अहिंसा के लिए सत्यका बालदान देना पडे तो सहर्ष दो ।

इसी सिद्धान्तकी पुष्टि वेद भगवान् करते हैं--

असुर्या नाम ते लोका ..

..आत्महनो जनाः । यजुः ४०

अर्थात् अपना, या अपनी समाजका हनन करने वाला व्यक्ति घोर नर्क की रौरव यातना भोगता है।

भगवान पतञ्जली मुनि भी अहिंसा को सत्यसे श्रेष्ठ बतलाते है—

अहिंसासत्याऽस्तेय ब्रह्मचर्य .. ।

यो. द. २ ३०

भारतवासियोंके इतिहास को जिन्होंने पढा है उन्हें ज्ञात है कि भारत का अहित इसी सत्य-अहिंसा के वास्तविक भेद को न जानने से ही हुआ है। भारत वासी अपना अहित कर सकता है, अपनी समाज और राष्ट्रका सर्वनाश कर सकता है पर सत्य से वञ्चित नहीं हो सकता। परन्तु खेद इस बातका है अभीतक इन्हें यह भी ज्ञात नहीं कि वास्तविक रूपमें सत्य क्या वस्तु है और सत्यका अन्य नियमों से क्या सम्बन्ध है।

सत्य बोलना और सत्य व्यवहार रखना चाहिये। इसमें सन्देह नहीं। पर यदि सत्य के लिए अहिंसा को छोडना पडे तो वह सत्य सत्य भी नहीं कहा जा सकता। अहिंसा की महिमा सत्य से कहीं बढकर है। इसी कारण वेद कहता है कि "दिल और दीमाग की एकता से ही धर्म जाना जा सकता है।" धर्म न केवल बातों में है, न केवल कर्ममें है और न केवल सिद्धांतों में है। धर्म का वास्तविक अर्थ ज्ञान और कर्म से ही जाना जा सकता है। अर्थात् सत्य वही है जो सफलता का साधन हो और उसी सत्य को तप कहते हैं।

लोगोंका विचार कुछ और ही है। मन और वचन की एकतासे चाहे हमारे गुप्त भेद दुश्मनोंको प्रकट हो जायँ, चाहे हमारी समाज का या हमारे धर्म का ही सर्वनाश हो जाय, चाहे हमे सफलता मिले या न मिले; परन्तु हमारा सत्य वही होगा जो मन के अनुकूल हो। यह बात ठीक भी है। मैं इस सिद्धांत का खंडन नहीं करता। किन्तु मेरा निवेदन यह है कि जहां अहिंसा और सत्य दोनों सम्मुख हों, जहां एक की रक्षा दूसरे का बलिदान माँगती हो, वहाँ क्या किया जाय। हमारे मतमें ऐसे समय में अहिंसा सत्य से कहीं बढकर है। और हमें उस की रक्षा करना चाहिये।

यह लेख तपशीर्षक है। अतः लोग यह पूछ सकते हैं कि कौनसा सत्य तप कहा जा सकता है। हमारी सम्मति में मन और कर्म की एकता करना ही सच्चा सत्य है, यही तप है और यही सफलता का सहायक भी है।

अगले भाग में हम तप के अन्य अंगों पर विचार करेंगे।

संग्रह करनेके लाभ।

कई मनुष्य कहते हैं कि, हम कलामें प्रवीण नहीं हो सकते; वास्तविक बात यह है कि हरएक मनुष्य किसी न किसी कलामें निपुण हो सकता है। परंतु मान लें कि कई नहीं हो सकते। ऐसे मनुष्य क्या करें? यह प्रश्न यहां हो सकता है। इसके उत्तर में निवेदन है कि, क्या ये मनुष्य विशेष पदार्थों का संग्रह भी नहीं कर सकते? मेरा एक मित्र है, वह आज तीस वर्षोंसे " शंखों का संग्रह " कर रहा है, इस समय सैंकडों की संख्यामें उसके पास विभिन्न जातीके शंख है। राई के आकार से लेकर बालक के सिर के समान बडे भी शख उसके पास है। उनका निरीक्षण करते करते प्रकार के आकार का महत्व और ध्वनि को उत्पत्तिका तत्त्व उसके ध्यान में आ गया है और अब उनका शंखोंका संग्रह देखनेके लिये स्थान स्थान के लोग आते है। इसी प्रकार मेरा दूसरा मित्र भिन्न भिन्न वनस्पतियोंके पत्तोंका संग्रह करता है, २० । २५ वर्ष पत्तोंका निरीक्षण करने से उसके ध्यानमें पत्तोंकी इडा और पिंगला नाडीका तत्त्व आगया है। तीसरा मेरा मित्र है कि, जो कृमि कीटोंका संग्रह करता है, सहस्रों कृमिकीट उसके पास मौजूद है। चौथा मेरा परिचित सज्जन है, वह फूलोंका संग्रह करता है, इससे उसको फूलों में " पुरुष फुल और स्त्रीफुल " होनेका पता लगा है। एक मेरा मित्र था, वह छोटे कंकर ही इकट्ठे करता था। १०।१५ वर्षोंमें इतने प्रकार के कंकर इकठे किये थे कि, वह घंटोंतक उनका व्याख्यान कर सकता था। इसी प्रकार कई और मेरे मित्र है कि जो प्राचीन ग्रंथोंके ढूंढने में लगे है; हर एकने ऐसे अमूल्य ग्रंथ सहस्रों की संख्यामें इकट्ठे किये है। ये सब महाराष्ट्रीय लोग है और इनके संग्रह हरएक देख सकता है। इस प्रकारके संग्रहोंके कारण भी बडा लाभ होता है, और संग्रह करने वालेको भी धन अथवा यश अवश्य मिलता ही है।

खेलने कूदनेमें प्रवीणता।

मान लीजिये कि आपसे कलामें प्रवीणता नहीं हो सकती और वस्तुसंग्रह भी नहीं हो सकता; तथापि आप हताश और उत्साहहीन न हूजिये। खेलने कूदने मे, तैरने में, कुश्ती अथवा इसी प्रकार के व्यवसायोंमें,कुछ भी नहीं तो चलने और दौडनेमें भी तो आप प्रवीण हो सकते है। इसमे प्रवीणता प्राप्त होनेपर भी जगतमें सम्मान होता है। इसीओंध ग्राममें एक मनुष्य है, जिसका वेतन १०। १२ रु. से अधिक नहीं है; उसने " दौडने और चलने में ऐसी प्रगति की है कि, उसके समान वेगसे दौडने और चलने वाला इस समय कोई भी नहीं है। इस कारण उसको चारों ओरसे इनाम और चांद मिल रहे हैं।

तात्पर्य यह कि प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी अच्छे व्यवसायमें प्रवीण हो सकता है और प्रवीण होनेसे उसको यश और धन भी प्राप्त हो सकता है। आत्मोन्नतिके लिये प्रवीणता की अत्यंत आवश्यकता है। इसलिये अपनी फुरसतके समय आप किसी न किसी अच्छे उपयोगी व्यवसायमें प्रवीण, कुशल और यशस्वी बननेका प्रयत्न कीजिये। इससे आपको आत्मविश्वास प्राप्त होगा, यश और धन मिलेगा, मनकी चंचलता दूर होकर उसी कार्यमें मन एकाग्र होगा और इसी एकाग्रता की सिद्धीके पश्चात् आप चाहे योगमें अपनी प्रगति कर सकते है।

यह न समझिये कि चित्तकी एकाग्रता के साथ इन का कोई संबंध नहीं है। इसी लेख मालामें आगे बताया जायगा कि योग के साथ कलानैपुण्य

का कैसा संबंध है। यदि चित्तकी एकाग्रताका योग से संबंध है, तो कलानैपुण्यका भी योगसे संबंध अवश्य है।

साधनोंका अच्छा उपयोग।

आपके पास समय, स्थान और अन्य जो साधन हैं, उनका यदि आप उत्तम उपयोग करेंगे, तो आप किसी न किसी उत्तम व्यवसायमें नैपुण्य प्राप्त करके अपना और जातिका नाम प्रसिद्ध कर सकते हैं। देखिये सबसे पहिले आप अपने सब समयका उत्तमसे उत्तम उपयोग कर रहे हैं वा नहीं? यदि नहीं तो कीजिये। पश्चात् अपने पास जो स्थान है, उसका उत्तम उपयोग हो रहा है वा नहीं ? आपके कमरेमें कोई आ जाय तो उसका चित्त प्रसन्न होगा, अथवा वहां की अव्यवस्था देखकर उसको घृणा होगी; इस विषयमें सोचिये। पश्चात् जितने साधन आपके पास हैं, उनसे आप अपनी उन्नति कर रहे हैं, वा अवनतिके मार्ग में जा रहे हैं? इसका विचार कीजिये।

" क्रतुमयोऽयं पुरुषः " यह मनुष्य कर्मरूप है। जैसा करता है, वैसा ही बनता है। इसलिये " आप भी वैसे ही हैं कि, जैसा आपने अपने आपको बनाया है।" यह वैदिक धर्म का अटल सिद्धांत है।

कई पुकारते रहते हैं कि, हमारे पास उन्नतिके साधन नहीं हैं। परंतु देखा जाय तो पता लगेगा कि, वे प्राप्त साधनोंका उपयोग ही योग्य रीतिसे नहीं करते। परमात्माकी इस दुनियामें साधनोंकी न्यूनता नहीं है; प्रत्युत " योजक मनुष्य की ही यहां न्यूनता है। " यही अवनतिका कारण है।

बहुत लोग कहते हैं कि पर्याप्त अन्न नहीं मिलता। परंतु देखा जाय तो उनका धन ऐसे व्यर्थ पदार्थोंमें खर्च होता है कि, यदि वे खर्च न किये जांय, तो खानेके लिये उनको पर्याप्त मिल सकता है। परंतु फुजूल खर्च बढाते हैं और योग्य स्थानमें खर्च नहीं करते और फिर रोते रहते हैं कि, खानेको नहीं मिलता। प्रत्येक स्थानपर अव्यवस्थासे हानि और सुव्यवस्थासे लाभ होते हैं। इसलिये आप न केवल अपने धन का बहीखाता बनाइये, परंतु अपने समयका तथा अन्य पदार्थोंका भी अलग अलग बहीखाता रखिये। उसका विचार कीजिये और पता लगाइये कि, किसमें किस प्रकार बचत हो सकती है।

कहते हैं कि, शादीमें खर्च बहुत हुआ, उसका कर्जा दससाल होनेपर भी दिया नहीं गया। परंतु वैदिक धर्मके अनुसार शादी की जाय तो दसपांच रु. के अंदर ही सब खर्च होगा। फिर आप अवैदिक रीतियोंमें व्यर्थ खर्च पहिले करते क्यों और पीछे रोते क्यों हैं ? इसी प्रकार अन्यत्र हो रहा है। इस लिये सबका अलग अलग हिसाब रखना और सबके विषयमें ठीक सोचकर व्यवहार करनेका अभ्यास बढाना आवश्यक है।

खानेपीनेकी योग्य चीजें सस्ती ही हैं। व्यर्थ कितने पदार्थ खाये जाते हैं, जिनमें पैसा भी खर्च होता है और जिनसे रोग भी बढते है। दाल, रोटी और साक का खर्चा बहुत नहीं होता, परंतु तेवारोंके दिनोंमें मिठाइयां, प्रतिदिन के चा, काफी, सिगरट आदि हानिकारक पदार्थों में कितना खर्च होता है। अकेले बंबई शहरमें प्रतिदिन तमाखू पीनेमें एक लाख रु. खर्च होता है, चा काफी की तो कोई हद ही नहीं है। क्या यह पैसेका अपव्यय नहीं है ? इस लिये खानपान के पदार्थोंका पूर्ण विचार करके जो अत्यावश्यक है, उतनाही लिजिये। ऐसा करनेसे जिह्वाकाभी संयम होगा और आरोग्य भी बढेगा।

खानेपीनेके पश्चात् कपडोंलत्तोंमें व्यर्थ खर्च होता है। वेद कहता है कि अपना कपडा स्वयं बनाओ। इस विषयमें " वेदमें चरखा " पुस्तक देखिये। अपना कपडा स्वयं बनायेंगे, तो कोई विशेष खर्चा ही नहीं होगा और अच्छा कपडा घरमें तैयार मिलेगा। अपना पैसा बचेगा और देशभी दरिद्री नहीं होगा। यहां भी वेदके उपदेश का पालन नहीं होता, इसलिये कष्ट होते है। इसलिये निश्चय कीजिये और हाथका खद्दर ही पहनीये। अस्तु। इस प्रकार अपने साधनोंका विचार कीजिये।

अपना काम धंदा।

उक्त प्रकार साधनोंका योग्य विचार करनेके पश्चात् अपने काम धंदामें बडी तत्परता के साथ कार्य कीजिये। यदि आप अपना कार्य करते होंगे,तो जैसी तत्परता बतायेंगे उससेभी अधिक तत्परता दूसरेका कार्य करने के समय बतायेंगे, तो आपके लिये अधिक लाभ होगा। प्रायः लोग नौकरी करनेके समय उतनी तत्परता नहीं बताते, जितनी अपने कार्य में बताते हैं; परंतु यह ठीक नहीं है। यद्यपि नौकरी शूद्र का पेशा है, तथापि आपत्कालमें हरएक वर्णका मनुष्य करताही हैं। इसमें कुशलता, व्यवस्था और नेकी बतानेसे निःसंदेह अधिक लाभ होता है; इसके अतिरिक्त बेइमानी करनेसे जो अधार्मिक भाव मनमें उत्पन्न होते हैं वे गिराते हैं, इसलिये नौकरपेशा लोगोंकोभी- " आत्मोद्धार " करना है, तो बेइमानी कभी नहीं करनी चाहिये।

आत्मोद्धारकी यही कूंजी है। वैतनिक सेवकों के लिये इमानदारी और अवैतनिक सेवकों के लिये अपने कर्तव्य पूर्ण रीतिसे करनेका भाव सदा धारण करना चाहिये। अन्यथा " आत्मोद्धार " की आशा करना व्यर्थ है।

जो कार्य आप कर रहे हैं, उसके परिपूर्ण साधन इकट्ठे करनेसे आप निर्विघ्नता के साथ वह कार्य कर सकेंगे। हमारा एक रसोइया था, वह साक पकाने लगा, तब उसके ध्यानमें आया कि नमक नहीं है। इस प्रकारकी नौकरी न कीजिये। जिस किसी स्थानमें रहते हुए आप कार्य कर रहे हैं, वहां पूर्ण धर्म भाव से कार्य कीजिये, फिर जो कोई कार्य आप करेंगे, उसीसे आपकी " आत्मोन्नति " होगी। यही आत्मोन्नतिका मूल मंत्र है।

व्यायाम और विश्राम।

व्यायाम के विषयमें पहिले कहा ही है। वैयक्तिक उद्धार के लिये व्यायामकी अत्यंत आवश्यकता है। परंतु कई लोग ऐसे धुंदमें रहते हैं कि जो वैयक्तिक अथवा सामाजिक कार्य करते करते अपने व्यायाम करनेको ही भूलते हैं। यह इतनी बडी गलती है कि इससे अधिक गलती नहीं हो सकती। यदि आप सामाजिक, राष्ट्रीय अथवा धार्मिक भी कार्य करते हों, तो आपका जीवन रहने के पश्चात् ही आपसे वे कार्य हो सकते हैं। इसलिये आपके स्वास्थ्य रक्षण करने की अत्यंत आवश्यकता है और स्वास्थ्य के लिये व्यायामकी आवश्यकता है। व्यायाम शुद्ध वायुमें करना चाहिये। इस उत्तम व्यायाम के लिये " योग के आसन " सबसे उत्तम है। व्यायाम भी होता है और " हृदयको विश्राम " भी मिलता है।

साथ साथ फेफडों के व्यायाम के लिये " प्राणायाम " भी प्रतिदिन कीजिये। कोई कार्य करनेके पूर्व यदि आप एक दो प्राणायाम करेंगे, तो आपको आनंद के साथ वह कार्य उत्साहके साथ करनेकी शक्ति प्राप्त होगी। ऐसे समयमें बहुत कुंभक करने की आवश्यकता नहीं है।

व्यायाम अपनी शक्ति के अनुसार ही करना चाहिये, अधिक करने से नुकसान है। व्यायाम के समान ही विश्राम की बडी आवश्यकता होती है। विश्राम के लिये परमात्माने निद्रा उत्पन्न की है।

निद्रामें ब्राह्मी स्थिति।

निद्रामें ब्राह्मी स्थिति होती है। उस समय अपना आत्मा परमात्मामें मग्न होता है। इसी प्रकार समाधि और मुक्तिमें भी होता है। "समाधि सुषुप्ति-मुक्तिषु ब्रह्मरूपता।" इन तीनों अवस्थाओंमें ब्रह्मरूपता होती है। इसीका नाम पूर्ण विश्रांति है। परमात्मा की यही अतुल दया है कि, वह प्रत्येक प्राणीको निद्रा देकर उत्तम विश्राम देता है। मनुष्य प्रयत्न करके चित्तकी एकाग्रता करके समाधि सिद्ध कर सकता है और मुक्ति इसका श्रेष्ठ पुरुषार्थ है ही। यही " आत्मोद्धार " की परम सीमा है। हरएक को यहां तक जाना आवश्य ही है।

प्रत्येक मनुष्य मुक्ति के मार्ग में है। उसको मुक्ति और समाधि प्राप्त हो या न हो; जो निद्रा है अवश्य प्राप्त होती है और इस निद्रासे सब श्रम दूर हो जाते हैं और नवीन उत्साह प्राप्त होता है। इसलिये हरएक मनुष्य प्रतिदिन नियत समयमें अवश्य निद्रा लेनेका नियम रखे। सर्व साधारण मनुष्यों को ६।७

सूर्यके अंदर भी व्यापने वाला, तथा (दैव्यस्य हरसः)' दैवी आपत्तिको (अवयाता) दूर करनेवाला है। इसी लिये सबको वह पूजनीय है ॥ २ ॥ (अन-अवद्याभिः आभिः) दोष रहित ऐसे इन प्राणशक्तियोंके साथ वह (उ सं जग्मे) निश्चयसे मिला रहता है और (अप्सरासु अपि) इन प्राणशक्तियोंमें भी (गन्धर्वः आसीत्) भूमि आदिकोंका धारक देव विद्यमान है। (आसां स्थानं समुद्रे) इनका स्थान अन्तरिक्षमें है, (यतः) जहांसे (सद्यः) शीघ्र ही ये (आ यन्ति) आती हैं और (परा यन्ति च) परे जाती हैं। यह बात (मे आहुः) मुझे बतायी है ॥ ३ ॥ (अभ्रिये दिद्युत) बादलोंकी विद्युत में अथवा (नक्षत्रिये) नक्षत्रोंके प्रकाशमेंभी (याः) जो तुम (विश्वा-वसुं गन्धर्वं) विश्वके वसानेवाले धारक देव को (सचध्वे) प्राप्त करती हो अथवा उसकी सेवा करती हो, इसलिये हे (देवीः) देवियो! (ताभ्यः वः) उन तुमको (इत् नमः कृणोमि) निश्चय पूर्वक मैं नमन करता हूं ॥ ४ ॥ (याः क्रन्दाः) जो बुलानेवाली या प्रेरणा करनेवाली, (तमिषी-चयः) ग्लानिको हटानेवाली, (अक्ष-कामाः) आंखोंकी कामना तृप्त करनेवाली, (मनो-मुहः) मनको हिलानेवाली हैं (ताभ्यः गन्धर्व-पत्नीभ्यः अप्सराभ्यः) उन गंधर्वपत्नीरूप अप्सराओंको-अर्थात् सर्व धारक आत्माकी प्राणशक्तियोंको (नमः अकरम्) मैं नमस्कार करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ—पृथ्वी सूर्य चन्द्र नक्षत्र आदि संपूर्ण जगत् का धारण करनेवाला और संपूर्ण जगत् का एकही अद्वितीय स्वामी परमेश्वर ही है और वही सब लोगोंको पूजा और उपासना करने योग्य है। स्तुति प्रार्थना उपासनासे अर्थात् भक्तिसे उसकी प्राप्ति होती है। यह ईश्वर अपने स्वर्गधाममें है, उसीको सब लोग नमस्कार करें ॥ १ ॥ संपूर्ण जगत् का एक स्वामी और सब जगत्का धारण और पोषण कर्ता परमेश्वर ही सब लोगोंको नमस्कार करने और उपासना करने योग्य है, उसी की भक्ति और सेवा सबको करना चाहिये, क्यों कि वही सबको सच्चा आनंद देनेवाला है। यही दिव्य अद्भुत देव स्वर्गधाममें प्राप्त होता है। सबसे अत्यंत पूजनीय ऐसा यही एक देव है, यह सबमें रहता है, यहां तक कि यह सूर्यके अंदर भी है, जब इसकी प्राप्ति होती है तब सब साधारण और असाधारण आपत्तियां हटजाती हैं ॥ २ ॥ इसके साथ जीवनकी

अनंत कलाएं हैं, इतना ही नहीं परंतु वह उन जीवन शक्तियोंके अंदर भी है। इन सबका निवास मध्यलोक—अंतरिक्ष-है, जहांसे ये सब शक्तियां प्रकट होती हैं और जहां फिर गुप्त हो जाती हैं ॥ ३ ॥ बादलोंके अंदर चमकने वाली विद्युत्में क्या और नक्षत्रोंके प्रकाशमें क्या यह सब जगत्का पालन कर्ता एक रस भरा है, और इसीकी सेवा संपूर्ण जीवनकी शक्तिरूप देवियां कर रही हैं, इस लिये उनको भी नमन करना योग्य है ॥ ४ ॥ ये प्राणशक्तियां सबको प्रेरणा करनेवाली, सबको चलानेवाली, थकावटको दूर करनेवाली, आंखोंकी कामना तृप्त करनेवाली और मनको हिलानेवाली हैं। यही आत्माकी शक्तियें हैं, इस दृष्टिसे मैं इनको नमस्कार करता हूं [अर्थात् वह इनको किया हुआ मेरा नमस्कार भी उस अद्वितीय ईश्वरको ही पहुंचेगा, क्योंकि ये शक्तियां उसीके आधारसे रहती हैं।] ॥५॥

पूर्व सम्बन्ध।

प्रथम सूक्तमें "गुह्य अध्यात्मविद्या" का वर्णन किया गया है, उस सूक्तमें जिस परमात्म देवका वर्णन किया गया है, उसीका वर्णन यहां "गंधर्व" शब्द से किया गया है। उस प्रथम सूक्तके द्वितीय मंत्रमें भी "गंधर्व" शब्द है, इससे पूर्व सूक्तका इस सूक्तके साथ संबंध स्पष्ट हो जाता है।

गन्धर्व और अप्सरा।

"गंधर्व" शब्दका अर्थ पूर्व सूक्तके स्पष्टीकरणके प्रसंगमें किया ही है। (गां+धर्वः) अर्थात् (गां) भूमि, सूर्य, वाणी, इंद्रियां, अंतःकरण-शक्तियां आदिकों का (धर्वः) धारण पोषण करनेवाला आत्मा यह इसका अर्थ है। भूमि, सूर्य तथा अन्यान्य चराचर स्थूल सूक्ष्म सब पदार्थोंका धारण पोषण करनेके कारण परमात्माका यह नाम है। उसी प्रकार लघु कार्य क्षेत्रमें शरीरके अंदर वाणी प्राणशक्ति इंद्रियशक्ति आदिकोंका तथा स्थूलसूक्ष्मादि देहोंका धारण करनेके कारण जीवात्मा का भी यही नाम है। इस सूक्तमें मुख्यतया परमात्माका वर्णन है, परंतु अल्प अंश से यह वर्णन अर्थका संक्षेप करनेसे जीवात्मामें भी घटाया जा सकता है। यह गंधर्वका रूप पाठक ठीक प्रकार स्मरणमें रखें। "गंधर्व" शब्द के अन्य अर्थ प्रथम सूक्तमें पाठक देखें।

गंधर्वपत्नीभ्यः अप्सराभ्यः ॥ (मंत्र ५)

गंधर्वकी पत्नी ही अप्सराएं हैं। गंधर्व एक है परंतु उसकी अप्सराएं अनेक हैं।

(अप् + सरस्) अर्थात् (अप्) जलके आश्रयसे (सरस्) चलनेवाली, यह नाम जलाश्रित प्राणका वाचक है। " आपोमयः प्राणः " — जलमय अथवा जलके आश्रयसे प्राण रहता है, यह उपनिषदोंका कथन है और वही बात इस शब्दमें है, इसलिये "अप्सराः" शब्द प्राण शक्तियोंका वाचक वेदमें है, श्वास और उच्छ्वास अर्थात् प्राण आयुष्यरूपी वस्त्रके ताने और बानेके धागे बुन रहे हैं ऐसा भी वेदमें अन्यत्र वर्णन है—

यमेन ततं परिधिं वयन्तोऽप्सरस उप सेदुर्वसिष्ठाः।

ऋग्वेद ७।३३।९

" (अप्सरसः वसिष्ठाः) जलाश्रित प्राण (यमेन ततं) यमने फैलाई हुई (परिधिं) तानेकी मर्यादा तक (वयन्तः) आयुष्यरूपी कपडा बुनते हैं।

" यम " = आयुष्यका ताना फैलानेवाला जुलाहा।

" ताना " = आयुष्यकी अवधि, आयुष्यमर्यादा।

" प्राण " = कपडा बुननेवाले जुलाहे।

" कपडा " = आयुष्य।

" मनुष्यका आयुष्य एक कपडा है जो मनुष्य देह रूपी खुड्डीपर बुना जाता है, यहां बुननेवाले प्राण हैं। यहां " अप्सरस्" शब्द और "वसिष्ठ" ये दो शब्द प्राणवाचक आये हैं। (अप्सरस्) जलाश्रयसे रहनेवाले (वसिष्ठ) निवासके हेतु प्राण हैं।

इससे भी अनुमान हो सकता है, कि जलतत्त्वके आधार से रहनेवाला प्राण जो कि आत्माकी धर्मपत्नी रूप है ऐसा यहां कहा है, वह प्राणशक्ति, जीवन की कला ही निःसंदेह है। गंधर्व यदि आत्मा है तो उसकी धर्मपत्नी अप्सरा निःसंशय प्राणशक्ति अथवा जीवन शक्ति ही है। आत्मा और शक्ति ये दो शब्द यहांके "गंधर्व और अप्सराः" के वाचक उत्तम रीतिसे माने जा सकते हैं। शरीर में छोटा प्राण और जगत् में विश्वव्यापक प्राण है, इस कारण गंधर्वका अर्थ आत्मा परमात्मा माननेपर दोनों स्थानोंमें अर्थकी संगति हो सकती है।

महान् गन्धर्व।

इस सूक्त में पहिले दो मंत्र बडे महान् गंधर्वका प्रेमपूर्ण वर्णन कर रहे हैं, यह वर्णन देखने से निश्चय होता है कि, यहां गंधर्व शब्द परमात्माका वाचक है। देखिये—

१ भुवनस्य एक एव पतिः— भुवनोंका एकही स्वामी। इसके सिवाय और कोई भी जगत् का पति नहीं है। यही परमेश्वर सबका एक प्रभु है। (मं. १,२)

२ एक एव नमस्यः— यही एक अद्वितीय परमात्मा सब को नमस्कार करने योग्य है। इसके स्थानपर किसी भी अन्य की उपासना नहीं करनी चाहिये। (मं. १,२)

३ दिव्यः गंधर्वः— यही अद्भुत है, दिव्य पदार्थ है, यहां मनकी गति कुंठित हो जाती है, और यही (गां) भूमिसे लेकर संपूर्ण जगत् का सच्चा (धर्वः) धारक पोषक है। (मं. १)

४ विक्षु ईड्यः- सब जगत् में यही प्रशंसाके योग्य है।

५ दिवि ते सधस्थं— स्वर्गधाममें, गुह्यधाममें, अथवा तृतीय धाममें उसका स्थान है (मं. १)। [इस विषयमें प्रथम सूक्तके मंत्र १,२ देखें, जिसमें इसके गुहामें निवास होनेका वर्णन है।]

६ दिवि स्पृष्टः— इसका स्पर्श अर्थात् इसकी प्राप्ति पूर्वोक्त तृतीय गुह्य स्थानमें ही होती है। यह भी पूर्वोक्त शब्दोंका ही स्पष्टीकरण है। (मं.२)

७ सूर्यत्वक्— महान् सहस्ररश्मी सूर्य भगवान् ही इसका देह है, अर्थात् यह उस में भी है इतनाही नहीं, परंतु उसका बडा तेज भी इसीसे प्राप्त हुआ है। यह इसकी महिमा है (मं. २)। इसी प्रकार अन्यान्य पदार्थोंमें इसकी सत्ता देखनी चाहिये। यह शब्द एक उपलक्षण मात्र है।

८ विश्वा-वसुः (गंधर्वः)— विश्वका यही निवासक है। (मं.४)

ये लक्षण स्पष्ट कर रहे हैं कि यहांका यह गंधर्वका वर्णन निःसंदेह परमात्मा का वर्णन है। किसीभी अन्य पदार्थमें ये सब अर्थ पूर्णरूपसे सार्थ नहीं हो सकते। इसलिये पाठक इन लक्षणों का मनन करके अपने मनमें इस परमात्म देव की भक्ति स्थिर करें, क्योंकि यही एक सबके लिये पूजनीय देव है।

ब्रह्मकी ब्राह्म उपासना।

इस परमात्माकी प्राप्ति इसकी उपासनासे होती है। इस सूक्तमें इसकी "ब्राह्म उपासना" करनेका विधान बडा महत्त्वपूर्ण है।

१ तं त्वा यौमि ब्रह्मणा। (मं. १)

२ नमस्यः। (मं.१,२) नमस्ते अस्तु। (मं. १)

३ विक्षु ईड्यः। (मं. १)

४ सुशेवाः। (मं. २)

ये चार मंत्र भाग इसकी ब्राह्म उपासना करने के मार्ग की सूचना दे रहे हैं। ब्राह्म उपासना का अर्थ " ब्रह्मयज्ञ " अथवा मन द्वारा करने की " मानस उपासना " ही

है। आत्मा बुद्धि चित्त मन आदि अंतःसाधनोंसे ही यह परमात्म पूजा होती है, इन शक्तियोंका नामही शरीर में ब्रह्म है। ब्रह्म शब्दका अर्थ मंत्रभी है और मंत्रका आशय " मनन " है। मननसे यह उपासना करनी होती है, मनके मनन से ही यह हो सकती है, किसी अन्य रीति से यह नहीं होती है, यह स्पष्टतया बतानेके लिये यहां "ब्रह्मणा" शब्द इस मंत्र में प्रयुक्त हुआ है। यह बात ध्यान में धारण करके उक्त चार मंत्र भागों का अर्थ ऐसा होता है-

१ तं त्वा यौमि ब्रह्मणा--उस तुझ परमात्माको मननसे प्राप्त होता हूं। [मनन]
२ नमस्यः (नमस्ते)--तू ही एक नमस्कार करने योग्य है। [नमन]
३ विक्षु ईड्यः-सब जगत्में तूही प्रसंसा करनेके लिये योग्य है। [सर्वत्र दर्शन]
४ सु-शेवाः--तूही उत्तम सेवाके लिये योग्य है। [सेवन]

इन चार मंत्र भागोंके मननसे मानस पूजा की विधि ज्ञात हो जाती है। (१) प्रभुके गुणोंका मनसे मनन करना, (२) उसी को मनसे नमन करना, (३) प्रत्येक पदार्थ में तथा प्राणिमात्रमें उसका दर्शन करना और (४) सब कर्म उसकी सेवा करने के लिये करना, ये चार भाग उस प्रभुकी उपासना के हैं। इन चार भागोंमें से जितने भागोंका अनुष्ठान हुआ होगा, उतनी उपासना उतनेही प्रमाण से हुई है, ऐसा मानना चाहिये। पाठक विचार करें और अपनी उपासना की परीक्षा इस कसौटीसे करें। हर-एक मनुष्य अपने आपको परमात्मा का उपासक मानताही है, परंतु उससे जो उपासना हो रही है,वह इस वैदिक मानस उपासना की उक्त कसौटीसे किस सीढीपर गिनी जा सकती है, वह भी देखना चाहिये। इस दृष्टीसे ये चार मंत्र भाग विशेषही महत्त्व रखते हैं।

"मनन, नमन, सर्वत्र दर्शन और सेवन" ये चार नाम संक्षेप से मानस उपासना के चार अंगोंके दर्शक माने जा सकते हैं।

१ " मनन " से परमात्माके महत्त्वकी मनमें स्थिरता होती है। इस दृष्टीसे इसकी अत्यंत आवश्यकता है।

२ " नमन " जब मननसे उसका महत्त्व ज्ञात हुआ, तब स्वभावतः ही मनुष्य उस प्रभुके सामने लीन होता है। मननके पश्चात् की यह स्वाभाविक ही अवस्था है।

३ " दर्शन " मननसे ही उसकी सार्वत्रिक सत्ता का भी अनुभव होता है। स्थिर चरमें एक रस व्यापक होनेका साक्षात्कार होनेकी यह तीसरी उच्च

अवस्था है । जगत्के अंदर प्रभुका ही सर्वत्र साक्षात्कार इस अवस्था में होता है ।

ये तीनों मानसिक क्रियाएं हैं । इसके पश्चात् यह भक्त अपने आपको परमात्माके परम यज्ञमें समर्पण करता है, वह सेवावस्था है ।

४ " **सेवन** " यह इस अवस्थामें उसका सेवक बनता है । सेवन और " भजन " ये दोनों शब्द समान अर्थक ही हैं- सेवन और भजन एकही अर्थ बताते हैं । प्रभुके कार्यके लिये अपने आपको समर्पित करना, यही भक्ति या सेवा है ।

" दीनों का उद्धार " करना, साधुओंका परित्राण करना, सज्जनोंकी रक्षा करना, दुर्जनोंको दूर करना, ये ही परमात्मा के कर्म हैं । इन कर्मों को परमात्मार्पण बुद्धि से करनेका नाम ही उसकी भक्ति या सेवा है ।

नामस्मरण ।

नामस्मरण का भी यही तात्पर्य है, जैसा " हरि " (दुःखोंका हरण करनेहारा) देव है, इसलिये मैं भी दुःखितोंका दुःख यथाशक्ति हरण करूंगा और दूसरों को सुख देने के कर्म से ईश्वर की सेवा करूंगा । " राम " (आनंद देनेवाला) ईश्वर है इस लिये मैं भी दीन दुःखी मनुष्यों या प्राणियोंकी पीडा दूर करने के यत्न द्वारा परमात्माकी भक्ति या सेवा करूंगा । " नामस्मरण " का यही उद्देश्य है । यद्यपि आजकल केवल नामका स्मरणही रहा है और उससे प्राप्त होनेवाले कर्तव्य का पालन नहीं होता है, तथापि वस्तुतः इससे महान् कर्तव्य सूचित होते हैं; यह पाठक विचार से जानें और परमेश्वर के इतने नाम कहनेका मुख्य उद्देश्य समझ लें । अनेक ग्रंथ पढने से जो कर्तव्य नहीं समझता, वह एक नाम के मननसे समझमें आता है, इसी लिये वेदादि ग्रंथों में परमात्माके अनेक नाम दिये होते हैं और वे सब बडे मार्ग दर्शक हैं, परंतु देखनेवाला और कर्म करनेवाला भक्त चाहिये ।

अस्तु । ईश्वर उपासना के ये चार भाग हैं, इसका अधिक विचार पाठक करें और इस मार्गसे चलें । यही सीधा, सरल और अति सुगम मार्ग है ।

ब्राह्म उपासना का फल ।

पूर्वोक्त प्रकार मानस उपासना करनेसे जो फल प्राप्त होता है, उसका वर्णन भी इन मंत्रों में पाठक देख सकते हैं—

१ तं त्वा यौमि-- परमेश्वरके साथ मिलना, ब्रह्मरूप अवस्था प्राप्त करना। (मं. १)

२ दैव्यस्य हरसः अवयाता— परमात्मा सब महापीडाओंको दूर करनेवाला है, इस लिये सब पीडा उसकी प्राप्तिसे दूर हो जाती है। (मं. २)

३ मृडात—वह आनंद देता है। (मं. २)

इन शब्दोंके मननसे पाठकोंको पता लग जायगा कि, उपासना का फल परमानंद प्राप्ति ही है। वह प्रभु सच्चिदानंद स्वरूप होनेसे उसके साथ मिल जानेसे वही आनंद उपासकमें आ जाता है और जितनी उपासनाकी दृढता और पूर्णता होगी, उतना वह आनंद दृढ और पूर्ण होता है। यह फल प्राप्त करनेकाही पूर्वोक्त वैदिक मार्ग है।

यहां पहिले दो मंत्रोंका विचार हुआ। इसके पश्चात् के तीन मंत्रोंका वर्णन ठीक प्रकार समझमें आनेके लिये उस वर्णनको प्रथम अपने शरीरमें अनुभव करना चाहिये और पश्चात् वही भाव विशाल जगत्‌में देखना चाहिये--

अपने अंदरकी जीवन शक्ति।

इससे पूर्व बताया गया है कि, जलतत्त्वके आश्रयसे कार्य करने वाली प्राणशक्ति या जीवनशक्ति ही " अप्सराः " शब्दसे इस सूक्तमें कही है, देखिये इसका वर्णन—

१ क्रन्दाः— पुकारनेवाली, बुलानेवाली, प्रेरणा देनेवाली। प्राण शक्ति अथवा जीवनशक्ति प्राणियोंको प्रेरित करती है, इस अर्थका वाचक यह नाम है।

२ तमिषी-चयः— (तमिषी) ग्लानी अथवा थकावटको (चयः) दूर करनेवाली, थकावट को हटानेवाली प्राणशक्ति है। जो उत्साह प्राणिमात्र में है वह प्राणशक्ति का ही है, प्राणायाम से भी उत्साह बढने और थकावट दूर होनेका अनुभव है।

३ अक्ष—कामाः- (अक्षि+कामाः) आंखोंकी कामना पूर्ण करनेवाली। पाठक देखें की जबतक शरीरमें प्राण रहता है तभी तक शरीर आखोंको तृप्त कर सकता है। मुर्दा देख कर किसी मनुष्य के आंख तृप्त नहीं होते। इससे आखोंकी तृप्ति प्राण शक्तिसे होती है यह स्पष्ट है।

४ मनो-मुहः- मनको मोहित करनेवाली। इसका भाव भी उक्त प्रकार ही है।

ये चार शब्द शरीरमें प्राण शक्तियों अथवा जीवन की शक्तियोंके वाचक हैं। पाठक इन शब्दोंके अर्थोंका अनुभव अपने अंदर करें। इनको (मंत्र ५ में) "गंधर्व-पत्नी अप्सराः"

कहा है। गंधर्व इस शरीरके अंदर जीवात्मा है और उसकी पत्नियें जीवन शक्तियां अथवा प्राण शक्तियां हैं, प्राण जलतत्त्वके आश्रयसे रहता है, इस लिये जलाश्रित होनेके कारण (अप्+सरः) यह शब्द प्राणमें अत्यंत सार्थ होता है। इन प्राणशक्तियों को नमन पंचम मंत्रमें किया है। प्राणके आधीन सर्व जगत् है यह देखनेसे प्राणका महत्त्व जाना जाता है। पाठक भी अपने शरीरमें प्राण का महत्त्व देखें, प्राण रहने तक शरीर की शोभा कैसी होती है और प्राण जानेके पश्चात् शरीरकी कैसी अवस्था हो जाती है; इसका मनन करनेसे अपने शरीरमें प्राणका महत्त्व जाना जा सकता है। जो नियम एक शरीरमें है वही सब शरीरों के लिये है। इस प्रकार प्राणकी दिव्य शक्तिका अनुभव करके इस मंत्र ५ में उस प्राणको नमन किया है।

प्राण का प्राण ।

यहां प्रश्न होता है, कि क्या यह पत्नियें स्वतंत्र हैं या परतंत्र? "पत्नी" शब्द कहने मात्रमेंही वह पतिके आधीन, पतिके साथ रहनेपर शोभा को बढाने वाली, पतिके रहित होनेसे दुःखी, पति ही जिसका उपास्य दैवत है, इत्यादि बातें ज्ञात होजाती हैं। वेदके धर्ममें पतिके साथ धर्माचरण करनेवाली सहधर्मचारिणी ही पत्नी होती है। इस लिये गंधर्व (आत्मा) और अप्सरा (प्राणशक्ति) उसी नातेसे देखने चाहिये। जिस प्रकार पतिसे शोभा प्राप्त करके पत्नी गृहस्थकार्य करती है, उसी प्रकार इस छोटे गंधर्व (जीवात्मा) से उसकी अप्सरा स्त्री (प्राणशक्ति) बल प्राप्त करके अपने गृह (शरीर) के अंदरके सब कामकाज चलाती है। इसलिये जो सौंदर्य अथवा शोभा धर्मपत्नीकी दिखाई देती है वह वास्तवमें पतिसे ही प्राप्त हुई होती है, इस लिये धर्मपत्नीको किया हुआ नमस्कार धर्मपत्नीके लिये नहीं होता है, परन्तु वह उसके पतिके लिये ही होता है, क्यों कि पति विरहित विधवा स्त्रीको अशुभ समझकर कोई नमस्कार नहीं करते। इसी प्रकार यहां बताना यह है कि प्राणशक्ति अथवा जीवनशक्ति जीवात्माके आश्रयसे कार्य करनेवाली है, उसके अभावमें वह कार्य नहीं कर सकती। इस लिये जो वर्णन, प्रशंसन या महत्त्व प्राणशक्तिका बताया जाता है वह प्राणका नहीं है, परंतु प्राणके प्राणका—अर्थात् आत्माका— है, यह बात भूलना नहीं चाहिये। इसी कारण यहांका प्राणशक्तिको किया हुआ नमन आत्माके ही उद्देश्यसे है, न कि केवल प्राणके लिये।

ऐसा क्यों कहा है ?

इतने लंबे ढंगसे यह बात क्यों कही है? यहां वेदको यह बताना है, कि संपूर्ण स्थूल विश्वके जो रंग, रूप, रस, आकार आदि हैं, वे सब आत्माकी शक्तिके कारण बने हैं, यदि जगत्से आत्माकी शक्ति हटाई जाय, तो न जगत् रहेगा और न उसकी शोभा रहेगी। जिस प्रकार पति रहित स्त्री विधवा होकर शोभा रहित होजाती है, उसी प्रकार आत्मा रहित शरीर मृत, मुर्दा और तेजोहीन हो जाता है, देखने लायख नहीं रहता। इसी प्रकार जगत्भी आत्मासे रहित होनेपर निःसत्त्व होगा। इस लिये जगत् की ओर देखनेके समय आत्मदृष्टि रखनी चाहिये, न कि स्थूल दृष्टि। जिस प्रकार किसी सुवासिनी स्त्री की ओर देखनेसे उसमें पतिकी सत्ता देखनी होती है, पतिहीन स्त्री दुर्वासिनी समझी जाती है; इसी प्रकार आत्मारहित शरीर और परमात्मारहित जगत् है।

गुलाब का फूल, आमका वृक्ष, सूर्यका प्रकाश, इसी प्रकार प्राणियोंका प्राण आदि सब देखते हुए सर्वत्र आत्माकी शक्ति अनुभव करनी चाहिये। वही सबका धारक "गंधर्व" सर्वत्र उपस्थित है और उसीके प्रभावसे यह सब प्रभावित हो रहा है, ऐसा भाव मनमें सदा जाग्रत रहना चाहिये। इस विचार से देखनेसे अप्सराओंको किया हुआ नमन गंधर्वके लिये कैसा पहुंचना है, यह बात स्पष्ट होगी और यह गंधर्व भुवनोंका एक अद्वितीय पतिही है, वही सब के लिये (नमस्यः) नमस्कार करने योग्य है; यह जो प्रथम और द्वितीय मंत्रमें कहा है उस विधान के साथ भी इसकी संगति लग जायगी। नहीं तो पहिले दो मंत्रोंमें यह परमात्मा (नमस्यः) नमस्कार करने योग्य है ऐसा कहा है, परंतु आगे चतुर्थ और पंचम मंत्रमें अप्सराओंको नमस्कार किया है। यह विरोध उत्पन्न होगा। यह विरोध पूर्वोक्त दृष्टिसे विचार करनेसे नहीं रहता है—

विरोधालङ्कार।

ताभ्यो वो देवीर्नम इत्कृणोमि ॥ (मं. ४)

ताभ्यो गंधर्वपत्नीभ्यः अप्सराभ्यः अकरं नमः ॥ (मं ५)

" उन गंधर्व पत्नी अप्सरा देवियोंको मैं नमस्कार करता हूं। " पहिले दो मंत्रोंमें " एक ही जगत्पालक गंधर्व नमस्कार करने योग्य है " ऐसा कहकर अंतिम दो मंत्रोंमें उसको नमन न करते हुए " उसकी धर्मपत्नीयोंको ही नमस्कार किया है।" यह विरोधालंकार है। पहिले कथन के बिलकुल विरुद्ध दूसरा कथन है। जो (नमस्यः) नमस्कार करनेयोग्य है उसको तो नमन किया ही नहीं, परंतु जिनके

नमस्कार योग्य होनेके विषयमें किसी स्थानपर नहीं कहा, उनको नमस्कार किया है । इस सूक्तमें विरोध भी समबल है। पहिले दोनों मंत्रोंमें गंधर्वके नमस्कार योग्य होने के विषयमें दोवार कहा है, इतनाही नहीं परंतु—

एक एव नमस्यः। (मं. १, २)

" यही एक नमस्कार करने योग्य देव है।" ऐसा निश्चयार्थक वाक्यसे कहा है, जिससे किसीको संदेह नहीं होगा। परंतु आश्चर्य की बात यह है, कि जिस समय नमस्कार करनेका समय आगया, उस समय उसी प्रकार दो मंत्रोंमें (मं. ४, ५ में) उसकी पत्नियों को ही नमस्कार किया है और विशेष कर पतिको नमन नहीं किया। यह साधारण विरोध नहीं है। इसका हेतु देखना चाहिये।

व्यवहारकी बात।

जिस समय आप किसी मित्रको नमस्कार करते हैं उस समय आप विचार कीजिये कि क्या आप उसके आत्मा को नमस्कार करते हैं, या उसके शरीरको, अथवा उसके प्राणोंको, या उसकी इंद्रियोंको करते हैं। आपके सामने तो उसका आत्मा रहता ही नहीं, न आप आत्माको देख सकते, न उसको स्पर्श कर सकते हैं, जिसको देख भी नहीं सकते उसको आप नमस्कार कैसा कर सकते हैं ? विचार कीजिये, तो पता लग जायगा कि आपका नमस्कार आपके मित्रकी आत्मा के लिये नहीं है।

परंतु यदि " आत्माके लिये नमन नहीं है, " ऐसा पक्ष स्वीकारा जाय तो कहना पडेगा कि, कोई भी मनुष्य अपने मित्रके मुर्दा शरीरको–मृत शरीरको–नमस्कार नहीं करता। तो फिर नमस्कार किस के लिये किया जाता है ? यह बात हमारे प्रतिदिनके व्यवहार की है, परंतु इसका उत्तर हरएक मनुष्य नहीं दे सकता। परंतु हर एक मनुष्य दूसरे को नमस्कार तो करता ही है।

जडचेतन का संधि–प्राण।

यहां वास्तविक बात यह है, कि स्थूल शरीर और उसकी इंद्रियां, प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं, और प्राण यद्यपि अदृश्य है तथापि श्वासोच्छ्वास की गतिसे प्रत्यक्ष होता है, परंतु मन बुद्धि और आत्मा अदृश्य हैं। इनमें भी मनबुद्धी कर्मोंके अनुसंधानसे जानी जा सकती हैं, परंतु आत्मा तो सर्वदा अप्रत्यक्ष है। देखिये—

शरीर —— इंद्रियां —— "प्राण" —— मनबुद्धि —— आत्मा

दृश्य ——◆—— ० ——◆—— अदृश्य

प्राण ऐसा स्थान रखता है कि जो एक ओर दृश्य और दूसरी ओर अदृश्य को जोडनेका बिंदु है। इसीलिये स्थूल दृश्यसे सूक्ष्म अदृश्य तक पहुंचनेके लिये योगादि शास्त्रों में प्राणका ही आलंबन कहा है, क्योंकि यही एक प्राण है कि, जो स्थूल सूक्ष्म, दृश्य अदृश्य, जड चेतन, शक्ति पुरुष इनको जोड देता है। इस कारण यह भुवनका मध्य कहा जाता है। और आध्यात्मिक उन्नतिके साधन के लिये प्राणकाही आलंबन सबसे मुख्य माना गया है। क्योंकि यह अदृश्य होते हुए अनुभवमें आसकता है और इसीसे सूक्ष्मतत्त्वका अनुसंधान होता है।

साधारण अज्ञ लोग नमन तो स्थूलशरीर को देखकर ही करते हैं, उससे अधिक ज्ञानी प्राणका अस्तित्व जानकर करते हैं. उससे भी उच्च कोटीके ज्ञानी इसमें जो अधिष्ठाता है उसको देखकर उसे नमन करते हैं। यद्यपि नमन एकही है तथापि करने वाले के अधिकार भेदके अनुसार नमन विभिन्न वस्तुओं के लिये होता है।

स्थूलसे सूक्ष्मका ज्ञान।

इस में एक बात सत्य है और वह यही है, कि यदि जगत्में स्थूल शरीर-स्थूल पदार्थ-एकभी न रहा, तो चेतन आत्मा की कल्पना होना असंभव है; इस लिये चेतन आत्माकी शक्ति जाननेके लिये स्थूल विश्वकी रचना अत्यंत आवश्यक है। अतः स्थूल-के आलंबन से सूक्ष्मकी कल्पना की जाती है और इसी लिये शरीर में कार्य करनेवाली प्राणशक्तियोंको (मंत्र ४,५)में नमन करके शरीरके मुख्याधिष्ठाता आत्मा तक नमन पहुंचाया है। यहां ध्यानमें धरने योग्य बात यह है कि जड शरीर को नमन नहीं किया; परंतु जडचेतन की संगति करनेवाली प्राणशक्तियोंको नमन किया है; अर्थात् स्थूलको पीछे रख कर जहां सूक्ष्मकी शक्तियां प्रारंभ होती हैं, वहां उन सूक्ष्म शक्तियों को नमन किया है। यहां बिलकुल स्थूल का आलंबन छोडनेका भी उपदेश मिलता है।

प्रत्यक्षसे अप्रत्यक्ष।

इस विवरणसे पाठक समझही गये होंगे कि प्रत्यक्ष वस्तुके निमित्तके अनुसंधानसेही अप्रत्यक्षको नमन किया जा सकता है। जो सब जगत्का एक प्रभु है वह सर्वव्यापक और पूर्ण अदृश्य है, वास्तवमें वही सबके लिये नमस्कार करने योग्य है, और कोई दूसरा नमस्कार के लिये योग्य नहीं है; तथापि जगत् के स्थूल-सूर्य चंद्रादि पदार्थों-के प्रत्यक्ष करनेसे ही उसके सामर्थ्य का कुछ अनुमान हो सकता है, जगत् के कार्य देखने से ही उसके अद्भुत रचना चातुर्य का अनुमान होता है, इस लिये जगत्में—हरएक

पदार्थमें-उसकी सत्ताका अनुभव करना चाहिये और प्रत्येक पदार्थ को देखकर प्रत्येक पदार्थका महत्त्व उसीके कारण है, यह जानकर उसमें उसको नमन करना चाहिये। तभी तो उसको नमन होसकता है। सूर्यको देखकर उसके प्रकाशका तेज परमात्मासे प्राप्त है, यह जानकर उसकी अगाध सामर्थ्यका उसमें अनुभव करते हुए अंतःकरणसे उसको नमन करना चाहिये। यही बात हरएक वस्तुके विषयमें होसकती है। यही बात इसी सूक्तके चतुर्थ मंत्रमें कही है—

अभ्रिये दिद्युन्नक्षत्रिये या
विश्वावसुं गन्धर्वं सचध्वे ॥ (मंत्र ४)

" मेघोंकी विद्युत्में क्या और नक्षत्रोंके प्रकाशमें क्या तुम विश्वके बसानेवाले सर्वधारक परमात्माको प्राप्त करती हैं। " इस मंत्रमें वही बात कही है कि, विद्युत् की चमकाहट देखनेसे या तेजोगोलकों को देखनेसे उस अद्वितीय आत्माकी सत्ताकी जागृति होनी चाहिये, उस परत्माकी सामर्थ्य ध्यानमें आनी चाहिये, उस आदि देवका अद्भुत रचना चातुर्य मनमें खडा होना चाहिये। यही प्रभुको सर्वत्र उपस्थित समझना है, यही रीति है कि जिससे ज्ञानी उसका सर्वत्र साक्षात्कार करता है।

पाठक यहां देखें कि, प्रथम और द्वितीय मंत्रमें " वह प्रभु ही अकेला वंदनीय है" ऐसा कहा और नमन करनेके समय जगत्में कार्य करनेवाली प्राण शक्तियोंको (मंत्र ४, ५ में) नमन किया " इसकी संगति पूर्वोक्त प्रकार है। इस दृष्टिसे इसमें कोई विरोध नहीं है और विचार करनेसे पता लगता है कि यही सीधा मार्ग है। इसी उपासना मार्गसे जाना हर एक के लिये सुगम है। मेघोंमें चमकने वाली विद्युत्में तथा तेजो गोलकों के प्रकाशमें उस प्रभुकी सामर्थ्य देखना ही उसका साक्षात्कार करना है, यदि विश्वके अंतर्गत पदार्थोंका विचार करना ही छोड दिया जाय, तो उस प्रभुका सामर्थ्य कैसा समझमें आवेगा ?

यहां चतुर्थ और पंचम मंत्रोंका विचार समाप्त हुआ और इस विचार की प्रत्यक्षता हमने अपने अंदर देखी, क्योंकि यही स्थान है कि, जहां हमें प्रत्यक्ष अनुभव होता है। अब इसको जगत् मे व्यापक दृष्टिसे देखना है, परंतु इसके पूर्व हमें तृतीय मंत्रका विचार करना चाहिये। इस तृतीय मंत्रमें दो कथन बडे महत्त्व पूर्ण हैं, वे अब देखिये —

प्राणोंका आना और जाना।

समुद्र आसां स्थानं म आहुर्यतः सद्य
आ च परा च यन्ति ॥ (मं. ३)

"समुद्र इनका स्थान है, ऐसा मुझे कहा गया है, जहांसे बार बार इधर आती हैं और परे चली जाती हैं।" इस मंत्रमें प्राणशक्तिका वर्णन उत्तम रीतिसे किया है। (आयन्ति, परायन्ति) इधर आती हैं और परे जाती हैं। प्राणकी ये दो गतियां हैं, एक "आना," और दूसरी "जाना" है। श्वास और उच्छ्वास ये दो प्राणकी गतियें प्रसिद्ध हैं। प्राण अपान ये भी दो नाम हैं। एक गति बाहरसे अंदर जानेका मार्ग बताती है और दूसरी अंदरसे बाहर जानेका मार्ग बताती है। ये दो गतियां सबको विदित हैं।

इन प्राणोंका स्थान हृदयके अंदरका मानस समुद्र है, हृदय स्थान है, इस सरोवर या समुद्रमें जाकर प्राण डुबकी लगाता है और वहां स्नान करके फिर बाहर आता है। वेदोंमें अन्यत्र कहा है कि—

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्।
यदङ्ग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्रीः
नाऽहः स्यान्न व्युच्छेत्कदाचन ॥

अथर्व. ११।४(६) २१

"यह (हं-सः) प्राण अपना एक पांव सदा वहां रखता है, यदि वह पांव वहांसे हटायेगा तो इस जगत्‌में कोई भी नहीं जीवित रह सकता। न दिन होगा और न रात्री होगी। (अथर्व० ११।४ (६) २१)" प्राण अंदरसे बाहर जानेके समय अपना संबंध नहीं छोडता, यदि इसका संबंध बाहर आनेके समय छूट जायगा तो प्राणीकी मृत्यु होगी। यही बात इस सूक्तके तृतीय मंत्रमें कही है। हृदयका अंतरिक्षरूपी समुद्र इस प्राणका स्थान है, वहांसे यह एक बार बाहर आता है और दूसरी बार अंदर जाता है, परंतु बाहर आता है उस समय वह सदाके लिये बाहर नहीं रहता; यदि यह बाहर ही रहा और अंदर न गया, तो प्राणी जीवित नहीं रह सकता। यह प्राणका जीवन के साथ संबंध यहां देखना आवश्यक है। यह देखनेसे ही प्राणका महत्त्व ध्यानमें आसकता है। और प्राण की शक्ति का महत्त्व जाननेके पश्चात् प्राणका भी जो प्राण है, उस आत्माका भी महत्त्व इसके नंतर इसी रीतिसे और इसी युक्तिसे जाना जा सकता है।

प्राणोंका पति।

यह वास्तवमें एकही प्राण है तथापि विविध स्थानोंमें रहने और विविध कार्य करनेसे उसके विविध भेद माने जाते हैं। मुख्य प्राण पांच और उपप्राण पांच मिल कर दस भेद नाम निर्देशसे शास्त्रकारोंने गिने हैं, परंतु यह कोई मर्यादा नहीं है, अनेक स्थानोंकी और अनेक कार्योंकी कल्पना करनेसे अनेक भेद माने जा सकते हैं। प्राणको अप्सराः शब्द इस सूक्तमें प्रयुक्त किया है और वह एक गन्धर्वके साथ रहती है ऐसा भी आलंकारिक वर्णन किया है। इसी दृष्टिसे निम्न मंत्र भाग अब देखिये—

अनवद्याभिः समु जग्म आभिः
अप्सरास्वपि गंधर्व आसीत्॥ (मं. ३)

"इन निर्दोष अनेक अप्सराओंके साथ वह एक गंधर्व संगति करता है और उन अप्सराओंमें वह गंधर्व रहता है।"

यदि गंधर्व और अप्सराएं ये शब्द हटादिये और अपने निश्चित किये अर्थोंके अनुसार शब्द रखे, तो उक्त मंत्र भाग का अर्थ निम्न लिखित प्रकार होता है- "इन निर्दोष अनेक प्राण शक्तियोंके साथ वह एक आत्मा संगति करता है, संमिलित होता है और उन प्राणोंके अंदर भी यह सर्वधारक आत्मा रहता है।"

यह अर्थ अति सुबोध होनेसे इसके अधिक स्पष्टीकरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि इसके हरएक बातका विशेष स्पष्टीकरण इससे पूर्व आचुका है। इसलिये यह रूपक पाठक स्वयं समझ जांयगे। सब प्राण आत्मासे शक्ति लेकर शरीरमें कार्य करते हैं, और आत्मा भी प्राणोंके अन्दर रहता है। इस विषयमें यजुर्वेद कहता है—

सो असावहम्। यजु. अ. ४०।१७

"(सः) यह (असौ) असु अर्थात् प्राणके बीचमें रहनेवाला आत्मा (अहं) मैं हूं।" अर्थात् प्राणोंके मध्यमें आत्मा रहता है और आत्माके बाहर प्राण या जीवन शक्ति रहती है और ये दोनो जगत् का सब व्यवहार कर रहे हैं।

ब्रह्माण्ड देह।

पाठक ये सब बातें अपने अंदर देखें। परंतु यहां केवल अपने अंदर देख कर और अनुभव करके ही ठहरना नहीं है, जो बात छोटे क्षेत्रवाले अपने देहमें देखी है वही बडे ब्रह्मांड देहमें देखना है, अथवा विराट पुरुषमें कल्पना करना है। इस सूक्तमें विश्वव्यापक आत्माका वर्णन करना मुख्य उद्देश्य है। तथापि समझमें आनेके लिये हमने ये सब बातें

अपने अंदर देखनेका विचार किया, अब इसी ढंगसे ब्रह्मांड देहकी कल्पना करना चाहिये।

जिस प्रकार प्राणी के देहमें प्राण हैं उसी प्रकार ब्रह्माण्ड देह में विश्वव्यापक प्राण का महासमुद्र है। इसी महाप्राण समुद्रसे हम थोडासा प्राणका अंश लेते हैं। इस प्रकार अन्यान्य शक्तियां भी इस ब्रह्माण्ड देहमें बडी विशाल रूपमे हैं। दोनों स्थानोंमें शक्तियां एकही प्रकारकी हैं, परंतु अल्पत्व और महत्त्व का भेद है। इसीलिये अपने अंदर की व्यवस्था देखनेसे बाह्य व्यवस्था जानी जा सकती है।

सारांश

पाठक इस सूक्तमें परमात्माकी सर्वव्यापक सत्ता देख सकते हैं। वही एक उपास्य देव है, वही सबका आधार है। वह सबके दुःख दूर करता है और सबको सुख देता है।

इसकी प्राप्ती मानस उपासनासे करनी चाहिये। इसको सब स्थानमें उपस्थित मानकर, इसको नमन करना चाहिये। हरएक सृष्टिके अंतर्गत पदार्थमें इसका कार्य देखनेका अभ्यास करनेसे इसके विषयमें ज्ञान होने लगता है और इसके विषयमें श्रद्धा बढती जाती है।

इसके साथ प्राणशक्ति रहती है जो जगत्में किसी समय प्रकट होती है और किसी समय गुप्त छिपी रहती है। यह कहां प्रकट होती है और कहां छिपी रहती है, यह देखनेसे जगत्में चलनेवाले इसके कार्यकी कल्पना होसकती है।

यह जैसा मेघोंकी बिजुलीमें प्रकाश रखता है उसी प्रकार नक्षत्रोंमें भी प्रकाश रखता है। प्रकाशकोंका भी यही प्रकाशक है, बडोंमें भी वह बडा है, सूक्ष्मोंसे भी यह सूक्ष्म है, इस प्रकार इसको जानकर सब भूतोंमें इसका अनुभव करके इसको नमन करना चाहिये। इसके सामने सिर झुकाना चाहिये।

सब जगत् में जो प्रेरणा, उत्साह और प्रेम हो रहा है, वह इसकी जीवन शक्तिसे ही है। यह जानकर सर्वत्र इसकी महिमा देखकर इसकी पूजा करनी चाहिये।

"मनन, नमन, सर्वत्र दर्शन" करनेके पश्चात् इसकी सेवा करनेके लिये उसके कार्य में अपने आपको समर्पित करना चाहिये। "सज्जन पालन, दुर्जन निर्दलन" रूप परमात्माके कर्ममें पूर्वोक्त रीतिके अनुसार अपने कर्तव्यका भाग आनंदसे करना ही उसकी भक्ति करना है और यह करनेके लिये "दुःखितोंके दुःख दूर करनेके कार्य अपने सिर पर आनन्दसे लेने चाहिये।" ईशप्राप्तिका यह सीधा उपाय इस सूक्त द्वारा प्रकाशित हुआ है। पाठक इसका अधिक विचार करें।

आरोग्य-सूक्त ।

(३)

[ऋषिः— अंगिराः । देवता—भैषज्यं, आयुः, धन्वन्तरिः ।]

अदो यदवधावत्यवत्कमधि पर्वतात् ।
तत्ते कृणोमि भेषजं सुभेषजं यथाससि ॥ १ ॥
आदङ्गा कुविदङ्गा शतं या भेषजानि ते ।
तेषामसि त्वमुत्तममनास्रावमरोगणम् ॥ २ ॥
नीचैः खनन्त्यसुरा अरुस्राणमिदं महत् ।
तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥ ३ ॥
उपजीका उद्भरन्ति समुद्रादधि भेषजम् ।
तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमशीशमत् ॥ ४ ॥
अरुस्राणमिदं महत्पृथिव्या अध्युद्भृतम् ।
तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥ ५ ॥
शं नो भवन्त्वप ओषधयः शिवाः ।
इन्द्रस्य वज्रो अप हन्तु रक्षस आराद्विसृष्टा इषवः पतन्तु रक्षसाम् ॥ ६ ॥

अर्थ— (अदः यत्) वह जो (अवत्-कं) रक्षक है और जो (पर्वतात् अधि अवधावति) पर्वतके ऊपरसे नीचेकी ओर दौडता है। (तत् ते) वह तेरे लिये ऐसा (भेषजं कृणोमि) औषध करता हूं (यथा सुभेषजं असासि) जिससे तेरा उत्तम औषध बन जावे ॥ १ ॥ हे (अंग अंग) प्रिय ! (आत् कुवित) अब बहुत प्रकारसे (या ते) जो तेरेसे उत्पन्न होने वाले (शतं भिषजानि) सैकडों औषधें हैं, (तेषां) उनमेंसे (त्वं) (अनास्रावं) घावको हटाने वाला और (अ-रोगणं) रोगको दूर करने वाला (उत्तमं असि) उत्तम औषध है ॥ २ ॥ (असु-राः) प्राणोंको बचानेवाले वैद्य

(इदं महत् अरुस्-स्राणं) इस बडे व्रणको पकाकर भर देनेवाले औषध को (नीचैः खनन्ति) नीचेसे खोदते हैं । (तत् आस्रावस्य भेषजं) वह घाव-का औषध है, (तत् उ रोगं अनीनशत्) वह रोग का नाश करता है ॥३॥ (उपजीकाः) जलमें काम करने वाले (समुद्रात् अधि) समुद्रसे (भेषजं उद्धरन्ति) औषध ऊपर निकालकर लाते हैं, (तत् आस्रावस्य भेषजं) वह घावका औषध है, (तत् रोगं अशीशमत्) वह रोगका शमन करता है ॥ ४ ॥ (इदं अरुस्-स्राणं) यह फोडेको पकाकर भरनेवाला (महत्) बडा औषध (पृथिव्याः अधि उद्भृतं) भूमीके ऊपरसे निकालकर लाया है । (तत् आस्रावस्य भेषजं) वह घावका औषध है, (तत् ऊ) वह (रोगं अनीनशत्) रोगका नाश करता है ॥५॥ (आपः) जल और (ओषधयः) औषधियां (नः) हमारे लिये (शिवाः शं भवन्तु) शुभ और शांति दायक हों । (इन्द्रस्य वज्रः) इन्द्रका शस्त्र (रक्षसः अपहन्तु) राक्षसोंका हनन करे । तथा (रक्षसां विसृष्टाः इषवः) राक्षसोंद्वारा छोडे हुए बाण हमसे (आरात् पतन्तु) दूर गिरें ॥ ६ ॥

भावार्थ—एक औषध पर्वतके ऊपरसे नीचे लाया जाता है उससे उत्तम से ऊत्तम औषधी बनती है ॥ १ ॥ उससे तो अनेकाअनेक औषधियां बनायीं जाती हैं, परंतु घावको हटाने अर्थात रक्तस्राव को ठीक करनेके काम में वह औषधि बहुत ही उपयोगी है॥२॥ प्राण को बचाने वाले वैद्य लोग इस औषध को खोद खोद कर लाते हैं, उससे घावको ठीक करने का औषध बनाते हैं जिससे रोग दूर हो जाता है ॥ ३ ॥ जलमें काम करने वाले भी समुद्रसे एक औषध ऊपर लाते हैं वह भी घावको ठीक कर देता है और रोग को शान्त कर देता है ॥ ४ ॥ यह पृथ्वीपरसे लाया हुआ औषध भी फोडेको ठीक करता है, घावको भर देता है और रोगका नाश करता है ॥ ५ ॥ जल और औषधियां हमारे लिये आरोग्य देनेवाली हों । हमारे क्षत्रियों के शस्त्र शत्रुओंको भगादेवें और शत्रुओंके हमपर फेंके हुए शस्त्र हम सबसे दूर गिरें ॥ ६ ॥

औषधि

इस सूक्तका "असु+र" शब्द "प्राण रक्षक" वैद्यका वाचक है न कि राक्षस का ।

पर्वत के ऊपरसे, समुद्रके अंदरसे, तथा पृथ्वीके ऊपरसे अनेकानेक औषधियां लायीं जाती हैं , और उन से सेकडों रोगोंपर दवाइयां बनायीं जाती हैं । इन औषधोंसे मनुष्योंके घाव, व्रण तथा अन्यान्य रोग दूर होकर उनको आरोग्य प्राप्त होता है । जल और औषधियोंसे इस प्रकार आरोग्य प्राप्त करके मनुष्योंका कल्याण हो सकता है ।

इस सूक्तमें यदि किसी विशेष औषधका वर्णन होगा तो वह हमारे ध्यान में नहीं आया है ।

सुविज्ञ वैद्य इस सूक्त का विशेष विचार करें । इस समय इस सूक्त में सामान्य वर्णन ही हमें दिखाई देता है ।

शस्त्रोंका उपयोग ।

क्षत्रियों के शस्त्र शत्रुओंपर ही गिरें अर्थात् आपसमें लडाई न हो, यह अंतिम मंत्र का उपदेश आपस में एकता रखने का महत्त्वपूर्ण उपदेश दे रहा है, वह ध्यानमें धरने योग्य है ।

इस सूक्तके षष्ठ मंत्रमें " हमारे शूर पुरुषका शस्त्र शत्रुपर गिरे, परंतु शत्रुके शस्त्र हम तक न पहुंच जांय" ऐसा कहा है, इससे अनुमान होता है कि यह सूक्त विशेष कर उन रक्त स्रावोंके दूरीकरणके लिये है कि जो रक्तस्राव युद्धमें शस्त्रोंके आघातसे होते हैं । युद्ध करनेके समय जो एक दूसरे से संघर्ष होता है और उसमें चोट आदि लगने तथा शस्त्रोंसे घाव होने से जो व्रण आदि होते हैं, उनसे जैसा रक्त स्राव होता है, उसी प्रकार सूजन होना और फोडे उत्पन्न होना भी संभव है । इस प्रकारके कष्टोंसे बचानेके उपाय बतानेके लिये यह सूक्त है। परंतु ऐसी पीडा दूर करनेके लिये कौनसा उपाय करना अथवा किस युक्तिसे आरोग्य प्राप्त करना इत्यादि बातोंका पता इस सूक्तसे नहीं लगता है । इस लिये इस समय हम इस सूक्तका अधिक विचार करनेमे असमर्थ हैं ।

जङ्गिड-मणि।

(४)

[ऋषिः— अथर्वा। देवता—चंद्रमाः, जङ्गिडः]

दीर्घायुत्वाय बृहते रणायारिष्यन्तो दक्षमाणाः सदैव।
मणिं विष्कन्धदूषणं जङ्गिडं बिभृमो वयम् ॥ १ ॥
जङ्गिडो जम्भाद्विशराद्विष्कन्धादभिशोचनात्।
मणिः सहस्रवीर्यः परि णः पातु विश्वतः ॥ २ ॥
अयं विष्कन्धं सहतेऽयं बाधते अत्त्रिणः।
अयं नो विश्वभेषजो जङ्गिडः पात्वंहसः ॥ ३ ॥
देवैर्दत्तेन मणिना जङ्गिडेन मयोभुवा।
विष्कन्धं सर्वा रक्षांसि व्यायामे सहामहे ॥ ४ ॥
शणश्च मा जङ्गिडश्च विष्कन्धादभि रक्षताम्।
अरण्यादन्य आभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः ॥ ५ ॥
कृत्यादूषिरयं मणिरथो अरातिदूषिः।
अथो सहस्वाञ्जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ६ ॥

अर्थ— (दीर्घायुत्वाय) दीर्घआयुकी प्राप्तिके लिये तथा (बृहते रणाय) बडे आनंद के लिये (वि-स्कन्ध-दूषणं) शोषक रोग को दूर करने वाले (जङ्गिडं मणिं) जंगिड मणिको (अ-रिष्यन्तः दक्षमाणाः वयं) न सडने वाले परंतु बलको बढानेवाले हम सब (बिभृमः) धारण करते हैं ॥ १ ॥ यह (सहस्र-वीर्यः) हजारों सामर्थ्योंसे युक्त (जङ्गिडः मणिः) जंगिड मणि (जम्भात्) जमुहाई बढानेवाले रोगसे, (वि-शरात्) शरीर क्षीण करनेवाले रोगसे, (वि-स्कन्धात्) शरीरको शुष्क करने वाले शोषकरोगसे

(अभि-शोचनात्) रोनेकी ओर प्रवृत्ति करने वाले रोगसे (विश्वतः) सब प्रकारसे (नः परि पातु) हम सबका रक्षण करे ॥ २ ॥ (अयं) यह जंगिड मणि (वि-स्कन्धं सहते) शोषक रोगसे बचाता है, (अयं) यह मणि (अत्रिणः बाधते) भक्षक भस्म रोगसे बचाता है। (अयं जंगिडः) यह जंगिड मणि (विश्व-भेषजः) सर्व औषधियोंका रस ही है, वह (नः अंहसः पातु) हमें पापसे बचावे ॥३॥ (देवैः दत्तेन) दिव्य मनुष्यों द्वारा दिये हुए (मयोभुवा) सुख देनेवाले (जंगिडेन मणिना) जंगिड मणिसे (विष्कन्धं) शोषक रोगको और (सर्वा रक्षांसि) सब रोगजंतुओंको (व्यायामे) संघर्ष में (सहामहे) दवा सकते हैं ॥ ४ ॥ (शणः च) सण और (जंगिडः च) जंगिड ये दोनों (विष्कंधात्) शोषक रोगसे (मा अभिरक्षताम्) मेरा बचाव करें। इन में से (अन्यः) एक (अरण्यात् आभृतः) वन से लाया है और (अन्यः) दूसरा (कृष्याः रसेभ्यः) खेतीसे उत्पन्न हुए रसोंसे बनाया है ॥ ५ ॥ (अयं मणिः) यह मणि (कृत्या-दूषिः) हिंसासे बचानेवाला है (अथो) और (अ-राति-दूषिः) शत्रुभूतरोगों को दूर करने वाला है (अथो) ऐसा यह (महस्वान् जंगिडः) बलवान् जंगिडमणि (नः आयूंषि तारिषत्) हमारे आयुष्योंको बढावे ॥ ६ ॥

भावार्थ— दीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेके लिये और नीरोगताका बडा आनंद अनुभव करनेके लिये जंगिड मणिको शरीर पर हम धारण करते हैं, इस से हमारी क्षीणता नहीं होगी और हमारा बल भी बढेगा, क्यों कि यह मणि शुष्कता अर्थात् शोषक रोगको दूर करता है ॥ १ ॥ यह मणि साधारणतः हजारों सामर्थ्योंसे युक्त है, परंतु विशेष कर जमुहाई बढानेवाले, क्षीणता करने वाले, शरीरको सुखानेवाले, विना कारण आंखोंमें रोनेके आंसू लानेवाले रोगोंसे यह मणि बचाता है ॥ २ ॥ यह मणि शोषक रोग को दूर करता है और जिसमें बहुत अन्न खाया जाता है, परंतु शरीर कृश होता रहता है; इस प्रकार के भस्म रोगसे भी बचाता है। इस मणिमें अनेक औषधियोंके गुण हैं, इस लिये यह हमें पापवृत्तिसे बचावे ॥ ३ ॥ थोर पुरुषोंसे प्राप्त हुआ और सुख देनेवाला यह जंगिड मणि शोषक रोग और रोग बीज भूत रोगजन्तुओंसे हमारा बचाव करे ॥ ४ ॥

सण और जंगिड ये दोनों शोषक रोगसे हमारा बचाव करें। इनमें से एक वनसे प्राप्त होता है और दूसरा खेतीसे उत्पन्न हुए औषधियोंके रसोंसे बनाया जाता है ॥ ५ ॥ यह मणि नाशसे बचाता है और आरोग्यके शत्रु रूपी रोगों से दूर रखता है। यह प्रभावशाली मणि हमारा आयुष्य बढावे ॥ ६ ॥

सण और जंगिड।

इस सूक्तमें " सण " और "जंगिड" इन दो वस्तुओं का उल्लेख है (मं.५)। शण अथवा सण यह प्रसिद्ध पदार्थ है, भाषा में भी इसका यही नाम है। सण के विषयमें राजवल्लभ नामक वैद्यक ग्रंथमें यह वचन है-

१ तत्पुष्पं रक्तपित्ते हितं मलरोधकं च।
बीजं शोणितशुद्धिकरम् ॥ राजव. ३ प.
२ अम्लः कषायो मलगर्भास्रपातनः वान्तिकृत्
वातकफघ्नश्च ॥ राजनिघंटु व. ४.

" (१) शणका फूल रक्तपित्त रोगमें हित कारक है, मलरोधक है और उसका बीज रक्तकी शुद्धि करनेवाला है। (२) शणके ये गुण हैं--खट्टा, कषाय रुचीवाला, मल – गर्भ—रक्तका स्राव करानेवाला, वमन करनेवाला, तथा वात रोग और कफ रोगको दूर करनेवाला है। "

वैद्य लोग इसका अधिक विचार करें। यह सण (कृष्याः रसेभ्यः आभृतः) खेतीसे उत्पन्न होनेवाले रसोंसे बना है (मं.५)। यह वर्णन सण कौन पदार्थ है, इसका निश्चय कराता है। सण करके जो कपडा मिलता है उसीका धागा या कपडा या रस्सी यहां अपेक्षित है। रस्सी, धागा, या कपडा हो, हमारे ख्यालमें यहां सणका धागा अपेक्षित है; जो विविध औषधियोंके (रसेभ्यः ॥ मंत्र ५) रसोंमें भिगोकर बनाया जाता है। इस सण का नाम " त्वक्सार " है, इसका अर्थ होता है (त्वक्+सार) त्वचामें जिसका सत रहता है; इसलिये इसकी त्वचाका धागा बनाकर, उसको विविध औषधियोंमें भिगोकर हाथपर, कमरमें अथवा गलेमें यह धागा बांधा जाता है। व्यायाम करनेके समय जब पसीना आता है, तब उस पसीनेसे उक्त सणके धागेके औषधिके रस शरीरपर लगते हैं और शरीर पर इष्ट प्रभाव करते हैं।

इस सणके धागेपर कौन कौनसे रस लगाये जाते हैं और किस प्रकार यह तैयार किया जाता है, इसका विचार सुयोग्य वैद्योंको करना उचित है। क्योंकि इस संबंधमें इस सूक्तमें कुछ भी कहा नहीं है।

शणः च मा जंगिडश्च अभिरक्षताम् ॥ (मं. ५)

"शण और जंगिडमणि मेरा एकदम रक्षण करें" यह पंचम मंत्रका कथन है, इस कथनसे स्पष्ट होजाता है कि, शणके धागेमें जंगिडमणिको ग्रथित करके गलेमें या शरीरपर धारण करनेका अभिप्राय इस सूक्तमें स्पष्ट है। उक्त प्रकार औषधिरसोंसे बनाया सणका धागा भी स्वयं गुण कारी है, और जंगिडमणि भी स्वयं गुणकारी है, तथा दोनों इकट्ठे होगये, तो भी उन दोनोंका मिलकर विशेष लाभ होना संभव है। जबतक विशेष खोज नहीं हुई है, तबतक हम यही यहां समझेंगे कि, सणके सूत्रमें जंगिड मणि रखकर शरीर पर धारण करनेसे मंत्रोक्त लाभ प्राप्त हो सकते हैं।

जंगिड मणिके लाभ।

१ दीर्घायुत्वं— आयुष्य दीर्घ होता है। (मं. १)
आयूंषि तारिषत्—आयुष्य बढाता है। (मं. ६)

२ महत् रणं (रमणीयं) — बडा आनंद, बडा उत्साह रहता है, जो आनंद नीरोगतासे प्राप्त होता है वह इससे मिलता है। (मं. १)

३ अरिष्यन्तः— अपमृत्युसे अथवा रोगसे नष्ट न होना। (मं. १)

४ दक्षमाणः— (दक्षं) बल बढना, बलवान् होना। (मं. १)

५ विष्कंधदूषणः— शोषक रोगको दूर करना। जिस रोगसे मनुष्य प्रतिदिन कृश होता है उस रोगकी निवृत्ति इससे हो जाती है। (मं. १)

६ सहस्रवीर्यः— इस मणिमें सहस्रों सामर्थ्य हैं। (मं. २)

७ विश्व-भेषजः— इसमें सब औषधियां हैं। (मं ३)

८ मयोभूः— सुख देता है। (मं. ४)

९ कृत्यादूषिः—अपने नाशसे अथवा अपनी हिंसा होनेसे बचाने वाला यह मणि है। (मं. ६)

१० अराति- दूषिः— आरोग्यके शत्रुभूत जितने रोग हैं उनको दूर करनेवाला है। (मं. ६)

११ सहस्वान् — बलवान् है अर्थात् शरीरका बल बढाता है। (मं. ६)

इस जङ्गिड मणिसे निम्नलिखित रोग दूर होनेका उल्लेख इस सूक्तमें है वह भी यहां इस स्थानपर देखने योग्य है—

१२ जम्भारात् पातु-जम्हाई जिससे बढती है वह शरीर का दोष इससे दूर होता है। (मं. २)

१३ वि-शरात् पातु- जिस रोगसे शरीर विशेष क्षीण होता है, उस रोगसे यह मणि बचाता है। (मं २)

१४ वि-ष्कंधात् पातु- जिससे शरीर सूखता जाता है उस रोगसे यह बचाता है। (मं. २)

१५ अभि-शोचनात् - जिससे रोनेकी प्रवृत्ति हो जाती है उस बीमारीसे यह बचाता है। (मं. २)

१६ आत्त्रिणः बाधते- (अद्-त्रिन्) बहुत अन्न खानेकी आवश्यकता जिस रोग में होती है परंतु बहुत खानेपर भी शरीर कृश होता रहता है, उस भस्म रोगकी निवृत्ति इससे होती है। (मं ३)

१७ अंहसःपातु—पापवृत्तिसे बचाता है,अथवा हीन भावना मनसे हटाता है। (मं.३)

१८ रक्षांसि सहामहे-- रोगबीज तथा रोगोत्पादक कृमियोंको रक्षस् (क्षरः) कहते हैं क्योंकि इनसे शरीरके पोषक सप्त धातुओंका (क्षरण) नाश होता रहता है। इन रोगबीजों या रोग जन्तुओंका नाश इससे होता है। (मं. ४)

ये सब गुण इस जङ्गिड मणिमें हैं। यहां रक्षस् शब्दके विषयमें थोडासा कहना है। [पाठक कृपा करके स्वाध्याय मंडल द्वारा प्रकाशित "वेदमें रोग जन्तु शास्त्र" नामक पुस्तक देखें, इस पुस्तकमें बताया है कि ये राक्षस अतिसूक्ष्म कृमि होते हैं, जो चर्मपर चिपकते हैं तथापि आंखसे दिखाई नहीं देते। ये रात्रीमें प्रबल होते हैं। इस वर्णन के पढनेसे पाठकोंका निश्चय होगा कि रोग बीजोंका या रोगजन्तुओंका नाम राक्षस है। इसीको रक्षस् कहते हैं। क्षर् (क्षीण होना) इस धातुसे अक्षरकी उलट पुलट होकर रक्षस् शब्द बनता है] फैलनेवाले रोगोंके रोगजंतुओंको यह मणि नाश करता है यह यहां भाव है, अर्थात् यह (Highly disinfectant) उत्तम प्रकारका रोगकी छूतके दोष को दूर करनेवाला है यह बात इस विवरणसे वाचकोंके मनमें आचुकी ही होगी।

यह जंगिड मणि किम वनस्पतिका बनाया जाता है। यह बडा प्रयत्न करने परभी

पता नहीं चला। तथापि जो गुण उक्त मंत्रोंमें बताये हैं, उनमें से बहुतसे गुण वचा वनस्पतिके गुण धर्मोंके साथ मिलते जुलते हैं, इस लिये हमारा विचार ऐसा होता है कि यह मणि वचाका होना बहुत संभवनीय है, देखिये वचाके गुण–

१ वचागुणाः– तीक्ष्णा कटुः उष्णा कफामग्रंथिशोफघ्नी
वातज्वरातिसारघ्नी वान्तिकृत् उन्मादभूतघ्नी च ।
राजनिघण्टु व. ६

२ वचायुष्या वातकफतृष्णाघ्नी स्मृतिवर्धिनी ।
३ वचापर्यायाः " मङ्गल्या । विजया । रक्षोघ्नी । भद्रा । "

" (१) वचा के गुण—तीक्ष्णता, कटुता, उष्णता से युक्त, कफ आम ग्रंथि और सूजन का नाश करनेवाली । वात ज्वर अतिसार का नाश करनेवाली । वमन करानेवाली । उन्माद और भूतरोग का नाश करनेवाली यह वचा है ।

(२) वचासे आयुष्य बढता है,वात- कफ-तृष्णाका नाश करती है। स्मरण शक्तिकी वृद्धि करती है ॥

(३) वचा के पर्याय शब्दोंका अर्थ-(मंगल्या) मंगल करनेवाली, (विजया) विजय करने वाली, (रक्षोघ्नी) राक्षसोंका नाश करनेवाली, पूर्वोक्त रोगोत्पादक कृमियोंका नाश करनेवाली, (भद्रा) कल्याण करनेवाली । "

यह वचाका वैद्यकग्रंथोक्त वर्णन स्पष्ट बता रहा है कि इसकी जंगिडसे गुणधर्मोंमें समानता है । पाठक पूर्वोक्त मंत्रोंके शब्दोंके साथ इसकी तुलना करेंगे, सो पता लग जायगा कि इनके गुण धर्म समान हैं । इस लिये हमारा विचार हुआ है,कि जंगिड मणि संभवतः इसका ही बनाया जाता होगा । यह समानता देखिये—

वैद्यक ग्रंथ के शब्द	—[वचाके गुण]—	इस सूक्तके शब्द
१ आयुष्या	—	१ दीर्घायुत्वाय (मं.१) आयूंषि तारिषत् (मं.६)
२ रक्षोघ्नी । भूतघ्नी	—	२ रक्षांसि सहामहे (मं.४)
३ वातघ्नी, उन्मादघ्नी	—	३ जम्भात् पातु (मं.२) अभिशोचनात् पातु । (")

४ मंगल्या, भद्रा स्मृतिवर्धनी।	—	४ अरिष्यन्तः दक्षमाणाः। सहस्रवीर्यः	(मं. २) "
५ विजया	—	५ अरातिदूषिः	(मं. ६)
६ अतिसारघ्नी	—	६ विशरात् (वि-सारात्) पातु	(मं. २)
७ शोफघ्नी, ज्वरघ्नी कफघ्नी, ग्रंथिघ्नी	—	७ विश्वभेषजः	(मं.३)

इस प्रकार पाठक देखेंगे तो उनको पता लग जायगा, कि वैद्यक ग्रन्थोक्त वचाके गुण धर्म और जंगिडमणि के गुणधर्म प्रायः मिलते जुलते हैं। इससे अनुमान होता है, कि संभवतः जंगिड मणि वचा से ही बनाया जाता होगा। केवल गुण साधर्म्यसे औषधि प्रकरणमें औषधियां नहीं बर्ती जातीं, अथवा नहीं बर्ती जानी चाहिये; यह हमें पूरा पता है, तथापि किसी औषधिके अभावमें उस स्थानपर जो औषधि लीजाती है वह गुणसाधर्म्य देख कर ही ली जाती है।

चरकादि ग्रथोंमें जहां बडे बडे आयुष्य वर्धक और बलवर्धक रसायन प्रयोग लिखे हैं, वहां सोमादि दिव्य औषधियोंके अभावमें इसी प्रकार गुण साधर्म्यसे अन्य औषधि लेने का विधान किया है। इसलिये यदि जंगिड मणिका ठीक पता नहीं चलता, तो इस मणिके गुण धर्मोंके समान गुणधर्मवाली वनस्पतिका मणि बनाना और उसका धारण करना बहुत अयोग्य नहीं होगा। तथापि हम यह कार्य सुयोग्य वैद्योंपर ही छोड देते हैं, तथा इस विषयमें अधिक खोज होनी अत्यंत आवश्यक है यह भी यहां स्पष्ट कह देते हैं। सुयोग्य वैद्य इस महत्त्वपूर्ण विषयकी खोज अवश्य करें।

मणि धारण।

यहां कई पाठक कहेंगे कि यह क्या अंध विश्वासकी बात है, कि केवल मणि धारणसे रोग मुक्त होने का ही विधान किया जा रहा है! क्या इससे तावीज, कवच, धागा, दोरा, आदिकी अंधविश्वास की बातें सिद्ध नहीं होंगी? इस प्रकारकी शंकाएं यहां उपस्थित होना संभव है; इस लिये इस बातका यहां विचार करना आवश्यक है—

इस सूक्तमें जो "जंगिडमणि" का वर्णन है वह तावीज या धागा दोरा या जादूकी चीज नहीं है। यह वास्तविक औषधि पदार्थ है। इसके पूर्वके तृतीय सूक्त में पर्वत, और पृथ्वीके ऊपर होने तथा समुद्रके तलेमें उत्पन्न होने वाली औषधि वनस्पतियोंका

वर्णन असंदिग्ध रीतिसे आया है, इस औषधिवनस्पतियोंकी अनुवृत्ति इस सूक्तमें है। ये दोनों सूक्त साथ साथ हैं और दोनोंका रोगनिवारण और आरोग्य साधन यह विषय समानही है। इसलिये यह औषधीका मणि है यह बात स्पष्ट है।

मणिपर संस्कार।

स्वयं यह मणि वनस्पतिका है अर्थात् वनस्पतिकी लकडीसे यह बनता है तथा यह जिस धागेमें बांधाजाता है वह भी विशेष गुणकारी वनस्पतिका धागा होता है, यह बात पूर्व स्थलमें बतायी है। विशेष गुणकारी धागा और विशेष गुणकारी मणि इनके मिलापसे शरीरपर विशेष परिणाम होना संभव है। इसके नंतर—

अरण्यांदन्य आभृतः।
कृष्या अन्यो रसेभ्यः ॥ (मंत्र. ५)

" एक अरण्यकी वनस्पतिसे बनता है और दूसरा कृषिसे उत्पन्न हुए वनस्पतियोंके रसोंसे भरा जाता है। " यह पंचम मंत्रका विधान विशेष ही मनन करने योग्य है। इसमें " आ—भृतः " शब्द है, इसका धात्वर्थ, " (आ) चारों ओर से (भृतः) पूर्ण किया, चारों ओरसे भर दिया है, " ऐसा होता है। अर्थात् मणि और धागा अनेक वनस्पतियोंके रसों में भिगोकर सुखानेसे वे सब रस उस धागेमें और मणिमें भर जाते हैं अथवा जम जाते हैं और इन सब रसोंका परिणाम शरीरपर हो जाता है। इस लिये जंगिडमणिका धारण यह एक वैद्य शास्त्रका महत्त्वपूर्ण और सशास्त्र विषय है और इसमें अन्धविश्वासकी बात नहीं है।

आजकल जो तावीज, कवच, धागा, दोरा, जादूका पदार्थ है वह केवल विश्वास की चीज है अथवा भावनासे उसकी कल्पना है। वैसा जंगिड मणि नहीं है। इस में औषधियोंका संबन्ध विशेष रीतिसे शरीरके साथ होता है। यद्यपि शरीरके अंदर औषधि नहीं सेवन की जाती तथापि शरीरके ऊपरके स्पर्शसे लाभ पहुंचाता है।

हमने यह बातें देखी हैं, कि तमाखूके पत्ते पेटपर बांध देनेसे वमन होता है। [इसी प्रकार हरीतकी (हिरड) की एक तीव्र जाती होती है, उस को हाथमें धरनेसे दस्त होते हैं, ऐसा कहते हैं, परंतु यह बात अभीतक हमने देखी नहीं है।] इसके अतिरिक्त हमने अनुभव की हुई बातें भी यहां निर्दिष्ट करना योग्य है, कोल्हापुर रियासत के अंदर बावडा (गगन बावडा) नामक एक छोटी रियासत है। वहां के श्री० नरेश के पास वनस्पतिके जडके मणि मिलते हैं, इस मणिके धारणसे दांतकी पीडा दूर होती है। इस

विषयका अनुभव हमने कई वार अपने ऊपर लिया है और अपने परिचितों पर भी लिया है। यह मणि किसी वनस्पतिकी जडका बनाया जाता है,परंतु उस वनस्पतिका नाम अभीतक हमें पता नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रवाल, सुवर्ण, ताम्र, विविध रत्न आदिके धारणसे बालकोंके शरीरोंपर विशेष प्रभाव होता है यह भी देखा है। इसलिये यदि रसी और मणि उत्तम वनस्पतियोंसे बनाकर उनको विशेष रसोंसे सुसंस्कृत करके धारण किये जांय तो रोगोंका दूर होना शास्त्रदृष्टिसे सुसङ्गत प्रतीत होता है।

वचा के विषयमें हमने कई वैद्योंकी संमती ली है, उनका कहना है, कि वचाका मणि उक्त प्रकार शरीरपर धारण किया जाय तो वह स्पर्शजन्य रोग (छूत से फैलनेवाले रोग) की बाधा से दूर रख सकता है, अर्थात् जो धारण करेगा उसको उक्त रोग होनेकी संभावना कम है। इस बातका हमने कई वार प्रयोग भी किया है और लाभही प्रतीत हुआ है।

इसी प्रकार ग्रंथिक सन्निपात रोगके दिनोंमें " इग्नीशिया " नामक वनस्पतिके बीज धारण करनेसे कुछ लाभ होनेकी बात कई डाक्तर कहते हैं, तथापि हमें इसका विशेष अनुभव नहीं है। परंतु मुंबईमें हमने देखा था कि उक्त रोगके प्रादुर्भावमें इसका धारण कई लोग करते थे।

इस थोडेसे अनुभवसे हम कह सकते हैं, कि जंगिड मणिका धारण भी एक शास्त्रीय महत्त्वका विषय है और इसमें कोई अंधविश्वास की बात नहीं है। अब विशेष खोज करनेवालों का यह विषय है कि वे जंगिडमणिकी ठीक सिद्धता करने की रीतिकी खोज करें और इसका उपयोग करके आरोग्य प्राप्त करनेका निश्चित उपाय सबके लिये सुप्राप्य करें। वैद्यशास्त्रोंके ग्रंथ देखनेसे बहुत कुछ पता लगना संभव है।

खोजकी दिशा।

यहां खोज करनेकी दिशाका भी थोडासा वर्णन करना अयोग्य न होगा। श्री० सायणाचार्यजीने अपने भाष्यमें लिखा है, कि काशी प्रांतमें जंगिड वृक्ष है इस वृक्षके विषयमें काशी प्रांतके लोग खोज करें और जो कुछ अनुभव हो वह प्रकाशित करें।

वचा उग्रगंधी वनस्पति या चीज है। इसकी गंधिसे अर्थात् उग्रवाससे जो इसके परमाणु हवामें फैल जाते हैं, वे रोगजन्तुओंका नाश करते हैं, तथा रोगके विषको भी दूर कर देते हैं। यही कारण है कि वचा का शरीरपर धारण करनेसे छूत से फैलनेवाले रोग दूर होते हैं, या उनकी बाधा नहीं होती है। प्रायः छूतसे फैलनेवाले रोग सूक्ष्म जंतुओं

द्वारा फैलते हैं, वे रोगजंतु वचा की उग्रगंधिके कारण तत्काल मर जाते हैं। ऐसे उग्रगंधी पदार्थ अजवायन, पूदीना, लसूण, कपूर, पेपरमींट आदि अनेक हैं। आर्य वैद्यक शास्त्रमें इन पदार्थोंका परिगणन किया है और इनको कृमिनाशक भी कहा है। यदि खोज करनेवाले पूर्वोक्त रोगनाशक वनस्पति की जड या काष्ठके मणिपर सुयोग्य उग्रगंधीवाले अनेक रसोंसे योग्य संस्कार करेंगे, तो इस प्रयत्नसे जंगिडमणि अथवा तत्सदृश मणि अब भी प्राप्त होना संभवनीय है। इसलिये हम सुयोग्य वैद्योंको इस विषयकी खोज करनेके लिये सानुरोध प्रार्थना करते हैं।

जंगिड मणिसे दीर्घ आयुष्य।

प्रथम मंत्रके प्रारंभमें ही " जंगिडमणिसे दीर्घायुष्य प्राप्त होनेकी बात " कही है। यह दीर्घायुष्य प्राप्ति किस प्रकार होती है, यह बात यहां विचार करके देखनी आवश्यक है। इस विचार के लिये प्रथम आयुष्य की अल्पता क्यों होती है यह देखिये।

रोग — आधि और व्याधि — यह मुख्य कारण है जिससे आयुष्य क्षीण होता है। जंगिडमणि रोगोत्पादक विषों और रोगवर्धक जन्तुओंको दूर करता है अथवा नाश करता है, इससे नीरोगता प्राप्त होने द्वारा जो स्वास्थ्य प्राप्त होता है वह आयुष्य वर्धन करता है।

कई लोग समझते हैं, कि आयुष्य की वृद्धि नहीं होती है। परंतु वेदमें सेकडों स्थानोंपर दीर्घ आयुष्यके उपाय कहे हैं, इसलिये वैदिक दृष्टिकोणसे आयुष्यकी वृद्धि होनेके विषयमें कोई संदेह नहीं है। यदि दीर्घायुष्य होता है वा नहीं, इस विषयमें हम आर्य वैद्यक की साक्षी देखेंगे तो हमें वह साक्षी अनुकूल ही होगी; क्यों कि आयुष्य वर्धन के कई रसायन प्रयोग वैद्यशास्त्रमें कहे हैं। इसलिये आर्ष ग्रंथोंकी संमति आयुष्य की वृद्धि होती है इस विषयमें निश्चित है। इसलिये जो सर्व साधारण जनताका विचार है, कि आयुष्य वर्धन नहीं होता वह अशुद्ध है और वैसा विचार वैदिक धर्मियोंको मनमें रखनेकी आवश्यकता नहीं है।

जंगिडमणि (Disinfectant) स्पर्शजन्य दोषको हटानेवाला होनेके कारण यदि वह शरीरपर धारण किया जाय, तो उससे रोग दूर होनेमें शंका ही नहीं हो सकती और इस प्रकार यदि नीरोगता की सिद्धता हुई और आयुष्य वर्धक अन्य ब्रह्मचर्यादि वैदिक उपायोंका अवलंबन किया तो निःसंदेह आयुष्य वर्धन होगा। इस लिये पाठक इस बातका विशेष मनन करें।

बडा रण।

प्रथम मंत्रमें " महते रणाय " शब्द है। इसमें जो " रण " शब्द है उसका वास्तविक अर्थ रमणीयता शोभा इत्यादि होता है। यह अर्थ पूर्व स्थानमें दिया ही है। परंतु कईयोंके मतमे यहांके रण शब्दका अर्थ युद्ध है। इस लिये " महत् रण " शब्द का अर्थ " बडा युद्ध " है। यह अर्थ लेनेसे प्रथम मंत्रके इस भाग का अर्थ निम्नलिखित होता है-

महते रणाय जङ्गिडं वयं बिभृमः॥ (मं १)

" बडे युद्धके लिये हम जङ्गिड मणिका धारण करते हैं। " अर्थात् बडे युद्धमें हमारा विजय हो इस लिये हम जङ्गिड मणिका धारण करते हैं। जङ्गिड मणिके धारण से हमारे शरीरमें ऐसा बल बढेगा, कि जिससे हम उस बडे युद्धमें विजयी बनेंगे। यह युद्ध कौनसा है ? यह युद्ध अपना जीवनही है। मनुष्यका जीवन एक बडा भारी युद्ध है।

शताब्दीतक चलने वाला यह युद्ध है। सौ वर्ष इस युद्धमें व्यतीत होंगे। इस लिये यह साधारण युद्ध नहीं है। शरीर क्षेत्रमें जो कार्य आत्मा द्वारा चल रहा है, उसमें विविध रोग विघ्न डालते हैं और उनके साथ हमारा युद्ध चल रहा है। अपना आरोग्य स्थापित करनेसे ही इस युद्धमें हमें विजय प्राप्त होना है। जङ्गिड मणिसे रोगनिवृत्तिद्वारा आरोग्य प्राप्त होता है इस हेतुसे यह मणि इस बडे युद्धमें भी हमें सहायक है, ऐसा इस मंत्रमें जो कहा है वह योग्यही है।

बलवर्धन।

इस प्रथम मंत्रमें और दो शब्द बडे महत्त्वपूर्ण हैं, । अ-रिष्यन्तः। दक्षमाणाः " इन दो शब्दोंका क्रमशः अर्थ " अहिंसित होते हुए, बलिष्ठ होनेवाले " यह है। रोगादिके हमलोंके कारण अथवा अन्य दुष्ट शत्रुओंके आक्रमण के कारण हम (अरिष्यन्तः) हिंसित न हों अर्थात् हम क्षीण दुःखी त्रस्त अथवा नष्ट न हों, यह प्रथम पद का अर्थ है। परंतु थोडासा विचार करने पर पाठकोंके मनमें यह बात स्पष्टताके साथ आजायगी कि केवल क्षीण न होने अथवा नष्ट न होनेसे ही अर्थात् केवल जीवन धारण करनेसे ही जगत् में कार्य चलना और विजय प्राप्त होना अशक्य है। विजय प्राप्त करने के लिये यह निषेधात्मक गुण विशेष सहायक नहीं होगा। इस कार्य के लिये विधेयात्मक गुण अवश्य चाहिये। यह गुण (दक्षमाणाः) बलवान् हसे शब्दद्वारा बताया

है। इसका अर्थ बलवान होना है। पाठक थोडासा विचार करेंगे तो उनके ध्यानमें यह बात आजायगी कि—

बल और विजय।

इस गुणकी बडी आवश्यकता है। रोग नहीं हुए, अशक्त न हुआ, नष्ट नहीं हुआ तोभी कार्य नहीं चलेगा, विजयकी इच्छा है तो अपना बल सर्व दिशाओंसे बढानेका यत्न होना आवश्यक है। जितना बल बढेगा उतना विजय निश्चयसे प्राप्त होनेकी संभावना अधिक है। पाठक इन दो शब्दोंका परस्पर महत्त्व पूर्ण संबंध देखें और वेदकी शब्द योजनाकी गंभीरता अनुभव करें।

दूषण।

इस सूक्तमे "दूषण, दूषि" इन शब्दोका प्रयोग विलक्षण अर्थमें हुआ है। देखिये-

विष्कन्ध दूषण— विष्कन्धको बिगाडनेवाला
कृत्या दूषि — कृत्याको दोष लगानेवाला
अराति दूषि — अराति को दोष लगानेवाला

पाठक सूक्ष्म दृष्टिसे देखेंगे तो उनको इस शब्द प्रयोग में यह बात स्पष्ट दिखाई देगी, कि "शत्रुमें दोष उत्पन्न करना" यहां सूचित किया है। कई कहते हैं कि शत्रुको मारो काटो या शत्रुका नाश करो। वेदमें भी शत्रुका नाश करनेका उपदेश कईवार किया है। परंतु यहां दूसरी बातका उपदेश शत्रुको दूर करनेके विषयमें किया है। शत्रु में दोष उत्पन्न करना, शत्रुमें हीनता उत्पन्न करना, शत्रुकी कार्यवाही में दोष उत्पन्न करना। जिस समय शत्रुका शीघ्र नाश नहीं होता है उस समय अनेक उपायोंसे शत्रुके अंदर दोषोंको बढानेसे शत्रुका बल घटता जाता है और अपना बल बढता जाता है। यह जितना व्यक्तिगत रोगोंके विषयमें सत्य है उतनाही सामाजिक और राष्ट्रीय शत्रुओंके विषयमें भी सत्य है, शत्रुमें दोष उत्पन्न करनेसे थोडेसे प्रयत्नसे शत्रुका पराभव होता है और अपने लिये विजय प्राप्त होता है।

यह मणि शरीरपर धारण करनेसे शरीरके जो रोगादि शत्रु हैं उनकी शक्तिमें दोष उत्पन्न होता है, इससे उन शत्रुओंकी शक्ति क्षीण होती जाती है और अपना बल बढता जाता है।

यह शरीरके क्षेत्रका उपदेश पाठक राष्ट्रके क्षेत्रमें देखेंगे तो उनको राजनीतिके शत्रुदमन विषयक एक बडे सिद्धांत का ज्ञान हो सकता है।

अत्रि ।

वेद मंत्रोंमें " अत्रि" शब्द विभिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है । कई स्थान पर इसका अर्थ है ऋषि, कई स्थानपर राक्षस और इस सूक्तमें यह एक रोग विशेषका नाम है । इतने भिन्न अर्थोंमें इसका उपयोग होनेसे इसके विषयमें पाठकोंके मनमें संदेह होना संभव है, इस लिये इस विषयमें थोडासा लिखना आवश्यक है ।

" अद् " (खाना) इस धातुसे यह शब्द बनता है इसलिये इसका अर्थ " भक्षक " है। दूसरा " अत् " (भ्रमण करना) इस धातुसे बनता है, इस समय इसका अर्थ भ्रमण करनेवाला होता है। पहिला अर्थ हमने इससे पूर्व दिया है। यहां यह अत्रि शब्द रोगवाचक होनेसे भक्षक रोग अथवा भस्म रोग ऐसा किया है, जिसमें रोगी अन्न बहुत खाता है परंतु कृश होता जाता है। दूसरा अत्रि शब्द " भ्रमण करनेवाला " यह अर्थ बताता है, यह अर्थ रोगवाचक होनेकी अवस्थामें पागल का वाचक हो सकता है। मूर्ख मनुष्य जो मस्तिष्क बिगड जानेसे पागल होजाता है, कारण के विना भी वह भटकता रहता है इस लिये इसका वाचक यह शब्द होसकता है। इससे यह भी सिद्ध होगा कि यह जंगिडमणि मस्तिष्क बिगड जानेके रोगमें भी हितकारी होगा। परंतु पाठक यहां स्मरण रखें कि यह केवल व्युत्पत्तिकी बात है, इस लिये वैद्यशास्त्रमें इसका बहुत प्रमाण नहीं होसकता, जबतक कि अनुभवसे जंगिड मणिका यह उपयोग सिद्ध न हो। तथापि यह अर्थ जंगिडमणिकी खोज करनेमें सहायक होगा इस लिये यहां दिया है। वचाके गुणधर्मोंमें स्मृतिवर्धिनी और उन्मादनाशनी ये दो गुण इस अर्थके साधक हैं, यह खोजके समय ध्यानमें धारण करने योग्य है ।

इस प्रकार यह सूक्त महत्त्व पूर्ण अनेक बातोंका वर्णन कर रहा है। पाठक विचार करते रहेंगे तो उनको इस रीतिसे बडा बोध प्राप्त हो सकता है ।

वैदिक धर्म के ग्रंथ।

(१) स्वयंशिक्षक माला।

वेदका स्वयंशिक्षक १ प्रथम भाग	मूल्य १॥)
" " २ द्वितीय भाग	" १॥)

(२) योगसाधनमाला।

१ सन्ध्योपासना।	मूल्य १॥)
२ संध्याका अनुष्ठान।	" ॥)
३ वैदिक प्राण विद्या।	" १)
४ ब्रह्मचर्य (सचित्र)।	१।)
५ योगसाधनकी तैयारी।	" १)
६ योगके आसन। (सचित्र)	" २)
७ सूर्यभेदनव्यायाम सचित्र	" ॥|)

(३) यजुर्वेद स्वाध्याय।

१ यजु अ ३०। नरमेध। मूल्य	मूल्य १)
२ यजु अ ३२। एकेश्वर उपासना।	" ॥)
३ यजु अ ३६। शांतिका उपाय।	" ॥=)

(४) देवतापरिचय प्रथमाला।

१ रुद्र देवता परिचय	मूल्य ॥)
२ ऋग्वेदमें रुद्र देवता।	" ॥=)
३ ३३ देवताओंका विचार।	" =)
४ देवताविचार।	" =)
५ अग्निविद्या।	" १॥)

(५) धर्म शिक्षाके ग्रंथ

१ बालकधर्मशिक्षा। प्रथमभाग।	मू -)
२ बालकधर्मशिक्षा। द्वितीयभाग।	" ≈)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक	" ≡)

(६) उपनिषद् ग्रंथमाला।

१ केन उपनिषद्	मूल्य १।)
२ ईश उपनिषद्	" ॥=)

(७) आगम-निबंध-माला

१ वैदिकराज्यपद्धति।	मू ।-)
२ मानवी आयुष्य।	" ।)
३ वैदिकसभ्यता	" ॥|)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र।	" ॥)
५ वैदिक स्वराज्य की महिमा।	॥)
६ वैदिक सर्प विद्या।	" ॥)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय।	" ॥)
८ वेदमें चर्खा।	" ॥)
९ शिवसंकल्पका विजय।	" ॥|)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता	" ॥)
११ तर्कसे वेदका अर्थ।	" ॥)
१२ वेदमें रोगजन्तु शास्त्र।	" =)
१३ ब्रह्मचर्यका विघ्न।	" ≈)
१४ वेदमें लोहेके कारखाने।	" ।-)
१५ वेदमें कृषिविद्या।	" ≡)
१६ वैदिक जलविद्या।	≈)
१७ आत्मशक्तिका विकास।	" ।-)
१८ वैदिक उपदेश माला	" ॥)

(८) ब्राह्मण- बोध माला।

१ शतपथ बोधामृत।	" ।)

(९) अन्य पुस्तक।

१ वैदिक यज्ञसंस्था प्रथम भाग	" १)
२ " " द्वितीय "	" १)
३ छूत और अछूत प्रथम भाग	" १)
४ " " द्वितीय "	" ॥|)

स्वाध्याय मंडल, औंध (जि० सातारा)

छूत और अछूत।

अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ! अत्यन्त उपयोगी!!

इसमें निम्न लिखित विषयों का विचार हुआ है-

१ छूत अछूत के सामान्य कारण,

२ छूत अछूत किस कारण उत्पन्न हुई और किस प्रकार बढी,

३ छूत अछूत के विषयमें पूर्व आचार्योंका मत,

४ वेद मंत्रों का समताका मननीय उपदेश,

५ वेदमें बताए हुए उद्योग धंदे,

६ वैदिक धर्मके अनुकूल शूद्रका लक्षण,

७ गुणकर्मानुसार वर्ण व्यवस्था,

८ एक ही वंशमे चार वर्णों की उत्पत्ति,

९ शूद्रोंकी अछूत किस कारण आधुनिक है,

१० धर्मसूत्रकारोंकी उदार आज्ञा,

११ वैदिक कालकी उदारता,

१२ महाभारत और रामायण समयकी उदारता,

१३ आधुनिक कालकी संकुचित अवस्था।

इस पुस्तकमें हरएक कथन श्रुतिस्मृति, पुराण, इतिहास, धर्मसूत्र आदि के प्रामाणोंसे सिद्ध किया गया है। यह छूत अछूत का प्रश्न इस समय अति महत्त्वका प्रश्न है और इस प्रश्नका विचार इस पुस्तक में पूर्णतया किया है।

प्रथम भाग. मू. १)

द्वितीय भाग मू. ।=)

अतिशीघ्र मंगवाइये

स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

मुद्रक तथा प्रकाशक- श्री० दा० सातवळेकर, भारत मुद्रणालय, औंध (जि० सातारा)

वर्ष ९
अंक २
क्रमांक ९८

माघ
संवत् १९८४
फर्वरी
सन १९२८

वैदिक धर्म।

वैदिक तत्त्वज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।
संपादक- श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।
स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

गोमेध।

ब्राह्मणेभ्य ऋषभं दत्त्वा वरीयः कृणुते मनः।
पुष्टिं सो अघ्न्यानां स्वे गोष्ठेऽव पश्यते ॥१९॥
गावः सन्तु प्रजाः सन्त्वथो अस्तु तनूबलम्।
तत्सर्वमनु मन्यन्तां देवा ऋषभदायिने ॥२०॥

अथर्ववेद ९।४

"ब्राह्मणोंको बैल दान देनेसे दाताका मन श्रेष्ठ बनता है। वह दाता अपनी (गोष्ठे) गोशालामें (अ-घ्न्यानां) अवध्य गौओंकी पुष्टि उक्त दान से हुई है ऐसा स्वयं देखता है ॥१९॥ घरमें गौवें बहुत रहें, घरमें संतान बहुत रहें और शरीरका बल बढ जाय। बैलका अथवा गौका दान देनेवाले दाता को यह सब देवोंकी कृपासे प्राप्त हो ॥२०॥"

यह गोमेध है। घरमें गौओंकी संख्या बढे तथा गौओंके गुण भी बढें अर्थात् उत्तम गुणोंसे युक्त गौवें बढें। संतानें भी बढें और शरीरका बल भी बढे। गोपालन के ये फल हैं। जिस घरमें गौवें पाली जाती हैं वहां शरीरका बल बढता है, संतान हृष्टपुष्ट होते हैं और आरोग्य भी प्राप्त होता है।

स्वाध्याय वृत्त ।

यजुर्वेद का मुद्रण ।

यजुर्वेद का मुद्रण समाप्त हुआ। अब उसकी जिल्द बन रही है। यह ग्रंथ इसी मासमें ग्राहकोंके पास भेजा जायगा। जिन्होंने रेशमी जिल्द के लिये खास कर लिखा है उनके पास रेशमी जिल्द भेजी जायगी, तथा जिन्होंने विना जिल्द मांगा है उनके पास विना जिल्द भेजा जायगा, अन्यों के पास कपडे की जिल्द भेजी जायगी। ग्राहक कृपया अपनी आवश्यकता अति शीघ्र सूचित करें।

विनाजिल्द यजुर्वेद १॥) कपडेकीजिल्द ,, २) रेशमी ,, ,, २।) } सबके लिये डाकव्यय॥) और (वी. पी. से ॥।) होगा ।

पेशगी मूल्य का लाभ जो ग्राहक लेना चाहें वे शीघ्र डाकव्यय समेत उक्त मूल्य म. आ. द्वारा भेज दें। पीछेसे मूल्य बढेगा और रेशमी जिल्दका तो अवश्य बढेगा। इस यजुर्वेद पुस्तक में निम्न लिखित विषयोंकी व्यवस्था है-

मूल ग्रंथ।

१ विस्तृत भूमिका (संस्कृतमें)	पृष्ठ १-८
२ मूल यजुर्वेद संहिता	१-१७०
३ काण्वशाखाके पाठविशेष	१७१-२०२
सूचियां।	
४ अकारादिक्रमसे ऋषिसूची	२०३—२०७
५ अध्याय क्रमसे ,, ,,	२०८—२१४
६ अध्याय क्रमसे देवतासूची	२१५—२२७
७ अकारादि क्रमसे ,, ,,	२२८—२३६
८ अध्याय क्रमसे विषयसूची	२३७—२३९

इस प्रकार यह ग्रंथ स्वाध्यायके लिये अत्यंत उपयोगी हुआ है। नित्यपाठ करनेवालों को तो यह एक उत्तम पुस्तक है, इस प्रकारका अलग अलग मंत्र मुद्रित किया हुआ पुस्तक कहांभी दूसरा नहीं है। आशा है कि पाठक इस से लाभ उठावेंगे।

वैदिक धर्म का विशेषांक।

वैदिक धर्मका यह क्रमांक९८वां है। इसका१००वां अंक विशेषांक होगा। यह सौपृष्ठोंका अंक होगा और इसमें अनेक विद्वानों के लिखे वेद विषयपर लेख होंगे। इसका मूल्य अन्योंके १) रु. होगा। वैदिकधर्म के ग्राहकों को तो यह विना मूल्य मिलेगा। ग्राहक अपना चंदा शीघ्र भेज कर इस अंकसे लाभ उठावें।

गोमेध

गोमेध को मांग बढ रही है। कई उत्साही ग्राहक इसका भाषांतर भारत वर्षकी अन्य भाषाओंमें करना चाहते हैं, उनसे निवेदन है कि वे भाषांतर करनेसे पूर्व हमें सूचित करें। गोमेध का "आंग्रेजी अनुवाद" करने और प्रकाशित करनेकी आज्ञा एक महाशयको हमने दी है इस लिये अब इसका आंग्रेजी अनुवाद दूसरा कोई न करे। तथा स्वाध्याय मंडलके "रुद्र देवता" विषयक पुस्तकोंका अनुवाद तामील भाषामें छपकर प्रकाशित भी हो चुका है। अनुवाद करनेवाले इसका स्मरण रखें। आसन, सूर्य भेदन, छूत अछूत इन पुस्तकों के गुजराती और मराठीमें अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। कई महाशय स्वाध्याय मंडलके ग्रंथोंका अनुवाद कानडी, पंजाबी और बंगाली भाषामें करनेके कार्यमें लगे हैं। इस लिये अनुवाद करनेवाले महाशय यहां सूचना देनेके विना अनुवाद न करें। अन्यथा एक एक पुस्तक के कई अनुवाद बनेंगे जिससे प्रकाशकों को कठिनाई होगी।

अथर्व वेद का सुबोध भाष्य।

इस मास में कई ग्राहकोंकी चिठ्ठियां आगई हैं उनमें वे लिखते हैं कि "अन्य कार्य छोड कर अथर्व वेद के सुबोध भाष्यका ही सबसे प्रथम मुद्रित किया जावे।" इन ग्राहकोंका धन्यवाद है। परंतु कोई ऐसे कार्य हमने नहीं किये हैं जो एक क्षणमें छोडे जा सकते हैं। और छोड भी दीये तो भी अथर्ववेद का सुबोध भाष्य इतनी शीघ्रता से लिखा नहीं जायगा, जितनी शीघ्रतासे पाठक चाहते हैं। अथर्ववेद के सूक्तोंक। विचारपूर्वक ही लेख लिखना चाहिये, शीघ्रतासे होनेवाली यह बात नहीं है। कमसे कम इस मासिक के संपादक से इस विषयमें अधिक शीघ्रता होना असंभव है। पाठक भी अधिक पढने की अपेक्षा अधिक मनन करेंगे, तो वेदके मंत्रोंसे अधिक लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

हिंदुमुसलमानों का सख्य और गोवध।

राष्ट्रीय महासभाने इस वर्ष इस हिंदुमुसलमानोंके मेलका प्रस्ताव नय ढंगसे किया है। नेता लोग अपने मनसे मानते हैं कि इस प्रस्ताव का परिणाम विशेष आशाजनक होगा। हम भी एकताके इच्छुक है इस लिये मनसे परमात्मा की प्रार्थना करते है कि, वह प्रभु हमारे नेता लोगोंकी इच्छा पूर्ण करे।

राष्ट्रीय महासभामें सदासे एक विशेषता दिखाई देती है और वह यह है कि, जो मुसलमान अपनी राष्ट्रीय महत्ता का हेतु बता कर सर्वत्र विशेष अधिकार चाहते हैं, वे अपने प्रतिनिधि विपुल संख्यामें राष्ट्रीय महासभामें कभी नहीं भेजते, इतनाही नहीं; परंतु राष्ट्रीय महासभाके ही समय अपनी अलग सभा भी करते हैं ताकि मुसलमान विशेष संख्यामें राष्ट्रीय महासभामें न आ सकें। मुसलमान इस राष्ट्रसभासे अलग भी रहे हैं। इस वर्ष की राष्ट्रीय महासभामें कुल सदस्योंकी संख्या पंद्रह हजार से भी अधिक हुई थी, परंतु इसमें सौ दोसौ भी मुसलमान न थे। ये लोग इस प्रकार अपने आपको अलग क्यों रखना चाहते है इसका विचार हिंदुनेताओंको करना चाहिये। अपने आपको सदा के लिये अलग रखनेका यत्न करने वालोंसे तथा केवल लाभ के समयही अपने लिये बडा भाग चाहने वालों के साथ सख्य करना कितना कठिण है, इस का अनुभव गत पांच सात वर्षोंमें पर्याप्त प्रमाणमें आगया है और यदि उस अनुभव से नेता लोग दिलसे समझते हैं कि केवल इस प्रकारके प्रस्तावसे समझौता होगा तो हम समझेंगे कि नेता लोग और भी अनुभव लेना चाहते है। कोई हर्ज नहो है, नेताओं की इच्छा तो बडी सात्विक है, इसलिये उनको साथ देना हमारा आवश्यक कर्तव्यह है।

मनकी शुद्धता होनेके बिना मित्रता नही हो सकती तथा मनकी शुद्धता होनेके बिना की हुई मित्रता लाभ की अपेक्षा अधिक हानिकारक ही होती है। सत्यकी निष्ठा बढने के बिना मनकी भी शुद्धता नही हो सकती। मुसलमान नेताओंका तो हमें पता नही है, परंतु हिंदु नेता तो सच बोलने के समय बडे डरते हैं, सत्य के लिये समर्पित हुए नेता भी हिंदुमुसलमानोंकी समस्या के विषय में सत्य बोलने से पीछे हटते हैं और जहांतक हो सके वहांतक उत्तर देना टालतेही हैं। जहां इतना सत्यसे डर हो वहां उस असत्य व्यवहार से दिल सफाई कभी होनी नहीं है और मानसिक शुद्धता से प्राप्त होनेवाली एकता भी डरपोक नेताओंके प्रयत्नसे साध्य होना कठिन कार्य है।

हिंदुमुसलमानों की समस्या गत आठ दस वर्षोंसे बढ रही है। गौ और बाजा पहिले भी थे, परंतु पहले कभी झगडे नहीं हुए और आजकल हो रहे है। जहां झगडे पहिले कभी नही हुए थे वहा नये ढंगसे झगडे के अड्डे बन रहे हैं। महाराष्ट्रमें ही देखिये बाजोंका प्रश्न यहां कभी नहीं उठा था, परंतु कऱ्हाड, तळेगांव आदि स्थानों में मुसलमानोंने झगडों के अड्डे नये खडे किये हैं और बाद्योंका प्रश्न इसी सालसे खडा किया गया है। सरकार भी बाजा बंद करवा कर स्थान स्थानमें मुसलमानों की सहायता कर रही है। प्रतिवर्ष इस प्रकार झगडों के अड्डे नये ढंगसे नये स्थानोंमें बनाये जा रहे हैं। इसलिये हमें ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें कोई विशेष हेतु होगा।

मुसलमानोंका कांग्रेससे अलग रहना और नये नये केन्द्रोंमें झगडे नये ढंगसे खडे करना यह कोई

निर्हेतुक बात नहीं है । यदि ये लोग किसी विशेष हेतुसे झगडों के नये केन्द्र बना रहे हैं, तो केवल ऐसे प्रस्तावोंसे मेल कैसा होगा यह हमारे समझमें नहीं आता ।

वास्तविक गोवध और बाजेका कोई परस्पर संबंध नहीं है, परंतु मुसलमान नेता उसका अनिवार्य संबंध मानने लगे है !! तथा सिंधप्रांत अलग करना, सीमाप्रांत में शासन सुधार करना आदि विषय भी हिंदुमुसलमानों के मेलके साथ कोई संबंध नही रखते । परंतु मुसलमान नेता उसका घनिष्ट संबंध मानते है!!! जो बातें परस्पर संबंधित नहीं हैं, उनका घनिष्ट संबंध आग्रह से बताना-और विना हेतु दिये बताना- मनकी ऐसी अवस्थाका दर्शक है जो संधि होनेके सर्वथा प्रतिकूल है । नेता लोग इसका विचार करें ।

इतना अनुभव आचुकने पर भी हिंदु नेता दिल से समझते है कि यह प्रस्ताव बडा भारी परिवर्तन करेगा, इसलिये नेता लोगों के प्रतिकूल हम यहां कुछ भी लिखना नहीं चाहते । परंतु जब राष्ट्रमहासभा के भूत पूर्व प्रधान श्री. श्रीनिवास अयंगार गोवध के विषयमें कहते हैं कि—" गोवध के विषय में हिंदु व्यर्थ आवाज उठा रहे है क्यों कि हिंदुओं के धर्म ग्रंथोंमें गोवध की आज्ञा है । ' इत्यादि भाषण श्री. श्रीनिवास अयंगार महोदयजीने किया है ।यह विधान सब अखबारों में प्रकाशित हो चुका है। इस भाषण के लिये हम व्याख्याता के वैदिकधर्म ग्रंथोंकी अज्ञानता की निंदा करें या अज्ञान होते हुए ऐसे भयानक विधान करनेके साहसकी प्रशंसा करें यह हमारे समझमें नहीं आता है ! यदि वेदादि धर्मग्रंथ पढे नहीं है तो उन ग्रंथों के विषय में कुछ भी न बोलना ही योग्य है । परंतु न पढते और न समझते हुए ऐसे विधान ठोक देना एक बडा भारी साहस है, जो ऐसे बडे नेता के लिये बिलकुल सजता नहीं है ।

मुसलमान नेता प्रायः अपने धर्मग्रंथ " कुराण " से परिचित रहते हैं, परंतु दुर्भाग्य के कारण हमारे हिंदु नेता वैसे अपने धर्मग्रंथोंसे परिचित नहीं होते, वेदकी बात तो दूर की है, परंतु अन्य ग्रंथोंसे भी वे परिचित नहीं होते । अंग्रेजीका ज्ञान रखना और बात है, यह ज्ञान धर्मग्रंथों के अज्ञान का दोष धो देनेमें समर्थ नहीं है । परंतु इतना गहरा अज्ञान होते हुए भी इन हिंदु नेताओं को अपने अज्ञान का पता नहीं है । इसलिये प्रसंग आनेपर अपने धर्म के विषय में ऐसे अज्ञानपूर्ण विधान करने से वे पीछे नहीं हटते । यह भेद है हिंदु और मुसलमान नेताओं में । इसलिये मुसलमान नेताओं के सन्मुख हिंदु नेता प्रायः दब जाते हैं । और एकता के लिये सब कुछ, जो वे कहें, वह मान जाते हैं ।

एकता के लिये सब कुछ कुर्बान करनेकी हिंदु नेताओंकी प्रवृत्ति है और उनमें यह भी एक भाव है कि "हमें लोग उदार कहें ' इसलिये मुसलमान नेता जिस प्रबलतासे अपनी जातिके लिये यत्न करते हैं उतनी प्रबलतासे हिंदु नेता कर नहीं सकते, क्यों कि स्वधर्म ग्रंथोंके अज्ञानके साथ प्रमाणसे अधिक उदारता भी उनमें है ।

हिंदुमुसलमानों के झगडे उत्तर भारत में अधिक और दक्षिण भारत में न्यून है । उत्तर से दक्षिण की ओर आते आते वे कम होते जाते हैं, इसलिये इन झगडों में जिस प्रकार उत्तरीय नेता अपने अनुभव की बात कह सकते है उस प्रकार मद्रासके नेता कह ही नहीं सकते । यदि श्री श्रीनिवास अयंगार पंजाब में जाकर दस वर्ष निवास करेंगे तब कुछ उनको पता लग जायगा कि मुसलमानोंकी मनःप्रवृत्ति कैसी है । तथापि इस मुख्य विषयका अज्ञान रहते हुए भी अयंगार महाशय अपना मत देगें ही ! !

" वेदादि शास्त्रोंमें गोवध की आज्ञा है इसलिये हिंदुओं की ओर से मुसलमानोंके गोवध के लिये प्रतिबंध होना नहीं चाहिये " यह इनका कथन है । यह ऐसे उत्तम विद्वान के मुखसे कैसा कहा गया यही हमारे समझमें नहीं आता ! ! !

वेद में गोवध की आज्ञा नहीं है, गोमेध में भी गौका वध नहीं है, इस विषयका पुस्तक थोडे ही समयके पूर्व स्वाध्याय मंडल द्वारा प्रकाशित हो चुका है । इस लिये यह विषय पुनः लिखनेकी बिलकुल आवश्यकता नहीं है ।

वेद गोवधका पूर्ण निषेध करता है और गोमेधमें गौकी वृद्धि, संगोपन, पालन, पोषण और विद्वान ब्राह्मणोंको दान इतने ही विषय है। पाठक गोमेधके सूक्त देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि गोदान लेनेका अधिकारी कौन है और गोदान देनेसे लाभ क्या हैं, इत्यादि बातें उसमें लिखी हैं, यह उनको ज्ञात होगा। इसलिये वेदके सिद्धांत के विषयमें अब कोई संदेह ही नहीं है। यदि श्री० श्रीनिवास अयंगार महोदय के पास कोई मन्त्र हो जिससे गोवध करनेकी आज्ञा प्रतीत होती हो तो वह जनता के सन्मुख रखें अन्यथा अपना कथन सार्वजनिक रीति से वापस ले। यदि वीरता है तो आगे आ जांय।

यह बात तो वेद के सिद्धान्तके विषय में हुई। अब रही बात अन्य ग्रंथोंके वचनोंकी, तो उस विषयमें इतना ही कहना है कि केवल किसी ग्रंथमें कुछ विधान होने से वह विधान धर्मसिद्धान्त नहीं होता। प्राचीन ग्रंथोंमें कई विधान हैं उनमें कई यहां देते हैं—

१ गर्भको खानेवाले लोक थे।

२ मनुष्य भक्षक लोग थे।

ये विधान किसी प्राचीन ग्रंथ में मिले तो क्या इन वचनों के बलसे आज किसीने किसी स्त्रीका गर्भपात कराके उस गर्भ को खाया, तो उसका संमान श्री. अयंगार महाशय करेंगे? या निषेध करेंगे?

कई रीतियां आजकल बदल भी गई हैं और प्राचीन समय में भिन्न रीतियां थी देखिये—

१ पति होते हुए वह संतानोत्पत्तिमें असमर्थ होने पर या पति मरनेपर, दूसरे पुरुषसे संतान उत्पन्न करने की रीति प्राचीन कालमें थी,

२ तथा पतिके जीते जी भी उसे छोड कर दूसरे के साथ विवाह करनेकी रीति थी।

क्या ये रीतियां थी इसलिये आज ही इनरीतियों का पुनः प्रस्थापित करना संभव हो सकता है? क्या कोई एकदम मनुष्य ऐसा आज करे तो उसका व्यवहार समर्थनीय भी माना जा सकता है? ऐसी सेकडों रीतियां प्राचीन समयमें थी, परंतु आज नहीं हैं। आज भी क्या और प्राचीन काल में भी क्या कई नियम सार्वभौमिक और कई प्रांतिक होते हैं। प्रांतिक नियमोंको सार्वभौमिक मानना भूल है, तथा एक समयके नियमों को सार्वकालिक मानना भी बडी भारी भूल है। देखिये—

आज मलाबार में स्त्री संतानके नाम से वंश की संपत्तिका अधिकार चलता है और भारत वर्षके अन्य भागोंमें पुरुष संतान के नामसे चलता है। यह प्रांतिक भेद विचार करने योग्य है। इसी समय हिमालयके कई हिस्सोंमें बहुपतित्वकी प्रथा है और कई प्रांतोंमें बहुपत्नीक पद्धति है। ये प्रांतिक भेद आज प्रचलित होते हुए भी क्या हम कह सकते हैं कि संपूर्ण हिंदुजाति बहुपतित्वको धर्म्य कर्तव्य मानती है? यदि संपूर्ण आर्य जाति इस समय कुछ मानती है तो एक पत्नित्रत और एक पतिव्रत ही अविरोध से मानती है, अन्य व्यवहार भेद स्थानिक और तात्कालिक वस्तुस्थितिके दर्शक है। इसी प्रकार गोवधादिके विषयमें समझना योग्य है अन्यथा अति-प्रसंग का दोष आजायगा। संपूर्ण सनातनधर्मी अथवा वैदिक धर्मी आर्य अविरोधसे गौको अवध्य ही मानते आये हैं। सनातन कालसेही गौको अवध्य मानते आये हैं। वेदादि शास्त्रोक्त यही परम सिद्धांत है। यदि किसी व्यक्तिने अपने मनके अनुसार उक्त सनातन धर्मके विरुद्ध कुछ मत चलाया हो तो वह स्थानिक, प्रांतिक या उस समय का मत हो सकता है, सार्वभौम और सार्वकालिक नहीं।

जिस समय धर्मग्रंथोंके या इतिहास पुराणोंके ग्रंथोंके वचनोंका विचार करना होता है, उस समय उनका विचार उक्त रीतिसे उन वचनोंका स्थान निश्चित करके करना चाहिये, अन्यथा प्रांतिक रीति सार्वदेशिक मानी जायगी और अर्थ का अनर्थ होगा।

महाभारतमें एक रन्तिदेवकी कहानी आती है उसमें लिखा है कि उसकी पाकशालामें कई हजार गौवें प्रतिदिन भोजनार्थ मारी जाती थी। एक पाक-शालामें प्रतिदिन कई हजार गौवों का कट जाना स्वयं असंभव बात है, इस लिये यह कथा अपने ही प्रमाण से असंभव सिद्ध होती है, तथापि दुर्जन की संतुष्टिके लिये मान लें की रन्तिदेवकी पाकशालामें कुछ गौवें भोजन के लिये काटी जाती थी। क्या

इससे यह सिद्ध होगा कि उस समयकी संपूर्ण आर्य जनता गोमांस भक्षक थी? इतना अनुमान करनेके पूर्व देखना चाहिये कि रन्तिदेवका राज्य कितना बडा था और रन्तिदेवका समय कौनसा था! पांडवोंका साम्राज्य सबसे बडा था, श्रीरामचंद्रजीका राज्य भी बडा था, परंतु ये राज्य आजकलके छोटेसे प्रांतके इतने भी विस्तारमें न थे। उस समय भारतवर्षमें बडे राज्य पचाससे अधिक थे और छोटे राज सैंकडों या हजारों थे। आजकल जैसे भारतवर्षमें सात सौ राजा महाराजा और नवाब हैं उसी प्रकार प्राचीन कालमें भी थे। उस समय के सम्राट केवल वार्षिक कर लेनेके अधिकारी ही होते थे, शेष सब राजालोक अपने राज्यमें पूर्ण स्वतंत्र थे। ऐसी अवस्थामें किसी एक स्वतंत्र राजाके घर की पाकशालामें कुछ भी हुआ तो क्या वह संपूर्ण आर्यजाती का धर्म हो सकता है। वह उस राजा का वैयक्तिक आचार होगा। वैयक्तिक आचार भला भी हो सकता है और बुरा भी हो सकता है। महाभारत इतिहास का ग्रंथ होनेसे उसमें उक्त कथा लिखी है, जो लेखक के समय प्रचलित थी। सब इतिहासिक कथाएं अथवा इतिहाससे भिन्न कल्पित कहानियां धर्मवचन का प्रामाण्य नहीं रखतीं। इतिहास केवल इतिहास ही है। " वैसा आचार उस व्यक्ति का था " इतनाही उससे अधिकसे अधिक सिद्ध होगा। इसी प्रकार अन्यान्य वचनों के विषयमें जानना चाहिये। वह सार्वभौमिक और सार्वकालिक सनातन धर्म नहीं है।

सनातन वैदिक आर्यधर्म का सार्वभौम सिद्धांत गोवध के लिये सर्वथा प्रतिकूल है। वेदसे जब गोवधकी आज्ञा साक्षात् मिल जायगी, तभी वह सिद्ध हो सकता है अन्यथा नहीं। इसीलिये वेदका धर्म सार्वभौमिक और अन्य ग्रंथवचन एकदेशी माने जाते हैं और वेदके विरुद्ध अन्य वचन कोई भी प्रमाण नहीं मानता।

म० श्रीनिवास अयंगार महोदय इस धर्मनिर्णय की प्राचीन रीतिका विचार करें और अपने वक्तृत्व की असत्यता जानें। भारतीय धर्मग्रंथोंका इतना विस्तार है कि यदि किसी संस्कृत ग्रंथके किसी एक वचन को पूर्ण प्रमाण माना जाय तो उससे महा अनर्थ हो सकता है, इसलिये सार्वभौमिक धर्मवचन और एकदेशी वचन का निश्चय करने के लिये मीमांसा शास्त्र निर्माण हुए हैं और उन्होंने धर्मनिर्णयके सर्वमान्य सिद्धांत निश्चित किये हैं। उन के अनुसार ही धर्म वचनों का निर्णय हो सकता है। अन्यथा अनवस्था होने में देरी नहीं लगेगी।

दूसरी बात भी यहां विचारमें लीजिये। यद्यपि हमारा पक्ष नहीं है तथापि क्षणभर के लिये प्रतिपक्षीकी संतुष्टि के कारण मान लें कि "प्राचीन काल में कई लोग गोवध किया करते थे। परंतु पश्चात् उन्होंने विचार करके वह प्रथा छोड दी और गोवध न करना अपना धर्म मान लिया, " जैसा कि म० अयंगार मान रहे हैं, तो उस अवस्थामें प्राचीन काल की प्रथा के बलसे उन लोगोंको इस समय का मत बदलवानेके लिये बाधित करना क्या कभी योग्य हो सकता है? प्राचीन कालकी जो कोई प्रथा हो, आज हम गोवध अधर्म मानते हैं, इसलिये आज के लोगोंका विचार आजके उनके मतसे ही करना चाहिये।

सनातन धर्मका इतिहास कमसे कम बीसियों हजार वर्षोंका इतिहास है। इतने बडे कालमें कई प्रथाएं वैसी रही हैं और कई बदलभी गई हैं। इस लिये फलानी प्रथा प्राचीन समयमें थी इतना कहने मात्र से उसकी आजके दिन धार्मिकता सिद्ध नहीं हो सकती, वह आजभी मानी जाती हगी तो ही वह आज धर्म हो सकती है। इस लिये यदि किसी ग्रंथके किसी वचनसे प्रांतिक, सामयिक या वैयक्तिक कल्पनानुसार किसीने किसी समय गोवध किया भी होगा, तो वह बात, आजकी भारतीय आर्य जनताके अविरोधसे स्वीकृत किये धर्मकल्पना के विरुद्ध उपयोगी नहीं हो सकती।

इस विषयमें दूसरा उदाहरण लीजिये। वेदमें मूर्तिपूजा का विधान स्पष्ट रूपसे नहीं है, इस लिये सब मानते हैं कि वैदिक समयमें मूर्तिपूजा नहीं थी और मूर्तिपूजाकी प्रथा पीछेसे हिंदुओंमें प्रचलित हो गई है। इस इतिहासिक बात को प्रमाण लेकर यदि म० अयंगार महोदय हिंदुओं को कहें कि-"ए हिंदुओ!

तुम्हारे वेदमें मूर्तिपूजा नहीं है, इसलिये मुसलमान गुण्ड यदि तुम्हारे मंदिरोंको तोडते हैं और मूर्तियों का भंग करते हैं तो वह अच्छा ही है!! " तो ऐसे कहनेका जो मूल्य होगा वही गोवधविषयक उनके वक्तृत्वका है।

मूर्तिपूजा अच्छी हो या बुरी हो, प्राचीन हो या अर्वाचीन हो, इस समयके हिंदु कर रहे हैं और मानते हैं कि वह अपना धर्म है। ऐसी अवस्थामें उनके मंदिरों और मूर्तियोंको तोडनेका अधिकार मुसलमानों को है या नहीं नागरिकत्वके अधिकार से क्या व्यवस्था होनी चाहिये, क्या नागरिक ऐसे गुण्डपनसे एक दूसरेके सिर तोड सकते है, यही विचारणीय प्रश्न है। यहां प्राचीन प्रथाके बल से जैसा चाहे वैसा दबाव डालना सर्वथा अयोग्य है और जो वैसा करेगा वह निःसंदेह अपने आपको निंदनीय बनायेगा।

गोवध के विषयमें भी यही बात है। मुसलमानों के धर्म ग्रंथ कुराणसे गौका बलिदान अनिवार्य नहीं है, कुराण में ही लिखा है कि गौका वध न करना चाहिये। ईद के दिन अन्यान्य पशुओंके बलि देनेका रिवाज अन्यान्य मुसलमानी देशों में है, हिंदुस्थान में बहुतसे मुसलमान कृषि करने वाले हैं, वे गाय बैल का उपयोग अच्छी प्रकार अनुभव करते हैं और गोरक्षा अपना कर्म समझते हैं, ऐसी अवस्थामें कई मुसलमान नेताओं का गोवधपर अटक जाना केवल दुराग्रहकी बात है। मुसलमान बादशाहाओंने तथा अफगाणिस्थान के अमीर साहेबने भी अपने राज्यों में गोवध बंद किया था और किया है। फिर दुराग्रह के सिवाय दूसरी कौनसी बात है जो मुसलमान नेताओंको इस बातपर हठ करनेके लिये प्रवृत्त करती है। यदि उनके धर्मग्रंथ में गोवध अनिवार्य होता तो हिंदु लोग उनको मना न करते। क्यों कि हिंदुभी धर्म के प्रेमी हैं। परंतु उनके धर्मग्रंथमें अनिवार्य गोवध नहीं है, इस लिये हम कह सकते हैं कि हट मुसलमानोंका है हिंदुओं का नहीं।

ऐसी वस्तुस्थितिमें म. अयंगार महोदय का पक्ष सर्वथा असमंजस सिद्ध हो रहा है। वास्तविक उस को प्राचीनतम धर्मपुस्तकका आधार नहीं है, प्राचीन पद्धति होनेपर भी आज वह बाध्य नहीं होती, इसके अतिरिक्त जिनको खुश करनेके लिये वक्तृत्व करना है उनके धर्म पुस्तकमें भी वह बात अनिवार्य नहीं है।

मस्जिदके सामने बाजा बजाने का प्रश्न स्वतंत्र है उसका गोवध के साथ कोई संबंध नहीं है। मार्ग सबकेलिये समान है वह फिर मस्जिदके सामने हो या किसी अन्य मकान के। उस मार्ग परसे मोटारें सींग बजाती हुई जाती हैं, वहां अन्य प्रकारके आवाज केलिये भी मनाई नहीं है। जो मनाई है वह हिंदुओंके मंगल वाद्योंके लिये ' मस्जि में प्रार्थना होती हो या न होती हो सामने कभी वाद्य नहीं बजने चाहिये !! पुराने या नये मस्जिद हों उनके सामने हिंदु का बाजा बंद रहना चाहिये '!! जो बात बादशाहाओं के जमानेमें भी नहीं हुई और जो बात किसी अन्य मुसलमानोंके देशमें नहीं है और जो बात किसी भी यूरपके सभ्य देश में एक क्षणमात्र भी मानी नहीं जा सकती, वह बात मुसलमान नेता हिंदुओं पर दबावसे डालना चाहते हैं, यह किस प्रकारकी मनोभावनाका द्योतक है इसका विचार हिंदु नेता करें।

लंदन और पारीस में मुसलमानोंकी मस्जिदें बनी हैं। कृपा करके यहां के मुसलमान वहां जांय और उक्त मस्जिदोंके सामने वाले मार्गपर का ध्वनि इस प्रकार के गुण्डपनसे बंद करनेका यत्न करके देखें, तो पता लग जायगा कि, सभ्य नगरों में इस गुण्ड पनका जवाब कैसा मिल सकता है !!! जो सख्य देशोंमें उनको प्राप्त हो सकता है, उतनाही उनको यह हिंदुओंसे प्राप्त हो सकता है। हिंदु नेताभी उतना ही मानेंगे तो शीघ्र और चिरस्थायी सख्य हो सकता है। अन्यथा एकके पीछे दूसरा अनुभवही लेना हो तो नेता लोग अनुभव लेते रहें, वे स्वतंत्र हैं।

योगमार्गसे अरुचि या भय के कारण।

३ योगमार्गपर जाकर क्या सुखों से वंचित होना पड़ता है?

(ले०- श्री. पं. अभयदेव शर्माजी विद्यालंकार)

योगमार्गमें प्रवृत्ति रोकनेवाला तीसरा कारण है इस मार्गमें 'अपने परिचित सुख का अभाव' देखना। पातंजल दर्शन पढने से मन पर कई वार ऐसी ही छाप पडती है कि योगाभ्यासी पुरुष उदास, मुरझाये चेहरे वाला दुःखी सा होता होगा। विशेषतः जब कि हम योगसूत्रोंमें यह लिखा देखते हैं 'विवेकी पुरुष के लिये सब कुछ दुःख ही दुःख हो जाता है' (यो. २-१५)। कमसे कम लेखक ने जब योगदर्शन पढा था तो उसे जहां एक ओर उसमें वर्णित विभूतियां आदि को देखकर आकर्षण और रुचि होती थी, वहां दूसरी तरफ यह दुःखचर्चा देखकर बहुत हटाव और अरुचि होती थी। इसलिये उसने एकदिन अपने दर्शनोपाध्याय जी से अकेलेमें जिज्ञासुभावसे पूछा भी था कि 'स्वरूपस्थिति या कैवल्य में क्या हालत होती होगी' यह तो कुछ मालूम नहीं होता कि वहां कोई सुख व आनन्द की प्राप्ति होती होगी. . "। यह शंका और अरुचि कुछ न कुछ आगे भी रही, पर उसके बादसे नये विचारों को उत्पन्न करते हुए और नये अनुभव लाते हुवे बारह वर्ष बीत गये हैं और अब लेखकको ऐसा कोई भय या आशंका नहीं रही है। अतः आशा है इस विषयके विचार प्रस्तुत करना अन्य लोगों के लिये भी कुछ सहायक हो सकेगा। लेखकने एक वार ईसाइओं द्वारा योगदर्शन की निन्दामें लिखी हुई एक पुस्तिका देखी थी जिस में अन्य बातों के साथ योगदर्शन में मिलने वाली 'संसार के दुःखमयता' की बात की भी हंसी उडायी गयी थी, आशा है उसका भी समाधान (यदि किन्हीं को समाधान की आवश्यकता होगी) निम्नविवेचन से हो सकेगा।

पहिले तो हमें स्पष्ट तौर पर यह देख लेना चाहिये कि योगसूत्रों में ही सुख अभीष्ट वस्तु के तौर पर कहा गया है और दुःख को योग का विघातक कहा है। योगसूत्रों में अभ्यासी को यह कहीं नहीं कहा गया है कि वह दुःखी रहे, उलटे यह कहा है 'दुःख दौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वास-प्रश्वासाः विक्षेपसहभुवः' (यो. सू. १-३१) जिस का यह अर्थ है कि इससे पहिले सूत्रमें जो चित्त विक्षेपक व्याधि आदि ९ विघ्न गिनाये हैं उनके साथी ये दुःख दौर्मनस्य आदि हैं। अतः दुःख और दौर्मनस्य भी योग में बाधक हैं यह मतलब निकला। वैसे भी यह स्पष्ट है कि जो दुःखग्रस्त होगा, दुर्मना, अप्रसन्न, उदास, चिडचिडा होगा उसका चित्त, कैसे एकाग्र होगा, वह योग क्या करेगा। प्रसन्न-चित्त, सुमना शान्त होकर ही योगसाधन का अभ्यास कार्य किया जा सकता है। अतएव योगसूत्रों में ही अन्तःशौच के फल क्रमशः गिनाते हुवे जो 'सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजात्मदर्शन-योग्यत्वानि च' लिखा है इनमें सत्वशुद्धि के बाद सौमनस्य को (जो कि दौर्मनस्य से उलटा है) को बताया है जिस के बिना अगला फल 'ऐकाग्र्य' नहीं मिलता। व्यास जी ने भी यही बात अन्यत्र कही है, क्यों कि उपरिवर्णित (१—३२) सूत्र की टीका मे दुःखदौर्मनस्यादि के विषय में उन्होंने लिखा है 'व्युत्थितचित्तस्यैते भवन्ति, समाहितचित्तस्यैते न भवन्ति'। फलितार्थ यह हुवा कि दुःखदौर्मनस्य से व्युत्थितता होती है, समाहितता नहीं (समाहितता के साधन सुखसौमनस्य हुवे)। पर इन मानसिक दुःखों से भी पहिले योगाभ्यासी को शारीरिक दुःख हटाने चाहिये। अत एव 'व्याधि' को (१—३०) सबसे पहिला अन्तराय बताया है। जो आसन लगाकर योगाभ्यास के लिये बैठना होता है उसे भी स्थिर और सुख कहा है (२—४६) यदि आसन से शारी-रिक पीडा होती रहे तो उस आसनसे योग नहीं किया जा सकता। और यदि योगशास्त्रानुसार सुख अभीष्ट पदार्थ न होता तो संतोष नियम के पालन

का फल 'अनुत्तम-सुखलाभ' (२—४२) किस लिये वर्णित किया जाता। एवं पातंजल सूत्रों से भी यह स्पष्ट है कि दुःख योगसाधनमें विघातक है और सुख अभीष्ट है। इस लिये यह कल्पना ठीक नहीं कि योगाभ्यासी प्रसन्न, मुदितमुख और आनन्दवर्धक होने की जगह उदास, रुदितमुख और दुःखमूर्त्ति होता है या होता होगा।

तो फिर 'सर्वमेव दुःखं विवेकिनः' वाले सूत्र (२-१५) का क्या आशय है? यह अवश्य मननीय विषय है। यह तो स्पष्ट है कि इस सूत्र में प्रयुक्त "दुःख" शब्द तथा "दुःखदौर्मनस्य" इस (१-३१) सूत्र में प्रयुक्त 'दुःख' शब्द समानार्थक नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर विरोध आता है। यह संभव नहीं कि पतंजलि मुनि एक जगह दुःख को योग का विघातक (विक्षेपक) कहें और दुसरी जगह योगी के लिये 'सब के प्रति दुःखी रहने' की अवस्था को उचित बतलावें। यदि दुःख विक्षेपक भी हो (जैसा कि है) और योगी को दुःखी रहना भी ठीक हो तो उपर्युक्त व्यासजी के वचन (व्युत्थितचित्तस्यैते भवन्ति) के अनुसार ऐसा योगाभ्यासी सदा व्युत्थित ही रहेगा, समाहित कभी नहीं हो सकेगा (समाधि कभी न पा सकेगा)। अतः यहां दुःख शब्द का अभिप्राय कुछ और है। असलमें यहां 'दुःख' शब्द का अर्थ है 'सुख का अभाव' जो कि राग के अभाव से (यो २-७) से जनित है। 'सुख के अभाव' के लिये दुःख शब्द प्रयुक्त किया जा सकता है। जहां इस सूत्रके 'दुःख' का अर्थ प्रचलित दुःख लेनेसे योगशास्त्र में विरोध आता है, वहां इसका अर्थ 'सुख का अभाव' ऐसा लेनेसे शास्त्रका अर्थ अति सुसंगत होता है. क्योंकि सुखाभाव अर्थात् रागाभाव (वैराग्य) तो योग में बड़ा भारी अवश्यंभावी साधन है। तब इस सूत्र का अर्थ होता है कि विवेकी के लिये सब वस्तुओं में रागमूलक सुख का अभाव होता है। दूसरी तरह से भी हम देख सकते कि हैं यहां 'दुःख' शब्द प्रचलित दुःख अर्थ में नहीं प्रयुक्त हुवा है। हम जिस चीज से दुःख पाते हैं उसके प्रति हमारे अन्दर द्वेष की वासना पैदा होती हैं। 'दुःखानुशयी द्वेषः' (यो. २-८)। अतः यदि विवेकी को संसार की सब वस्तुयें दुःख देती हैं (हमारे प्रचलित अर्थ में दुःख देती हैं) तो वह संसार की सब वस्तुओं से द्वेष भी करता है। किन्तु यह मानने से भी योगशास्त्र में विरोध आता है, क्योंकि द्वेष योगशास्त्र में राग के साथ साथ पंच क्लेशों में गिना है (यो. २-३) जो कि योगी के लिये अत्यन्त त्याज्य है। योगी द्वेष किसी वस्तु से नहीं कर सकता, जैसे वह राग किसी वस्तुसे नहीं करता। अतः इस सूत्र का अर्थ यह नहीं हो सकता कि विवेकी संसार की सब वस्तुओं से द्वेष करता है, इसका अर्थ यही है कि वह संसार की सब वस्तुओं में रागाभाव (वैराग्य) रखता है। इस तरह भी स्पष्ट है कि यहां दुःख शब्द का अर्थ 'दुःख' के स्थान पर 'सुख का अभाव' यही न्याय्य है।

पर जब कि 'सुखाभाव' और 'दुःख' इस तरह एक चीज नहीं है तो सुखाभाव की जगह दुःख शब्द का प्रयोग करना क्या भ्रमजनक नहीं है? क्या पतंजलि मुनि यहां पर सुखाभाव शब्द ही नहीं प्रयुक्त कर सकते थे? । इसका उत्तर यह है कि असलमें यहां 'दुःख' शब्द का प्रयोग ही ठीक है, यद्यपि यह दुःख शब्द प्रचलित दुःख शब्द से बहुत भिन्नार्थक है। इस बातके स्पष्टीकरणके लिये हमें जरा सुखदुःखविषयक तत्त्वज्ञान की गहराई में उतरना पड़ेगा। वैसे तो सुख दुःख के विवेचन में पड़ना सब संसार के ही रहस्य की घोर उलझन में पड़ना है, पर हम यहां संक्षेप से अपनी कामलायक गहराई में थोडासा जायगे, अधिक नहीं।

जो पूर्ण योगी हैं अर्थात् पूर्ण सिद्ध हैं उनकी बात जुदा है। उनकी जो दृष्टि संसार के प्रति होती है वह न सुख की है, न ही दुःखकी। वहां सुख दुःख की पूरी और अन्तिम समता हो जाती है। अत एव यह सच है जब उनकी दृष्टि संसार के प्रति सुख की तरह दुःख से भी रहित होती है तो उस अवस्था को 'दुःख' नहीं कहा जा सकता, बल्कि वह दुःख सुख से विलक्षण अवस्था-विलक्षण आनन्द की, परमानन्द की ही अवस्था होती है (जैसा कि आगे कहा जायगा)। उस अवस्था को प्राप्त सिद्ध

के लिये संसार का संसारत्व ही नष्ट हो जाता है, की संसार में दुःखता वे क्या देखेंगे। उनके लिये 'विवेकी' शब्द का प्रयोग भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि विवेक तो वहां किया जाता है जहां कि कुछ द्वैत, सापेक्षता या विषमता हो। जिसने (परमानन्द में) पूरी और अन्तिम समता पा ली है उस के जग भी सापेक्षता नहीं रहती। परन्तु विवेकी पुरुष के लिये [जिसने कि अभी कैवल्य (परमानन्द) प्राप्त करना है] इतनी सापेक्षता रहती है कि वह कैवल्य सुख की अपेक्षा से संसार में दुःख देखता है, यद्यपि संसार के सब दुःख-सुखों में तो वह भी पूर्ण सम होचुका होता है। स्वयं संसार में उसके लिये न कुछ सुख है और न दुःख; और इसी 'संसारसंबन्धी सब सुखदुःखों में समता' प्राप्त करने के कारणही वह कैवल्य जैसी अत्युच्च वस्तुके देखने के योग्य होता है। पर उसे देख कर जब वह इस कैवल्य के सुख की अपेक्षा मे संसार को रखता है तो उसे यह दुःख प्रतीत होता है। क्योंकि वास्तव में सब सुखदुःख सापेक्षिक ही हैं। यह ठीक है कि यह दुःख सामान्य दुःख से बहुत भिन्न है। जैसा कि अभी कहा जायगा कि ज्यों ज्यों मनुष्य उच्च होता है त्यों त्यों उसका दुःख और सुख सूक्ष्म और शान्त होता जाता है, परन्तु जब तक अन्तिम परम सुख(निरपेक्ष परमआनन्द) नहीं मिल जाता और उसमें समता नहीं होजाती तब तक सूक्ष्मातिसूक्ष्म सापेक्षिक सुख दुःख रहते ही है। इस प्रकार का, कैवल्यसुखापेक्षाकृत दुःख विवेकी को भी होता है। उसका यह शान्त दुःख (जो कि किसी तरह कम नहीं कहा जा सकता) शान्तता के कारण या विवेकी की उच्चता के कारण उसमें द्वेष वासना नहीं पैदा करता, दौर्मनस्य (चित्तक्षोभ) कोभी नहीं पैदा करता, ('इच्छाविघाताच्चेतसः क्षोभः'व्यास जीने दौर्मनस्य का यही अर्थ किया है।) अर्थात् योगविघातक नहीं होता बल्कि केवल वैराग्य को दृढ करने वाला होता है अतः उसे 'दुःख' नहीं बोलना चाहिये, तो भी जब इस अवस्था को सुखदुःख इन सापेक्षिक शब्दों में से ही कहना हो तो यह 'दुःख' शब्दसे ही कहलायगा। तात्पर्य यह कि यद्यपि यह प्रचलित अर्थों में दुःख नहीं है (उन अर्थों में तो विवेकी दुःख सुख में सम हो चुका होता है) तथापि वह उच्चावस्था का एक प्रकार का शान्त दुःख ही है और यद्यपि उसकी संसार के प्रति दृष्टि 'सुखाभाव' की (जिसमें दुःखाभाव भी शामिल है)— शान्त वैराग्य की-समता की होती है तथापि कैवल्य की अपेक्षा से यह 'दुःख' की ही है। यहां पर निम्नलिखित आख्यान स्मरण आता है जो कि व्यासजी ने ३-१८ सूत्र के भाष्य में लिखा है।

"भगवान जैगीषव्य को संस्कार साक्षात्कार करने से पिछले दस महासर्गों मे अपने जन्मों के परिणामक्रम देखते हुवे विवेकज ज्ञान पैदा हुवा था। एक बार उनसे भगवान् आवट्य तनुधर (जो कि निर्माणकाय की सिद्धि रखते थे) ने निम्न प्रकार संवाद किया।

आवट्य—आपने जो दस महासर्गों मे भव्यता के कारण अपने अनभिभूत बुद्धिसत्व के प्रभाव से नरक, तिर्यक और गर्भ के दुःख देखते हुवे देव मनुष्यों में बार बार जन्म लिये हैं तो वहां सुख दुःख में से अधिक क्या पाया ?

जैगीषव्य—दस महासर्गों में भव्य होने के कारण अनभिभूत बुद्धिसत्त्व वाला रह कर नरक, तिर्यक, गर्भ दुःखों को देखते हुवे मैंने बार बार देवमनुष्यों में उत्पन्न होकर जो कुछ अनुभव किया वह सब मुझे दुःख ही दीखता है।

आवट्य—आप आयुष्मान् का जो प्रधानवशित्व (देखो सूत्र ३-४९) (वह ऐश्वर्य जिससे कि प्रधान को वश कर करके जैसे चाहे वैसी कायेन्द्रियसंपत् दूसरे को दे सकता और अपने भी जितने चाहे शरीर बना सकता है) तथा 'अनुत्तम' संतोष सुख था क्या उसे भी दुःख में ही गिन लिया ?

जैगीषव्य– विषय सुख की अपेक्षा से ही संतोष सुख को अनुत्तम कहा है, पर कैवल्य सुख की अपेक्षा से तो वह दुःख ही है। यह (संतोष) बुद्धिसत्व का धर्म है जो कि त्रिगुण है, और सब त्रिगुण तो हेय पक्ष में हैं।

तात्पर्य यह है कि जब तक कि अन्त में कैवल्य सुख में-अन्तिम शान्त सुख में-भी समता नहीं हो जाती तब तक भी सूक्ष्म सापेक्षिक सुख दुःख रहते है, सर्वथा दुःखाभाव नहीं होता। मनुष्य की उन्नति का मार्ग कुछ ऐसा सा है कि वह ज्यों ज्यों आगे बढता है त्यों त्यों अशान्त सुखों दुःखोंको सम करके अगले उच्चतर शान्त सुख को पाता है जिसकी कि अपेक्षा से अब तक का सब कुछ (सम हुये सब दुःख सुख) एक शान्त दुःख में परिणत होजाते है। (यह भी स्पष्ट है कि यह अगला शान्त सुख और दुःख पहिले से विस्तृत और ध्रुव भी होते है)। फिर इस शान्त दुःख और शान्त सुख में भी समता पाकर और अगले अधिक सूक्ष्म शान्ततर (जो कि विस्तृत और ध्रुवतर भी होता है) सुख को प्राप्त होता है जिसकी कि ऊपेक्षासे अब तक का सब कुछ एक अतिश्रेष्ठ शान्ततर दुःख में हो जाता है। अत एव वास्तवमें कैवल्य को देखनेवाले विवेकी के लिये सब संसार एक प्रकार का (उच्च) दुःख हो जाता है, जैसा कि पतंजलि मुनि ने कहा है; यद्यपि हमारे लिये वह केवल 'सुखाभाव' ही कहा जासकता है क्योंकि हमें उस विलक्षण दुःख का (जो कि एक शान्त किन्तु बडा और गहरा दुःख होता है) कुछ भी अनुभव नहीं होगा।

असल में ऊपर चढते हुये हमारे सुख दुःखों का मतलब ही बिलकुल बदलता जाता है,इतना बदलना जाता है कि नीचे का पुरुष उच्च पुरुष के सुख दुःखों की कल्पना तक नहीं कर सकता, यद्यपि सुख दुःख के सामान्य लक्षणों (अनुकूल वेदनीयत्व और प्रतिकूल वेदनीयत्व) के अनुसार वे कहाते सुख या दुःख ही हैं। अतः यह भी स्पष्ट है कि मनुष्य की उच्चता की पहिचान यह नहीं है कि उसमें सर्व प्रकार के सुख दुःखानुभव का अभाव होगया या नहीं (क्योंकि सूक्ष्म सापेक्षिक सुख दुःख तो अन्त तक बने रहते है), पर यह है कि उसके दुःख सुख किस प्रकार के हैं। मनुष्य ज्यों ज्यों उच्च भूमिकाओंमें पहुंचता है उसका सुख दुःख नये नये प्रकार का होता जाता है। उसकी इस उच्चता के साथ क्यों कि उसके सुख दुःखों का आपेक्षिक भेद करने वाला अपेक्षा बिन्दु भी ऊंचा होता जाता है इस लिये अपेक्षा बिन्दु की उच्चता से उसका अगला अगला सुख अधिक अधिक विस्तृत, अधिक अधिक शान्त और फलतः अधिक अधिक ध्रुव होता जाता है। अत एव अन्तिम परम आनन्द(जिसकी प्राप्ति परम लक्ष्य है) परम शान्त है, इतना विस्तृत है कि सर्व व्यापक ('भूमा वै सुखं नाल्पे सुखमस्तीति') है और बिलकुल ध्रुव है अर्थात् अक्षय व शाश्वत है।

एक नव जात शिशुमाता के अपने से जरा दूर होते ही बुरी तरह रोने लगता है और जरासी बात से खिलखिला उठता है। आगे, आठ दस वर्ष का बालक इतनी छोटी छोटी बातों पर दुःखी सुखी नहीं होता उसका अपेक्षा-बिन्दु कुछ ऊंचा हो जाता है, पर वह भी पेंसिल खोजाने से दुःखी होता है तसबीरें देखकर सुखी होता है। फिर एक पूर्ण युवा मनुष्य को देखिये जो कि पेंसिल खोने और तस्वीर देखने के जैसे दुःख-सुखोंमें प्रायः सम हो जाता है, पर वह अपने किसी प्रिय संबन्धी के मरने पर दुःखी होता और एकदम बहुतसा धन पा जाने से सुखी होता है। दुःखसुखों में भेद होते जाने के इन उदाहरणों को प्रायः हम सब जानते है। इनमें भी यह स्पष्ट है कि अवांच वस्था के सुख दुःख छोटे छोटे 'अल्प, अल्प' होते हैं, अचिरस्थायी होते है अधिक उद्वेगयुक्त और अशान्त होते है, आगे आगे ये गंभीर शान्त होते जाते है, अधिक व्यापक (भूमा) और चिरस्थायी होते जाते हैं। हम यह भी समझते है कि आगे जो विशालहृदय उच्च पुरुष होते हैं वे अपने संबन्धिओं की मृत्यु या विवाहोत्सवों से कुछ भी दुःख या सुख नहीं अनुभव करते, पर वे देश के दुःख से दुःखी होते हैं और सर्वजनकल्याण के कार्य

को देख कर सुखी होते हैं। एवं इनसे भी उच्च ' अक्षिपात्रकल्प ' विवेकी होते हैं जो कि इन से भी सूक्ष्म सुख दुःखों को अनुभव करते है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश हम मे से किसे दुःखी करते है ? पर ये ही पांच योगशास्त्र में क्लेश हैं (यो. २-३)। योगी के लिये सब दुःखों की जड, महादुःख ये ही हैं । पर हमारे तो सब सुख इन्हीं अविद्या आदि के सहारे हैं। हमारी और विवेकी की सुखदुःखकल्पना ही परस्पर बिलकुल उलटी हो जाती है। इसी तरह विवेकी की प्रसन्नता भी हमसे सर्वथा भिन्न है। हम तो विषयभोग के अशान्त, उत्तेजक क्षणिक सुखों में प्रसन्न होते हैं। पर योग में चित्त की एकाग्रता, स्वच्छता, प्रशान्तवाहिता का नाम चित्त प्रसादन (चित्त प्रसन्नता) है। यह चित्त प्रसादन क्या है। यह है प्रचलित (हमारे) दुःख सुखों से अप्रभावित रहना, उनमें सम, शान्त रहना। विवेकी को हमारे ये सुख जोकि परिणाम में तापकारक है तथा हमारे ये दुःख जो कि सीधे ही ताप कारक है दोनों एक जैसे सम दीखते हैं- मन की प्रशान्तता समाहितता (उनकी प्रसन्नता) की अपेक्षा में दोनों ही एक बराबर दुःख दीखते है। वह आगे बढता है तो उसे सभी (सुखके और दुःख के) संस्कार तक दुःख दीखने लगते है, क्यों कि तब उसे ऋतंभरा प्रज्ञा (जिसके संस्कार अन्य संस्कार-प्रतिबन्धी होता है) लानीवाली सबीज समाधियों का सुख मिलने लगता है। इस सुख की अपेक्षा संस्कारमात्र दुःख दीखने लगते हैं। एवं पर वैराग्य होजाने पर गुणमात्र (तीनों गुण) अर्थात् सब प्रकृति (यो० १-१६) ही दुःख दायक होजाती है, क्योंकि तब निर्बीज समाधि द्वारा कैवल्य का परम सुख दीखने लगता है और त्रिगुणातीत होने में ही एकमात्र चैन पर शान्ति (आनन्द) दीखता है। एवं जब तक कुछ भी सापेक्षता है तब तक सूक्ष्मातिसूक्ष्म सुख दुःख बने रहते हैं। अबाध परमशान्त सर्वव्यापी भूमा शाश्वत सुख तभी मिलता है जब कि सापेक्षता बिलकुल हटजाती है, पूर्ण समता होजाती है।

सापेक्षिक सुख के साथ तो (वह चाहे कितना उच्च सुख क्यों न हो) उतना ही सापेक्षिक दुःख अवश्य हता है। जो सर्वथा दुःख रहित परम सुख है वह निरपेक्ष है। अत एव उस निरपेक्ष सुख को अन्यों से जुदा करने के लिये कई विद्वानों ने उसका नाम ' आनन्द ' रखा है, उस के लिये वे 'सुख' शब्द का प्रयोग नहीं करते।

अतः अन्त में हमे सुख दुःख के विषय में यह ज्ञान पाना है कि सापेक्षता ही दुःख है अर्थात् जब तक सापेक्षता का द्वन्द्व नहीं मिटता तब तक निर्बाध शाश्वत सुख(आनन्द) नहीं मिलता जो कि निरपेक्ष है। निरपेक्ष होने का अर्थ होता है स्वाश्रय होना, पराश्रय बिलकुल न होना, क्यों कि सापेक्षता तो पराश्रय के साथ ही रहती है। अतः यह सापेक्षता तब तक नहीं हटती (स्वाश्रयता तब तक नहीं आती) जब तक कि हमारा सुख किसी बाहर की, हम से जुदा वस्तु का आश्रय करता है। "सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् " यह मनुवचन सुख दुःख के मार्ग पर अन्त तक सत्य है। जिन पुरुषों का सुख बाहर के स्थूल विषयों पर अवलंबित है(अर्थात् जिनके अपने अन्दर अपना स्वाश्रय सुख कुछ नहीं) वे इन नाना विषयों के मारे मारे इधर उधर भटकते फिरते है, क्योंकि उनका क्षणिक सुख जल्दी खतम होकर उन्हें गहरे दुःखमें ढकेलता जाता है। एवं इनसे तंग आकर इन्हें इन अशान्त सुख दुःखों में सम होना पडता है, गंभीर होना पडता है और वे किसी ऐसे सुख की तलाश में लगते हैं जो कि पराश्रय न होकर स्वाश्रय हो, स्ववश हो, स्वाधीन हो। तब मनुष्य को यह उच्च ज्ञान मिलता है कि सब दुःख सुख मेरे मन का ही बनाया है, बाहर की और किसी वस्तुके आश्रित नहीं है। पर आखिर मन भी अपने से (आत्मा से) जुदा चीज है अतः मुमुक्षु को उस उच्च अवस्था से भी अपनी अभीष्ट शान्ति, आनन्द नहीं मिलता। एवं अन्त में जब तक " कैवल्य का सुख " " ब्रह्मका आनन्द " यह भी दीखता है तब तक भी हमारा सुख परवश रहता है। पूरा आत्मवश (स्वाश्रय) सुख-शाश्वत निरपेक्ष आनन्द तब मिलता है जब कि "कैवल्य

के सुख ' को देखने (उसके लिये तरसने) की जगह वह ' स्वयं केवली ' हो जाता है या ब्रह्म के आनन्द को देखते हुवे उसकी इच्छा करनेकी जगह उस आनन्द में मग्न हो जाता है (जिसे कि '' स्वयं ब्रह्म हो जाना '' भी कहा जाता है)। यह है पूर्ण स्वाश्रय सुख। एवं योगी को यह महान सत्य सूर्य की तरह स्पष्ट जानना होता है कि सुख सब अपने में है, स्व में, आत्मा में है, कहीं भी बाहर नहीं। जब तक मनुष्य अपना सुख अपने से बाहर अपने से दूर-विषयों में ढूंढता रहता है तब तक वह अन्दर से सुख से खाली (शून्य) रहता है, पर ज्यों ज्यों वह अपने अन्दर को आता है (अर्थात बाह्य वस्तुओं में उसके लिये सापेक्षिक सुख दुःख हटता जाता है) त्यों त्यों उसमें आत्म (स्वाश्रय) सुख भरता जाता है, उसका सुख निरपेक्ष और अन्दर गहरा होता जाता है और अंतमें जब अपने आनन्द रूप सर्वानन्द स्रोत आत्मा को देख लेता है तब उसमें पूर्ण सुख भर जाता है। वह आनन्द का पूर्ण समुद्र बन जाता है।

एवं योगमार्ग-जो अपने अन्दर जाने का मार्ग है-पूर्ण सुख को जल्दी से जल्दी पहुंचाने वाला ऐसा मार्ग है जिस पर चलते हुवे आगे आगे नये नये, श्रेष्ठ श्रेष्ठ, ध्रुव ध्रुव सुख प्राप्त होते जाते हैं जिनकी कि अपेक्षा में निचले निचले सुख फीके होते जाते है। इस लिये इस मार्ग पर सुख से वंचित होनेका भय करना कितना अज्ञान है! यह ठीक है कि अपने निचले अशान्त, उद्विग्न, क्षणिक सुखों और दुःखों की समता विना किये अगला शान्त आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता और इस समता को प्राप्त करने के लिये हमें इन अध्रुव दुःखोंको सहना-खुशी से सहना होगा, यही तप है। तथा इन अध्रुव सुखों से हर्षित होना छोडना होगा, इनमें वैराग्य पाना होगा। बाहर की चीजों में राग या द्वेष होना इस बात का चिन्ह है कि हम अन्दर से भरे नहीं हैं- हम मे स्वाश्रय सुख नहीं है। जब पूरा दीख जाता है कि बाहर किसी वस्तु में सुख दुःख नहीं हैं-वे सब चीजे हमारे इस विषयमें बिलकुल खाली हैं अर्थात् हम अपने अन्दर से भर जाते है तो बाहर की किसी भी चीज में-संसार भर में राग या द्वेष किस लिये रह सकता है। पर हम अज्ञानवश यह नहीं समझते कि हमारे ये रागद्वेष वाले सांसारिक, विषयाश्रय क्षणिक सुख उस निरपेक्ष स्वाश्रय अक्षय परम सुख के पाने में बाधक हैं। अतः हम एक तरफ अपने इन परिचित सुखों को त्यागने से डरते है पर दूसरी तरफ सत्य यह है कि इन्हे विना त्यागे (विना समता पाये) अगला सुख दीखता तक नहीं और विना देखे उसके पाने के लिये ये कठिन यत्न कोई क्यों करने लगा। यही सब मुश्किल है। अतः किसी तरह मनुष्य को यह अनुभव हो जाना चाहिये कि इन स्थूल सुख और दुःख की समता पाना अगले आनन्द के लिये आवश्यक है तथा वास्तव में सब सुख अन्दर ही है। इन दो अनुभवों को पाकर ही मनुष्य योग में प्रवृत्त हो सकता है और शाश्वत सुख पा सकता है। इन दो सत्यों में अटल श्रद्धा ही वह वस्तु है जिसके कारण योगाभ्यासी सदा प्रसन्नचित्त और प्रफुल्ल वदन रहता है। यह पूरी तरह जानकर कि इसीतरह अगला अभीष्ट आनन्द मुझे मिलेगा (बल्कि मिलता जाता है) वह अपने दुःखों को खुशी से सहता हुवा और सुखों की कुछ परवाह न करता हुवा हंसता हुवा आगे बढता जाता है। और उसकी यह शान्त प्रसन्नता (सौमनस्य) उसे अधिक अधिक योग के योग्य बनाती जाती है। हमारी तरह योगी पर भी सुख की तरह दुःख तो हर समय आते ही रहते हैं बल्कि उसके शान्त दुःख और सुख दोनों हमारी अपेक्षा गहरे और चिरस्थायी होते है, तो भी वह सदा प्रसन्न इसलिये रहता है क्योंकि उसकी प्रसन्नता इन सुख दुःखों पर आश्रित नहीं होती। इनमे तो वह सम रहता है। संसार के सापेक्ष अध्रुव दुःखों से वह अपने को दुःखी नहीं होने देता (यद्यपि उस पर हमारी अपेक्षया बडे और गहरे दुःख आते हैं) ऐसा यत्न करता है कि उनके कारण अपना मुख तक म्लान होने से रोकता है,एवं संसार से सापेक्ष अध्रुव सुखों से हर्षित नहीं होता, फूलता नहीं (यद्यपि उसको हमारी अपेक्षया बडे भारी सुख मिलते हैं) उनके कारण अपने मुख पर प्रसन्नता

नहीं आने देता; परन्तु जो एक निरपेक्ष, स्वाश्रय (सदा अपने पास), ध्रुव आनन्द है उसी के कारण (प्रारंभ में श्रद्धा द्वारा उसे देखता हुवा और फिर दिनों दिन उसमें पहुंच मग्न होता हुवा) सदा, निरन्तर आनन्दयुक्त रहता है। उसकी यह प्रसन्नता चूंकि बाह्य अल्प वस्तुओं से पैदा न होने के कारण जहां क्षणिक नहीं होती वहां अशान्त, उद्विग्न, उछलने वाली भी नहीं होती, अतः कई लोग भ्रममें पड जाते हैं उन्हें यह दिखाई नहीं पडती। बात यह है कि सदा स्थूल दृष्टि से देखनेवाले लोगों के लिये अभी तक असली तापमाप(अर्थात दुःख-मापक) यन्त्र नहीं बना है जिससे कि भौतिक-तया दीख जाया करे कि इस मनुष्य में कितना दुःख (ताप) है और कितना सुख (ह्लाद) है। इस लिये ऐसे लोग प्रायः उन मनुष्यों को जो अन्दर दुःख से भरे होते हैं. सुखी समझा करते हैं और जो सुख से पूर्ण होते हैं उनकी तरफ उन्हें शंका तक नहीं होती कि ये सुखपूर्ण होंगे। पर सत्य यह है कि जब सुख अन्दर भरता जाता है तो उसका छलकना उछलना बंद होता जाता है। अतः उच्च सुखको सूक्ष्मदृष्टि वाले लोग पहिचानते है, सब नहीं। यह कहने की जरूरत नहीं कि वैसे चारों तरफ प्रसन्नता प्रसारक प्रभाव इस शान्त सुख का ही होता है। उछलने वाला अशान्त सुख उच्च नहीं होता इसीलिये साहित्य शास्त्रमें भी जो कई प्रकार का हास्य बताया है उसमें 'अट्टहास' को निकृष्ट तथा 'स्मित' को सर्वोत्कृष्ट कहा है। जैसे नदी जब बढने लगती है तो उसमें छोटी छोटी बहुत सी तरंगे शोर करती हुई उठने लगती है, जब वह बहुत बढती है तो उसकी तरंगे बहुत बडी बडी किन्तु शान्त उठती है और जब समुद्र की तरह बिलकुल भर जाती है तो तरंगे ही बंद हो जाती हैं। इसी तरह योगाभ्यासी के भरते हुवे हृदयसरोवर में सापेक्ष सुख दुःखों की तरंगे उठती हैं और ये आगे आगे बढी हुई शान्त तरंगे बनती जाती है जब तक कि वह हृदय 'निस्तरंग महोदधिकल्प' नहीं हो जाता। यह स्वाश्रय आनन्द की पूर्णता है जिसे सदा देख सकने के कारण श्रद्धामय योगी निरंतर प्रसन्न रहता है और जिसकी पूर्णता हो जाने पर ऐसे आनन्दपूर्ण सिद्ध के लिये सब संसार केवल लीला और खेल हो जाता है।

इस प्रकरण को समाप्त करते हुवे योगमार्ग पर आने वाले आनन्दों का वाचिक वर्णन लिखने की कुछ आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। इन आनन्दों के क्रमिक विकास का ब्यौरा देखना हो तो तैत्तिरीय आदि उपनिषद्की 'आनन्दस्य मीमांसा' में देखलेना चाहिये जहां अगले अगले लोक का आनन्द शत शत गुणा बताया है। सोमरसास्वादन आदि द्वारा मस्त कर देने वाले इन आनन्दों का वर्णन वेदमें भी बहुत है। श्वेताश्वतरादि बहुतसी उपनिषदों मेंस्थल स्थल पर इनका वर्णन है। गीता में "यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते" इत्यादि प्रकरण में योगानन्द का वर्णन है और मध्यकालीन कबीर, नानक, दादू आदि बहुत से सन्तों में संसारिक सुखों को नीरस कर देने वाले योगानन्द और ब्रह्मानन्दों के मधुर गीत गाये है--

कबीरा आया फिर गया, फीका है संसार।

अन्त में जो आनन्द स्वरूप की प्राप्ति है उसका तो वर्णन ही कौन कर सकता है ? वैसे तो सभी अननुभूत उच्च सुखों के लिये यही सत्य है कि—

(समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् ।)
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते।

अतः यही कहना होता है कि पाठकों को स्वयं ही इस मार्ग पर चलकर इनका अनुभव करना चाहिये।

४ गुरु न मिलें तो क्या करें ?

जिसे योग मार्ग के विषय में उपर्युक्त तीन शंकायें नहीं हैं अत एव जो योगमार्ग पर चलने का इच्छुक है उसके सामने भी जो एक भयजनक कठिनाई आती है वह है 'गुरु का न मिलना'। वास्तव में सद्गुरु की देख रेख में विना रहे योगसाधन करने लगना बडा खतरनाक है, विशेषतया हठयोग की

क्रियायें करने लगना। पर इसका यह मतलब नहीं कि जब तक गुरु न मिलें तब तक बैठे रहना चाहिये या तब तक योग का प्रारंभ हो ही नहीं सकता। जो सचमुच योग जिज्ञासु है उसे यदि पता लगेगा कि योग की आधार भूमि 'यम नियम' है तो वह यम नियमों का पालन तुरंत शुरु कर देगा। यम नियमों का इतना महत्व है कि कई अधिकारी तो केवल यम नियमों के पूर्ण पालन करने का यत्न करते हुवे ही अगली अगली भूमिका को प्राप्त कर सकते और सिद्धि को प्राप्त हो सकते हैं। अतः जहां तक यम नियमों के स्वरूप को समझ सके वहां तक उनका पूरी तरह पालन करना शुरू कर देना चाहिये और इस श्रद्धा के साथ कि 'जब मेरे कल्याण के लिये यह अवश्यक होगा तो गुरु भी स्वयं मिल जांयगे' गुरु की तलाश में भी रहना चाहिये। वास्तव में एकमात्र व सबके अन्तिम गुरु परमात्मा ही है। इसी लिये हम देखते हैं कि पातंजल दर्शन में 'पूर्वेषामपि गुरु' परमात्मा का ही उल्लेख है, अन्य मनुष्य-गुरु की आवश्यकता का वर्णन नहीं है जैसा कि पीछे के हठ-योग आदि के ग्रंथों में गुरुमहात्म्य वर्णित है। अतः परमात्मा में श्रद्धा स्थिर करके किसी मनुष्य गुरु के लिये अधीर नहीं होना चाहिये अर्थात् न मिलते देख कर दुःखी नहीं होना चाहिये। जब हमारी ज्ञान की अवस्था किसी मनुष्य गुरु के ग्रहण करने के योग्य हो जाती है या जब हमारे अग्रिम कल्याण के लिये मनुष्य गुरु की सहायता पाना आवश्यक हो जाता है तो गुरु अवश्य मिलते हैं यह परमात्मा की सृष्टिका नियम है; इसमें पूरा विश्वास रखना चाहिये। ऐसी अवस्थामें सुदूरस्थ गुरुभी आ मिलते हैं। और इसके विपरीत यदि हमने यम नियमों के पालन तथा अन्य स्वयं प्राप्त साधनों के उपयोग से अपने अंतःकरण को शुद्ध नहीं किया है तो समीप विद्यमान गुरु से भी हम लाभ नहीं उठा सकते अर्थात् समीपस्थित गुरु भी हमें नहीं मिलते। अतः जिज्ञासु को चाहिये वह यम नियमों का पालन पूरे दिल से करना शुरु करे तथा अन्य भी जो कोई स्पष्ट निर्दोष साधन (इन्द्रियों को विषयों से जुदा करने के, मनः-शुद्धि के तथा मनोनिरोध आदिके साधन) विदित होवें उन्हें भी करना शुरु करें तो समय पाकर उसे प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि के उत्तम साधन भी (यदि वे उस के लिये आवश्यक होंगे) किसी गुरु से मिल जांयगे। अतः ऐसा योगजिज्ञासु जिसकी परम गुरु परमात्मा में श्रद्धा है (और योग जिज्ञासु ऐसा ही होना चाहिये) न तो अधीर होकर केवल लिखी हुई बिना समझी बातें या किसी अयोग्य 'गुरु' की बातें मानकर किसी ऊटपटांग साधन में लगेगा और नहीं निराश होकर "मुझे कोई गुरु नहीं मिलते, मेरा क्या होगा" इस तरह भयभीत होगा, किन्तु धीर और आशापूर्ण रह कर अपने सहज प्राप्त ज्ञान के अनुसार यम नियमादि का साधन शुरू कर देगा॥

५ उपसंहार

योग का क्षेत्र बडा विस्तृत और अद्भुत है। इस क्षेत्र में वेही विशाल हृदय वीर पुरुष सफलता पूर्वक प्रविष्ट हो सकते हैं जो कि उपनिषद् के शब्दों में 'धीर' है। आजकल कई भारतवासी भी पाश्चात्य लोगों की नकल में "बाइसिकलों पर दुनिया की सैर" जैसे साहसपूर्ण आरंभ (Expedition) करने लगे हैं। ये भी कुछ जीवन के चिन्ह हैं, अतः अच्छे हैं। परन्तु भारतवासिओं को शोभा देने वाले साहसारंभ तब होंगे जब कि कुछ नवयुवक किन्हीं योगोक्त सिद्धियों को प्रत्यक्ष करने के लिये अपने जीवन अर्पण करते हुवे कभी सफलता दिखलांयगें। वे ही सच्चे भारतीय साहसारंभ होंगे। यहां यह प्रश्न छेडने की कुछ आवश्यकता नहीं कि सिद्धियों (योगविभूतिओं) में फंसना चाहिये या नहीं। लेखक की नम्र सम्मति में कुछ सिद्धियां तो मनुष्य के उन्नति के मार्ग में स्वयमेव आती है या आनी चाहिये और जब ये आजायगी तब यह प्रश्न होगा कि वह उनमें फंसे या उन द्वारा परमात्मा की इच्छा पूरी करे। हमारा अभी से सिद्धियों को घृणा की दृष्टिसे देखना बहुत कुछ 'अंगूर खट्टे है' की कहावत चरितार्थ करना है। वहां पहुंचकर यदि वे खट्टी दीखेंगी तो खांयगे (भोगेंगे) नहीं, तब जो कुछ

उनका सच्चा उपयोग होगा (जिसके लिये वे बनी हैं) वह करेंगे। पर एक सर्वोत्तम प्रकार की शक्तिओं के तौर पर, इन शक्तिओं के पाने का प्रबल और अश्रान्त यत्न तो धार्मिक धीर पुरुषों को अवश्य करना चाहिये- कमसे कम यह यत्न कभी अश्लाघ्य नहीं हो सकता। इसलिये यदि किन्हीं नव युवकों को इस दुर्गम क्षेत्र में जाने की महत्वाकांक्षा उत्पन्न होती हो तो उन्हें यह खटका छोडकर कि वे इस मार्ग पर 'स्वार्थमय' या अपरोपकारी हो जांयगे (बल्कि इस पूरे निश्चय के साथ कि इसमें बीतता हुवा एक एक क्षण परोपकारमय है) इस अधिकाधिक सूक्ष्मकर्मों के प्रबल कर्ममय क्षेत्र में पूर्ण श्रद्धा से कूद पडना चाहिये। यह उत्तरोत्तर बढते हुवे आनन्द का (बडा हो रोचक) मार्ग है। और इस मार्ग का सच्चा पथिक शीघ्रहीपरम गुरु प्रभु की छत्रच्छाया में आ जाता है। अतः बाह्य भयों और दुःखों को साक्षात् आत्मकल्याण रूप देख सकने वाले वीरों के लिये तो इस मार्ग पर कुछ भी भय नहीं है, सब कल्याण ही कल्याण है।

परमात्मा करें कि यह भारत देश फिर से योगिओं की लीलाभूमि बन सकें।

कर्मयोग

(ले०—श्री० उदयभानुजी)

'रणभूमि में पदार्पण करके शत्रुपर दया करना निरी मूर्खता हृदय का दौर्बल्य एवं आत्मघात है। हे मित्र ! यदि अपना कल्याण चाहता है तो उठ ! खडा हो !! और शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर !!! यह संसार संग्राम का—पुरुषों के लिए नहीं अपितु पुरुषार्थीयों के लिए है।

यदि मैं शत्रु को नहीं मारूंगा तो शत्रु मुझे अवश्य ही मार डालेगा, यह निर्विवाद है—असंदिग्ध है। संसार एक रणक्षेत्र है। इसमें देवता और राक्षस, भले और बुरे, भद्र और अभद्रों का सदा द्वन्द्व-युद्ध चला करता है, अतएव जय उन्हीं की होती है जो बली है, निर्बलों के लिए जय नहीं, उनके लिए सुख नहीं; संसार में उनके लिए एक ही वस्तु है और वह है मृत्यु या दुःख। हिन्दू—मुस्लिम समस्या उसके लिए प्रत्यक्ष प्रमाण है।

समय पाकर भी शत्रुको छोड देना मृत्यु का अवाहन करना है—अपना आत्मघात करना है। इन आत्मघाती पुरुषों का वर्णन ईशोपनिषद् में इस प्रकार हैः—

'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

इस संसार में जो कोई आत्मा के हनन करने वाले पुरुष है, वे मरकर तम रूपी अन्धकार से ढके हुवे असुर सम्बन्धी लोकोंको प्राप्त होते हैं।

इसी कारण भगवान् कृष्णचंद्र ने शत्रुसे मुंह मोडने वाले अर्जुन को कहा था कि 'हे अर्जुन ! शत्रुओं पर दया नहीं की जाती है। नीच पुरुष शत्रुओं को अपनी पीठ दिखाते हैं। यदि शत्रुओं को मार कर जय प्राप्त करेगा तो राज्य को भोगेगा और यदि मारा जाएगा तो स्वर्ग को भोगेगा'। गीता में यह भाव स्पष्ट है कि मनुष्य वहां तक कर्म करे कि जब तक उसे जय न प्राप्त होले। भाव यह है कि या तो मनुष्य विजय प्राप्त करले अन्यथा हंसते हंसते अपना खून बहा दे। इसी भाव को प्रदर्शित करते हुवे एक विद्वान लिखते हैं 'A purpose once fixed, then either victory or death आदर्श निश्चित करने के पश्चात् या तो विजय ही प्राप्त होगा अन्यथा मृत्यु' अर्थात् चाहे मृत्यु भी प्राप्त हो जाय परन्तु हम अपना आदर्श नहीं छोडेंगे। महात्मा भर्तृहरि कहते हैं:—

'निन्दन्तु नीतिनिपुणा, यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलंति पदं न धीराः॥

नीतिज्ञ पुरुष चाहे निन्दा करे, चाहे स्तुति; सम्पत्ति आवे चाहे चली जाय; मृत्यु युगान्तर में आवे अथवा आज ही आ जाय परन्तु धीर पुरुष अपने सत्य आदर्श से विचलीत नहीं होते ।

इस सम्बन्ध में पृथ्वी राज चौहान की बात मुझे याद आ जाती है। मुहम्मद गोरी बार बार भारत वर्ष में अपना राज्य स्थापित करने के लिए आया परन्तु पृथ्वीराज चौहान ने उसे प्रत्येक बार हराया । राजनीति-विज्ञान से शून्य पृथ्वीराज ने अपने शत्रु को छोड दिया, केवल इस बात के लिए कि मैं बडा दयावान् हूं। यह एक व्यक्ति पर दया भले ही हो परन्तु ' उसकी मृत्यु और भारत की सदा के लिए गुलामी धारण करना, यह उसी दया (!) का परिणाम है। हम लोग पृथ्वीराज चौहान की इस दया की प्रशंसा करते हैं परन्तु इस बात को भूल जाते है कि दया, दुर्बल और असहाय व्यक्ति पर की जाती है; शत्रु पर दया नहीं की जाती । शत्रु जैसे बाहर होते है वैसेही भीतर भी है जिन्हें असुर भावनाएँ कहते हैं । इन पर दया करना अपना ही नाश करना है ।

सायंकाल का समय है । ' उद्यन्त्सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आददे ' मंत्र पर आज विचार कर रहा हूं । बडी ओजस्वी भाषा में बहुत देर तक तुलनात्मक विचार करता रहा; अपनी देर से उठने की आदतपर अपने आप को खूब कोसा और फटकारा; अन्त में यह निश्चय किया कि अब भविष्य में ४ बजे अवश्य ही उठा करूंगा । कुछ काल उपरान्त निद्रा देवी की आराधना करता रहा, इस कारण कि आज मुझे जल्दी से निद्रा आजाय ताकि मैं अपने निश्चय के अनुसार प्रातः जल्दी उठ सकूं और अपने तेज की रक्षा करनेवाला बनूं । ठीक चार बजे दयामयी आत्मा ने उठने की प्रेरणा की और कहा- ' भाई ! उठो, समय हो चुका है '। यह देखकर आसुरी भावनाएँ आई और केवल एक दिन के लिए क्षमा मांगने लगी । बहुत कुछ विचार करने पर भी मेरा दयावान् हृदय उनकी प्रार्थना से विह्वल हो गया और अन्त में मैंने आज के लिए क्षमा की और यह निश्चय किया कि भविष्य में मैं अवश्य ही जल्दी उठूंगा । परन्तु मैं उस समय इस बात को भूल जाता हूं कि भविष्य की उपासना करने वाले क्षमावान् पुरुष संसार में कोई कार्य नहीं कर सके, वे शीघ्रही काल कवलित होंगे ।

इसी प्रकार एक दिन बीत गया और वही उठने की बारी आई, परन्तु मेरा दयावान् हृदय शरणांगत आई हुई अशुभ कामना को कैसे ठुकरा सकता था। परिणाम वही हुवा जो होना चाहिए था।

इसी प्रकार विचार विचार में ही अमूल्य समय व्यतीत हो गया। मेरी इच्छा और मेरा निश्चय अपनी नव कुसुमित अवस्था में ही जीर्ण हो गये ।

मै रुग्ण हुवा । अवस्था इतनी शोचनीय हो गई कि जीवन की कोई आशा न रही, मुझे निश्चय हो गया कि मेरी संसार यात्रा आज समाप्त हो जायगी । इस समय मुझे केवल यही याद आता था कि हाय! जगत्जननी की दी हुई आयुष्य मैंने योंही व्यतीत की । अब यदि मुझे कोई इस मृत्यु से बचा दे तो मैं निश्चयात्मक बुद्धि से कहता हूं कि अब कभी आलस्य नहीं करूंगा, प्रलोभन नहीं करूंगा, ऐसी दया कभी नहीं करूंगा । मै रोने लगा, अपने आप को धिक्कारने लगा और अपनी अकर्मण्यता पर मुझे जिस प्रकार पश्चात्ताप होता था वह अकथनीय है ।

संसार ऐसे व्यक्तियों से भरा हुवा है। परन्तु इस बात को स्मरण रखिए, कि प्रत्येक व्यक्ति को वह दिन अवश्य आवेगा और अपनी अकर्मण्यता को देखकर उसे अपने प्रति वही तिरस्कार होगा। इस कारण ही वेद बार बार कहता है कि कर्म करो, कर्म करो, आलसी बन कर जीवन मत काटो। देखिए:—

कर्म कृण्वंतु मानुषाः । अथर्व.

मनुष्य कर्म करें ।

कर्मारा धे मनीषिणः । अथर्व.

बुद्धिमान मनुष्य कर्मशील होते हैं ।

कर्मणे वां । यजु.

तुम लोग कर्म करनेके लिए ही उत्पन्न हुवे हो ।

शास्त्रों में देखिए:—

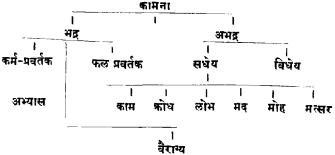
कर्मासि । तै. सं. (मनुष्य कर्मरूप है ।)

कर्म कुरु । शत. (कर्म करो).

कर्म कृताः सुकृतो वीर्यवतीः । तै. ब्रा.
उत्तम कर्म करने से ही वीर्य की प्राप्ति होती है।

इस कारण प्रत्येक वैदिक धर्मी का यह आवश्यक कर्तव्य है कि वह कर्म करें। अपने जीवन का प्रत्येक क्षण भी वह व्यर्थ न जाने दे।

कर्म के मुख्य दो प्रकार हैं। एक सकाम और दूसरा निष्काम। कर्म कामना से होता है। प्रथम मन में कामना होती है तत्पश्चात् कर्म होता है। अतएव कर्म के प्रथम कामना का भेद जानना आवश्यक है।



विधेय-कामना के कई प्रकार हैं। विस्तार भय से उनकी गणना यहां नहीं की गई है। परंतु इसमें वे सब कामनाएँ अन्तर्गत हैं, जो मन में विना किसी ध्येय के उठा करती है (Aimless thought wandering; waste thinking, etc.)

उपनिषद् कहता है "कर्म करो, परन्तु निष्काम कर्म करो"। इसी भाव को पुष्ट करते हुवे भगवान् कृष्णचंद्र कहते हैं "मा कर्मफल हेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि" हे अर्जुन! तू कर्मफल की इच्छा मत कर और कर्म न करने वाला भी मत हो। अर्थात् निष्काम कर्म करो।

हमारे सन्मुख यह प्रश्न है कि जब सर्व शास्त्र एक सम्मति से कर्म करने के लिए सब मनुष्यों को प्रेरित कर रहे हैं तब निष्काम कर्म पर ही क्यों बल दिया जाय। हम सकाम कर्म क्यों न करें। जब कर्म का फल अवश्य ही मिलता है, चाहे वह किसी भी हालत में किया जाय, तब बार बार यह शंका होती है कि हम निष्काम कर्म क्यों करें; सकाम कर्म क्यों न करें। प्रश्न वस्तुतः ठीक है और अवश्य होना चाहिए, आईए, इसकी कुछ खोज करें।

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
अ. १०—२—२६

अर्थात् सफलता की प्राप्ति के लिए हृदय और मन को सीना चाहिए। यहां हृदय शब्द से कर्म का बोध होता है। जिस कार्य में दिल और दीमाग नही वहां सफलता असंभव है। इससे सिद्ध है कि विना मन लगाए सिद्धि नहीं हो सक्ती। अब मन का लक्षण देखिए— 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्।' न्याय० १।१।१६

एक समय में मन एक ही पदार्थ का ग्रहण कर सक्ता है। हम यह प्रत्यक्ष में भी देखते हैं कि ध्यान एक ही विषय की ओर अच्छी तरह लग सक्ता है। कभी भी एक समय में दो बातों की ओर पूरा पूरा ध्यान नहीं रखा जा सक्ता। कर्म और कर्म का फल ये दो बिलकुल भिन्न भिन्न हैं। अब आप यह भली प्रकार समझ गये होंगे कि जितना ध्यान हम कर्मफल की ओर रखेंगे उतना ही कर्म की ओर कम होगा, और जब कर्म की ओर ध्यान ही कम हो गया तब कर्म ठीक ठीक हो ही नही सक्ता। जब कर्म ही ठीक न होगा तब कर्म फल का मिलना असंभव सिद्ध है। सकाम कर्म करने वाले जितना चिंतन कर्म फल का करते हैं उतना कर्म के लिए नही करते। बार बार वे यही सोचा करते हैं कि फल की प्राप्ति कब होगी। इस कारण उन्हें असफलता प्राप्त होती है। वेद कहता हैः-

जहि त्वं काम मम ये सपत्ना अन्धा तमांस्यव पादयैनान्। निरिन्द्रियाः अरसाः सन्तु सर्वे मा ते जीविषुः कतमच्चनाहः॥ अथर्व. ९. २. १०

हे कामना? मेरे जो (सपत्नाः) शत्रु हैं उन को

तू मार डाल, इन्हें गाढ अन्धकार में नीचे गिरा दे। वे सब इन्द्रिय शून्य, नीरस और निर्वीर्य हो जावें और किसी एक दिन भी जीवित न रहें।

सपत्न शब्द सपत्नि से बना है।

सपत्नियों का द्वेष प्रसिद्ध है। इस मंत्र में मन, पति और उसकी कामनाएँ पत्नियां शब्द से अभिहित की गई हैं। ये आपस में इतना द्वेष करती हैं कि एक पत्नि (कामना) अपने प्राबल्य काल में अन्य पत्नियों को शक्तिहीन और निस्तेज कर देती है। इस मंत्र में स्पष्ट है कि कर्म-फल की कामना, कर्म प्रवर्तक कामना का नाश करती है।

कामना विश्लेषण चित्र में यह भाव व्यक्त किया गया है। जो मनुष्य कर्म करना चाहते हैं उनके लिए यह आवश्यक है कि वे अन्य कामनाओं से वैराग्य-भाव धारण करें और मनमें केवल कर्म करने वाली भावना ही धारण करें। यदि कर्म करते समय अन्य एक भी कामना जीवित रही तो उसी क्षण कर्म प्रवर्तक कामना नाश को प्राप्त होगी। मनु भगवान ने इन कामनाओं को ही अन्तःशत्रु बतलाया है।

निष्काम कर्म करने वाले फल के लिए कभी आतुर नहीं होते, वे अपने ध्येय से कभी भी च्युत नहीं होते और सदा विजय को ही प्राप्त करते हैं। देखिए कविवर श्री. रामनरेशजी त्रिपाठी ने इस भाव को कैसा उत्तम रीतिसे वर्णन किया है।

जी से लगजाती है जिसको क्या वह कभी पिछडता है।
करने या मरने में उसको अन्तर न देख पडता है॥
धुन के धनी प्राण की बाजी रातों पर रख देते हैं।
निश्चय है वे ही वे खटके मंजिल तै कर लेते हैं॥
ये निष्फल होंगे तो जीवन केवल बोझ उठाना है।
सब से उत्तम प्रण के पीछे मान सहित मर जाना है॥

श्री. विष्णु कहते हैं:—

चलते चलते कभी नहीं तो, ध्येय प्राप्त कर ही लेंगे!
उस प्रियतम की पुण्य खोज में, अथवा
फिर मर ही लेंगे॥

प्रसिद्ध आंग्ल कवि लांग फेलो लिखते हैं:-

Let us, then, be up and doing,
With a heart for any fate;
Still achieving still pursuing,
Learn to labour and to wait.

चलो, उठो! कर्म करो!! प्रत्येक आपदा का सामना करने के लिए उद्यत हो!!! कार्य का पीछा करते रहो। कर्म करो परन्तु कर्मफल के लिए उत्सुक मत हो।

वैदिक सृष्टितत्त्व।

(लेखक—श्री० वासुदेव शरण गोभिल; काशी विश्वविद्यालय)

यह लेख श्री कोकिलेश्वर महाचार्य एम० ए० के एक लेख का अनुवाद है। अनुवादक हैं श्री रामनाथ लाल सुमन। वेदार्थ की महिमा समझने में इसका कितना अधिक महत्त्व है यह विचार कर हम उसे वैदिकधर्म के पाठकों के सामने रखना चहते हैं:-

इस विशाल ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति और विश्व के विकास के सम्बन्ध में आर्यों के सर्व प्राचीन ग्रन्थ वेदों ने क्या सम्मति प्रदान की है, आज मैं इसी की विवेचना करूंगा। सूक्ष्म दृष्टिसे इस विषय की तुलनात्मक व्याख्या करने एवं विशेष अनुसंधान-पूर्वक इसकी जांच करनेसे ज्ञात होता है कि इस गुरुतर सृष्टितत्त्व के सम्बन्ध में वैदिक एवं आधुनिक उन्नत वैज्ञानिक सिद्धान्तों ने एक ही मार्ग का अवलम्बन किया है। उपनिषदों में सृष्टितत्त्व की बहुमूल्य एवं मार्मिक विवेचना मौजूद है। सांख्य और वेदान्त दर्शनों में भी इस विषय की पर्याप्त आलोचना की गयी है, किन्तु बुद्धिमान् लोगों के हृदय में यह प्रश्न उठ सकता है कि इन उपनिषदों और दर्शन

कही हुई सृष्टिप्रक्रिया का मूलसूत्र अथवा उद्गम कहां है ? यह बात पण्डित समाज में स्वीकार की जा चुकी है कि ऋग्वेद संसार का प्राचीनतम ग्रन्थ है । तब क्या इस ऋग्वेद में सृष्टि सम्बन्धी कोई विवेचना नहीं ? हिन्दू जाति का साधारणतः विश्वास है कि जो तात्विक बातें ऋग्वेद में नहीं हैं, वे अन्य स्थानों में भी नहीं है । ऋग्वेद में संक्षेपतः जो कुछ कहा गया है, उसी की विस्तृत विवेचना उपनिषदों एवं परवर्ती दर्शन ग्रन्थों में की गयी है । अत एव इस लेख में सबसे पहले इस बात की आलोचना करनी उचित जान पडती है कि इस प्राचीनतम ऋग्वेद में सृष्टितत्त्वके सम्बन्धमें क्या विवेचना की गयी है?

ऋग्वेद के दशम मंडल में " नासदीय सूक्त " नामक एक परम प्रसिद्ध सूक्त है। ऋषियों ने इस सूक्त के अन्तर्गत अपनी गंभीर भाषा में, इस महागम्भीर सृष्टिरहस्य का जो संक्षिप्त विवरण दिया है, उसकी आलोचना करने से यह प्रगट हो जाता है कि उक्त सूक्त में अति विस्मयकारिणी प्रणाली से जगद्विकास के तथ्यों का सम्यक् विवेचन किया गया है। इस सूक्त ने अपने सुमधुर कवित्व के कारण प्रसिद्धि लाभ की हो, ऐसी बात नहीं है, वरन् दुरूह और कर्कश वैज्ञानिक तत्त्व किस भांति सुमधुर कविता में संग्रथित एवं प्रकाशित किये जा सकते हैं, यह सूक्त इसका भी एक उत्तम उदाहरण है ।

इस विश्वविख्यात सूक्त के प्रारम्भ में ही सृष्टि-काल का चमत्कारपूर्ण वर्णन किया है--

" नासदसीन्नो सदासीत् तदानीं,
नासीद्रजो नो व्योमा परोयत् ।
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि,
न राव्या अह्न आसीत् प्रकेतः ।
तम आसीत् तमसा गूढमग्रे । " ऋ० १०।१२९

अर्थात् -" उस समय असत् नहीं था और सत् भी नहीं था । जो नहीं है, सो भी उस समय नहीं था और जो है सो भी उस समय नहीं था । पृथ्वी नहीं थी, आकाश नहीं था । उस समय मृत्यु नहीं थी और अमरत्व भी नहीं था। रात्रि और दिनका भेदज्ञान कराने वाली कोई वस्तु नहीं थी । प्रगाढ अन्धकार को और भी घनीभूत अन्धकार द्वारा समाच्छन्न कर लेने पर जो रूप हो सकता है उस समय उसी प्रकार का घोर अन्धकार था। सभी कुछ चिन्ह-वर्जित था । " उस महागम्भीर अवस्था का इस प्रकार वर्णन करके ऋषियों ने विश्वके उद्भव के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, इस स्थान पर उसकी आलोचना करना उचित होगा।

" आनीदवातं स्वधया तदेकं, तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास । " उस समय क्या हुआ ? उस समय- " आनीत " - प्राणन-क्रिया कर रहे थे, उस समय दूसरा कोई नहीं था। यह प्राणन- क्रिया किस रूपमें थी? "अवातं"-वातरहित। इस जगह यह प्रश्न उठ सकता है कि वायु और प्राण में भेद क्या है? वायु भी गतिस्वरूप परिस्पन्दस्वरूप और प्राण भी गति-स्वरूप, परिस्पन्दस्वरूप । [' वायोश्च प्राणस्य च परिस्पन्दात्मकम्।'--शंकराचार्यः ।] दोनों में पार्थक्य केवल यह है कि जिस समय जड पदार्थ संबंधी स्पन्दन की ओर लक्ष्य किया जाता है, उस समय उसे " वायु " कहते हैं और जब चेतन के अधिष्ठानयुक्त स्पन्दनको लक्ष्य करके कहा जाता है तब उसकी " प्राण " संज्ञा होती है । ' प्राणक्रिया ' कहने से ही यह मालूम हो जाता है कि हम उसके साथ चेतनसत्ता की उपस्थिति को स्वीकार कर रहे हैं, किन्तु ' वायुप्रक्रिया ' कहने से केवल जड पदार्थ सम्बन्धी क्रिया का ही बोध होता है। प्राणिमात्र की दैनिक क्रिया को प्राण-क्रिया कहते हैं। उद्भिज्जगत की रस परिचालनादि क्रियाओं में भी प्राणनक्रिया सम्मिलित है, क्योंकि उद्भिज् में भी चैतन्य सत्ता का अधिष्ठान है, अतएव जिस स्थान पर चेतनका अधिष्ठान है उस स्थान की क्रिया वा स्पन्दन ' प्राण--क्रिया' कही जायगी। सुतरां, "आनीत् अवातं" का अर्थ यहां यही समझ पडता है कि उस समय चैतन्य की परिस्पन्दनात्मक क्रिया होती थी। चैतन्य की इस क्रिया का अर्थ क्या है ? कुछ श्लोकों के पश्चात् ऋषियों ने स्वयं ही लिख दिया है

" कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् । " अर्थात् " सबसे पहले कामना, इच्छा वा संकल्प का आविर्भाव हुआ।" इस कामना को मन की उत्पत्तिका पहला कारण कहा जा सकता है।

मानवराज्य में " मन " और " बुद्धि" कहने से जो कुछ समझा जाता है,यह कामना उसी मनकी उत्पत्ति का बीजभूत कारण है। इस स्थान पर ' अग्रे " शब्द का अर्थ है " सबसे प्रथम " । इसका स्पष्ट भाव यह है कि प्राणनक्रियासे भी पहले कामना वा संकल्प का प्रादुर्भाव हुआ। अब स्पष्ट हो गया है कि एक अद्वितीय (ज्ञान स्वरूप) परब्रह्मके ज्ञान में सृष्टि सम्बन्धी कामना, उदय होने के साथ ही प्राणनक्रिया परिस्पन्दन रूप मे प्रकटित हुई।

इसके बाद, अपने विज्ञ वाचकों का ध्यान हम एक और शब्द की ओर दिलाना चाहते हैं। "आनीदवातं स्वधया तदेकं" इस स्थान पर जो 'स्वधा' शब्द है, उसका अर्थ क्या है? शंकराचार्य ने ऐतरेय आरण्यक के भाष्य में एक स्थानपर "स्वधा" शब्द का अर्थ " अन्न " किया है। वह अवतरण यह है-

प्राणः स्वधया अन्नेन गृभीत गृहीत इत्येतत्,अन्नेन हि दामस्थानीयेन बद्धः प्राणः। (२।१।१२)

प्राणशक्ति अन्नद्वारा बद्ध है अथवा अन्नके आश्रय से परिपुष्ट होती है। इस स्थान पर भी 'स्वधा' शब्द का वही अन्नवाला अर्थ ही ठीक समझ पड़ता है। अब सब का सार थोड़े शब्दों में यह निकला कि- " (ज्ञानस्वरूप) अद्वितीय चैतन्य की सृष्टि विषयक आलोचना प्राणनक्रियारूपमें प्रकटित हुई, एवं उस समय स्वधा सहित यह प्राणक्रिया होती थी।" इस स्थान पर यह देखना उचित है कि इस स्वधा वा अन्न का प्रकृत तात्पर्य क्या है?

उपनिषदों के देखने से पता चलता है कि उनके मतानुसार सृष्टिके समग्र पदार्थ दो अंशों में विभक्त हैं--प्रथम प्राणांश और द्वितीय अन्नांश। अनेक स्थानों पर प्राणको " अन्नाद" वा अत्ता (अन्नभक्षी) कहा है। आधुनिक विज्ञान की भाषा मे प्राणांश को "फोर्स" और अन्नांश को " मैटर" कहेंगे। "मैटर" व्यतीत " फोर्स " और " फोर्स"-"व्यतीत "मैटर" क्रिया करने में समर्थ नहीं हैं। दोनों एकसंग हैं एवं एक साथ ही घनीभूत हैं। यह अन्न [मैटर] भी प्राण शक्ति का ही रूपान्तर मात्र है। यह सम्पूर्ण तत्त्व-विज्ञान ने अभ्रान्त रूप से प्रमाणित कर दिया है। अतएव स्वधा या अन्न को प्राणशक्ति का बाह्य आधार वा जडांश कह सकते हैं। उपनिषदों में वायु और अग्नि को अत्ता वा प्राण, एवं जल और पृथिवी को अन्न कहा गया है। जिस समय प्राण शक्ति, वायु एवं तेजादि के आकार में क्रिया करती, विकीर्ण होती है, उस समय उसका अन्नांश वा जडांशभी साथ ही साथ संयत अथवा घनीभूत होता है। इस घनी-भवन की प्रथम अवस्था जल (तरल) और द्वितीय अवस्था पृथिवी (कठिन) है। यही वैज्ञानिक नियम है।

" दृश्यते हि अब्बाहुल्यं जगतः संहतत्वात्, संहतिश्च अप्पूर्विका मृत्पिण्डादिषु दृष्टा।"—ऐतरेयारण्यके शंकराचार्यः। अत एव जिस स्थान पर प्राण हैं, वही अन्न है, एवं जहां अन्न हैं, वही प्राण क्रिया शील है। इसी लिये ऋषियों ने "स्वधया अनीत् " कहा है। इसका अर्थ यह है कि जडीय आश्रयावलम्बनसे प्राणनक्रिया होने लगी-यही अर्थ हमें ठीक प्रतीत होता है। इसके बाद ऋषियों ने प्रकट भाव से सृष्टि की एक और बात लिखी है। यह प्राणनक्रिया वा परिस्पन्दन किस प्रकार जगत् को नियमबद्ध करने लगा, इसके सम्बन्ध में ऋषि कहते हैं-

रेतोधा आसन् महिमान आसन् स्वधा अवस्तात्, प्रयतिःपरस्तात्। अर्थात् "स्वधा नीचे गयी एवं प्रयति (भोक्ता,अन्नाद, प्राण) ऊपर रहा। इसकेफल स्वरूप पञ्चभूत (महिमानः) प्रकाशित हुए एवं इसी क्रम से विश्व प्रादुर्भूत हुआ। इसप्रकार ऋषिने शक्तिविकास प्रणाली का रहस्य भी बता दिया है।

हमने कहा है कि " स्वधा " वा " मैटर" प्राणशक्ति का आश्रय है। क्रम विकास की अवस्था में नव प्राणशक्तिवायु तेज एवं आलोकादि के आकार में ऊपर की ओर विकीर्ण होने लगी, तो उसी के साथ ही साथ जडांश भी नीचे की ओर संहत वा घनीभूत ' होने लगा। इसी युक्त क्रिया से पञ्चभूतों की उत्पत्ति हुई; अर्थात् प्राणांश वायु एवं तेजरूप में तथा जडांश पहले जल, पीछे पृथिवी रूप में संहत हुआ। प्राणी देह का भी यही तत्त्व है। जडांश ही घनीभूत हो, क्रम-परिणति-नियम द्वारा, प्राणी देह एवं देहावयव रूप में परिवर्तित होता है, एवं प्राणांश उस जडके आश्रय से इन्द्रिय शक्ति रूप को

प्राप्त होता है। यही सृष्टि की मूलप्रक्रिया है। ऋषिने बहुत थोडे में इस प्रणाली का निर्देश किया है। पाश्चात्य वैज्ञानिक शिरोमणी हर्बर्ट स्पेंसर ने वैज्ञानिक परीक्षाओंसे शक्तिके विकास की जिस प्रणाली का आविष्कार किया है, ऋग्वेद में भी ऋषियों ने अध्यात्मयोग के अवलम्बन से उसी प्रणाली का तत्त्वनिर्देश किया है। उस अद्वितीय ज्ञानके संकल्प से प्राणस्पन्दन की उत्पत्ति हुई। यह ऋषि का पूर्ण मौलिक आविष्कार है और यही प्रकृत रहस्य भी है, अन्यथा जड जगत् मे प्राणशक्ति ज्ञान के आविर्भाव की दूसरी मीमांसा नही हो सकती।

ऋग्वेद का यह सृष्टितत्त्व ही सांख्यादि दर्शन शास्त्रमें अविकल रूप से ग्रहण किया गया है। सांख्य में भी इस शक्ति के सात्त्विक, राजसिक तामसिक तीन विभाग देखते हैं। तमः को स्वधा वा अधस्थानीय, रजः को प्राणस्थानीय एवं सत्त्वको काम वा ज्ञानस्थानीय समझ लेने पर ऋग्वेद और सांख्य के सृष्टितत्त्व की एकता समझ में भलीभांति आ जाती है। दूसरे प्रकार से भी इस एकता को प्रमाणित किया जा सकता है। क्रिया वा अवस्था परिवर्तन न होनेसे शक्तिबोध विषयीभूत नही होता। शब्द, स्पर्श रूप, रसादि सभी एक प्रकार की क्रियाएं है। शक्ति की प्रथम अवस्था अज्ञेय वा तमः है। इसीलिये तमः को अनेक स्थान पर जड, मूढ वा अज्ञान कहा गया है। वैज्ञानिकोंका यह कथन अतीव सत्य है कि जिस समय शक्ति रूपान्तरित होती है केवल उसी समय उसका ज्ञान होता है। शक्ति की, यह अवस्थान्तर प्राप्त अवस्था ही " राजसिक" है। एवं अवस्थान्तरप्राप्ति समय में जो ज्ञान होता है, वही " सात्विक " कहलाता है।

इससे यह बात प्रगट हुई कि वैदिक सृष्टिप्रक्रिया विज्ञानानुमोदित है और दर्शनशास्त्र में भी इस प्रक्रिया का परिग्रहण किया गया है। दूसरे किस देश के किस प्राचीन धर्म ग्रन्थ में ऋग्वेदीय 'नासदीय सूक्त की भांति गहनतत्व का प्रतिपादन किया गया है ? किन्तु इतने पर भी ऋग्वेद " असभ्य कृषकों का संगीत मात्र है !!! "

इतना श्री कोकिलेश्वर महाचार्य जी का लेख है। इस विवेचन पर पाठक जितना भी मनन करेंगे वेदकी गहनताके विषयमें उनकी श्रद्धा उतनी ही परिपक्व होती जायगी और भी अनेकों स्थानों में वेदने काव्यमयी भाषामें प्राणनक्रिया और जडांश की बलक्रिया का निर्देश किया है। चेतन प्राणियों के अन्दर जो परिस्पन्दन है वह आत्मा की शक्ति है या उसी का नाम आत्मचिति है। पर जिसे हम जड जगत् कहते हैं उसके प्रत्येक परमाणुमें भी अनन्त वैद्युतीय शक्ति अन्तर्निहित है। वैज्ञानिक बताता है कि हर ' ऐटम ' एक सूर्य मंडल के समान ही अनेक " इलेक्ट्रन्स " का आगार है। ये एलेक्ट्रन प्रचण्ड गति से-वह गति जिसका नियन्त्रण आधुनिक वैज्ञानिक जगत् भी नहीं जानता-ऐटम के धनवैद्युतीयकेन्द्रके चारों ओर चक्कर काटते हैं। विज्ञान इन्हीं ' वैद्युतीय अणुओं ' पर रुक जाता है। उसकी खोज अभी तक चेतन के क्षेत्र से परे है। इसी लिये आज सारे वैज्ञानिक निस्सन्देह इस बात के अन्धकार में हैं कि जड पदार्थ या प्रकृति का बल किस स्रोत से आविर्भूत होता है। वेद कहता है कि अद्वितीय ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ने पहले कामना की। उसी संकल्प से प्राणनक्रिया हुई जिसने स्वधा या जडांश में आश्रय लिया। टुंडल नामक वैज्ञानिकने इस भूलके स्वीकार करते हुए माना है कि वैज्ञानिक लोग जड के आश्रय से ऊपरकी ओर चले हैं, यदि वे परमात्मा से नीचे की ओर विकासक्रम का अनुसन्धान करते तो उन्हें अधिक सफलता मिलती। वह इसके लिये वैदिक ऋषियों को धन्यवाद भी देता है।

ऋग्वेद में अन्य स्थान पर भी शक्ति विकास के क्रम को दिखाया है-

" य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।" अर्थात् " वह प्रजापति ब्रह्म आत्मा-और बल का देने वाला है।" आत्मा और बल ये दोनों शब्द विचारणीय हैं। चेतन जगत् का आत्मतत्त्व उसी ईश्वर से आविर्भूत है। यह " बल " शब्द यहां किस के लिये आया है ? अवश्य ही यह प्रकृति के लिये आया है। " मैटर " के अन्दर जो " इनर्जी " है उसी का नाम " बल " है।

इस बल की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वेद इसको एक शाश्वत सत्य की तरह स्वीकार करता है कि प्रकृति कभी परमात्मा से स्वतन्त्र नहीं है। उसका 'बल' परमात्मा का ही दिया हुआ है। इसी भावको अगले मंत्र में और भी स्पष्ट रीति से कह दिया है " यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।" अर्थात् ' वह ईश्वर संसार का राजा या स्वामी है, कारण कि प्राण और निमिष ये दो क्रियाएं उसी से निकल कर जिसको जगत् कहा जाता है उसे व्याप्त किये हुए हैं - यह उस परमात्मा की महिमा हैं।" यथासंख्य नियम से प्राण का आत्मा के साथ और निमिष का बल के साथ संबन्ध है। निमिष का अर्थ "स्पर्धाकरण" है। जहां बल होता है वहीं स्पर्धा होती है। पहला मंत्र बताता है कि प्रकृति का बल ईश्वर से ही मिलता है। दूसरा मंत्र कहता है कि बल का लक्षण स्पर्धा है। यह बात नैज्ञानिक रीतिसे बिल्कुल सत्य है। स्पर्धा ही एक प्रकार से अनेकों ग्रहों, उपग्रहों और ब्रह्माण्डों के बनने बिगडने का कारण है। परमात्मा ने एक बार स्पर्धा के नियम को जड जगत् के अन्दर प्रवर्तित कर दिया। शेष सब कार्य अपने आप होता रहता है। जड जगत् के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग, अणु, परमाणु और वैद्युतीकण-मौलीक्यूल, एटाम और इलेक्ट्रन-हैं। इनमें से प्रत्येक के साथ तुमुल संघर्ष और द्वन्द्व मचा रहता है। वैद्युतीयकण परमाणु के भीतर रह कर कभी उसका शासन मानता और कभी विद्रोह करके स्थानान्तर में चला जाता है। इसी प्रकार परमाणु के केन्द्र में अग्निविद्युत् (negative charge) और सोमविद्युत् (Positive charge) का संचार हुआ करता है। वैद्युतीय कणों की इस ब्रह्माण्डव्यापिनी कला का नाम " स्पर्धा " या " निमिष " है। वैज्ञानिक इस स्पर्धाशक्ति को " इनर्जी " का नाम देकर विराम लेता है और उसके आगे नहीं बढ पाता। पर वेद ने अत्यन्त स्पष्टतापूर्वक कई स्थान पर ईश्वर को " निमिष " का विधाता माना है-

" अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी। " अर्थात् " वह परमात्मा विश्व की मिष शक्ति का नियन्ता है। " प्रलय के समय वह ईश्वर इस बडी हलचलको कैसी सरलता और लाघव के साथ आत्मवश कर लेता होगा यह विचारने की बात है। हर्ष की बात है कि बीसवीं शताब्दी का विज्ञान अनीश्वरवादी नहीं रहा है, वह एक प्रकार से 'नेति नेति' का मानने वाला हो गया है। स्वयं लार्ड केल्विन ने कहा था कि सारी प्रकृति एक स्वर से यही कहती प्रतीत होती है कि इस का कोई कर्ता अवश्य है। केल्विन महोदय ने विश्व के अद्भुत रचनाकौशल्य पर मुग्ध होकर ही इस प्रकार का संकेत किया था। वैदिक ऋषि ने भी कभी भगवान् की " एतावान् महिमा " पर मुग्ध होकर " कस्मै देवाय हविषा विधेम " का गीत गाया था॥

चित्ररामायण।

सारस्वतालोचन।

शुद्धिचन्द्रोदय [सचित्र]

(ले०—श्री० कुँवर चांदकरण शारदाजी। शारदा भवन। अजमेर। मूल्य १॥) रु.) यह अत्यंत महत्वपूर्ण पुस्तक उत्साही कार्यकर्ता श्री० कुँवर चांदकरण शारदाजीने बना कर प्रकाशित किया है। जो लोक शुद्धीका पवित्र कार्य कर रहे हैं और जिन लोगोंके मत से शुद्धि के लिये शास्त्रप्रमाण ढूंढने की आवश्यकता प्रतीत होती है, तथा प्राचीन भारत वर्ष में शुद्धि की जाती थी या नहीं इस विषयमें जिनको शंका होती है वे सब इस पुस्तकको अवश्य देखें। इसके देखनेसे शुद्धिके विषयकी सब शंकाएं दूर हो सकती हैं। इस ग्रंथकी योग्य समय में रचना करके श्री० कुंवर चांदकरणजीने हिंदु जातीपर अनंत उपकार किये हैं और उनको नया मार्ग भी बताया है। आप उत्साही कार्यकर्ता हैं और धीरवीर पण्डित विद्वान वक्ता और लेखक भी हैं। इस समय अपने देशकी अवस्था उन्होंने प्रत्यक्ष देखी है, प्राचीन समय की स्थिति उन्होंने प्राचीन ग्रंथोंके मनन से जान ली है। शास्त्र वचनों का मनन किया है और इतने परिशीलनसे भविष्यकालके मार्ग की दिशा बताई है। इस लिये यह पुस्तक सर्वांगसुंदर हुआ है और जो मनुष्य पढेगा वह भी इसकी मुक्त कंठ से प्रशंसा करेगा। पुस्तक का मूल्य अति अल्प है इस लिये भारतीय जनता इसको निःसंदेह अपनायेगी और लेखक का उत्साह द्विगुणित करेगी।

२ वेदका यमयमी संवाद।

(ले० और प्र०- श्री० पं० प्रियरत्नजी, सार्वदेशिक अनुसंधानकार्यलय, एस्प्लेनेडरोड, देहली।)

वेदका यमयमी सूक्त पाठक जानते ही हैं। इस सूक्तने कई विद्वानोंको आकर्षित किया है। उनमें पं० प्रियरत्नजी एक हैं। आपका इस सूक्तका मनन कई वर्षों से चल रहा है और वह अपने ढंग का नया है। इस लिये विचारशील पाठकोंको यह पढने योग्य है। आपने इस सूक्त को दिन और रातके अलंकार पर घटाया है और ज्योतिर्विद्या की शिक्षा भी इसमें देखी है और साथ साथ विवाहपद्धति गार्हस्थ्यमर्यादा, आपद्धर्म, नियोग आदिके संबंधमें अनेक बोधप्रद शिक्षायें दर्शाई हैं। जो पाठक यमयमी सूक्तका मनन करते हैं वे इसको अवश्य देखें।

३ आर्य भजन कीर्तन।

(प्र०- श्री० परमेश्वरी सहाय्य, मंत्री आर्यसमाज आग्रा। मू. =) ॥ इसमें ईश्वर स्तुति, प्रार्थनोपासना, ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, शांति, आर्य पर्वपद्धति, शुद्धिविधि और कई सुंदर भजन हैं। पुस्तक संग्राह्य है।

४ आर्य समाजकी महत्ता।

(ले०- श्री० पं० गणेशदत्तशर्मा गौड इन्द्र, आगर मालवा। प्रकाशक— श्री. आर्य प्र० सभा, अजमेर। मूल्य)॥) आर्यसमाज की विशेषताएं इसमें काव्यमयी भाषासे लिखी हैं।

५ वेद ईश्वरीय ज्ञान।

ले०- म० राधाकृष्णजी, मु बनबटा, मुरादाबाद। मू.-) वेद विषयका प्रमाणबद्ध वर्णन है।

६ ईश्वरकी हस्ती!

(ले०—श्री० राधाकृष्णजी पेशकार कलकटरी, मु बनबटा, मुरादाबाद, विनामूल्य) स्वतःसिद्ध ईश्वर की हस्ती और उसकी महिमा बताने वाली लावणी है। जो गानेवाले अन्यान्य रद्दी चीजें गाते हैं उनकी अपेक्षा यह लावनी गायेंगे तो गायन शक्तिके साथ आनंद देगा।

७ प्राप्ति स्वीकार— श्री० १०८ स्वामी दयानंदजी महाराज के स्मारक पंजाब आर्य समाज लाहौर की अर्ध शताब्दी में सज्जनानुरंजनार्थ चित्रबंध— रचयिता श्री बैजनाथ शर्मा शास्त्री भिषगाचार्य अम्बाला। (८) हिंदी साहित्य संमेलन प्रयाग की परीक्षाओंकी विवरण पत्रिका। (९) वैश्यमार्तण्ड दिल्ली. साप्ताहिक पत्र।

क्षत्रिय का धर्म।

[५]

[ऋषिः—भृगुः आथर्वणः। देवता-इन्द्रः]

इन्द्रं जुषस्व प्र वहा याहि शूर हरिभ्याम्।
पिबा सुतस्य मतेरिह मधोश्चकानश्चारुर्मदाय ॥ १ ॥
इन्द्र जठरं नव्यो न पृणस्व मधोर्दिवो न।
अस्य सुतस्य स्व१र्णोप त्वा मदाः सुवाचो अगुः ॥ २ ॥
इन्द्रस्तुराषाण्मित्रो वृत्रं यो जघान यतीर्न।
बिभेद बलं भृगुर्न ससहे शत्रून्मदे सोमस्य ॥ ३ ॥
आ त्वा विशन्तु सुतास इन्द्र पृणस्व कुक्षी विड्ढि शक्र धियेह्या नः।
श्रुधी हवं गिरो मे जुषस्वेन्द्र स्वयुग्भिर्मत्स्वेह महे रणाय ॥ ४ ॥
इन्द्रस्य नु प्र वोचं वीर्याणि यानि चकार प्रथमानि वज्री।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत्पर्वतानाम् ॥ ५ ॥
अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः ॥ ६ ॥
वृषायमाणो अवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वपिबत्सुतस्य।
आ सायकं मघवादत्त वज्रमहन्नेनं प्रथमजामहीनाम् ॥ ७ ॥

अर्थ--हे शूर इन्द्र! (जुषस्व) तू प्रसन्न हो, (प्र वह) आगे बढ। (हरिभ्यां आ याहि) घोडोंके साथ तू यहां आ। (चकानः) तृप्त होता हुआ तू (मदाय) हर्षके लिये (इह) यहां (मतेः) बुद्धिमान् पुरुषका (सुतस्य मधोः चारुः) निचोडा हुआ मधुर सुंदर रस (पिब) पिओ ॥ १ ॥ हे इन्द्र! (नव्यः न) प्रशंसनीयके समान और (स्वः न) स्वर्गीय आनंद के समान (मधोः जठरं पृणस्व) इस मधुर रससे अपना पेट भर दो।

(अस्य सुतस्य) इस निचोडे रसकी (स्वः न) स्वर्गके आनंदके समान खुशी और (सुवाचः मदाः) उत्तम भाषणोंके साथ आनंद (त्वा उप अगुः) तेरे पास पहुंचते हैं ॥ २ ॥ (यतीः न) यत्न करनेवाले पुरुषके समान (यः तुराषाद् मित्रः इन्द्रः) जिस त्वरासे शत्रुपर हमला करनेवाले मित्र इन्द्रने (वृत्रं जघान) घेरनेवाले शत्रुका नाश किया था, तथा (भृगुः न) भूननेवालेके समान जिसने (बलं बिभेद) शत्रुके बलका भेद किया था और (सोमस्य मदे) सोमरसके आनंदमें (शत्रून् ससहे) शत्रुओंका पराभव किया था ॥ ३ ॥ हे (शक्र इन्द्र इन्द्र) शक्तिमान् प्रभु इन्द्र ! (सुतासः त्वा आ विशन्तु) निचोडे हुए ये रस तुझमें प्रविष्ट हों । (कुक्षी पृणस्व) दोनों कुक्षियोंको तू भर और (विड्ढि) शासन कर (धिया नः आ—इहि) अपनी बुद्धिसे तू हमारे पास आ । हमारी (हवं श्रुधि) पुकार सुन, (मे गिरः जुषस्व) मेरा भाषण स्वीकार कर । और (इह) यहां (महे रणाय) बडे युद्ध के लिये (स्वयुग्भिः) अपनी योजनाओंके साथ (आ मत्स्व) हर्षित हो ॥ ४ ॥ (इन्द्रस्य वीर्याणि नु प्रवोचं) इन्द्रके पराक्रम मैं अच्छी प्रकार वर्णन करता हूं । (यानि प्रथमानि) जो पहिले श्रेणीके पराक्रम (वज्री चकार) वज्रधारी इन्द्रने किये थे । उसने (अहिं अहन) कम न होने वाले शत्रुका नाश किया, और (अपः अनु-ततर्द) प्रवाहोंको खुला किया और (पर्वतानां) पर्वतोंके (वक्षणाः प्र अभिनत्) भाग तोड भी दिये ॥ ५ ॥ (पर्वते शिश्रियाणं अहिं) पर्वतके आश्रयसे रहनेवाले शत्रुको (अहन्) वध किया। (अस्मै) इसके लिये (त्वष्टा स्वर्यं वज्रं ततक्ष) कारीगरने तेज शस्त्र बनादिया था । (वाश्राः धेनवः इव) रंभाती हुई गौवोंके समान (स्यन्दमानाः आपः) वेगसे बहनेवाले जलप्रवाह (अञ्जः समुद्रं अवजग्मुः) सीधे समुद्रतक जा पहुंचे ॥ ६ ॥ (वृषायमाणः) बलवान् वीर (सोमं अवृणीत) सोम रसको प्राप्त हुआ । (सुतस्य त्रिकद्रुकेषु अपिबत्) रसका तीन उच्च स्थानोंमें पान किया । (मघवा सायकं वज्रं आ अदत्त) इन्द्रने बाण रूप वज्र लिया और (अहीनां प्रथमजां एनं अहन्) शत्रुओंके पहिले इस वीरको मार डाला ॥ ७ ॥

भावार्थ — हे शूर वीर ! तू सदा प्रसन्न और आनंदित रह और उन्नतिके मार्गसे आगे बढ । अपने उत्तम घोडोंसे युक्त रथमें बैठकर इधर

उधर जा। और सदा संतुष्ट रहता हुआ अपने हर्षको बढानेके लिये बुद्धि वर्धक मधुर रसका पान कर॥ १॥ हे शूरवीर! प्रशंसा के योग्य और हर्ष बढानेवाले मधुर रसमे अपना पेट भर, ऐसा करनेसे ही उत्तम प्रशंसाकी वाणी ही तेरे पास सब ओरसे पहुंचेगी अर्थात् सब तेरी प्रशंसा करेंगे॥२॥ पुरुषार्थी, उद्यमी पुरुषके समान प्रयत्नशील और शीघ्रवेगके साथ शत्रु पर हमला करने वाला शूरवीर अपने शत्रुका नाश शीघ्र करता है। जिस प्रकार भूननेवाला मनुष्य धान्योंको भूनता है, उसी प्रकार यह शूर वीर शत्रुकी सेनाको भून देता है और सोमरस का पान करता हुआ हर्षित और उत्साहित होकर शत्रुका पराजय करता है॥ ३॥ हे शक्तिमान् शूर-वीर! सब मधुर रस तुम्हें प्राप्त हों और उससे तू अपना पेट भर दे। उस समय तू अपने मनसे सब जनता की भलाईका विचार कर और उन की पुकार श्रवण कर तथा बडे जीवनकलह में विजय प्राप्त करनेके लिये अपनी योजक शक्तियोंके साथ आनंदसे तैयार रह॥ ४॥ शूर पुरुषके पराक्रमों का मैं वर्णन करता हूं, जो कि उन्होंने किये थे। बढने वाले शत्रुका उसने नाश किया और जलके प्रवाह सबके लिये खुले कर दिये, तथा पर्वतोंके भागोंको तोडकर जंगल भी साफ किया॥ ५॥ पर्वत के भागोंपर छिपकर रहनेवाले शत्रुओंका उन्होंने वध किया, ऐसे शूरके लिये कारीगरों ने विशेष प्रकारके तीक्ष्ण शस्त्र तैयार कर दिये थे। जिस प्रकार गौवें रंभाती हुई अपने बछडेके पास जाती हैं उसी प्रकार उस वीरने खुले किये हुए जलके प्रवाह समुद्रतक जा पहुंचे॥ ६॥ अपना बल बढाने वाला शूरवीर सोमरस का पान तीन समय और तीन स्थानोंमे करता है। धनी शूरवीर अपने शस्त्र सदा तैयार रखताहै और बढने वाले शत्रुके अग्रगामी वीरका शीघ्र नाश करता है [और इस रीतिसे अपना विजय प्राप्त करता है।] ॥ ७॥

क्षात्रधर्म ।

प्रायः इन्द्र सूक्तोंमें क्षत्रियधर्म बताया होता है। इन्द्र शब्द मुख्यतः शत्रुका नाश करनेवाले शूरवीरका द्योतक है और उसका वर्णन शूरवीरके क्षात्रधर्मका प्रकाशक होता है। इस सूक्तमें भी पाठक उक्त बात देख सकते हैं। इस सूक्तमें जिन शब्दों द्वारा शूरवीर का वर्णन होकर क्षात्र धर्मका प्रकाश हुआ है, उन शब्दोंका अर्थ देखिये—

क्षत्रियके गुण ।

१ इन्द्रः (इन्+द्र)= शत्रुका नाश करनेवाला, शत्रु सैन्यका नाश करनेवाला ।(मं.१)
२ शूरः= शूरवीर । (मं. १)
३ चकानः=तृप्त, संतुष्ट, तेजस्वी, प्रकाशमान । शत्रुका प्रतिकार करनेमें समर्थ । (मं.१)
४ मित्रः=जनताका मित्र, जनताका हित करनेवाला । सूर्यवत्प्रकाशमान । (मं. ३)
५ यतीः=प्रयत्नशील, पुरुषार्थी । (मं. ३)
६ भृगुः=भूननेवाला, शत्रुको भूननेवाला । (मं. ३)
७ तुराषाट्=त्वरासे शत्रुपर हमला चढानेवाला । (मं. ३)
८ शक्रः=समर्थ, शक्तिशाली, बलवान् । (मं. ४)
९ वज्री= वज्र आदि शस्त्रोंसे युक्त । (मं.५)
१० वृषायमाणः = अपना बल प्रतिदिन बढानेवाला, अपनी शक्ति सब प्रकारसे बढानेवाला । (मं.७)
११ मघवा (मघ-वान्)=धनवान् । (मं. ७)

ये ग्यारह शब्द इस सूक्तमें शूरवीर क्षत्रियके वाचक हैं । इन शब्दोंसे क्षत्रियके कर्तव्योंका भी बोध होता है । क्षत्रियके पास शौर्य वीर्य पराक्रम आदि गुण जैसे चाहियें उसी प्रकार पुनः पुनः प्रयत्न करनेका गुण और वेगसे शत्रुपर हमला चढानेका भी गुण अवश्य चाहिये । शत्रुसे अपना बल अधिक रखनेकी तैयारी भी क्षत्रियको करनी चाहिये, और इस सबके लिये उसके पास विपुल धन भी चाहिये, इत्यादि क्षात्रधर्मका उपदेश हमे यहां प्राप्त होता है । पाठक इस दृष्टिसे इन पदोंका विशेष मनन करें । अब वाक्यों द्वारा जो क्षत्रियके कर्म इन मंत्रोंमें वर्णन हुए हैं उनका विचार देखिये—

क्षत्रियके कर्तव्य ।

१ शूर ! हरिभ्यां आयाहि=हे वीर ! घोडोंपर सवारी कर ! घोडोंकी सवारी करनेका अभ्यास क्षत्रियको करना चाहिये । (मं. १)

२ प्र वह=आगे बढ । क्षत्रियकी ऐसी तैयारी चाहिये कि जिससे वह शीघ्रतासे आगे बढ सके । चढाईमें ढिलाई न रहे । (मं. २)

३ वृत्रं जघान= घेरनेवाले अथवा व्यूह बांधकर चढाई करनेवाले शत्रुका नाश करनेमें समर्थ क्षत्रिय हो । (मं. ३)

४ बलं बिभेद=शत्रुके बलका भेद करे, शत्रुकी सेनामें भेद उत्पन्न करे, शत्रुकी सेनाकी संघशक्ति नष्ट करे, उस शत्रुसेनाको तितर बितर करे । (मं.३)

५ शत्रून् ससहे=शत्रुका पराजय करे। शत्रुके हमलेको सहे अर्थात् शत्रुके हमलेसे पीछे न हटे। (मं० ३)

६ विड्ढि (आ विड्ढि)=उत्तम राज्य शासन कर। राज्यशासन करना अपना कर्तव्य है ऐसा क्षत्रिय समझे। (मं० ४)

७ महते रणाय स्वयुग्भिः मत्स्व=बडे युद्धके लिये अपनी योजक शक्तियोंके द्वारा आनंदसे तैयार रहे। शत्रु झगडा करता है, तो उसको अपनी योजना और युक्तियोंसे दूर करे। (मं०४)

८ अहिं अहन् = शत्रुका नाश करे ॥ (मं० ५)

९ पर्वतानां वक्षणाः अभिनत् = पर्वतों के उपरके घने जंगल तोड कर शत्रु छिप कर रहनेके स्थान हटा देवे। अथवा वहांसे बहनेवाले नदी प्रवाह खुले करे। (मं० ५)

१० अपः अनु ततर्द = जलके प्रवाह शत्रुके अधिकार में हों तो उनको सबके लिये खुले करे। (मं० ५)

११ पर्वते शिश्रियाणं अहिं अहन् = पहाडियोंका आश्रय करके लडनेवाले शत्रुका नाश करे। (मं० ६)

१२ अस्मै त्वष्टा स्वर्यं वज्रं ततक्ष = इसके लिये लुहार तीक्ष्ण शस्त्रास्त्र तैयार करके दे। अथवा राजा अपने कारीगरोंको शस्त्र तैयार करनेके काम में नियुक्त करे और आवश्यक शस्त्रास्त्र तैयार करके लें। (मं०६)

१३ सायकं वज्रं आ अदत्त = बाण और वज्र आदि शस्त्र हाथमें लेवे। (मं० ७)

१४ अहीनां प्रथमजां एनं अहन् = बढनेवाले शत्रुके मुख्य मुख्य वीरोंका अर्थात् सेनानायकोंका नाश करे। (मं० ७)

ये वाक्य क्षत्रियके कर्तव्य बता रहे हैं। इनकी विशेष व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ये वाक्य स्वयं स्पष्ट हैं और थोडेसे मननसे इनका आशय ध्यानमें आ सकता है।

अब राज्यशासन विषयक कर्तव्योंकी सूचना करने वाले वाक्योंको देखिये—

राज्य शासन ।

१ मित्रः - प्रजाओंका मित्र बन कर राजा राज्य करे। कभी शत्रु बनकर राज्य न करे। (मंत्र ३)

२ हवं श्रुधि, गिरः जुषस्व —पुकार सुन, वाणीका स्वीकार कर अर्थात् प्रजाकी आवाज श्रवण कर। प्रजाकी इच्छाका आदर कर। (मंत्र. ४)

३ अपः अज्ञः समुद्रं अवजग्मुः— समुद्रतक बहने वाले नहर चलावे और उससे कृषिकी सहायता करे। (मं. ६)

इस प्रकारका राज्यशासन केवल प्रजाके हितकी वृद्धि करनेके लिये जो क्षत्रिय करता है, उसीकी प्रजा प्रशंसा करती है, इस विषयमें निम्न लिखित मंत्र भाग देखिये-

प्रजासे सन्मान ।

१ त्वा मदाः सुवाचः उप अगुः- तेरे पास हर्षकी उत्तम वाणी पहुंचती है अर्थात् हर्षित और आनंदित हुई प्रजा उसकी उत्तम वाणीसे प्रशंसा करती है। कृतज्ञतासे संमान करती है। मानपत्र अर्पण करती है (मं. २)

प्रजा आनंदित होनेके पश्चात् ही उत्तम राजाकी इस प्रकार प्रशंसा कर सकती है। अन्यथा त्रस्त हुई प्रजा राजाकी निंदा या राजाका द्रोह करती रहेगी। इस प्रकार राजाके अथवा क्षत्रियके राष्ट्रीय कर्तव्य क्या है, इस विषयमें इस सूक्तने उपदेश दिया है। यहां ऊपर जो वाक्य उद्धृत किये हैं, उनमें अर्थकी सुबोधताके लिये शब्दोंके अर्थोंका पुरुषव्यत्यय करके थोडासा परिवर्तन जानबूझ कर किया है। यह बात संस्कृतज्ञ पाठक स्वयं जान सकते हैं। इतना परिवर्तन इस प्रकारके स्पष्टीकरणमें आवश्यकही होता है। इसलिये इस विषयमें कुछ न लिखकर अब क्षत्रियका व्यक्ति गत आचार भोग आदि कैसा रहना चाहिये इस विषयमें इस सूक्तका उपदेश देखते हैं —

भोग ।

१ सुतस्य मध्वः मदाय पिब— सोमादि वनस्पतिसे निचोडे मधुर रसका पान हर्षके लिये कर। (मं० १)

इस विधानमें मधुर रसका पान करनेका उपदेश है। यही मधुपर्क प्राशन है। वनस्पतिमें सोम मुख्य है। इसका ग्रहण करनेसे अन्य आरोग्य और हर्षवर्धक वनस्पतियोंका ग्रहण स्वयं हुआ है। इस सूक्तके सप्तम मन्त्रमें सोम का नाम है और वही इस मंत्रसे संबंधित है। इस सूक्तमें इसके उल्लेख निम्न लिखित हैं—

२ सुतस्य मध्वः जठरं पृणस्व। (मं० २)

३ सुतासः त्वा कुक्षीः आविशन्तु। (मं० ४)

४ सुतस्य सोमं त्रिकद्रुकेषु अपिबत्। (मं० ७)

इन मंत्र भागोंका भी वही भाव है । (२) सोम रससे पेट भर दे । (३) सोम रस से दोनों कुक्षियां भर दे, (४) निचोडा सोम रस तीन बर्तनों द्वारा तीन स्थानोंमें बैठ कर दिनमें तीन वार पिओ । यह सोम रस मधुर रुचिवाला, हर्ष और उत्साह वर्धक, थकावटको दूर करने वाला, दीर्घ आयुष्य देने वाला, बुद्धि बढाने वाला, और रोग बीजोंको शरीरसे हटाने वाला है ।

सोम और मद्य ।

वेद प्रणालीके अनभिज्ञ लोग सोम को शराब मानते है. वे इतनी भूल करते हैं, कि उससे अधिक भूल कोई भी कर नहीं सकता । सोम, सुरा, वारुणी, आसव, अरिष्ट, मद्य और शराब ये शब्द समानार्थक नहीं हैं । मद्य और शराब ये शब्द समानार्थक हो गये हैं और सुरा शब्द भी उनमें संमिलित हुआ है, यह बात हमें पता है । इसलिये हम कहते, हैं कि इन शब्दोंका आशय पाठक अवश्य स्मरण रखें-

१ सोम = सोम वल्लीका रस, जो दूध, मधु (शहद), मिश्री, भूने धान्यका आटा, दही आदि अनेक पदार्थोंके मिश्रणके साथ अच्छा स्वादिष्ट पेय बनाकर पीया जाता है और गौ आदि पशुओं को भी पिलाया जाता है । यह वनस्पतियोंका केवल रस होता है । इसके गुण ऊपर दिये हैं ।

२ सुरा = किसी रसकी भांप बना कर फिर उसका शीतता देकर रस बनाया जाय, तो उसका यह नाम है । (Distilled Water) पानीकी भांप बनाकर फिर उस भांप का पानी बन जानेसे भी उस जलका यह नाम होता है, वृष्टिजल का भी यही नाम उक्त कारण ही है, क्योंकि भूमि परके जलकी भांप होकर मेघ बनते हैं और उससे वृष्टि होती है । किसी भी रसकी इस प्रकार शुद्धि होती है । यह शुद्धिकी रीति है । आजकल इस रीतिसे शराब बनाते हैं, इसलिये इस नामकी खराबी हुई है, यह बात सामयिक है ॥ वास्तव में संस्कृतका केवल सुरा शब्द उक्तविधि से बनाये परिशुद्ध जल या रस का वाचक है ।

३ वारुणी, अमरवारुणी=ये भी शब्द उक्त प्रकारके रसोंके या जलके वाचक हैं । इन पेयोंमें मादकता या दुर्गुण वास्तवमें नहीं है । परंतु आजकल इस रीतिसे शराब बनती है इसलिये ये सब नाम बुरे अर्थोंमें आजकल प्रयुक्त हुए हैं । प्राचीन समयमें भी क्वचित् बुरे और क्वचित् अच्छे अर्थोंमें इनका उपयोग दिखाई देता है ।

४-५ आसव और अरिष्ट=ये नाम औषधि पेयोंके होते हैं । इनमें कुछ सडावट होनेके कारण मद्य उत्पन्न होना अपरिहार्य है, तथापि इनमें मद्यकी मात्रा प्रति शतक

दो भागके करीब होती है। इसलिये शराबमें इसकी गिनती नहीं होती।

अंग्रेज सरकारने इनकी जांच करके निश्चय किया है, कि यह मद्य नहीं है। इसीलिये देशी वैद्य ये आसव तथा अरिष्ट तैयार कर सकते है, अन्यथा सरकारी प्रतिबंध उनके पीछे लग जाता।

६-७ **मद्य और शराब** मादक होनेसे निःसंदेह बुरे हानिकारक पेय हैं।

पाठक इस विवरणसे समझ गये होंगे कि सोममें दोषकी कल्पना अथवा मद्यकी कल्पना यत्किंचित् भी नहीं हो सकती, दिनमें तीन वार रस निचोडा जाता है और उसी समय आहुतियां देकर पीया जाता है। सवेरे, दोपहरको और सायंकालको रस निचोडना और पीना होता है, उसका वर्णन इस सूक्तके सप्तम मंत्रमें आचुका है। इस लिये जो लोग सोमरस को सुरा मानते हैं वे ही उक्त मत मद्यकी धुंदमें कहते हैं, ऐसा यदि किसीने कहा तो वह अशुद्ध न होगा।

इस सूक्तमें क्षत्रियका भोजन वनस्पतिका मधुर रस है यह बात स्पष्टतासे कही है, जो शाकाहारकी पुष्टि करने वाली है।

जीवन संग्राम।

वेदमें " महते रणाय " ये शब्द वारंवार आते हैं। " बडा युद्ध " चल रहा है, सावध रहकर अपना कर्तव्य करो, यह वेदका उपदेश जीवन संग्राममें रहनेवाले मनुष्य मात्रको मार्ग दर्शक है। प्रत्येक मनुष्य सदा युद्धभूमिपर खडा है, किसी न किसी प्रकारके युद्धमें संमिलित हुआ है, उसकी इच्छा हो या न हो उसको युद्धमें रहना ही पडता है, फिर वह भागकर कहां जाय? इस लिये उसको अपने युद्धका स्वरूप जानना चाहिये और उस संबंधसे उत्पन्न होनेवाला अपना कर्तव्य अवश्य करना चाहिये। अन्यथा उसका जन्म निरर्थक हो जायगा। चाहे वह अहिंसावृत्तिसे युद्ध करे या हिंसा वृत्तिसे करे, युद्धके विना उसकी स्थिति नहीं है और इस युद्धमें विजय कमाने के विना उसकी उन्नति नहीं है। यह हुई सब मनुष्योंकी बात, क्षत्रिय की तो पूछनाही क्या है, उसका जीवन ही युद्ध रूप है, उसको युद्ध तो अनिवार्य है।

इस प्रकार यह सूक्त क्षात्र धर्मका उपदेश करता है। पाठक इसका मनन करनेके समय प्रथम काण्डके २, १५, १९, २१, २८, २९, इन सूक्तोंको भी ध्यानमें रखें।

(यहां प्रथम अनुवाक समाप्त हुआ)

ब्राह्मण धर्मका आदेश ।

[६]

[ऋषिः— शौनकः सम्पत्कामः । देवता—अग्निः]

समास्त्वाग्न ऋतवो वर्धयन्तु संवत्सरा ऋषयो यानि सत्या ।
सं दिव्येन दीदिहि रोचनेन विश्वा आ भाहि प्रदिशश्चतस्रः ॥ १ ॥
सं चेध्यस्वाग्ने प्र च वर्धयेममुच्च तिष्ठ महते सौभगाय ।
मा ते रिषन्नुपसत्तारो अग्ने ब्रह्माणस्ते यशसः सन्तु मान्ये ॥ २ ॥
त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे शिवो अग्ने संवरणे भवा नः ।
सपत्नहाग्ने अभिमातिजिद्भव स्वे गये जागृह्यप्रयुच्छन् ॥ ३ ॥
क्षत्रेणाग्ने स्वेन सं रभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधा यतस्व ।
सजातानां मध्यमेष्ठा राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह ॥ ४ ॥
अति निहो अति सृधोऽत्यचित्तीरति द्विषः ।
विश्वा ह्यग्ने दुरिता तर त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः ॥ ५ ॥

अर्थ— हे अग्ने! (समाः ऋतवः संवत्सराः) मास ऋतु और वर्ष (ऋषयः) ऋषि लोग तथा (यानि सत्या) जो सत्यधर्म हैं वे सब (त्वा वर्धयन्तु) तुझे बढावें। (दिव्येन रोचनेन) दिव्य तेजसे (सं दीदिहि) उत्तम प्रकार प्रकाशित हो और (विश्वाः चतस्रः प्रदिशः) सब चारों दिशाओं में (आ भाहि) प्रकाशित हो ॥ १ ॥ हे अग्ने! (सं इध्यस्व) उत्तम रीतिसे प्रज्वलित हो (च इमं प्र वर्धय) और इस को बहुत बढाओ। (च महते सौभगाय उत्तिष्ठ) बडे ऐश्वर्य के लिये उठकर खडा रह। हे अग्ने! (ते उपसत्तारः) तेरे उपासक (मा रिषन्) नष्ट न हों। और (ते ब्रह्माणः) तेरे पास रहनेवाले ब्राह्मण (यशसः सन्तु) यशसे युक्त हों (मा-अन्ये) दूसरे नहीं ॥ २ ॥ हे अग्ने! (इमे ब्राह्मणाः त्वा वृणते) ये ब्राह्मण तेरा स्वीकार करते हैं। हे अग्ने! (नः संवरणे शिवः भव) हमारे स्वीकार

में तू शुभ हो। हे अग्ने! (सपत्नहा अभिमातिजित् भव) वैरियोंका नाश करने वाला तथा अभिमानियोंको जीतनेवाला हो, तथा (अ-प्रयुच्छन्) भूल न करता हुआ (स्वे गये जागृहि) अपने घरमें जागता रह ॥ ३ ॥ हे अग्ने! (स्वेन क्षत्रेण) अपने क्षात्रतेजसे (सं रभस्व) उत्तम प्रकारसे उत्साहित हो। हे अग्ने! (मित्रेण मित्रधा यतस्व) अपने मित्रके साथ मित्रकी रीतिसे व्यवहार कर। हे अग्ने! (सजातानां मध्यमे-स्थाः) सजातीयोंकी मंडली में मध्यस्थानमें बैठनेवाला होकर (राज्ञां वि-हव्यः) क्षत्रियोंके बीचमें भी विशेष आदरसे बुलाने योग्य होकर (इह दीदिहि) यहां प्रकाशित हो ॥ ४ ॥ हे अग्ने! (निहः अति) मारपीट करनेके भावका अतिक्रमण कर, (स्रुधः अति) हिंसक वृत्तियोंका अतिक्रमण कर, (अ-चित्तीः अति) पापी वृत्तियोंका अतिक्रमण कर, (द्विषः अति) द्वेष भावोंका अतिक्रमण कर। हे अग्ने! (विश्वा दुरिता तर) सब पापवृत्तियोंको पार कर। (अथ त्वं) और तू (अस्मभ्यं) हम सबके लिये (सहवीरं रयिं दाः) वीर पुरुषोंके साथ रहने वाला धन दे ॥ ५ ॥

भावार्थ— हे तेजस्वी ब्रह्म कुमार! महिने ऋतु और वर्ष अर्थात् काल, ऋषि लोग अर्थात् तत्त्वदर्शी विद्वान् और जो सब सत्यधर्म नियम हैं वे सब तुझे बढावें, इस प्रकार दिव्य तेजसे युक्त होकर तू सब दिशाओंमें अपना प्रकाश फैला दे ॥ १ ॥ तेजस्वी होकर तू इस सबको वृद्धिंगत कर और बडा सौभाग्य अर्थात् ऐश्वर्य प्राप्त करनेकी तैयारी करके उठ कर खडा हो और तेरे कारण तेरे साथी दुर्दशाको कभी प्राप्त न हों, इतनाही नहीं परंतु तेरे सम्बन्धमें आने वाले ज्ञानी लोग यशसे युक्त बनें और ऐसा कभी न हो कि तेरे साथी तो दुर्दशामें जांय और तेरी गलतीसे दूसरे लोग उन्नति प्राप्त करें ॥ २ ॥ ये ज्ञानी लोग तेरा सन्मानसे स्वीकार करते हैं, इस लिये तू शुभ विचार वाला हो। तेरे जो भी वैरी हों और जो तेरे साथ स्पर्धा करने वाले हों, उनको जीत कर तू आगे बढ और कभी भूल न करतेहुए अपने स्थानमें जागता रह ॥ ३ ॥ अपना बल बढाकर सदा उत्साह धारण कर, मित्रके साथ मित्रके समान सीधा व्यवहार कर, अपनी जाती में प्रमुख स्थानमें बैठनेका अधिकार प्राप्त कर, इतनाही नहीं परंतु राजा लोग भी सलाह पूछनेके लिये तुम्हें आदरसे बुलावें ऐसी तू अपनी योग्य

ना बढा और यहां तेजस्वी बन ॥ ४ ॥ मारपीट अथवा घातपातके भाव दूर कर, नाशक या हिंसक वृत्ति हटा दे, पापवासनाओं को अपने मनसे हटा दे, द्वेष भावोंको समीप न कर, तात्पर्य सब हीन वृत्तियोंके परे जाकर अपने आपको पवित्र बनाओ,और हमारे लिये ऐसी संपत्ति लाओ, कि जिसके साथ सदा वीरभाव होते हैं ॥ ५ ॥

अग्निका स्वरूप ।

अथर्ववेद काण्ड १ सू० ७ की व्याख्यानके प्रसंगमें "अग्नि कौन है" इस प्रकरणमें अग्नि पद ब्राह्मण अर्थात् ज्ञानी पुरुष का वाचक है यह बात विशेष स्पष्ट की है। पाठक कृपा करके वह प्रकरण यहां अवश्य देखें। उस प्रकरणसे अग्निका स्वरूप स्पष्ट होगा तत्पश्चात् अग्निका वर्णन करते हुए इस सूक्तने जो शब्द प्रयोग किये हैं उनका विचार देखिये-

१ हे अग्ने! त्वं सजातानां मध्यमेष्ठाः राज्ञां विहव्यः इह दीदिहि॥ (मं०४)

" हे अग्ने ! तू अपनी जातिमें मध्य स्थानमें बैठनेकी योग्यता धारण करनेवाला और राजा महाराजाओं द्वारा विशेष आदरसे बुलाने योग्य होकर यहां प्रकाशित हो। "

यह वाक्य इस मंत्रमें या इस सूक्तमें प्रतिपादित अग्नि केवल आग ही नहीं है, परंतु वह मनुष्यरूप है यह बात सिद्ध करता है। " स्वजातिकी सभामें प्रमुख स्थान में बैठनेवाला (सजातानां मध्यमेष्ठाः) " ये शब्द तो निःसंदेह उसका मनुष्य होना सिद्ध करते हैं। तथा इसी मंत्रके " (राज्ञां विहव्यः) राजाओं या क्षत्रियों द्वारा विशेष प्रकारसे बुलाने योग्य " ये शब्द उसका क्षत्रियजाति से भिन्न जातीय होना भी अंश मात्रसे सूचित करते हैं। क्षत्रिय जातिसे भिन्न ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र और निषाद ये चार जातियां हैं। क्या कभी क्षत्रिय अपनेसे निचली जातीका सहसा वैसा समादर कर सकते हैं ? इस प्रश्न का मनन करनेसे यहां इसका संभव दीखता है, कि यहां जिसका वर्णन हुआ है वह ब्राह्मण वर्णका मनुष्य ही होगा। अर्थात् इस सूक्तका अग्नि शब्द ब्राह्मण वाचक है। यह बात अथर्ववेद प्रथम काण्ड सू० ७ की व्याख्याके प्रसंगमें बताया है और उसी बातकी सिद्धि इस सूक्त के इस वाक्य द्वारा होगई है। इस प्रकार यहांका अग्नि शब्द ब्राह्मण का वाचक है, किंवा यह कहना अधिक सत्य होगा, कि " ब्राह्मण कुमार " का वाचक है। ब्राह्मण कुमार को इस सूक्त द्वारा बोध दिया है। वेदमें अग्नि देवताके सूक्तों द्वारा ब्राह्मणधर्म और इन्द्र देवताके सूक्तोंद्वारा क्षत्रियधर्म विशेषतया बताया जाता है, यह बात पाठकोंने इस समय तक कई वार देखी है, इस लिये अब इस विषयमें अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है। अब अग्नि शब्दका यह भाव ध्यानमें

धारण करके इस सूक्तके वाक्य देखिये-

दीर्घ आयुष्य।

१ हे अग्ने! त्वा समाः ऋतवः संवत्सराः च वर्धयन्तु-हे ब्राह्मण कुमार! हे बालक! महिने ऋतु और वर्ष तेरा संवर्धन करें अर्थात् उत्तम दीर्घ आयुष्यसे युक्त हो। योगादि साधनोंमें ऐसा यत्न कर कि तेरी आयु दिन के पीछे दिन, मासके पीछे मास, ऋतुके पीछे ऋतु और वर्षके पीछे वर्ष इस प्रकार बढती रहे। (मं० १)

ज्ञान प्राप्ति।

२ ऋषयः त्वा वर्धयन्तु — ऋषिलोग विद्याके उपदेश से तुझे बढावें। अर्थात् ऋषि प्रणालीके अनुसार अध्ययन करता हुआ तू ज्ञानी बन। [मं० १]

सत्यनिष्ठा।

३ यानि सत्यानि तानि त्वा वर्धयन्तु-जो सब सत्य धर्म नियम हैं, वे सब तुझे बढावें। अर्थात् तू सत्य धर्मनियमोंका उत्तम प्रकारसे पालन कर और सत्यके बलसे बलवान् हो। सत्यपालनसे ही आत्मिक बल बढता है। (मं० १)

अपने तेजका वर्धन।

४ दिव्येन रोचनेन संदीदिहि—दिव्य तेजसे पहिले स्वयं प्रकाशमान हो। पूर्वोक्त तीनों उपदेशों द्वारा तीन बल बढानेकी सूचना मिली है, (१) दीर्घ आयुष्य और नीरोग शरीरसे शारीरिक बल, (२) ऋषि प्रणालीके अध्ययनसे ज्ञानका बल और (३)सत्यपालनसे आत्मिक बलकी प्राप्ति होती है। इन तीनोंका मिल कर जो तेज होता है वह दिव्य तेज कहलाता है। यह दिव्य तेज सबसे प्रथम अपने अंदर बढाना चाहिये, जिससे यह दिव्य तेज दूसरोंको देनेका अधिकार अपने अंदर आ सकता है। (मं० १)

तेजका प्रकाश।

५ विश्वाः चतस्रः प्रदिशः आभाहि—सब चारों दिशाएं प्रकाशित करो। उक्त तीन तेजोंसे स्वयं युक्त होकर चारों दिशाओंमें रहनेवाले मनुष्योंको उक्त तेजोंसे तेजस्वी करो, अर्थात् ऐसे उपाय करो, कि जिससे चारों दिशाओंमें रहनेवाले मनुष्य उक्त तीन दिव्य तेजोंसे युक्त बनें। स्वयं तेजस्वी होनेके पश्चात् दूसरोंको प्रज्वलित करना आवश्यक है। अर्थात् स्वयं दीर्घायु और बलवान बनकर उसकी सिद्धिके मार्ग दूसरोंको बताओ, स्वयं ज्ञानी बनकर दूसरोंको ज्ञानी करो और स्वयं सत्यनिष्ठासे आत्मिक शक्ति युक्त होकर दूसरोंमें आत्मिक बल बढाओ। (मं० १)

६ सं इध्यस्व, इमं प्रवर्धय च -- स्वयं प्रदीप्त हो और इसको भी बढाओ। पहिले स्वयं प्रदीप्त होते रहो और पश्चात् दूसरोंको प्रदीप्त करो। (मं० २)

ऐश्वर्य प्राप्ति।

७ महते सौभगाय उत्तिष्ठ- बडे ऐश्वर्यके लिये उठकर खडा रह, अर्थात् बडा ऐश्वर्य प्राप्त करनेके लिये आवश्यक पुरुषार्थ प्रयत्न करनेके उद्देश्यसे अपने आपको सदा उत्साहित और सिद्ध रखो। (मं० २)

स्वपक्षीयोंकी उन्नति।

८ ते उपसत्तारः मा रिषन् — तेरा आश्रय करनेवाले बुरी अवस्थामें न गिरें। तेरा पक्ष लेनेवालोंकी, तेरे अनुगामी होकर कार्य करनेवालोंकी अवनति न हो। तू ऐसा यत्न कर कि जिससे तेरे अनुगामी दुर्गतिको न प्राप्त हों। (मं० २)

९ ते ब्रह्माणः यशसः सन्तु, अन्ये मा = तेरे साथ रहने वाले ज्ञानी जन यशस्वी हों, अन्य न हों। अर्थात् तेरे साथ रहने वाले लोग यशके भागी बनें, परंतु ऐसा कभी न हो कि तेरे साथ वाले लोग तेरी त्रुटीके कारण आपत्तिमें पडें, और तेरी गलतीके कारण तेरे प्रतिपक्षी ही सुख भोगें। तेरी गलतीका लाभ शत्रु न उठावें, अतः सावधानीसे अपना कार्य करते हुए स्वपक्षियोंका यश बढाओ। (मं० ३)

१० इमे ब्राह्मणाः त्वां वृणते। नः संवरणे शिवः भव --- ये ज्ञानी तुझे चुनते हैं, इस चुनावमें तू सबके लिये कल्याणकारी हो। तू सदा जनताका हित करनेवाला हो जिससे सब ज्ञानी लोग विश्वास पूर्वक तेरा ही स्वीकार करें। जनताका हितकारी हो कर जनताका विश्वास संपादन कर। (मं० ३)

११ सपत्नहा अभिमातिजित् भव = प्रतिपक्षीका पराजय कर अर्थात् तू उन विरोधियोंको अपने ऊपर आक्रमण करने न दो। (मं० ३)

अपने घरमें जागना।

१२ अप्रयुच्छन् स्वे गये जागृहि- गलती न करता हुआ अपने घरमें जागता रह। अपना घर "शरीर, घर, समाज, जाती, राष्ट्र" इतनी मर्यादा तक विस्तृत है। हर एक घरमें जाग्रत रहना अत्यावश्यक है। घरका स्वामी जाग्रत न रहा तो शत्रु घरमें घुसेंगे और स्वामी को ही घरसे निकाल देंगे। इस लिये अपने घरकी रक्षा करने के उद्देश्यसे घरके स्वामीको सदा जागते रहना चाहिये। (मं० ३)

उत्साहसे पुरुषार्थ।

१३ स्वेन क्षत्रेण संरभस्व= अपने क्षात्र तेजसे उत्साह पूर्वक पुरुषार्थ आरंभ कर। शत्रुका प्रतिकार करनेका बल अपने में बढाकर उस बलसे अपने पुरुषार्थका आरंभ कर। (मं० ४)

मित्रभाव।

१४ मित्रेण मित्रधा यतस्व— मित्रके साथ मित्रके समान व्यवहार कर। मित्रके साथ कपट न कर। (मं० ४)

१५ सजातानां मध्यमेष्ठाः भव- स्वजातीयों के मध्यमें- अर्थात् प्रमुख स्थानमें बैठनेकी योग्यता प्राप्त कर। अर्थात् स्वजातीमें तेरी योग्यता हीन न समझी जावे। स्वजाती-के लोग तेरा नाम आदर पूर्वक लें। (मं० ४)

१६ राज्ञां वि-हव्यः दीदिहि-क्षत्रियों अथवा राजाओंकी सभामें विशेष आदरसे बुलाने योग्य बन और प्रकाशित हो। अर्थात् केवल अपनी जाती में ही आदर पानेसे पर्याप्त योग्यता हो चुकी ऐसा न समझ, परंतु राज्यका कार्यव्यवहार करनेवाले क्षत्रिय भी तुझे आदरसे बुलावें, इतनी योग्यता प्राप्त कर। (मं० ४)

चित्तवृत्तियोंका सुधार।

१७ निहः सुधः अचित्तीः द्विषः अति तर – झगडा करनेकी वृत्ति, हिंसाका भाव, पाप वासना और द्वेष करनेका स्वभाव दूर कर। अर्थात् इन दुष्ट मनोभावोंको दूर कर और अपने आपको इनसे दूर रख। (मं० ५)

१८ विश्वा दुरिता तर—सब पाप भावोंको दूर कर। पाप विचारोंसे अपने आप-को दूर रख। (मं० ५)

१९ त्वं सहवीरं रयिं अस्मभ्यं दाः- तू वीरभावोंसे युक्त धन हम सबको दे। अर्थात् हमें धन प्राप्त कर और साथ साथ धनकी रक्षा करनेकी शक्ति भी उत्पन्न कर। हरएक मनुष्य धन कमाने और धनकी रक्षा करनेका बल भी बढावे, अन्यथा उक्त बलके अभावमें प्राप्त किया हुआ धन पास नहीं रहेगा।

इस सूक्तमें उन्नीस वाक्य हैं। हर एक वाक्य का भाव ऊपर दिया है। प्रत्येक वाक्य का भाव इतना सरल है कि उसकी अधिक व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है। पाठक थोडासा मनन करेंगे तो उनको इस सूक्त का दिव्य उपदेश तत्काल ध्यानमें आजायगा। इस सूक्तका प्रत्येक वाक्य हृदयमें सदा जाग्रत रखने योग्य है।

अन्योक्ति अलंकार।

अग्निका वर्णन या अग्निकी प्रार्थना करनेके मिषसे ब्राह्मण कुमारको उन्नतिके आदेश किस अपूर्व ढंगसे दिये हैं, यह वेदकी आलंकारिक वर्णन करनेकी शैली यहां पाठक ध्यानसे देखें। यहां अन्योक्ति अलंकार है। अग्निके उद्देश्यसे ब्राह्मण कुमारको उन्नतिका उपदेश किया है।

ज्ञानी मनुष्यके हृदयकी वेदीमें जो अग्नि जलते रहना चाहिये, वह इस सूक्तमें पाठक देखें। यदि इस सूक्तके अग्नि पदका अन्योक्ति द्वारा बोध होने वाला अर्थ ठीक प्रकार ध्यानमें न आया, तो सूक्तका अर्थ ही ठीक रीतिसे ध्यानमें नहीं आसकता। और जो केवल आग के जलनेका भावही यहां समझेंगे, वे तो इस सूक्तसे योग्य लाभ कभी प्राप्त नहीं कर सकते।

अरणियोंसे अग्नि।

दो अरणियों-लकडियों-के संघर्षण से अग्नि उत्पन्न होता है। यज्ञमें इसी प्रकार अग्नि उत्पन्न करते हैं। अलंकारसे (अधर अरणि) नीचे वाली लकडी स्त्रीरूप और (उत्तर-अरणि) ऊपरवाली लकडी पुरुषरूप मानी जाती है और उक्त अरणियोंसे उत्पन्न होने-वाला अग्नि पुत्र रूप माना जाता है। इस अलंकार से देखा जाय तो अग्नि पुत्ररूप है।



यदि इस सूक्तमें सामान्यतया बालकोंको अग्नि रूप मानाजाय और उन सबको इस सूक्तने उन्नतिका मार्ग बताया है ऐसा माना जाय, तो भी सामान्य रीतिसे चल सकता है। परंतु विशेष कर यहां का उपदेश ब्राह्मण कुमार के लिये है, इसके कारण पहिले बताये ही हैं। इस सूक्तके साथ प्रथम काण्डके ७ वें सूक्तका भी मनन कीजिये।

[सूचना- यजुर्वेद अ० २७ में इस सूक्तके पांचों मंत्र १-३, ५,६ इस क्रमसे आगये हैं। कुछ शब्दोंका पाठ भिन्न है तथापि अर्थमें विशेषसी भिन्नता नहीं है, इस लिये उनका विचार यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है]

शाप को लौटा देना ।

[७]

अथर्व 2-6

[ऋषिः—अथर्वा । देवता-भैषज्यं, आयुः, वनस्पतिः]

अघद्विष्टा देवजाता वीरुच्छपथयोपनी ।
आपो मलमिव प्राणैक्षीत्सर्वान् मच्छपथाँ अधि ॥ १ ॥
यश्च सापत्नः शपथो जाम्याः शपथश्च यः
ब्रह्मा यन्मन्युतः शपात् सर्वं तन्नो अधस्पदम् ॥ २ ॥
दिवो मूलमवततं पृथिव्या अध्युत्ततम् ।
तेन सहस्रकाण्डेन परि णः पाहि विश्वतः ॥ ३ ॥
परि मां परि मे प्रजां परि णः पाहि यद्धनम् ।
अरातिर्नो मा तारीन्मा नस्तारिषुरभिमातयः ॥ ४ ॥
शप्तारमेतु शपथो यः सुहार्त् तेन नः सह ।
चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणीमसि ॥ ५ ॥

अर्थ— (अघ-द्विष्टा) पाप का द्वेष करने वाली, (देव-जाता) देवों के द्वारा उत्पन्न हुई (शपथ-योपनी वीरुत्) शाप को दूर करने वाली औषधि (सर्वान् शपथान्) सब शापोंको (मत्) मुझसे (अधि-प्र अनैक्षीत्) धो डालती है (आपः मलं इव) जल जैसा मलको धो डालता है ॥ १ ॥ (यः च सापत्नः शपथः) जो सपत्नोंका शाप, (यः च जाम्याः शपथः) और जो स्त्री का दिया शाप है तथा (यत् ब्रह्मा मन्युतः शपात्) और जो ब्रह्मज्ञानी क्रोधसे शाप देवे (तत् सर्वं नः अधस्पदं) वह सब हमारे नीचे हो जावे ॥ २ ॥ (दिवः मूलं अवततं) द्युलोकसे मूल नीचे आया है और (पृथिव्याः अधि उत्ततं) पृथ्वीसे ऊपर को फैला है, (तेन सहस्रकाण्डेन) उस सहस्र काण्डवालेसे (नः विश्वतः परि पाहि) हमारी सब ओर से रक्षा कर ॥ ३ ॥ (मां परि पाहि) मेरी रक्षा कर, (मे प्रजां परि) मेरे संतानोंकी रक्षा कर, (नः यत् धनं परि पाहि) हमारा जो धन है उसकी रक्षा कर । (अ-रातीः नः मा तारीत्) अनुदार शत्रु हमसे आगे न बढे और (अभिमातयः नः मा तारिषुः) दुष्ट दुर्जन हमको पीछे न रखें ॥ ४ ॥ (शपथः शप्तारं एतु) शाप शाप देनेवाले के पास ही वापस चलाजावे ।

(यः सुहार्त् तेन सह नः) जो उत्तम हृदय वाला है उसके साथ हमारी मित्रता हो। (चक्षुः + मंत्रस्य दुर्हार्दः) आंखोंसे बुरे इशारे देने वाले दुष्ट मनुष्यकी (पृष्टीः अपि शृणामसि) पसलियां ही हम तोड देते हैं ॥ ५॥

भावार्थ—यह वनस्पति पापवृत्तिको हटाने वाली, दिव्य भावोंको बढाने वाली, क्रोधसे शाप देनेकी प्रवृत्तिको कम करने वाली है. यह औषधी शाप देनेके भावको हमसे दूर करे जैसे जल मलको दूर करता है ॥ १ ॥ सापत्न भाईयोंसे, बहिनोंसे, स्त्रीपुरुषोंसे अथवा विद्वान मनुष्योंके क्रोधसे जो शाप दिया जाता है वह इससे दूर हो ॥ २ ॥ इस वनस्पति का मूल तो द्युलोकसे यहां आया है जो पृथ्वीके ऊपर उगा है; इस सहस्त्रों काण्डवाली वनस्पतिसे हमारा बचाव सब प्रकारसे होवे ॥ ३ ॥ मेरा, मेरी संतान का, तथा मेरे धन ऐश्वर्य आदिका इससे संरक्षण हो। हमारे शत्रु हम सबके आगे न बढें और हम उनके पीछे न रहें ॥ ४ ॥ शाप देने वाले के पास ही उसका शाप वापस चलाजावे। जो उत्तम हृदय वाला मनुष्य हो उससे हमारी मित्रता हो। जो आंखों से बुरे इशारे करके फिसाद मचाने वाले दुष्ट हृदय के मनुष्य होते हैं उनको हम दूर करते हैं ॥ ५ ॥

शापका स्वरूप। शाप को सब जानते ही हैं। गाली देना, आक्रोश करते हुए दूसरेका नाश होनेकी बात कह देना, बुरे शब्दोंका उच्चार करना इत्यादि सब घृणित बातें इस शापमें आती हैं। जिस प्रकार साधारण स्त्री पुरुष गालियां देते हैं, उसी प्रकार विद्यावान् मनुष्यभी क्रोधके समय बुरा भला कहते ही हैं। यह सब क्रोधकी लीला है। यदि क्रोध हट गया और उसके स्थानपर विचारी शांत स्वभाव आगया तो शाप देनेकी वृत्ति हट जायगी। इस लिये इस सूक्तमें "सहस्र काण्ड" नामक वनस्पति की प्रशंसा करते हुए सूचित किया है कि, इस वनस्पतिके प्रयोगसे शाप देनेकी क्रोधी वृत्तिको दूर किया जाय।

दूर्वाका उपयोग। सहस्रकाण्ड वनस्पतिका प्रसिद्ध नाम "दूर्वा" है। जहां पानी होता है, उस स्थानपर इसकी बहुत उत्पत्ति होती है। हरएक काण्डसे अर्थात् जोडसे यह बढती रहती है। पित्तरोग, मूर्च्छा रोग, मस्तिष्ककी अशांति, मस्तिष्ककी गर्मी, उन्मादरोग आदिपर यह उत्तम है। इसके सेवनसे क्रोधकी उछल शांत होती है। इसका रस जीरा और मिश्रीके साथ पीया जाता है, चाहे गायके ताजे दूध के साथ पिया जाय। सिर संतप्त होनेके समय इसको पीस कर सिरपर घना लेप देनेसे भी मस्तक की गर्मी हट जाती है। इस लिये इस सूक्तमें कहा है कि यह वनस्पति शाप देनेकी क्रोधवृत्तिको कम

करती है अथवा इसके सेवन से क्रोध कम होता है।

प्रथम मंत्रमें इसके वर्णन के प्रसंगमें "(अघ-द्विष्टा) पापका द्वेष करनेवाली" यह शब्द स्पष्ट बतारहा है, कि यह दूर्वा पापवृत्तिको भी रोकती है,अर्थात् अन्यान्य इंद्रियोंसे होनेवाले पाप भी इसके सेवनसे कम हो सकते हैं। मन ही शांत हो जानेसे अन्य इंद्रियां भी उन्मत्त नहीं होती, यह तात्पर्य यहां लेना है। काम क्रोध आदि दोष इसके सेवनसे कम होते हैं इसलिये संयम करनेकी इच्छा करनेवाले इसका सेवन करें। मन और इंद्रियोंके मलीन वृत्तिको यह दूर करती है। इसका सेवन करनेकी कई रीतियां हैं। इसका तैल या घृत बनाकर सिरपर मला जाता है, रस अंदर पीया जाता है, लेप ऊपर दिया जाता है। इस प्रकार वैद्य लोग इस विषयका अधिक विचार कर सकते हैं।

यह पाप विचारको मनसे हटाती है, मनको शांत करती है, मनका मल दूर कर देती है। पहिले और दूसरे मंत्रका यही आशय है। शाप देना,गाली देना,आदि जो वाचाकी मलिनताके कारण दोष उत्पन्न होता है, वह इसके प्रयोगसे मेरे पांवके नीचे दब जाय, अर्थात् उस दोषका प्रभाव मेरे ऊपर न हो। यह द्वितीय मंत्रका आशय है। दूसरेने गाली दी, या शाप दिया, तो भी उसका परिणाम मेरे मन पर न हो; और मेरे मनमें वैसा विचार कभी न आवे, यह आशय है पांवके नीचे दोषोंके दबजानेका।

तीसरे मंत्रमें, यह वनस्पति स्वर्गसे यहां आगई है और भूमिसे उगी है,वह पूर्वोक्त प्रकार मन की शान्ति की स्थापना करने द्वारा मेरी रक्षा करे, यह प्रार्थना है।

चतुर्थ मंत्रमें अपनी, अपनी संतान की और अपने धनादि ऐश्वर्यकी रक्षा इससे हो, यह प्रार्थना है। और शत्रु अपनेसे आगे न बढे, तथा हम शत्रुओंके पीछे न पडें, यह इच्छा प्रकट की गई है। इसका थोडासा स्पष्टीकरण करना चाहिये।

मनोविकारोंसे हानि। काम क्रोधादि उछृंखल होने वाली मनोवृत्तियां यदि संयमको प्राप्त न हुई तो वह असंख्य आपत्तियां लाती हैं और मनुष्यका नाश उसके परिवार के साथ करती है। एक ही काम के कारण कितने परिवार उध्वस्त हो गये हैं, और समयपर एक क्रोधके स्वाधीन न रहने से कितने कुटुंब मिट्टीमें मिले हैं। तथा अन्यान्य हीन मनोवृत्तियोंसे कितने मनुष्योंका नाश हो चुका है, इस का पाठक मनन करें, और मनमें समझें कि, मनकी असंयमित वृत्तियां मनुष्यका कैसा नाश करती हैं। यदि उक्त औषधि मनको शांत कर सकती है, तो उससे परिवार और धनदौलतके साथ मनुष्यकी रक्षा कैसी हो सकती है, यह स्वयं स्पष्ट हो जाता है।

इसके प्रयोगसे मन शांत होता है, उछलता नहीं, और मन सुविचार पूर्ण होनेसे

मनुष्य आपत्तियों से बच जाता है। और इसी कारण मनुष्य आपका, अपने संतान का और अपने ऐश्वर्यका बचाव कर सकता है।

यदि मन पूर्ण सुविचारी हुआ, तो योग्य समयपर योग्य कर्तव्य करता हुआ मनुष्य आगे बढ जाता है और उन्नत होता जाता है। परंतु जो मनुष्य अशांत चञ्चल और प्रक्षुब्ध मनोवृत्तियों वाला होता है वह स्थान स्थानपर प्रमाद करता है और गिरता जाता है, इस प्रकार यह पीछे रहता है और इसके प्रतिपक्षी उसको पीछे रखते हुए आगे बढते जाते हैं। परंतु जो मनुष्य मनका संयम करता है, मनको उछलने नहीं देता, कामक्रोधादिकोंको मर्यादासे अधिक बहने नहीं देता, वह कर्तव्य करनेके समय गलती नहीं करता है; इस कारण सदा प्रतिपक्षियों को पीछे डालकर स्वयं उनके आगे बढता जाता है। चतुर्थ मंत्रका यह आशय पाठक देखें और खूब विचारें।

शापको वापस करना। पंचम मंत्रमें तीन उपदेश हैं और ये ही इस सूक्तमें गहरी दृष्टिसे देखने योग्य हैं। संपूर्ण सूक्तमें यही मंत्र अति उत्तम उपदेश दे रहा है। देखिये—

शपथः शप्तारं एतु ॥ (मं. ५)

" शाप शाप देनेवाले के पास वापस जावे! " गाली गाली देनेवालेके पास वापस जावे!! यह किस रीतिसे वापस जाती है यह एक मानस शास्त्रके महान् शक्तिशाली नियमका चमत्कार है। मन एक बडी शक्तिशाली विद्युत् है। मनके उच्च नीच, भले या बुरे विचार उसी विद्युतके न्यूनाधिक आन्दोलन या कंप हैं। " ये कम्प जहां पहुंचने के लिये भेजे जाते हैं, वहां पहुंचकर यदि लीन न हुए या कृतकार्य न हुए; तो उसी वेगसे भेजने वाले के पास वापस आते आते हैं और उसी बलसे उसी भेजनेवालेका नाश करते हैं। " यह मानस शक्तिका चमत्कार है और गाली या शाप देनेवालेको इस नियमका अवश्य मनन करना चाहिये। इसका विचार ऐसा है—

१ एक " अ " मनुष्यने गाली, शाप, या दुष्टभाव " क " का नाश करनेकी प्रबल इच्छासे " क " मनुष्यके पास भेजे दिये,

२ यदि " क " भी साधारण मनोवृत्तिवाला मनुष्य रहा, तो उसके मनपर उनका परिणाम होता है उसका मन क्षुब्ध हो जाता है और वह भी फिर " अ " को गाली शाप या नाशक शब्द बोलने लगता है।

इस प्रकार एक दूसरे के शाप परस्परके ऊपर जाने लगे, तो दोनोंके मन समानतया दूषित होते हैं और समान रीतिसे पतित भी होते हैं, परंतु—

३ यदि "क" उच्च शांत मनोवृत्तिवाला मनुष्य रहा, तो " अ " से आये हुए नीच मनोवृत्तिके कंपोंको अपने मनमें रहनेके लिये स्थान नहीं देता;इसलिये आधार न मिलनेके कारण वे विकारके भाव लौटकर वापस होते हैं और वे सीधे भेजने वाले "अ" के पास जाते हैं । और उसका मन उसी जातीका होनेके कारण वे वहां स्थान पाते हैं ।

इस प्रकार कुविचार वापस जानेसे चमत्कार यह हो जाता है कि, प्रथमसे कुविचार भेजनेवाले " अ " का दुगणा नाश हो जाता है। पहिले जब कुविचार उत्पन्न हुए उस समय उसका नाश हुआ ही था, और इस प्रकार उसके ही कुविचार बाहर स्थान न पाते हुए जब वापस होकर उसीके पास पहुंचते हैं. तब फिर उसका और नाश होता है। एकही प्रकारके कुविचार दोवार उसके मनमें आघात करनेके कारण उसका दुगणा नाश हो जाता है । परंतु जो सज्जन शांतिसे अपने अंदर समता धारण करता हुआ, बाहरके कुविचार अपने मनमें आये तो भी स्थिर होने नहीं देता और उनको वापस भेजता है, वह अपना मन अधिकाधिक दृढ करता है । इसलिये इस शांत मनुष्यका कल्याण होता है ।

पाठक इससे जान गये होंगे कि, बुरे विचारकी लहरें वापस भेजनेसे अपनी उन्नति कैसी होती है और प्रतिपक्षी की दुगणी अवनति किस कारण होती है । इस पंचम मंत्रमें इसी कारण कहा है कि, यदि किसीको अपनी उन्नति करनेकी अभिलाषा हो, तो उसको "शाप वापस करनेकी विद्या" अवश्य जानना चाहिये । अपने मनको पवित्र और सुदृढ बनानेका यही उपाय है। पाठक इसका खूब विचार करें और शाप वापस करनेका बहुत अभ्यास करें; तथा स्वयं कभी किसी भी कारण किसीको शाप गाली अथवा बुरे विचार न भेजें । क्योंकि यदि वे कुविचार वापस आगये तो प्रतिपक्षिकी अपेक्षा वे अपना ही अधिक अहित करेंगे । पाठको ! मनःशक्तिका यह नियम ठीक तरह ध्यानमें रखिये । यह नियम इस पंचम मंत्रके प्रथम चरणसे सूचित होगया है । जो इसको ठीक तरह समझेंगे, वेही अपने कल्याणका साधन कर सकेंगे ।

योग्य मित्र । मित्रता किससे करनी चाहिये, इस विषयका उपदेश पंचम मंत्रके द्वितीय चरणमें दिया है, देखिये — "यः सुहार्त् तेन नः सह । (मं. ५)" " जो उत्तम हृदयवाला हो उसके साथ हमारी मित्रता हो," उत्तम हृदयवालेके साथ मित्रता करनेसे, उत्तम हृदय वालोंकी संगतिमें रहनेसे ही मन शांत गंभीर और प्रसन्न रहता है और पूर्वोक्त प्रकार शाप वापस भेजने की शक्ति भी सत्संगतिसे ही प्राप्त होती है । इसलिये अपने लिये ऐसे सुयोग्य मित्र चुनने चाहिये कि, जिनका हृदय मंगल विचारोंसे परिपूर्ण हो ।

दुष्ट हृदय। जो दुष्ट हृदयके मनुष्य होते हैं, उनकी संगतिसे अनगिनत हानियां होती हैं। दुष्ट मनुष्य किसी किसी समय बुरे शब्द बोलते हैं, शाप देते हैं, गालियां गलोज देते हैं, हीन आशयवाले कटु शब्द बोलते हैं, हाथसे अथवा अंगविक्षेपसे बुरे भावके इशारे करते हैं, तथा (चक्षुः-मंत्रः) आंखकी हालचालसे ऐसे इशारे करते हैं, कि जिनका उद्देश्य बहुत बुरा होता है। ये आंखके इशारे किसी किसी समय इतने बुरे होते हैं, कि उनसे बडे भयानक परिणाम भी होजाते है। इनका परिणाम भी शाप जैसा ही होता है। शापके वापस होनेसे जो परिणाम होते हैं, वैसे ही इनके वापस होनेसे परिणाम होते हैं। इसलिये कोई मनुष्य स्वयं ऐसे दुष्ट हृदयके भाव अपनेमें बढने न दें। किसी दूसरे मनुष्यने ऐसे दुष्ट इशारे किये तो उसकी सहायता न करें और हरएक प्रकारसे अपने आपको इन दुष्ट वृत्तियोंसे बचावें। आंखोंके इशारे भी बुरे भावसे कभी न करें। जो दुष्ट मनुष्य होंगे, उनकी संगतिमें कभी न रहे, और सदा अच्छी संगतिमें ही रहें। इस विषयमें यह मंत्र भाग देखिये—

चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणीमसि। (मं. ५)

"आंखसे बुरे इशारे करनेवाले की पीठ तोड देते हैं।" अर्थात् जो मनुष्य इस प्रकारके बुरे भाव प्रकट करता है उसका पीछा करके उसको दूर भगा देना चाहिये, अपने पास उसको रखना नहीं चाहिये, ना ही उसकी संगतिमें स्वयं रहना चाहिये। यह बहुमूल्य उपदेश है, पाठक इसका स्मरण रखें। बुरी संगतिसे मनुष्य बुरा होता है और भली संगतिसे भला होता है। इस कारण कभी बुरी संगतिमें न फंसे परंतु भली संगति में ही सदा रहे और पूर्वोक्त प्रकार बुरे विचारों को अपने मनमें स्थान न दे और उनको अपने मनसे दूर करता रहे। ऐसा श्रेष्ठ व्यवहार करनेसे मनुष्य सदा उन्नतिके मार्गसे ऊपर ही जाता रहेगा।

सूक्तके दो विभाग। इस सूक्तके दो विभाग हैं। पहिले विभागमें पहिले चार मंत्र हैं, जिनमें औषधि प्रयोगसे मनको क्षोभ रहित करनेकी सूचना दी है, यह बाह्य साधन है। दूसरे विभागमें अकेला पंचम मंत्र है। जिसमें कुसंगतिमें न फंसने और सुसंगति धरनेका उपदेश है और साथ ही साथ अपने मनको पवित्र रखने तथा आये हुए बुरे विचारोंको उसी क्षणमें वापस भेजनेका महत्त्व पूर्ण उपदेश दिया है। सारांशसे इस उपदेश का स्वरूप यह है। यदि इस सूक्तके उपदेश मनन पूर्वक पाठक अपनायेंगे तो उनकी मनःशक्ति का सुधार होगा इसमें कोई संदेहही नहीं है; पाठक इस सूक्तके साथ प्रथम काण्डके १०,३१ और ३४ ये तीन सूक्त देखें।

क्षेत्रिय रोग दूर करना।

[८]

[ऋषिः— भृगुः आंगिरस। देवता—यक्ष्मनाशनम्]

उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके।
वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम्॥ १ ॥
अपेयं रात्र्युच्छत्वपोच्छन्त्वभिकृत्वरीः।
वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ २ ॥
बभ्रोरर्जुनकाण्डस्य यवस्य ते पलाल्या तिलस्य तिलपिञ्ज्या।
वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ३ ॥
नमस्ते लाङ्गलेभ्यो नम ईषायुगेभ्यः।
वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ४ ॥
नमः सनिस्रसाक्षेभ्यो नमः सन्देश्येभ्यः।
नमः क्षेत्रस्य पतये वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ५ ॥

अर्थ— (भगवती) वैष्णवी औषधि तथा (विचृतौ नाम) तेज बढानेवाली प्रसिद्ध (तारके) तारका नामक वनस्पतियां (उदगातां) उगी हैं। वे दोनों (क्षेत्रियस्य अधमं उत्तमं च पाशं) वंशसे चले आनेवाले रोगके उत्तम और अधम पाशको (वि मुञ्चताम्) खोल देवें ॥ १ ॥ (इयं रात्री अप उच्छतु) यह रात्री चली जावे और उसके साथ (अभि कृत्वरीः अपोच्छन्तु) हिंसा करनेवाले दूर हों तथा (क्षेत्रियनाशनी वीरुत्) वंशसे चले आनेवाले रोगका नाश करनेवाली औषधी (क्षेत्रियं अप उच्छतु) आनुवंशिक रोगको दूर करे ॥ २ ॥ (बभ्रोः अर्जुनकाण्डस्य ते यवस्य) भूरे और श्वेत रंगवाले यवके अन्नकी (पलाल्या) रक्षक शक्तिसे तथा (तिलस्य तिलपिञ्ज्या) तिलकी तिलमञ्जरीसे आनुवंशिकरोग दूर करनेवाली यह वनस्पति क्षेत्रियरोगसे मुक्त करे ॥ ३ ॥ (ते लांगलेभ्यः नमः) तेरे हलोंके लिये सत्कार है, (ईषायुगेभ्यः नमः) हलकी लकडीके लिये सत्कार है ॥ ४ ॥

(सनिस्रसाक्षेभ्यः नमः) जल प्रवाह चलाने वाले अक्षका सत्कार, (सन्देश्येभ्यः नमः) संदेश देनेवाले का सत्कार, (क्षेत्रस्य पतये नमः) क्षेत्रके स्वामीका सत्कार हो। (क्षेत्रियनाशनी क्षेत्रियं अप उच्छतु) आनुवंशिक रोगको हटानेवाली औषधि आनुवंशिक रोगको हटा देवे ॥ ५ ॥

भावार्थ— दो प्रकारकी वैष्णवी और दो प्रकारकी तारका ये चारों औषधियां कान्तिको बढाने वाली हैं, जो भूमिपर उगती हैं। वे चारों आनुवंशिक रोगको दूर करें ॥ १ ॥ रात्री चली जाती है, तो उसके साथ हिंसक प्राणी भी चले जाते हैं, इसी प्रकार यह औषधी आनुवंशिक रोगको उसके मूल कारणोंके साथ दूर करे ॥ २ ॥ भूरे और श्वेत रंगवाले जौं के अन्नके साथ तिलोंकी मंजरियोंके तिलोंके सेवनसे यह औषधि आनुवंशिक रोगको हटादेती है ॥ ३ ॥ हल और उसकी लकडियां जिससे भूमि ठीक की जाती है, उससे पूर्वोक्त वनस्पतियां तैयार होती हैं, इस लिये उनकी प्रशंसा करना योग्य है ॥४॥ जिसके खेतमें पूर्वोक्त वनस्पतियां उगाई जाती हैं, जो उनको जल देता है, अथवा जिस यंत्रसे पानी दिया जाता है, तथा जो इस वनस्पतिका यह संदेश जनता तक पहुंचाता है, उन सबकी प्रशंसा करना योग्य है। यह वनस्पति आनुवंशिक रोगसे मनुष्यको बचावे ॥ ५ ॥

क्षेत्रिय रोग।

जो रोग मातापिताके शरीरसे अथवा इनके भी पूर्वजोंके शरीरसे चला आता है, उस आनुवंशिक रोगको क्षेत्रिय कहते हैं। वैद्यशास्त्रमें क्षेत्रिय रोगको प्रायः असाध्य कहा जाता है। क्षेत्रिय रोग प्रायः सुसाध्य नहीं होता; इस लिये रोगी माता पिताओंको सन्तानोत्पत्तिका कर्म करना उचित नहीं है। प्रथमतः ऐसे व्यवहार करना चाहिये कि, जिनसे रोग उत्पन्न न हो, खानपान आदि आरोग्य साधक ही होना चाहिये। जो नीरोग होंगे उनको ही संतानोत्पत्ति करनेका अधिकार है। रोगी मातापिता संतान उत्पन्न करते हैं और अपने वंशजोंको क्षेत्रियरोगके कष्टमें डाल देते हैं। ऐसे असाध्य आनुवंशिक रोगोंकी चिकित्सा करनेकी विधि इस सूक्तमें बताई है, इस लिये यह सूक्त विशेष उपयोगी है।

दो औषधियां।

" भगवती और तारका " ये दो औषधियां हैं जो शरीरकी कान्ति बढाती हैं और क्षेत्रिय रोगको दूर करती हैं, इन दो औषधियोंकी खोज वैद्योंको करनी चाहिये—

१ भगवती=इसको वैष्णवी, लघु शतावरी, तुलसी, अपराजिता, विष्णुक्रान्ता कहा

जाता है, तथा—

२ तारका= इस औषधिको देवताडवृक्ष, और इन्द्रवारुणी, कहा जाता है। इसका अर्थ पत्रक्षार और मोती भी है।

शब्दोंके अर्थ जानने मात्रसे इस औषधकी सिद्धि नहीं हो सकती और कोशों द्वारा शब्दार्थ करने मात्रसे ही औषध नहीं बन सकता। यह विशेष महत्वका विषय है और ये किस वनस्पतिके वाचक नाम यहां हैं, इसका निश्चय सुविज्ञ वैद्योंको करना चाहिये और इनके उपयोग की रीति भी निश्चित रूपसे कहना उनके ही अधिकारमें है। "भगवती और तारके" ये औषधी वाचक दोनों शब्द यहां द्विवचनी हैं, इससे बोध होता है कि,इस एक एक नामसे दो दो वनस्पतियां लेना है, इस प्रकार इन दो नामोंसे चार वनस्पतियां होती हैं, जो क्षेत्रियरोग को दूर करती हैं और शरीर की कान्ति उत्तम तेजस्वी करती हैं अर्थात् क्षेत्रिय रोगको जडसे उखाड देती हैं। यह प्रथम मंत्रका स्पष्ट तात्पर्य है। (मं०१)

दूसरे मंत्रमें कहा है कि, जिस प्रकार रात्री जाने और दिन शुरू होनेसे हिंसक प्राणी स्वयं कम होते हैं उसी प्रकार इस औषधीके प्रयोगसे क्षेत्रिय रोग जडसे उखड जाता है॥ (मं० २)

तीसरे मंत्रमें इस औषधिके प्रयोग के दिनोंमें करने योग्य पथ्य भोजन का उपदेश किया है। जिस जौंके काण्ड भूरे और श्वेत वर्णवाले होते हैं उस जौका पेय बनाना और उसमें तिलोंकी मंजरीसे प्राप्त किये ताजे तिल भी डालना। अर्थात् उक्त प्रकारके जौका पेय उक्त तिलोंके साथ बनाना। यही भोजन इस चिकित्साके प्रसंग में विहित है। इस पथ्यके साथ सेवन किया हुआ पूर्वोक्त औषध क्षेत्रिय रोगसे मुक्त करता है यह सूक्तका तात्पर्य है॥ (मं० ३)

चतुर्थ और पंचम मंत्रमें इन पूर्वोक्त औषधियोंको तथा इस पथ्य अन्नको उत्पन्न करनेवाले, किसान, इस खेतको योग्य समयमें पानी देनेवाले, इस खेतीके लिये हल चलानेवाले, हल के सामान ठीक करनेवाले तथा इस औषध और पथ्यका संदेशा क्षेत्रिय रोगसे रोगी हुए मनुष्यों तक पहुंचाने वालोंका सत्कार किया है। यदि इस पथ्यसे और इन औषधियोंसे आनुवंशिक रोग सचमुच दूर होते हों, तो इन सबका योग्य आदर करना अत्यंत आवश्यक है। आज कल तो ये लोग विशेषही आदर करने योग्य हैं। (मं. ४–५)

ज्ञानी वैद्य इन औषधियोंका और इस पथ्यका निश्चय करें और इसकी योग्य विधि निश्चित करके आनुवंशिक अतएव असाध्य समझे हुए बीमारोंको रोग मुक्त करें।

विषयसूची।

ब्राह्मण और क्षत्रिय	१	१ शत्रुसेना संमोहन	११
स्वाध्यायवृत्त	२	२ राजाकी स्वराज्यपर पुनः स्थापना	२२
अथर्ववेद स्वाध्याय		३ राजाका चुनाव	२४
		४ राजा और राजाके बनानेवाले	३९
तृतीयकाण्डकी भूमिका	३	५ वीरपुरुष	४४

वर्ष ९
अंक ६
क्रमांक १०२

वैदिक धर्म.

ज्येष्ठ
संवत् १९८५
जून
सन १९२८

वैदिक तत्वज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।
संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।
स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

ब्राह्मण और क्षत्रिय।

इदं च मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्।
मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा॥

मेरा यह (ब्रह्म) ज्ञान तेज (च मे इदं क्षत्रं) और मेरा यह क्षात्र तेज (च उभे) ये दोनों (श्रियं अश्नुतां) शोभा को प्राप्त हों। (देवाः) विद्वान् अथवा दिव्यगुण (मयि उत्तमां श्रियं) मुझमें उत्तम शोभाको (दधतु) धारण करें। (तस्यै ते स्वाहा) उस तेरे लिये स्वार्थत्याग है।

ब्राह्मण और क्षत्रिय, ज्ञान और शौर्य, मिलकर उत्तम तेजस्विताकी प्राप्ति करें। सब उत्तम विद्वान और सब उत्तम सद्गुण मुझमें तेजस्विताकी स्थापना करें। उस तेजस्विता की प्राप्तिके लिये मैं स्वार्थत्याग करता हूं।

स्वाध्याय वृत्त ।

महाभारत, वैदिक धर्म, और पुरुषार्थ ये तीनों मासिकों के विषयमें ग्राहक शिकायत कर रहे हैं कि इन दो महिनों में ये समयपर नहीं प्रकाशित होते हैं। इस विषयमें बात यह है कि स्वाध्याय मंडल का भारत मुद्रणालय जंगलमें हैं, शहरमें नहीं है। और पासके पिंडके लोग यहां के कर्मचारी हैं। जिस समय आसपास मेले होते हैं उस समय ये लोग कामपर नहीं आते और गत दो तीन महिनोंसे प्रायः सभी कर्मचारी शादियोंके निमित्तसे उपस्थित नहीं हैं। जहां मुद्रणालयमें३०।३५ कर्मचारी उपस्थित होते थे, वहां इन दिनों में ८ या १० ही आते रहे हैं। इस कारण यहां के सभी मुद्रणके कार्य गत दोमासोंमें स्थगित रहे है। केवल वैदिकधर्म और पुरुषार्थ बडी मुष्कील से मुद्रित किये जाते हैं। बडे शहरोंमें दूसरे कर्मचारी तत्काल मिल सकते हैं वैसी सुविधा पिंडमें नहीं होती। इस कारण कार्यकर्ताओंकी अनुपस्थितिमें चुपही रहना पडता है। वही अवस्था इस समय हमारी बनी है। विवाह ऐसा अवसर है कि जिस समय कार्यकर्ताको छुट्टी अवश्य देनी ही चाहिये। अब विवाहके दिन समाप्त हुए हैं इसलिये चार आठ दिनोंमें सब कर्मचारी उपस्थित हो जांयगे और पूर्ववत् नियमपूर्वक कार्य होता रहेगा। तबतक महाभारतकी देरीकी क्षमा पाठक अवश्य करेंगे ही। वैदिक धर्म मासिक आठ दस दिनकी देरीसे इसी कारण निकल रहा है वह भी अगले माससे समयपर प्रकाशित होगा।

इसी कारण महाभारतका मुद्रण इस मासमें बिलकुल नहीं हुआ। आठ दिनके पश्चात् फिर शुरु होगा और नियमपूर्वक दो अंक प्रतिमास ग्राहकों के पास रवाना हो जांयगे। इस समय तक महाभारतके ६० अंक प्रकाशित हो चुके हैं, ६५ वें अंकमें द्रोणपर्व समाप्त होगा। साठवें अंकसे जिनका चंदा समाप्त होता है वे अपना आगेका चंदा शीघ्र भेज दें। इस समय महाभारतका पेशगी मूल्य ६०) साठ रु. है जो लोग इकट्ठा मूल्य भेजेंगे उनको पांच से अधिक रु. का लाभ होगा। अन्यथा बारह अंकोंका मूल्य ६) रु. है इस हिसाबसे खंडशः अंक पाठक मंगावें।

यजुर्वेद पादसूची !

यजुर्वेद की मांग बढरही है। इस यजुर्वेदका मूल्य विना जिल्द १॥); कागजी जिल्द २); कापडी जिल्द २॥); और रेशमी जिल्द ३)रु. है। जो लोग मंगवाते हैं वे केवल " यजुर्वेद " इतनाही लिखते हैं। इस लिये उनके साथ फिर पत्रव्यवहार करना पडता है। अतः यजुर्वेद मंगानेवाले कौनसी जिल्दवाला यजुर्वेद चाहिये उस जिल्दका नाम लिखें, इससे भेजनेमें सुविधा होगी। यजुर्वेद मंगाने वाले उसकी पाद सूची भी मंगवाते हैं, वह अबतक छपकर तैयार नहीं हुई। कुछ पृष्ठ छप चुके हैं और आगे छपाई चल रही है, तैयार होनेपर सूचना दी जायगी। मूल्यके विषयमें हम इस समय कुछ कह नहीं सकते।

यजुर्वेद सर्वानुक्रम।

यजुर्वेद सर्मानुक्रम भी छप रहा है और ऐसी टिप्पणी के साथ छप रहा है कि जिसको देखनेसे अधिक संस्कृत न जाननेवाला मनुष्य भी उसको देखकर मंत्रका देवता, ऋषि और छंद जान सकेगा। तैयार होनेपर सूचना दी जायगी।

प्रबंधकर्ता।

अथर्ववेद

स्वाध्याय।

(अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।)

तृतीयं काण्डम्

लेखक और प्रकाशक.

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

प्रथम वार

संवत् १९८५, शक १८५०, सन १९२८

अपने राष्ट्रका विजय !

समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं१ बलम् ।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम् ॥ २ ॥
नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान् ।
क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम् ॥ ३ ॥
एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि ।
एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वेऽेषां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः ॥ ५ ॥

अथर्व० का० ३।१९

" मैं इन अपने लोगोंके राष्ट्रको बल वीर्य और प्रभावसे युक्त करता हूं, तथा मैं शत्रुओंके बाहुओंको इस आह्वानके साथ काटता हूं ॥ २ ॥ हमारे शत्रु नीचे गिर जांय, जो हमारे ज्ञानियों और धनिकोंपर सेनासे हमला चढाते हैं वे नीचे गिर जांय ॥ ३ ॥ मैं इनके आयुधोंको तीक्ष्ण बनाता हूं, मैं इनका राष्ट्र उत्तम वीरतासे युक्त कराके बढाता हूं, इनका क्षात्रतेज अजर और विजयी हो, इन के चित्त को सब देव सचेत करें ॥ ५ ॥ "

मुद्रक तथा प्रकाशक - श्रीपाद दामोदर सातवळेकर ।
भारत मुद्रणालय, स्वाध्याय मंडल, औंध (जि.सातारा)

ॐ

अथर्ववेद का स्वाध्याय।

[अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।]

तृतीय काण्ड।

इस तृतीय काण्डका प्रारंभ " अग्नि " शब्दसे हुआ है। यह अग्नि देवता प्रकाशकी देवता है। अंधेरेका नाश करना और प्रकाशको फैलाना इस देवता का कार्य है। प्रकाश मनुष्य का सहायक और मित्र है और अंधेरा मनुष्यका घातक और शत्रु है। प्रकाशमें मनुष्य बढता है और अंधेरेमें घटता है। इस लिये प्रकाशके देवताका महत्त्व अधिक है और इसलिये इसका नाम मंगलकारक समझा जाता है। ऐसे मंगल वाचक अग्नि शब्दसे इस काण्डका प्रारंभ हुआ है।

जिस प्रकार प्रथम कांड मे चार मंत्रवाले सूक्त और द्वितीय काण्ड में पांच मंत्रवाले सूक्त अधिक थे, इसी प्रकार इस तृतीय काण्डमें छः मंत्रवाले सूक्त विशेष हैं, देखिये—

६ मंत्रवाले	१३	सूक्त	हैं,	इनकी	मंत्रसंख्या	७८	है,
७ ,,	६	,,	,,	,,	,,	४२	,,
८ ,,	६	,,	,,	,,	,,	४८	,,
९ ,,	२	,,	,,	,,	,,	१८	,,
१० ,,	२	,,	,,	,,	,,	२०	,,
११ मंत्रवाला	१	सूक्त	है	इसकी	,,	११	,,
१३ ,,	१	,,	,,	,,	,,	१३	,,

कुल सूक्तसंख्या ३१ कुल मंत्रसंख्या २३०

*

प्रथम, द्वितीय, और तृतीय इन तीन काण्डोंकी तुलना मंत्रसंख्या की दृष्टिसे अब देखिये-

काण्ड,	प्रपाठक	अनुवाक	सूक्त	काण्डप्रकृति	मंत्रसंख्या
१	२	६	३५	सूक्तमें ४ मंत्र	१५३
२	२	६	३६	,, ५ ,,	२०७
३	२	६	३१	,, ६ ,,	२३०

सूक्तोंमें मंत्रोंकी जो संख्या होती है वह उसकी प्रकृति होती है, जैसा प्रथम काण्डके सूक्तोंकी प्रकृति "मंत्र चार" है अर्थात् इस काण्डके सूक्तोंमें चार मंत्रवाले सूक्त अधिक हैं और जो अधिक मंत्रवाले सूक्त हैं वे भी कई सूक्तोंमें चार मंत्रवाले बनाये जा सकते हैं, इसी प्रकार द्वितीय कांडकी प्रकृति पांच मंत्रकी है और तृतीय काण्डकी छः मंत्रकी हैं, इस विषयमें अथर्व सर्वानुक्रमणी का कथन यह है—

वेनस्तदिति प्रभृतिराकाण्डपरिसमाप्तेः
पूर्वकाण्डस्य चतुर्ऋचप्रकृतिरित्येवमुत्तरोत्तर
काण्डेषु षष्ठं यावदेकैका तावत्सूक्तेष्वृगिति विजानीयात्।

अथर्व बृ. सर्वानु. १।१३।१

अग्निर्नः इति ... षडृचं प्रकृतिरन्या विकृतिरिति विजा—
नीयात्।

अथर्व बृ० सर्वानु. २।१।१

"पहिले काण्डकी चार ऋचाओंकी प्रकृति, द्वितीय काण्ड की पांच ऋचाओंकी प्रकृति, इस प्रकार छठे काण्डतक एक एक ऋचा सूक्तमें बढती है। तृतीय काण्डकी छः ऋचाओंकी प्रकृति है, अन्य विकृति है।"

यद्यपि प्रथम द्वितीय और तृतीय काण्डकी प्रकृति क्रमशः चार, पांच और छः ऋचाओंकी है, तथापि इन काण्डोंमें कई सूक्त ऐसे हैं कि जो इस प्रकृतिसे अधिक मंत्रसंख्यावाले हैं, इसको अथर्व-बृहत्सर्वानुक्रमणिकारने विकृति नाम दिया है। विकृति का अर्थ प्रकृतिमें कुछ विशेषता (विशेष कृति) है। यह विशेषता कई प्रकारकी होती है और विशेष रीतिसे मंत्रोंका निरीक्षण करनेसे इसका पता भी लग सकता है, जैसा द्वितीय काण्डके दशम सूक्त को देखिये। द्वितीय काण्डकी प्रकृति पांच मंत्रोंके सूक्तोंकी है, परंतु इस दशम सूक्तमें आठ मंत्र हैं, अर्थात् यह विकृति है। यह विकृति इस कारण हुई है कि "एवाहं त्वा ०-० स्ताम्।" यह मंत्र भाग इस सूक्तमें वारंवार आगया है। यदि यह वारंवार आया हुआ मंत्रभाग अलग किया जाय और एक मंत्र के साथ

ही रखा जाय और शेष मंत्र भागोंके दो दो चरणोंके मंत्र माने जांय तो केवल पांच मंत्रोंका ही यह सूक्त हो सकता है। इसी प्रकार कई अन्य रीतियां हैं कि जो अन्य सूक्तों को लग सकतीं हैं और विकृतिकी प्रकृति बनाई जा सकती है। इससे पाठक जान सकते हैं कि यह विकृति भी बुद्धिपूर्वक ही हुई है और इसके होनेसे सूक्तकी प्रकृति में कोई दोष नहीं आता है। इस प्रकार इस काण्डकी प्रकृतिका विचार करनेके पश्चात् अब हम तृतीय काण्डके सूक्तोंके क्रमशः ऋषि देवता और छन्द देखते हैं—

सूक्त.	मंत्रसंख्या	ऋषि.	देवता	छंद.
प्रथमोऽनुवाकः। प्रथमः प्रपाठकः।				
१	६	अथर्वा.	सेनामोहनं, बहुदेवत्यं	त्रिष्टुप्; २ विराड्गर्भा भुरिक्; ३, ६ अनुष्टुभ् ५ विराट्पुरउष्णिग्।
२	६	,,	,, ,,	त्रिष्टुप्, २—४ अनुष्टुभ्।
३	६	,,	अग्निः,नानादेवताः,	त्रिष्टुप्; ३च. भुरिक् पंक्तिः,५,६अनुष्टुभ्।
४	७	,,	इंद्रः	त्रिष्टुप्; १ जगती, ४, ५ भुरिक्
५	८	,,	सोमः	अनुष्टुप्; १पुरोऽनुष्टुप् त्रिष्टुप्,८विराडुरोबृहती।
द्वितीयोऽनुवाकः।				
६	८	जगद्बीजं पुरुषः	वानस्पत्याश्वत्थ-देवत्यं	अनुष्टुभ्।
७	७	भृगुः अंगिराः	यक्ष्मनाशनं बहुदेवता.	,, ; ६ भुरिक्।
८	६	अथर्वा	मित्रः,विश्वेदेवाः.	त्रिष्टुभ्; २,६ जगती; ४ च. विराड्बृहतीगर्भा, ५ अनुष्टुभ्।
९	६	वामदेवः	द्यावापृथिवी, विश्वेदेवाः	अनुष्टुप्; ४ च निचृद्बृहती; ६ भुरिक्।
१०	१३	अथर्वा	अष्टका	अनुष्टुप्; ४,६, १२ त्रिष्टुप्; ७त्र्य.व.विराड्गर्भातिजगती।
तृतीयोऽनुवाकः।				
११	८	ब्रह्मा भृगु-अंगिराः	इन्द्रः, अग्निः, आयुष्यं, यक्ष्मनाशनं,	त्रिष्टुप्; ४ शक्वरीगर्भा जगती; ८ त्र्य. प. बृहती-

				गर्भा जगती; ५, ६ अनुष्टुप्; ७ उष्णिग्बृहतीगर्भा पथ्यापंक्तिः
१२	९	ब्रह्मा	वास्तोष्पतिः, शाला।	त्रिष्टुप्; ३ बृहती; ६ शक्करीगर्भा जगती; ७ आर्षीअनुष्टुप्; ८ भुरिक्; ९ अनुष्टुप्
१३	७	भृगुः	वरुणः, सिन्धुः।	अनुष्टुप्; १ निचृत्; ५ विराड्जगती; ६ निचृदनुष्टुप्
१४	६	ब्रह्मा	नानादेवताः गोष्ठदेवता।	अनुष्टुप्; ६ आर्षीत्रिष्टुप्
१५	८	अथर्वा (पण्यकामः)	विश्वेदेवाः इन्द्राग्नी	त्रिष्टुप्; १ भुरिक्; ४ त्र्य. ष बृहतीगर्भा विराडत्यष्टिः ५ विराड्जगती;७अनुष्टुप्;८निचृत्।

चतुर्थोऽनुवाकः। द्वितीयः प्रपाठकः।

१६	७	अथर्वा	बृहस्पतिः बहुदेवत्यं	त्रिष्टुप्; १ आर्षीजगती; ४ भूरिक्पंक्तिः।
१७	९	विश्वामित्रः	सीता	अनुष्टुप्; १ आर्षी गायत्री; २, ५, ९ त्रिष्टुभः; ३ पथ्या पंक्तिः; ७ विराट्पुरउष्णिक् ८ निचृत्।
१८	६	अथर्वा	वनस्पतिः	अनुष्टुप्, ४ अनुष्टुब्गर्भा चतु० उष्णिक्, ६ उष्णिग्गर्भा पथ्या पंक्तिः।
१९	८	वसिष्ठः	विश्वेदेवाः, चंद्रमाः, इन्द्रः	अनुष्टुप्; १ पथ्याबृहती; ३ भुरिग्बृहती; ६ त्र्य० ष० त्रि. क. गर्भातिजगती;७विराडस्तारपंक्तिः; ८ पथ्यापंक्तिः।
२०	१०	,,	अग्निः मंत्रोक्तदेवताः	अनुष्टुप्; ६ पथ्यापंक्तिः, ८ विराड्जगती।

पञ्चमोऽनुवाकः।

२१	१०	वसिष्ठः	अग्निः	त्रिष्टुप्; १ पुरोनुष्टुप्; २,३,८ भूरिक्; ५ जगती; ६ उपरिष्टाद्विराड्बृहती; ७ विराड्गर्भा; ९ निचृदनुष्टुप्; १० अनुष्टुप्।
२२	६	,,	बृहस्पतिः, विश्वेदेवाः,	अनुष्टुप्; १ विराट्त्रिष्टुप्; ३ पंचपदा परानुष्टुप्विराडतिजगती;४त्र्यवसानाषट्पदाजगती

२३	६	ब्रह्मा	चन्द्रमाः, योनिः	अनुष्टुप्; ५ उपरिष्टाद्भुरिग्बृहती; ६ स्कंधोग्रीवीबृहती ।
२४	७	भृगुः	वनस्पतिः प्रजापतिः	अनुष्टुप् ;२निचृत्पथ्यापंक्तिः ।
२५	६	भृगुः (जायाकामः)	मित्रावरुणौ कामेषुदेवता.	अनुष्टुप्

षष्ठोऽनुवाकः ।

२६	६	अथर्वा	रुद्रः अग्न्यादिबहुदेवत्यं	त्रिष्टुप्; २ त्रिष्टुप्; २, ५, ६ जगती; ३, ४ भुरिक् ।
२७	६	,,	रुद्रः	अष्टिः;२ अत्यष्टिः, ५भुरिक्
२८	६	ब्रह्मा	यामिमी	अनुष्टुप्; १ अतिशाक्वरीगर्भा च. अ. जगती; ४ यवमध्या विराट् ककुप् ; ५ त्रिष्टुप्, ६ विराड्गर्भा प्रस्तारपंक्तिः ।
२९	८	उद्दालकः	शितिपादविः ७ कामः;८भूमिः	अनुष्टुप्; १, ३ पथ्यापंक्तिः; ७त्र्य. व. उपरिष्टाद्दैवीबृहती ककु० ग० विराड्जगती; ८ उपरिष्टाद्बृहती ।
३०	७	अथर्वा	चन्द्रमाः सांमनस्यं	अनुष्टुप् ; ५ विराड्जगती; ६ प्रस्तारपंक्तिः ७ त्रिष्टुप् ।
३१	११	ब्रह्मा	पाप्म-हा	अनुष्टुप् ; ४ भुरिक् ; ५ विराट् प्रस्तारपंक्तिः

तृतीय काण्डके सूक्तोंके ये ऋषि देवता और छन्द हैं। अब इनका विभाग ऋषि क्रमानुसार देखिये—

१ अथर्वा— १-५, ८, १०, १५, १६, १८, २६, २७, ३०, ये तेरह सूक्त ।

२ ब्रह्मा– ११, १२, १४, २३, २८, ३१ ये छः सूक्त ।

३ वासिष्ठः– १९-२२ ये चार सूक्त ।

४ भृगुः — १३, २४, २५ ये तीन सूक्त ।

भृगु-अंगिराः– ७, ११ ये दो सूक्त ।

५ जगद्बीजं पुरुषः– ६ वाँ एक सूक्त ।

६ वामदेवः– ९ वाँ एक सूक्त ।

७ विश्वामित्रः– १७ वाँ एक सूक्त ।

८ उद्दालकः— २९ वाँ एक सूक्त।

ये ऋषिक्रमानुसार सूक्त हैं। अब देवताक्रमानुसार सूक्त देखिये—

१ बहुदैवत्यं, नाना देवताः-१-३,७,१४,१६,२६,२७,ये आठ सूक्त।
२ विश्वेदेवाः— ८, ९, १५, १९, २२ ये पांच सूक्त।
३ अग्निः- ३, ११, २०, २१ ये चार सूक्त।
४ इन्द्रः- ४, ११, १९ ये तीन सूक्त।
५ चन्द्रमाः—१९, २३, ३० ये तीन सूक्त।
६ बृहस्पतिः—१६, २२ ये दो सूक्त।
७ रुद्रः--२६, २७ ,, ,,
८ वनस्पतिः—१८, २४ ,, ,,
९ यक्ष्म नाशनं—७, ११ ,, ,,
१० सेना मोहनं—१, २ ,, ,,
११ इन्द्राग्नी—१५ यह एक सूक्त।
१२ सोमः—५ ,, ,,
१३ वनस्पत्यश्वत्थः--६ ,, ,,
१४ मित्रः—८ ,, ,,
१५ द्यावापृथिवी—९ ,, ,,
१६ वरुणः—१३ ,, ,,
१७ प्रजापतिः—२४ ,, ,,
१८ मित्रावरुणौ—२५ ,, ,,
१९ भूमिः—२९ ,, ,,
२० अष्टका—१० ,, ,,
२१ सिंधुः—१३ ,, ,,
२२ आयुष्यं—११ ,, ,,
२३ वास्तोष्पतिः—१२ ,, ,,
२४ शाला—१२ ,, ,,
२५ गोष्ठः—१४ ,, ,,
२६ सीता—१७ ,, ,,
२७ योनिः—२३ ,, ,,

२८ कामेषुः—२५ यह एक सूक्त
२९ यामिनी—२८ ,, ,,
३० कामः २९ ,, ,,
३१ सांमनस्यं—३० ,, ,,
३२ पाप्म-हा—३१ ,, ,,
३३ शितिपादविः–३९ ,, ,,
३४ मंत्रोक्ताः—२० ,, ,,

इस प्रकार इन सूक्तोंके मंत्रोंकी देवताएं हैं। इन से और भी देवताएं हैं जिनका संबंध पाठक विवरणके समय स्वयं समझ जायगे। अब इन सूक्तोंके गणोंका विचार देखिये-

सूक्तोंके गण।

इस तृतीय काण्डके सूक्तोंके गण इस प्रकार लिखे हैं—
१ अपराजितगण – १९ वॉ सूक्त।
२ तक्मनाशनगण – ७, ११ ये दो सूक्त।
३ वर्चस्यगण – १६, २२ ,, ,,
४ आयुष्यगण – ८, ११ ,, ,,
५ रौद्रगण – २६, २७ ,, ,,
६ अंहोलिंगगण – ११ वाँ एक सूक्त।
७ पाप्म-हा-गण – ३१ ,, ,,
८ बृहच्छान्तिगण – २१ ,, ,,

इस प्रकार ये सूक्त इन गणोंके साथ संबंध रखते हैं। इस काण्डके अन्य सूक्तोंके गणोंका पता नहीं चलता। इस काण्डके सूक्तों द्वारा कुछ शांतियां सूचित होती हैं उनके नाम ये हैं –

१ आंगिरसी महाशान्ति – ५, ६ ये दो सूक्त।
२ कौमारी ,, ७ वाँ एक सूक्त।
३ ब्राह्मी ,, २२ ,, ,,

इन सूक्तोंका संबंध इन शान्तियोंके साथ है। इस लिये अध्ययन करनेके समय पाठक इस बातका विचार करें। खोज करने वालोंको उचित है कि वे इस शांति प्रकरण की खोज करें अर्थात् इन शांतियोंका तात्पर्य क्या है और इनकी विधि भी कैसी होती है इत्यादि खोजका विषय है। संभव है कि इस खोजसे अपूर्व ज्ञान प्राप्त होगा। इस काण्डमें शत्रुसेनाके संमोहन का विषय पहले दो सूक्तोंमें आया है और सांमनस्य अर्थात् एकता का विषय तीसवें सूक्तमें आया है। -

शत्रुसेनासंमोहनं— १, २ ये दो सूक्त।
सांमनस्यं—३० वाँ एक सूक्त।

ये सूक्त विशेष विचार पूर्वक इस दृष्टिसे पढने योग्य हैं। इसके अतिरिक्त इस तृतीय काण्डका १५ वां "इन्द्र महोत्सव" के विषयका सूक्त है, ऐसा कौशीतकी सूत्रमें कहा है। इसलिये इस इन्द्र महोत्सव के विषयमें भी विचार होना चाहिये।

ये सब विषय बडे गंभीर हैं इसलिये आशा है कि पाठक भी इसका विचार गंभीरता के साथ करेंगे। इतनी भूमिका के साथ अब तृतीय काण्ड शुरू किया जाता है—

अथर्ववेदका स्वाध्याय ।

तृतीय काण्ड ।

शत्रुसेना का संमोहन ।

(१)

(ऋषिः—अथर्वा । देवता — सेनामोहनं, बहुदेवत्यम् ।)

अग्निर्नः शत्रून्प्रत्येतु विद्वान्प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम् ।
स सेनां मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः ॥ १ ॥
यूयमुग्रा मरुत ईदृशे स्थाभि प्रेत मृणत सहध्वम् ।
अमीमृणन्वसवो नाथिता इमे अग्निर्ह्येषां दूतः प्रत्येतु विद्वान् ॥ २ ॥
अमित्रसेनां मघवन्नस्माञ्छत्रूयतीमभि ।
युवं तानिन्द्र वृत्रहन्नग्निश्च दहतं प्रति ॥ ३ ॥
प्रसूत इन्द्र प्रवता हरिभ्यां प्र ते वज्रः प्रमृणन्नेतु शत्रून् ।
जहि प्रतीचो अनूचः पराचो विष्वक्सत्यं कृणुहि चित्तमेषाम् ॥ ४ ॥
इन्द्र सेनां मोहयामित्राणाम् ।
अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान्विषूचो वि नाशय ॥ ५ ॥
इन्द्रः सेनां मोहयतु मरुतो घ्नन्त्वोजसा ।
चक्षूंष्यग्निरा दत्तां पुनरेतु पराजिता ॥ ६ ॥

अर्थ— (विद्वान् अग्निः) विद्वान् अग्निसमान तेजस्वी वीर (अभिशस्तिं अरातिं) घातपात करनेवाले शत्रुको (प्रति दहन्) जलाता हुआ (नः शत्रून् प्रत्येतु) हमारे शत्रुओंपर चढाई करे। (सः जातवेदाः) वह ज्ञानी (परेषां सेनां) शत्रुओंकी सेनाको (मोहयतु) मोहित करे (च निर्हस्तान् कृणवत्) और उनको हस्तरहित करे ॥ १ ॥ हे (मर्+उतः) मरनेके लिये तैयार वीरो ! (ईदृशे यूयं उग्राः स्थ) ऐसे समयमें तुम बडे वीर हो, इस लिये (अभि-प्र-इत, मृणत, सहध्वम्) आगे बढो, काटो, और जीत लो।

(इमे नाथिताः वसवः) ये बलवान् बसनेवाले वीर (अमीमृणन्) काटते रहे हैं। (एषां दूतः विद्वान् अग्निः) इनका दाहकर्ता ज्ञानी अग्निके समान तेजस्वी वीर (प्रत्येतु) विशेष चढाई करे ॥ २ ॥ हे (मघवन् वृत्रहन् इन्द्र) धनवान् शत्रुनाशक सम्राट् तथा (च अग्निः) हे ज्ञानी ! (युवं) तुम दोनों मिलकर (अस्मान् शत्रूयतीं अमित्र-सेनां) हमारी शत्रुता करनेवाली शत्रुसेनाको (अभि) पराभूत करके (तान् प्रति दहतं) उनको जला दो ॥ ३॥ हे (इन्द्र) नरेन्द्र ! (प्रवता ते हरिभ्यां) वेगसे तेरे हरणशील वेगों द्वारा (प्रसूतः वज्रः) चलाया हुआ वज्र (शत्रून् प्रमृणन् प्र+एतु) शत्रुओंको काटता हुआ आगे बढे। (प्रतीचः, अनूचः, पराचः) सन्मुख, पीछे और परे भागनेवाले शत्रुओंको (जहि) हनन कर दे और (एषां चित्तं) इन शत्रुओंके चित्तको (सत्यं विष्वक् कृणुहि) ठीक प्रकार चारों ओर भटका दे ॥ ४ ॥ हे (इन्द्र) नरेश! (अमित्राणां सेनां मोहय) शत्रुओंकी सेनाको घबराओ। (अग्नेः वातस्य ध्राज्या) अग्निके और वायुके प्रचंड वेगसे (तान्) उन शत्रुसैनिकों को (विषूचः विनाशय) चारों ओर भटकाकर नाश कर डाल ॥ ५ ॥ (इन्द्रः सेनां मोहयतु) नरेश शत्रुसेनाको मोहित करे, (मर्+उतः) मरनेके लिये सिद्ध हुए वीर (ओजसा घ्नन्तु) वेगसे हनन करें। (अग्निः चक्षूंषि आदत्तां) अग्नि अर्थात् प्रकाश उनके आंखोंको लेलेवे। इस प्रकार शत्रुकी (पराजिता) पराभूत हुई सेना (पुनः एतु) फिर भी पीछे हटे ॥ ६ ॥

भावार्थ— राजनीतिको जाननेवाले विद्वान् और तेजस्वी पुरुष घातपात करनेवाली शत्रुसेनाको जलाते हुए शत्रुओंपर चढाई करें। सेनासंमोहन की विद्याको जाननेवाले ज्ञानी शत्रुसेनाको मोहित करें और उनको हस्तहीन जैसे बना देवें ॥ १ ॥ हे मरनेके लिये सिद्ध हुए शूरवीरो! ऐसे युद्ध समयमें तुम बडे वीर हो, इस लिये आगे बढो, शत्रुको काटो और उनको जीत लो। ये बलवान् अपने देशनिवासी वीर शत्रुको काटते हैं; इनका साथी ज्ञानी तेजस्वी वीर भी शत्रुको जलाता हुआ शत्रुपर चढाई करे ॥ २ ॥ हे धनवान् शत्रुनाशक नरेश! तथा हे तेजस्वी ज्ञानी वीर! तुम दोनों मिलकर हमारी शत्रुता करनेवाली शत्रुसेनाको पराभूत करो और उनको जला दो ॥ ३ ॥ हे नरेश! वेगसे चलाया हुआ तुम्हारा शस्त्रका समुदाय

शत्रुओंको काटता हुआ आगे बढे। संमुखसे, पीछेसे और चारों ओरसे भागनेवाली शत्रुसेनाका हनन करके उनके चित्तमें ऐसी घबराहट उत्पन्न करो कि जिससे वे चारों दिशाओंमें भाग जांय॥ ४॥ हे नरेश! अग्न्यस्त्र के दाहसे और वायव्यास्त्रके वेगसे शत्रु सेनाको ऐसा घबराओ कि वे चारों दिशाओंमें भाग जांय और इस रीतिसे उनका नाश कर ॥ ५॥ नरेश शत्रुके सैन्यको घबरावे, शूर वीर वेगसे शत्रुसेनाका हनन करें और शत्रु-सेनाकी ऐसी घबराहट करें कि जिससे उनको कुछभी न दीख पडे और इस प्रकार शत्रुका पूर्ण पराजय होकर उनका पूर्ण नाश हो जावे॥ ६॥

इसी विषयका द्वितीय सूक्त है इसलिये उस सूक्तका भी अर्थ हम यहां पहले देखते हैं, और पश्चात् दोनों सूक्तोंका मिलकर विचार करेंगे। द्वितीय सूक्त यह है—

[२]

(ऋषिः— अथर्वा। देवता — सेनामोहनं, बहुदैवत्यम्।)

अ॒ग्निर्नो॑ दू॒तः प्र॒त्येतु वि॒द्वान्प्र॑ति॒दह॑न्न॒भिश॑स्ति॒मरा॑तिम्।
स चि॒त्तानि॑ मोहयतु॒ परे॑षां॒ निर्ह॑स्तांश्च कृणवज्जा॒तवे॑दाः॥ १॥
अ॒यम॒ग्निर॑मूमुह॒द्यानि॑ चि॒त्तानि॑ वो हृ॒दि।
वि वो॑ धमत्वोक॑सः॒ प्र वो॑ धमतु स॒र्वतः॑॥ २॥
इन्द्र॑ चि॒त्तानि॑ मो॒हय॑न्न॒र्वाङाकू॑त्या चर।
अ॒ग्नेर्वात॑स्य॒ ध्राज्या॒ तान्विषू॑चो॒ वि ना॑शय॥ ३॥
व्याकू॑तय एषामि॒ताथो॑ चि॒त्तानि॑ मुह्यत।
अथो॒ यद॒द्यैषां॑ हृ॒दि तदे॑षां॒ परि॒ निर्जे॑हि॥ ४॥
अ॒मीषां॑ चि॒त्तानि॑ प्रति॒मो॒हय॑न्ती गृहा॒णाङ्गा॑न्यप्वे॒ परे॑हि।
अ॒भि प्रेहि॒ निर्द॑ह हृ॒त्सु शोकै॒र्ग्राह्या॒मित्रां॒स्तम॑सा विध्य॒ शत्रू॑न्॥ ५॥
अ॒सौ या सेना॑ मरुतः॒ परे॑षाम॒स्माने॒त्यभ्योज॑सा॒ स्पर्ध॑माना।
तां वि॑ध्यत॒ तम॒साप॑व्रतेन॒ यथै॑षाम॒न्यो अ॒न्यं न जा॒नात्॥ ६॥

अर्थ— (नः दूतः विद्वान् अग्निः) हमारा दूत ज्ञानी तेजस्वी वीर (अभिशस्तिं अरातिं प्रतिदहन्) घात पात करनेवाले शत्रुको जलाता

हुआ (प्रत्येतु) चढाई करे। (सः जातवेदाः परेषां चित्तानि मोहयतु) वह ज्ञानी शत्रुओंके चित्तोंको मोहित करे और उनको (निर्हस्तान् च कृणवत्) हस्त हीन जैसे करे ॥ १ ॥ (यानि वः हृदि) जो तुम्हारे हृदय में संबंधित हैं वे (चित्तानि) चित्त (अयं अग्निः अमूमुहत्) यह तेजस्वी वीर घबराहटमें डालता है। वह (वः ओकसः विधमतु) तुमको-शत्रुको-घरसे निकाल देवे और (वः सर्वतः प्रधमतु) तुमको-शत्रुको-सर्व प्रदेशसे हटा देवे ॥ २ ॥ हे (इन्द्र) नरेश ! शत्रुके (चित्तानि मोहयन्) चित्तोंको मोहयुक्त करता हुआ तू (आकूत्या अर्वाङ् चर) शुभसंकल्पसे हमारे पास आ। (अग्नेः वातस्य ध्राज्या) अग्नि और वायुके वेगसे (तान् विषूचः विनाशय) उनको चारों ओरसे नष्ट भ्रष्ट कर दे ॥ ३ ॥ हे (एषां) इन शत्रुओंके (आकूतयः) संकल्पो ! (वि) तुम परस्पर विरुद्ध हो जाओ, पश्चात् तुम (इत) हट जाओ (अथो चित्तानि) और इनके चित्तो ! (मुह्यत) मोहित होओ। (अथो अद्य) और आज (यत् एषां हृदि) जो इनके हृदयमें संकल्प है (एषां यत् परि निर्जहि) इनका वह संकल्प पूर्णतासे नाश कर ॥ ४ ॥ हे (अप्वे) व्याधि ! (अमीषां चित्तं प्रतिमोहयन्ती) इनके चित्तको मोहमें डालती हुई शत्रुसेनाके (अंगानि गृहाण) अवयवों को पकडे रखो और (परा इहि) परे तक चली जा। (अभि प्र इहि) सब प्रकारसे आगे बढ। (हृत्सु शोकैः निर्दह) हृदयके शोकोंके साथ शत्रुको जलादे। तथा (ग्राह्या तमसा) जकडनेवाले रोगसे और मूर्च्छा रोगसे (अमित्रान् शत्रून् विध्य) दुष्ट शत्रुओंको त्रस्त कर दे ॥ ५ ॥ हे मर्+उतः) मरनेके लिये सिद्ध वीरो ! (परेषां असौ या सेना) शत्रुओंकी यह जो सेना (स्पर्धमाना अस्मान् ओजसा अभि-आ-एति) स्पर्धा करती हुई हमपर वेगसे चढाई करके आती है, (तां अपव्रतेन तमसा विध्यत) उसको कर्महीन करनेवाले अंधकारसे मोहित कर डालो, (यथा) जिससे (एषां अन्यः अन्यं न जानात्) इनमेंसे एक दूसरेको भी न जान सके ॥ ६ ॥

भावार्थ-- हमारे ज्ञानी स्वयंसेवक वीर घातपात करने वाले शत्रुसेना पर चढाई करें, शत्रुओंको घबराहटमें डालें और उनको हस्तहीन जैसे बना देवे ॥१॥ शत्रुके चित्तोंको मोहित करे, उनको घरोंसे निकाल देवे और सब देशसे उनको हटा देवे ॥ २ ॥ हे राजन् ! तू शत्रुसेना के चित्तोंको मोहित

कर, अग्न्यस्त्र और वायव्यास्त्र के वेगसे उनको चारों दिशाओंमें भगा दे और पश्चात् विजयपूर्ण शुभ संकल्पसे हमारे पास आ ॥ ३ ॥ शत्रुओंके संकल्प आपसमें एक दूसरेके विरोधी हों,उनके दिलोंमें घबराहट पैदा हो, और उनके दिलोंमें जो संकल्प आज हों वे संकल्प कल तक भी स्थिर न रहें ॥ ४ ॥ व्याधियां तथा अन्य भय भी शत्रुके दिलको भयभीत कर दे, शत्रुसैनिकों के अंगप्रत्यंग व्याधियोंसे जकड जांय, शत्रुसैन्य रोगोंसे और नाना प्रकारके भयोंसे त्रस्त हो जाय। संधिवात और मूर्च्छा रोग शत्रुको घबरा देवे ऐसे कठिन समयमें उनपर हमला कर और शत्रुके हृदयोंको शोकसे जला दे ॥ ५ ॥ हे वीर पुरुषो ! जो सेना हमारे साथ स्पर्धा करती हुई हमपर चढाई करके आरही है उसको ऐसा मोहित करो कि वे पुरुषार्थ-हीन होकर मूर्च्छितसे हो जांय और उनमेंसे एक मनुष्य दूसरे को जान भी न सके ॥ ६ ॥

सेनाका संमोहन।

ये दो सूक्त शत्रुसेनाके संमोहनका विषय बतारहे हैं। जो शत्रुकी सेना मारती और काटती हुई अपने राष्ट्रपर अथवा अपने सैनिकोंपर चढाई करके आरही है, वह मोहित करके, घबराकर पराभूत करनी चाहिये और उसको भगा देना चाहिये। इसका नाम है " सेना-संमोहन "।

कई लोग कल्पना करते हैं कि यह शत्रुकी सेनाका संमोहन मंत्रसामर्थ्यसे होता है, परंतु वास्तविक बात वैसी नहीं है। यह संमोहन केवल घबराहट ही है अर्थात् शत्रुसेना पर ऐसे हमले करने कि शत्रुसैनिकोंको कर्तव्य मूढ बन कर भागजाना ही एक मार्ग जीव बचानेके लिये अवशिष्ट रहे।

ये दोनों सूक्त स्पष्ट हैं और इतनेही विषयका यहां अधिक विवरण करनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं है। तथापि इन सूक्तोंमें कई शब्द प्रयोग ऐसे किये गये हैं, कि जिनका विशेष स्पष्टीकरण करना अत्यंत आवश्यक है, अन्यथा संदेह उत्पन्न होना संभव है। इन सूक्तोंमें " अग्नि, इन्द्र, मरुत् " आदि शब्द हैं, जिनके अर्थ देवता प्रसंगमें अग्नि, विद्युत्, वायु आदि लिये जाते हैं, तथा अध्यात्म प्रसंगमें वाणी, मन, और प्राण लिये जाते हैं; इस विषयका स्पष्टीकरण पूर्व काण्डोंमें आचुका है। ये दोनों प्रसंग इन दोनों सूक्तोंमें नहीं हैं। इन सूक्तोंका विषय युद्ध है, शत्रुसेना मोहनका संबंध

है, अपनी सेना और शत्रुसेना का झगडा होनेका अवसर है, इस लिये यह न अध्यात्म का विषय है और ना ही आधिदैवत का विषय है। प्राणियोंके परस्परके संबंधका वर्णन आधिभौतिक प्रकरणमें हुआ करता है। इस कारण आधिभौतिक प्रकरणको प्राणि समष्टि विषय का प्रकरण कहा जाता है और इस प्रकरणमें उक्त शब्दोंके अर्थ प्राणि-विषयक होते हैं अर्थात् यहां मनुष्यप्राणि विषयक भाव समझना उचित है। अब उक्त शब्दोंके अर्थ देखिये—

१ इन्द्र।

(इन्+द्र) शत्रुसेनाका भेदन करनेवाला, यह इसका धात्वर्थ है परंतु मुखिया इस अर्थमें इस शब्दका प्रयोग होता है, जैसा—मृगेन्द्र= मृगोंका मुखिया, सिंह; खगेन्द्र=पक्षियोंका मुखिया गरुड; नरेन्द्र=मनुष्योंमें मुख्य राजा अथवा सम्राट् इ०। इन्द्र शब्दके ये अर्थ प्रसिद्ध हैं, परंतु प्रायः लोग केवल " इन्द्र " शब्दका अर्थ " राजा " करनेके समय डरते हैं। उनको इन दो सूक्तोंका अच्छा मनन करना उचित है। इस मननसे उनको पता लग जायगा कि ऐसे प्रसंगोंमें मनुष्य विषयक ही इन्द्रादि शब्दों का अर्थ लेना योग्य है। इस विषयको अच्छी प्रकार समझमें आनेके लिये इन दो सूक्तों के कई वाक्य उदाहरण के लिये लेते है—

१ इन्द्र ! ते प्रसृतः वज्रः शत्रून् प्रमृणन् एतु।
प्रतीचः अनूचः जहि। एषां चित्तं विष्वक् कृणुहि ॥ (सू० १ मं० ४)
२ इन्द्र ! अमित्राणां सेनां मोहय।
अग्नेः वातस्य ध्राज्या विषूचः तान् विनाशय ॥ (सू० १ मं० ५)
३ इन्द्रः सेनां मोहयतु ॥ (सू० १ मं०६)
४ इन्द्र ! चित्तानि मोहयन् आकूत्या अर्वाङ् चर ॥ (सू० २ मं० ३)

" (१) हे राजन् ! तेरे द्वारा चलाया हुआ शस्त्र शत्रुओंको काटता हुआ आगे चले। सब ओरके शत्रुओंका हनन कर। इन शत्रुओंके चित्तको चारों ओर भटकनेवाला कर॥ (२) हे राजन् ! शत्रुकी सेनाको मोहित कर। अग्नि और वायु के प्रवाहसे शत्रुसेनाको चारों ओर भगादे ॥ (३) राजा शत्रुसेनाको घबरा देवे ॥ (४) हे राजन् ! शत्रुसेनाको मोहित करके अपने शुभ संकल्पसे हमारे पास चला आ ॥ "

इस प्रकारके ये मंत्र इन्द्र शब्द द्वारा राजाका कर्तव्य बता रहे हैं। यहां "राजा, नरेन्द्र, सम्राट् " आदि प्रकारका ही इस शब्द का अर्थ है। यहां इन्द्र शब्द क्षात्रशिरोमणी वीर

राजाका वर्णन कर रहा है, जो स्वयं युद्ध भूमि में उपस्थित रहकर अपनी सेनाको चलाता है, और केवल सेनापति पर ही निर्भर नहीं रहता है । इसी इन्द्रके अन्य पर्याय भी इन सूक्तोंमें आगये हैं वे अब देखेंगे—

२ मघवन् ।

" (मघ) धन (वन्) वाला। जिसके पास धन है । जो राजा अपने पास बहुत धन-संग्रह रखता है वही युद्धमें विजय पासकता है । युद्धमें विजय प्राप्त करनेका यह एक बडा भारी साधन है, धनहीन राजा यदि युद्ध का प्रारंभ करेगा तो उसके पराभूत होनेमें कोई संदेह ही नहीं है । इस शब्दसे बोध होने वाला यह अर्थ पाठक देखें और राजाका बल धनकोश में होता है यह बात जानलें ।

३ वृत्रहन् ।

" (वृत्र) घेरनेवाले शत्रुको (हन्) हनन करनेवाला । अर्थात् जो शत्रु घेरकर हमला करता है अथवा मार्ग रोकता है उसको अपने शस्त्रोंके प्रभावसे मारता है, उसका यह नाम है ।

इस प्रकार इन्द्र वाचक शब्द और उसके वर्णन परक मन्त्र वीर राजाके कर्तव्य बता रहे हैं । पाठक यह वैदिक शैली जानेंगे तो उनको बहुत मंत्रोंका गंभीर आशय इस रीतिसे स्पष्टतया ध्यानमें आसकता है । इन्द्रके साथ " मरुत् " रहते ही हैं, इनके विषयमें अब देखिये-

४ मरुतः ।

(मर्+उत्) मरनेके लिये जो उठकर खडे हुए हैं, मरनेके लिये जो तैयार हुए हैं, शत्रुका पराभव करनेके लिये अपने प्राणोंकी आहुती देनेके लिये जो कटिबद्ध हुए हैं, उन वीरोंका यह नाम है । इन्द्रकी सेनाके मरुत् नामक जो वीर हैं उनका वर्णन भी इस अर्थकी सार्थकता बतारहा है । यह शब्द सैनिकोंका उत्साह बता रहा है । इस प्रकारके उत्साही वीर जिस सेनामें होंगे उनका विजय निःसंदेह हो सकता है । इस शब्दका प्रयोग जिन मंत्रोंमें है उनके उदारण यहां देखिये-

१ हे मरुतः ! ईदृशो यूयं उग्राः स्थ । अभिप्रेत, मृणत,
सहध्वम् । (सू० १ मं. २)

२ मरुतः ओजसा घ्नन्तु । (सू० १ मं. ६)

३ हे मरुतः ! या असौ परेषां सेना स्पर्धमाना अस्मान् अभ्येति,

तां अपव्रतेन तमसा विध्यत, यथा एषां
अन्यः अन्यं न जानात्‌ ॥ (सू० २ मं० ६)

(१) हे मरनेके लिये तैयार वीरो ! ऐसे प्रसंगमें तुम सब बडे उग्र हो । इस लिये आगे बढो, काटो और वैरीको पराभूत करो ॥ (२) वीर लोग बलके साथ वैरीको काटें ॥ (३) हे वीरो! यह जो वैरीकी सेना हमारे साथ स्पर्धा करती हुई हमपर धावा कर रही है, उसको कर्महीन मोहमय तमसे विद्ध करो, जिससे उनका एक मनुष्य दूसरेको पहचान न सके ॥ "

ये मरुतोंके मंत्र स्पष्टतया सैनिक वीरोंके कर्तव्य बतारहे हैं । युद्धमें सेनाके वीर कैसा उग्र कर्म करें, उसका उपदेश यहां इस प्रकार मिल रहा है । इसका मनन करके क्षात्र तेजसे युक्त वीर पुरुषोंको बडा उत्साह आ सकता है । इसके नन्तर " वसवः " शब्द देखिये-

५ वसवः ।

बसनेवालोंका नाम " वसु " है । जो अपने राष्ट्रमें अपने अधिकारसे बसना चाहते है, शत्रुके हमले होने पर भी स्वयं अपने स्थानसे हिलना नहीं चाहते वे " वसु " होते हैं । इन वसुओंके विषयमें अथर्ववेदमें ही अन्य स्थानमें कहा है--

संवसव इति वो नामधेयं उग्रंपश्या राष्ट्रभृतो ह्यक्षाः ॥
अथर्व. ७ । १०९ । ६

" आपका नाम संवसु (संवसवः) है, आप देखनेके लिये अति उग्र हैं और राष्ट्रका भरण पोषण करनेवाले हैं और आप राष्ट्रके (अक्षाः) आंख ही हैं । " इस मंत्रमें वसु उग्र राष्ट्रभृत्य हैं ऐसा कहा है । इस लिये हम यहां इस सूक्तके प्रसंगमें " वसु " पदका अर्थ " उग्र राष्ट्रभृत्य " अर्थात्‌ " शूरवीर राष्ट्रीय स्वयं सेवक " करते हैं । यह अर्थ लेनेसे प्रचलित सूक्तके मंत्र भागका अर्थ निम्न लिखित प्रकार होता है देखिये-

इमे नाथिता वसवः अभिमृणन्‌ ।
एषां दूतः अग्निः विद्वान्‌ प्रत्येतु । (सू० १ मं० २)

" ये प्रभावशाली राष्ट्रभृत्य वैरीसेनाको काटते हैं। इनका विद्वान्‌ दूत अग्नि वैरीपर चढाई करे । " इस मंत्रमें हमें पता लगता है कि यहां का अग्नि शब्द वसुओंमेंसे एक वसुका वाचक है अर्थात्‌ यदि उक्त प्रकार " वसु " राष्ट्रभृत्य हैं, तो " अग्नि " भी वसुओंमें से एक राष्ट्रभृत्य अथवा राष्ट्रका दूत " है जो समय-ज्ञ है और बडा चतुर भी है। इन्द्र और अग्निमें यह भेद है, पाठक इसका मनन करें । इन्द्र स्वयं सम्राट्‌ अथवा राजा

है, वह स्वयंसेवक या राष्ट्रभृत्य नहीं है, और अग्नि राजा नहीं है परंतु राष्ट्रभृत्य है । अग्नि विद्वान् है और इन्द्र धनवान् है । ये विशेषणों द्वारा बताये भेद पाठक मनन पूर्वक देखें और सोचें । ये भेद ही वैदिक राज्य पद्धातिका स्वरूप स्पष्ट करदेते हैं। इस प्रकार वसु शब्दका अर्थ देखनेके पश्चात्, और अग्निको उनमें से एक जाननेके पश्चात् अब अग्निका अर्थ देखते हैं —

६ अग्निः ।

वसु शब्दके जो लक्षण पूर्व शब्दके वर्णनके प्रसंगमें बताये हैं वे इसके साथ भी संगत होते हैं । यह प्रकाशका देव है, शत्रुको जलाता है और उपासकको तेज प्रदान करता है । यह (विद्वान्) ज्ञानी है, समयज्ञ है, कर्तव्य अकर्तव्य को ठीक प्रकार समझता है । यह (जात-वेदाः=जातं वेत्ति) बने हुए वस्तुस्थितिको यथावत् जाननेवाला है । पाठक देखें कि ऐसा योग्य राष्ट्रभृत्य (दूतः) राष्ट्रका दूत, कितना उपयोगी होगा, और ऐसे युद्धके प्रसंगमें इस प्रकारके राष्ट्रदूत की सेवाका कितना लाभ राष्ट्रको हो सकता है ।

अग्नि ब्राह्म तेज और इन्द्र क्षात्रतेज व्यक्त करता है, जिस समय राष्ट्रपर आपत्ति आती है उस समय ये दोनों मिल जुलकर राष्ट्रकार्य करें, इस विषयकी सूचना इन सूक्तोंमें मिलती है । इस विषयका मंत्र देखिये—

हे वृत्रहन् इन्द्र ! अग्निः च यूयं तान् प्रतिदहतम् । (सू० १ मं.३)

"हे वीर राजन् ! तू और ज्ञानी राष्ट्रभृत्य दोनों मिलकर शत्रुको जला दो ।"यहां मिल कर कार्य करनेका उपदेश है ब्राह्मतेज और क्षात्रतेज इकट्ठा होकर वैरीका नाश करे । ऐसा कभी न हो कि वैरी राष्ट्रके द्वारमें उपस्थित होवे और राष्ट्रके ये दोनों भाग आपसमें झगडते रहें। यह तो राष्ट्र घातकी अवस्था होगी, इसलिये ब्राह्मण क्षत्रियोंको अपना अभेद्य ऐक्य रखना चाहिये और अपने राष्ट्रकी उन्नतिमें ही अपनी उन्नति देखनी चाहिये ।

शत्रुको घबरानेकी रीति ।

वैरीको घबराना, उसको मोहित करना, उसको भ्रमित करना और उसको परास्त करना, इत्यादिके उपाय इन दो सूक्तोंमें कहे हैं। जिनमेंसे हमले करनेकी कई विधियां इससे पूर्वके स्पष्टीकरणमें आचुकी है । अब कुछ विशेष साधनोंका उल्लेख करना है जो यहां करेंगे—

१ अग्न्यस्त्र और वायव्यास्त्र के प्रयोगसे वैरीका नाश करनेकी पहिली रीति इन सूक्तोंमें कही है—

अग्नेः वातस्य ध्राज्या तान् विनाशय ॥ सू० १ मं०५; सू० २ मं०३

" अग्नि के वेगसे और वायुके वेगसे उन शत्रुओंका नाश कर। यहां ध्राजी शब्द है, अग्निका (ध्राजी) महावेग और वायुका महावेग, इनके धक्केसे शत्रुका नाश करना लिखा है। ध्राजी शब्दका अर्थ केवल वेग, गति इतनाही नहीं है,जिस वेगके धक्केसे मनुष्य नष्टभ्रष्ट होते हैं, मनुष्य अपने स्थानपर ठहर नहीं सकते, उस महावेगके प्रबल धक्केका आशय इस " ध्राजी " शब्द में है। इस लिये ऐसा प्रतीत होता है कि यहां के " अग्नेः ध्राजी, वातस्य ध्राजी " ये दो शब्द क्रमशः अग्न्यस्त्र और वायव्यास्त्र अथवा इसी प्रकारके शस्त्रास्त्र विशेषके वाचक होंगे। इसी स्पष्टीकरण में इससे पूर्व अग्नि शब्दका अर्थ मनुष्य वाचक बताया है, परंतु वह अर्थ यहां नहीं है। एकही सूक्तमें एकही अग्नि शब्दके दो परस्पर भिन्न अर्थ हैं यह बात यहां स्मरण रखना चाहिये, अन्यथा अर्थका विपर्यास होनेमें देरी नहीं लगेगी।

२ **तमसास्त्र**— तमसास्त्रका प्रयोग भी इसमें है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है —

तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात्। सू० २ मं० ६

" उस शत्रुसेनाको पुरुषार्थहीन करनेवाले तमसास्त्रके प्रयोगसे विद्ध करो जिससे उनका एक सैनिक दूसरे सैनिक को न पहचान सके। " इस मंत्रमें " अपव्रतं तमः " शब्दका प्रयोग है। तम शब्दका अर्थ " अंधकार " है। अपव्रतका अर्थ " कर्महीन " है। दोनोंका तात्पर्य " कर्महीन करनेवाला अंधेरा " है। इससे शत्रुसेनाको वेध करना है। वेध करनेके लिये शस्त्रास्त्रही चाहिये, अन्यथा वेध नहीं हो सकता। इस लिये इस मंत्रमें तमसास्त्र का उल्लेख है ऐसा स्पष्ट दीख रहा है। अंधकारास्त्रके प्रयोगसे ही सैनिक एक दूसरेको पहचाननेमें असमर्थ होंगे। इसी अर्थका एक मंत्रभाग प्रथम सूक्तमें है—

अग्निः चक्षूंषि आदत्ताम्। (सू० १ मं० ६)

"अग्नि शत्रुकी आंखें ले लेवे" इस वाक्यका भी आशय तमसास्त्र प्रयोग का ही है क्योंकि यहां हरएक की आंखें निकाल देनेका आशय नहीं है, परंतु उनको कुछ भी न दीख पडे यही आशय है। तथा और देखिये—

अमित्रान् शत्रून् तमसा विध्य। (सू० २ मं० ५)

" शत्रुओंको अंधकारास्त्रसे विद्ध कर। " यहांका " विध्य " शब्द भी अस्त्र रूप तमको सूचित करता है। यह मंत्र अन्यत्र आगया है वह भी यहां देखिये—

अन्धेन तमसा अमित्रान् सचन्ताम्।

ऋ० १०।१०३।१२ ; यजु० १७। ४४; साम उ०९।३।५; निरु० ९।३३

तां गूहत तमसापव्रतेन यथामी अन्यो अन्यं न जानात्। यजु.१७।४७

" शत्रुओंको अन्धतमसे ढांप दो " इत्यादि मंत्र भागोंमें भी किसी प्रकारके अस्त्रका ही उल्लेख है अन्यथा वेध करना असंभव है ।

३ अप्वा, ग्राही— सूक्त २ मं० ५ में "अप्वा और ग्राही" इन दो रोगोंके द्वारा शत्रुके चित्तोंको मोहित करने अथवा उनको त्रस्त करनेका उल्लेख है। "ग्राही" शब्दका अर्थ संधिवात इसी अथर्ववेदमें इससे पूर्व अनेक वार आया है। यह अर्थ यदि यहां लिया तो संधिवात जैसे जकडनेवाले रोगद्वारा शत्रुको त्रस्त करनेकी बात व्यक्त हो सकती है। अप्वा शब्दका अर्थ रोग व्याधि अथवा भय है। परंतु यह युद्ध प्रसंग है इस लिये इन शब्दोंके कोई दूसरे अर्थ भी होना संभव है। यद्यपि ठीक पता नहीं है तथापि "ग्राही" शब्दका अर्थ "पाश" होना संभव है जिससे शत्रुको पकडा जाय और जकडकर बांधा जाय। "अप-वे" धातुसे यदि "अप्वा" शब्द बनाया जाय तो "वे" धातुका अर्थ "तन्तु-संतान" होनेके कारण अप्वा शब्दका अर्थ "जाल अथवा जाला" होना संभव है। मंत्रमें—

अप्वे ! परेहि; अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती
अङ्गानि गृहाण ॥ (सू० २ मं० ५)

" हे अप्वे ! आगे बढ, इनके चित्तोंको मोहित करके उनके अंगोंको पकड रख।" यह अप्वा अस्त्रका वर्णन स्पष्ट बता रहा है कि इस नामका किसी प्रकारका जाला शत्रु पर फेंका जाता है, जिसमें पकडे जानेके कारण शत्रु मोहित हो जाते हैं और पश्चात् उन के शरीर पकड या जकडकर बांधे जाते हैं। इस मंत्रमें " परेहि, अंगानि गृहाण " आदि वर्णन यह 'अप्वा' कोई शत्रुपर फेंकने योग्य जालेका अस्त्र है ऐसा निश्चय करता है। अर्थात् " ग्राही और अप्वा " ये दोनों जालेके समान शत्रुको पकडनेके कुछ साधन विशेष होंगे ऐसा हमारा तर्क है, इस विषयके अर्थके लिये इस समयतक कोई प्रमाण हमें मिला नहीं है। खोज करनेवाले पाठक इस विषयकी विशेष खोज करके अर्थनिश्चय करनेमें सहायता दें।

मंत्रोंकी समानता।

इन दोनों सूक्तों में मंत्रोंकी समानता है। दोनों सूक्तोंका पहला मंत्र कुछ थोडे पाठ भेदसे करीब एक जैसाही है। प्रथम सूक्तका ५ वाँ मंत्र और द्वितीय सूक्तका ३ रा मंत्र करीब एक जैसा ही है। प्रथमार्धमें थोडा पाठभेद है। यह समानता पाठक अवश्य देखें।

इन दोनों सूक्तोंके मननसे युद्ध विषयक बहुत ही बोध प्राप्त हो सकता है। आशा है कि इस दृष्टिसे पाठक इन सूक्तोंका अध्ययन करके लाभ उठावेंगे।

राजाकी स्वराज्यपर पुनः स्थापना।

[३]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- अग्निः, नानादेवताः)

अचिक्रदत्स्वपा इह भुवदग्ने व्यचस्व रोदसी उरूची ।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आमुं नय नमसा रातहव्यम् ॥ १ ॥
दूरे चित्सन्तमरुषास इन्द्रमा च्यावयन्तु सख्याय विप्रम् ।
यद्गायत्रीं बृहतीमर्कमस्मै सौत्रामण्या दधृषन्त देवाः ॥ २ ॥
अद्भ्यस्त्वा राजा वरुणो ह्वयतु सोमस्त्वा ह्वयतु पर्वतेभ्यः ।
इन्द्रस्त्वा ह्वयतु विड्भ्य आभ्यः श्येनो भूत्वा विश आ पतेमाः ॥ ३ ॥
श्येनो हव्यं नयत्वा परस्मादन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तम् ।
अश्विना पन्थां कृणुतां सुगं त इमं सजाता अभिसंविशध्वम् ॥ ४ ॥
ह्वयन्तु त्वा प्रतिजनाः प्रति मित्रा अवृषत ।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्ते विशि क्षेममदीधरन् ॥ ५ ॥
यस्ते हवं विवदत्सजातो यश्च निष्ट्यः ।
अपाञ्चमिन्द्र तं कृत्वाथेममिहाव गमय ॥ ६ ॥

अर्थ-- (इह स्व-पाः भुवत्) यहां अपना रक्षण करने वाला मनुष्य होवे ऐसा (अचिक्रदत्) पुकारकर कहा गया है। हे (अग्ने) अग्ने ! (उरू-ची रोदसी व्यचस्व) विस्तृत द्यावा पृथिवीमें अपना तेज फैलाओ। (विश्ववेदसः मरुतः त्वा युञ्जन्तु) सब जानने वाले मरुत् तुझे योग्य बनावें। (रात-हव्यं अमुं) हवनीय पदार्थोंको देनेवाले इस पुरुषको (नमसा आनय) नमस्कार पूर्वक यहां ला ॥ १ ॥ (दूरे चित् सन्तं विप्रं इन्द्रं) दूर रहनेवाले प्राज्ञ इन्द्रको भी (अरुषासः सख्याय आच्यावयन्तु) तेजस्वी लोक मित्रताकेलिये यहां ले आवें। (यत् देवाः) क्योंकि सब देव (सौ-त्रामण्या) सौत्रामणीके द्वारा (गायत्रीं बृहतीं अर्क अस्मै दधृषत) गायत्री बृहती रूप अर्चन इसके लिये धारण करते हैं ॥ २ ॥ (वरु-

णः राजा) राजा वरुण (अद्भ्यः त्वा ह्वयतु) जलके लिये तुझे बुलावे, (सोमः त्वा पर्वतेभ्यः ह्वयतु) सोम तुझे पर्वतों के लिये बुलावे (इन्द्रः त्वा आभ्यः विड्भ्यः ह्वयतु) इन्द्र तुझे इन प्रजाओंके लिये बुलावे। (श्येनः भूत्वा इमाः विशः आपत) तू श्येन पक्षी के समान वेग धारण करके इन प्रजाओंमें आजा ॥ ३ ॥ (अन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तं हव्यं) अन्य देशमें छिपकर घूमनेवाले बुलानेयोग्य राजाको (श्येनः परस्मात् आनयतु) श्येनवत् शीघ्रगामी दूसरे देशसे ले आवे। (अश्विनौ सुगं ते पन्थां कृणुतां) दोनों अश्विनी सुखसे जाने योग्य तेरा मार्ग बनावें। (सजाताः इमं अभि सं विशध्वं) सजातीय लोग इसको प्रविष्ट करावें ॥ ४ ॥ (प्रतिजनाः त्वा ह्वयन्तु) प्रत्येक प्रकारके लोग तुझे बुलावें। (मित्राः प्रति अवृषत) मित्र तेरा बल बढावें। (इन्द्राग्नी विश्वेदेवाः) इन्द्राग्नी और सब देव (विशि ते क्षेमं अदीधरन्) प्रजाजनोंमें तेरेलिये क्षेम धारण करें ॥ ५ ॥ हे (इन्द्र) नरेन्द्र! (यः सजातः) जो सजातीय है (च यः निष्ट्यः) और जो विजातीय है (ते हवं विवदत्) तेरे आदरणीयताके विषयमें विवाद करे, (तं अपाञ्चं कृत्वा) उसको बहिष्कृत करके (अथ इमं इह अव गमय) पश्चात् इसको यहां लाओ ॥ ६)

भावार्थ-- इस जगत्में मनुष्यको अपना संरक्षण स्वयं करना चाहिये, यह बात पुकार पुकार कर सब आप्तपुरुषों ने कही है। मनुष्य अग्निवत् तेजस्वी बने और अपना प्रकाश जगत्में फैलावे। ऐसे अपने राजाको सब जाननेवाले वीर शक्तिमान करें और उसको नमन पूर्वक अपने राज्य गद्दीपर स्थापित करें ॥ १ ॥ राजा दूर भी क्यों न गया हो उसको अपने राज्यके हितके लिये तेजस्वी वीर पुनः ले आवें उत्तम रक्षण करनेके योग्य प्रबंधसे उसका उत्तम सत्कार करें ॥ २ ॥ जल स्थानकी रक्षाके लिये जलाधिपति, पर्वतोंकी रक्षाके लिये पर्वतोंका अधिकारी, जनोंकी रक्षाके लिये मनुष्योंका अधिपति किंवा मुखिया सम्राट्को बुलावें, तब सम्राट् अपने प्रजाओंमें शीघ्रतासे जाकर विराजे ॥ ३ ॥ राजा संकट समयमें अन्य देशमें छिप छिपकर भी क्यों न रहता हो, उसको पुनः अपनी राजगद्दीपर लाकर बिठलाना उचित है, ज्ञानी उसका मार्ग सुगम करें और सजातीय लोग उसको अपने राज्यमें प्रविष्ट करावें ॥ ४ ॥ मित्रजन उस राजाका

की सहायता करें, सब देव प्रजाके समेत उस राजाका कल्याण करें ॥ ५ ॥ यदि सजातीय अथवा विजातीय कोई मनुष्य इस योग्य राजाका विरोध करनेवाला हो तो उसको राज्यसे बाहर करके बडे आदर सत्कारसे राजाका प्रवेश अपने राज्यमें कराना चाहिये ॥ ६ ॥

यहां तृतीय मंत्रका अर्थ और भावार्थ हुआ। इसी के साथ चतुर्थ सूक्तका अत्यंत घनिष्ठ संबंध है इस लिये उसका अर्थ और भावार्थ पहले देखकर पश्चात् दोनों सूक्तोंका मिलकर विचार करेंगे—

राजाका चुनाव।

[४]

(ऋषिः—अथर्वा। देवता—इन्द्रः)

आ त्वा गन्राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ् विशांपतिरेकराट् त्वं वि राज।
सर्वास्त्वा राजन्प्रदिशो ह्वयन्तूपसद्यो नमस्यो भवेह ॥ १ ॥
त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः।
वर्ष्मन्राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि ॥ २ ॥
अच्छ त्वा यन्तु हविनः सजाता अग्निर्दूतो अजिरः सं चरातै।
जायाः पुत्राः सुमनसो भवन्तु बहुं बलिं प्रति पश्यासा उग्रः ॥ ३ ॥
अश्विना त्वाग्रे मित्रावरुणोभा विश्वे देवा मरुतस्त्वा ह्वयन्तु।
अधा मनो वसुदेयाय कृणुष्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि ॥ ४ ॥
आ प्र द्रव परमस्याः परावतः शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्।
तदयं राजा वरुणस्तथाह स त्वायमह्वत्स उपेदमेहि ॥ ५ ॥
इन्द्रेन्द्र मनुष्या३ः परेहि सं ह्यज्ञास्था वरुणैः संविदानः।
स त्वायमह्वत्स्वे सधस्थे स देवान्यक्षत्स उ कल्पयाद्विशः ॥ ६ ॥
पथ्या रेवतीर्बहुधा विरूपाः सर्वाः सङ्गत्य वरीयस्ते अक्रन्।
तास्त्वा सर्वाः संविदाना ह्वयन्तु दशमीमुग्रः सुमना वशेह ॥ ७ ॥

अर्थ-हे राजन्! (राष्ट्रं त्वा आगन्) यह राष्ट्र तुझको प्राप्त हुआ है, अब (वर्चसा सह उद्+इहि) तेजके साथ उदयको प्राप्त हो। (विशांपतिः

प्राङ् एकराट् त्वं विराज) प्रजाओंका स्वामी प्रमुख एक सम्राट् होकर तू विराजमान हो। (सर्वाः प्रदिशः ह्वयन्तु) सब दिशा और उपदिशाएं तुझे पुकारें और (इह उपसद्यः नमस्यः भव) यहां पास पहुंचने योग्य और नमस्कार के लिये योग्य हो ॥ १ ॥ (विशः त्वां राज्याय वृणतां) प्रजायें तुझको राज्यके लिये स्वीकार करें (इमाः देवीः पञ्च प्रदिशः) ये दिव्य पांच दिशायें (त्वां वृणतां) तुझको राज्यके लिये स्वीकार करें । तू (राष्ट्रस्य वर्ष्मन् ककुदि श्रयस्व) राष्ट्रके ऐश्वर्य मय उच्च स्थानपर आश्रय कर (ततः उग्रः) पश्चात् उग्र वीर बनकर (नः वसूनि वि भज) हम सबके लिये धनोंका विभाग कर ॥ २॥ (ह्विनः सजाताः त्वा अच्छ यन्तु) बुलानेवाले सजातीय लोग तुझको सन्मान पूर्वक मिलें (अग्निः अजिरः दूतः संचरातै) अग्नि वेगवान् दूत संचार करे। (जायाः पुत्राः सुमनसः भवन्तु) स्त्रियां और पुत्र उत्तम मनवाले हों। (उग्रः बहुं बलिं प्रति पश्यासै) उग्र होकर तू बहुत भेंटको देख ॥ ३ ॥ (अग्रे) आगे (अश्विनौ, मित्रावरुणौ, विश्वेदेवाः, मरुतः) अश्विनी मित्रावरुण सब देव और मरुत् (त्वा त्वा ह्वयन्तु) तुझको बुलावें। (अध वसु-देयाय मनः कृणुष्व) पश्चात् तू धनका दान करनेके लिये अपना मन कर (ततः उग्रः नः वसूनि विभज) पश्चात् उग्र होकर हम सबको धनका भाग दे ॥ ४ ॥ (परमस्याः परावतः आ प्रद्रव) अति दूर देशसे यहां आ। (उभे द्यावापृथिवी ते शिवे स्तां) दोनों द्यावा पृथिवी तेरे लिये कल्याणकारी होवें। (तथा अयं राजा वरुणः) वैसा ही यह वरुण राजा (तत् आह) यह कहता है (सः अयं त्वा अह्वत्) वह यह तुझको बुलावे (सः इदं उप-आ-इहि) वह तू इस राष्ट्रको प्राप्त कर ॥ ५॥ हे (इन्द्र-इन्द्र) राजाओंके महाराजा! (मनुष्याः परेहि) मनुष्योंके समान परे जा और (हि वरुणैः संविदानः) वरिष्ठोंसे मिल कर तू (सं अज्ञास्थाः) ठीक प्रकार जान सकता है। (सः अयं स्वे सधस्थे त्वा अह्वत्) वह यह अपने घर तुझे बुलावे (सः देवान् यक्षत) वह देवोंका यज्ञ करे, और (स उ विशः कल्पयतात्) वह निश्चयसे प्रजाओंको समर्थ करे ॥ ६ ॥ (पथ्याः रेवतीः) सन्मार्गसे चलनेवाली धनवाली (बहुधा विरूपाः सर्वाः संगत्य) बहुत प्रकारसे विविध रूपवाली सब प्रजाएं मिलकर (ते वरीयः अक्रन्) तेरे लिये श्रेष्ठ स्थान बनाती हैं। (ताः सर्वाः संविदानाः त्वा ह्वयन्तु) वे

सब एकमत होकर तुझे बुलावें पश्चात् तू (इह उग्रः सुमनाः दशमीं वश) यहां उग्र और उत्तम मन वाला होकर दसवी दशक तक राज्यको वशवर्ती कर ॥ ७ ॥

भावार्थ–हे राजन् ! यह राष्ट्र अब तुझको प्राप्त हुआ है अब अपने तेजको प्रकाशित कर, सब प्रजाओंका एक सम्राट् होकर विराजमान हो। सब दिशा और उपदिशाओंमें रहनेवाले सब लोग तुझे ही चाहें और तू सबके लिये प्राप्त होनेवाला बनकर सबसे सुपूजित हो ॥ १ ॥ सब प्रजाएं राज्य चलानेके लिये तेरा ही स्वीकार करें। सब दिशा और उपदिशाओंमें रहनेवाले प्रजाजन तुझे ही पसंद करें। तू राष्ट्रके परम उच्च ऐश्वर्यवान् राजपद पर आरूढ होकर, वीर बनकर, हम सबके लिये धनको योग्य विभागसे बांट दे ॥ २ ॥ तेरी इच्छा करनेवाले सजातीय लोग सन्मान पूर्वक तेरे पक्षमें रहें, अग्निके समान तेरे तेजस्वी दूत चारों देशोंमें संचार करें। तेरे राष्ट्रमें धर्मपत्नियां और बालबच्चे उत्तम मनवाले हों। तू शूरवीर होकर बहुत भेंट प्राप्त कर ॥ ३ ॥ सब देवताएं तेरी सहायता करें । तू धनका दान करनेमें अपना मन स्थिर कर और शूरवीर होकर हम सबमें योग्य विभाग से धन बांट दे ॥ ४ ॥ यदि तू दूर देशमें भी गया तो भी अपने राष्ट्रमें शीघ्रही वापस आ। सब देव तेरी सहायता करें। तू सदा अपने राष्ट्रमें ही रह ॥ ५ ॥ तू साधारण मनुष्योंके समान ही अपने आपको मानकर देशमें सर्वत्र भ्रमण कर और राष्ट्रके वरिष्ठ मनुष्योंसे मिल कर सब बातें ठीक प्रकार समझ लो। ऐसा करनेसे लोग अपने घरमें तुझे आदरसे बुलावेंगे और वे यज्ञयाग भी करेंगे। इस प्रकार प्रजाओंके साथ मिलजुलकर सब प्रजाको सब प्रकारसे समर्थ कर ॥ ६ ॥ प्रजा सन्मार्गसे चलनेवाली हो, और धनवान् हो। बहुत प्रकारके रंगरूपोंसे विभिन्न रहने पर भी सब प्रजा मिलकर एक भावसे तुझे श्रेष्ठ माने और सब एकमतसे तेरी प्रशंसा करे। इस प्रकार वीरतासे और शुभ मनोभावसे राज्य करता हुआ तू सौ वर्ष तक राज्य अपने वशमें रख ॥ ७ ॥

पूर्व संबंध ।

इस तृतीय काण्डके प्रारंभ के दो सूक्तोंमें युद्ध विषय है। शत्रुसेना के साथ युद्ध करके उसका पूर्ण पराभव करनेका महत्त्वपूर्ण उपदेश इन दो सूक्तोंमें है। इस प्रकार

विजय प्राप्त होनेके पश्चात् अपने राजाका राजधानीमें प्रवेश होता है, उस समय के उत्सव के ये मंत्र हैं, अथवा इस विजयको प्राप्त करके राजा वापस आगया तो उस समय उसे करने योग्य उपदेश इन दो सूक्तोंमें है। तृतीय और चतुर्थ सूक्त विशेष सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेसे और एक बात प्रतीत होती है, वह यह है कि— " किसी समय शत्रु-सैन्य द्वारा परास्त हुआ राजा किसी दूसरे देशमें या जंगलोंमें छिपकर रहता है और उसके राज्यपर दूसरे विदेशी राजाका अधिकार होता है। ऐसे समयमें राज्यमें रहनेवाले लोग तथा पुराने समयके अधिकार संपन्न वीर राज्यक्रान्ति करनेका यत्न करें, पुरुषार्थ प्रयत्नसे शत्रुका पराभव करें और अपने पुराने राजाको लाकर बडे सन्मानके साथ पुनः राजगद्दीपर स्थापित करें। " यह भी उपदेश यहां दिखाई देता है। पुराणोंमें इन्द्रकी एक कथा भी इस प्रकार की रची हुई है, कि असुरोंके द्वारा इन्द्रका पराभव हुआ, वह भाग गया और छिपकर किसी प्रदेशमें रहा, देवोंने अपने पुरुषार्थ प्रयत्नसे असुरोंका पराभव करके इन्द्रको ढूंढा और पुनः इन्द्रपद पर स्थापित किया। यह कथा महाभारत उद्योगपर्व अ० १० से १५ तक पाठक देख सकते हैं। पाठक इन सब राजकीय घटनाओंको मनमें रखते हुए इन दो सूक्तोंका अभ्यास करें और मनन करें। ऐसा करनेसे ही इन सूक्तों द्वारा राजनीतिका बहुतसा उपदेश मिल सकता है।

आत्मरक्षा।

तृतीय सूक्तने सबसे प्रथम आत्म रक्षाका बडा महत्त्वपूर्ण संदेश प्रारंभमें ही कहा है। यह संदेश हरएक वैदिक धर्मीको ध्यानमें धारण करना चाहिये—

इह स्व-पा भुवत् (इति) अचिक्रदत् ॥ (सू० ३ मं० १)

" यहां आत्मरक्षा करनेवाला मनुष्य बने, ऐसा पुकार पुकार कर कहा गया है।" इस जगत्में यदि मनुष्यको संमान से जीवित रहना है तो (स्वपाः) आत्मरक्षा करना उसके लिये अत्यावश्यक है। यह बात जैसी एक मनुष्यके लिये सत्य है वैसीही एक समाज और एक राष्ट्रके लिये भी सत्य है। जिस समय एक समाज आत्मरक्षा करनेमें दक्ष नहीं रहता उस समय दूसरा समाज उसपर हमला चढानेमें प्रवृत्त होता है। इसी प्रकार जिस समय एक राष्ट्र आत्मरक्षा करनेमें समर्थ नहीं होता है, उसी समय दूसरा राष्ट्र उसपर आक्रमण करता है और उसको परतंत्र बनाकर उसपर अधिकार चलाने लगता है। आत्मरक्षा करनेकी असमर्थता बडाभारी अपराध है, जो राष्ट्र परतंत्र हुए हैं वे स्वानुभवसे इस वैदिक उपदेशका महत्त्व जान सकते हैं। आत्मरक्षाका अत्यंत महत्त्व है इसी लिये इस मंत्रने कहा है कि यह बात वारंवार पुकार पुकार कर कही है। जो

बात अत्यंत महत्त्वकी होती है वही वारंवार पुकार पुकार कर कही जाती है। इस कारण जो बात वेदने अनेक वार पुकार पुकार कर कही है वह मनुष्यमात्रकी उन्नतिकी दृष्टिसे अत्यंत महत्त्व पूर्ण है इसमें कोई संदेह ही नहीं है। पाठक इस दृष्टिसे इस आत्मरक्षाके वैदिक उपदेशका स्मरण रखें।

आत्मरक्षाका सामर्थ्य न रखनेवाला राष्ट्र और उसका राजा ही परास्त होता है और आपत्तिमें गिरता है। आत्मरक्षा करनेवालेकी तेजोवृद्धि होती है इस विषयमें इसी मंत्रका अगला भाग देखिये—

अग्ने! उरूची रोदसी व्यचस्व ॥ (सू० ३ मं० १)

"अग्निके समान तेजस्वी! तू इस विशाल द्यावापृथिवीके अंदर फैल जाओ।" आत्मरक्षा करनेवालेका आदर्श अग्नि है, यह अग्नि सदा उर्ध्व गतिसे जलता और प्रकाशता है। "अग्नेः ऊर्ध्वज्वलनं" अग्निकी ज्वलनकी गति उच्चगति है। उच्चगतिवाले सदा उन्नतही होते रहेंगे और अपना तेज फैलायेंगे और संपूर्ण जगत्को प्रकाशमान करेंगे। आत्मरक्षा करनेवालोंका यश जगत्में चारों दिशाओंमें फैलता ही है॥ आत्मरक्षा करने वाले की गति तो अग्निके प्रचंड प्रकाश से बताई है। जिसको नित्य देखकर वैदिक धर्मी आत्मरक्षा करनेके अपने कर्तव्यको कभी न भूलें। अब देखिये कि आत्मरक्षा न करनेवालेकी अवस्था क्या होती है—

अन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तं ॥ (सू० १ मं० ४)

"दूसरेके देशमें प्रतिबंधमें भटकता है।" जो आत्मरक्षा नहीं करता वह दूसरेके अधिकारमें प्रतिबंधमें पडता है, दूसरे देशमें छिपछिपकर रहता है, किसी न किसी प्रकार बंदिखानेमें सडता रहता है। यह आत्मरक्षा न करनेका परिणाम है। यह परवशता का भयानक परिणाम आत्मरक्षा न करनेसे प्राप्त होता है यह जानकर मनुष्य, समाज, राष्ट्र तथा राजा आत्मरक्षाका अपना परमश्रेष्ठ कर्तव्य कभी न भूले; यह आदेश वेद इस सूक्तद्वारा देता है और वारंवार उद्घोषित करता है कि मनुष्य इस आत्मरक्षाकी बातको कभी न भूले।

सौत्रामणी याग।

"सौत्रामणी" नामक एक बडाभारी यज्ञ है। इसमें मुख्य ध्येय अथवा साध्य क्या है वह तैत्तिरीय संहिताके वचनसे स्पष्ट होता है—

इन्द्रस्य सुषुवाणस्य दशधेन्द्रियं वीर्यं परापतत्।
तद्देवाः सौत्रामण्या समभरन्॥ तै० सं० ५।६।३।४

" इन्द्रका वीर्य दस दिशाओंमें विभिन्न मार्गोंसे विभक्त हो गया था, वह देवोंने सौत्रामणी यागसे एकत्रित किया। " अर्थात् इस सौत्रामणी याग का साध्य बिखरी हुई शक्तिको इकट्ठा करना है। " सु+त्रामन् " शब्द का अर्थ है (सु) उत्तम (त्रा-मन्) रक्षा करनेकी बुद्धिपूर्वक शक्ति। यह जिससे प्राप्त होती है उसको " सौ-त्रा-मणी याग " कहते हैं। पूर्वोक्त तैत्तिरीय संहिताके वचनमें भी बिखरी हुई इन्द्रकी शक्ति इकट्ठी करने के लिये ही सौत्रामणी याग बनाया गया और उस यागसे वह शक्ति केन्द्रीभूत होगई इत्यादि बात स्पष्ट है। अर्थात् सौत्रामणीयाग से संगठन होता है और राष्ट्रीय शक्ति बढती है। इसीलिये इस तृतीय सूक्तके द्वितीय मंत्रमें सौत्रामणी यज्ञ के द्वारा राज्यभ्रष्ट राजाको फिर राज गद्दीपर लाते हैं, ऐसा कहा है-

दूरे सन्तं विप्रं इन्द्रं सख्याय अरुषासः आच्यावयन्तु।

(सू० ३ मं० २)

" राज्यसे दूर हुए ज्ञानी नरेन्द्रको सख्यके लिये तेजस्वी लोग उस गुप्त स्थानसे यहां लावें। " राज्यभ्रष्ट राजा जंगलों में था (अन्य-क्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तं। मं० ४) दूसरे देशमें छिप छिप कर रहता है उसको पुनः राज्यपर स्थापित करनेके लिये ज्ञानी लोग अपने राज्यमें ले आवें; उसका सख्य पुनः जनताके साथ पूर्ववत् हो; और ज्ञानी इन्द्रही राजगद्दीपर बैठ जावे; इस लिये यह सब प्रयत्न है। यह सब प्रयत्न करने के लिये सौत्रामणी याग किया जाता है ऐसा इसी द्वितीय मंत्रके उत्तरार्धमें कहा है—

देवाः अस्मै गायत्रीं बृहतीं अर्कं सौत्रामण्या दधृषन्त।

(सू० ३ मं. २)

" देव इस राजाके लिये गायत्री बृहती आदि रूप अर्चन सत्कार सौत्रामणी यागके द्वारा करते हैं। " राजगद्दीपर राजाको बिठलानेका प्रबंध करनेके लिये सौत्रामणी याग करते हैं; इस यागसे अपनी बिखरी हुई शक्तिको इकट्ठी करते हैं और उस शक्ति द्वारा उस राजाको अपने राज्यमें लाकर उसका बडा सत्कार करते हैं। इस सत्कारका स्वरूप देखिये—

वरुणो राजा त्वा अद्भ्यः ह्वयतु।
सोमः त्वा पर्वतेभ्यः ह्वयतु।
इन्द्रः त्वा आभ्यः विड्भ्यः ह्वयतु॥ (सू० ३ मं. ३)
अश्विना ते सुगं पन्थां कृणुताम्॥ (सू० ३ मं. ४)
प्रतिजनाः त्वा ह्वयन्तु, मित्राः प्रति अधूषत॥ (सू० ३ मं. ५)

" वरुण राजा जलस्थानों के संरक्षणके लिये तुझे बुलावे, सोम राजा पर्वतोंकी रक्षाके लिये तुझे बुलावे, इन्द्र तुझे इन प्रजाजनोंकी सुव्यवस्था के लिये बुलावे ॥ अग्निदेव यहां आनेका तेरा मार्ग सुगम करें । प्रत्येक प्रजाजन आदरसे तुझे बुलावे और मित्र सदा तेरा बल बढावें । "

राज्य प्रबंधमें समुद्र किनारेका प्रबंध, पर्वत स्थानोंका प्रबंध ये दो प्रबंध अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्वके हैं और प्रजाजनोंके सुप्रबंधका कार्य राष्ट्रके अंतर्गत व्यवहारका है । समुद्रमें नौका, जलदुर्ग आदिकी रक्षाका प्रबंध करना होता है और पर्वतों पर भी कीले आदि का प्रबंध आवश्यक होता है । प्रजाकी सुव्यवस्थाका प्रबंध तो राज्य शासनका मुख्य भाग है ही, इसमें कोई संदेह नहीं है । इन प्रबंधोंको करनेके लिये राजाको पुनः राजगद्दीपर स्थापित किया जाय, यह तात्पर्य यहां है । राजाके कर्तव्योंकी भी सूचना यहां मिलती है । सब देवताओंकी सहायता भी इस राजाको प्राप्त हो और इस प्रकार देवताओंकी सहायतासे बलवान बनाहुआ अपने देशका राजा शत्रुके लिये असह्य हो, यह इच्छा प्रजाजनोंके नेताओंके अंतःकरणमें रहना चाहिये । देखिये इस विषयमें अगला मंत्रही कहता है --

इन्द्राग्नी विश्वे देवाः विशि ते क्षेमं अदीधरन् । सू० ३ मं० ५

" इन्द्र, अग्नि और संपूर्ण अन्य देव प्रजामें तेरा कल्याण संवर्धित करें । " अर्थात् इन देवोंकी कृपासे तेरी प्रजाका भी कल्याण होवे और प्रजाके आनंदके साथ तेरा भी कल्याण होवे । यहां--

ते क्षेमं विशि । (सू० ३ मं० ५)

"तेरा (राजाका) कल्याण प्रजामें बसता है ।" अर्थात् प्रजा जनोंके कल्याण होनेसेही राजाका कल्याण होना संभव है अन्यथा नहीं । जो राजा प्रजाके कल्याणके साथ अपने कल्याणका संबंध नहीं जानता वह सच्चा राजा ही नहीं है । यजुर्वेदमें भी कहा है कि-

विशि राजा प्रतिष्ठितः । यजु. २० । ९

"प्रजाके आश्रयसे राजा सुप्रतिष्ठित होता है ।" प्रजा न हो तो राजा कहां रहेगा ? परंतु राजा न होनेकी अवस्थामें प्रजा रह सकती है, इस कारण कहते हैं कि राजा प्रजाके आश्रयसे रहता है, परंतु प्रजा राजाके आश्रयके विना भी रह सकती है । अत एव राजा का कल्याण प्रजाके कल्याणमें है । "ते क्षेमं विशि" इस अथर्व मंत्रका इस दृष्टिसे पाठक मनन करें । ऐसे राजाको सजातीय लोग अपने राज्यमें पुनः स्थापन करें, इसविषयमें इस सूक्तका चतुर्थ मंत्र देखिये-

सजाताः इमं (राजानं) अभि-सं-विशध्वम् ॥ (सू० ३ मं ४)

"सजातीय लोग इस राजाको (अभि) चारों ओरसे (सं) ठीक प्रकार (विशध्वं) प्रवेश करावें।" राजा अपने राष्ट्रमें आवे तो स्वजातीयों के साथ ही आवे। वे उसकी सुरक्षितताका प्रबंध करें और चारों ओर उत्तम प्रबंध रखें, राजाकी सुरक्षितताके लिये उत्तम यत्न किया जाय और स्वराष्ट्रमें ऐसे सुप्रबंधके साथ उसका प्रवेश कराया जाय। स्वजातीय (सजाताः) लोग ही राजाके रक्षक हो सकते हैं, परजातीय लोग किस समय धोखा देंगे इसका कोई नियम नहीं है, इसलिये राजा भी स्वजातीय लोगोंके ऊपर अधिक विश्वास रखे और उनका योग्य सन्मान करता रहे। नहीं तो कई राजा ऐसे होते हैं कि जो विदेशियों और परकीयोंपर तो अधिक विश्वास रखते हैं और स्वदेशीयों तथा स्वजातीयोंपर अविश्वास करते हैं। इस आत्मघातके बर्ताव का परिणाम उसको अंतमें बुरी तरह भोगना पडता है। इस लिये इस मंत्रभागने स्वजातीय लोगोंको विश्वासमें लेनेकी सूचना की है जो राजनीतिमें विशेष महत्त्व की है। जहां स्वजातीय लोग सहायताके लिये तैयार हैं वहां राजा विश्वाससे वेगपूर्वक जावे और अपना कार्य प्रारंभ करे; इस विषयमें यह मंत्र देखिये —

श्येनः भूत्वा इमाः विशः आपत ॥ (सू० ३ मं० ३)

" श्येन पक्षीके समान वेगसे इस प्रजामें आ पड " अर्थात् जहां प्रजाजनों के भद्र पुरुष सहायता करनेको तैयार हैं वहां राजाको त्वराके साथ पहुंच कर अपना प्रजापालन का कार्य करना चाहिये।

विरोधी मनुष्य।

सजातीय लोग प्रायः सदा राजाकी सहायताके लिये तैयार ही रहेंगे, क्यों कि राजाका गौरव बढनेसे उनका भी यश बढता ही है, तथापि कई लोग शत्रुपक्षको मिल कर उत्तम राजाको राष्ट्रमें पुनः स्थापित करनेके विरोधी भी होना संभव है, उनका क्या किया जाय, यह शंका यहां हो सकती है; इस शंका का उत्तर इस सूक्तके षष्ठ मंत्रने दिया है, देखिये —

यः सजातः, यः च निष्ट्यः, ते हवं विवदत्,
तं अपाश्चं कृत्वा, अथ इमं इह अवगमय ॥
(सू० ३ मं० ६)

" कोई सजातीय अथवा कोई विजातीय या विदेशीय मनुष्य तेरे राज्यारोहणके

शुभ प्रसंगके विरुद्ध विवाद खडा करनेवाला हो तो उसको बहिष्कृत करके, पश्चात् इस राजाको यहां ले आओ।"

सर्व संमतिसे जिस राजाको राज्यकी गद्दी दी जाती है, उसके विरुद्ध कार्यवाही करने वाला यदि कोई मनुष्य हो तो (अपाश्चं तं कृत्वा) उसको अलग करके ही अन्य श्रेष्ठ लोगोंको अपना प्रशस्त कर्तव्य करना चाहिये। राज्यकी अंतर्गत व्यवस्था करनेके प्रसंगमें इस प्रकारके कई झगडे होते ही रहते हैं, इस लिये उसको दूर करनेका एक उपाय यहां बताया है, इसके अनुसंधानसे पाठक अन्य उपद्रव दूर कर सकते हैं।

चतुर्थ सूक्त ।

यहां तृतीय सूक्तका विचार समाप्त हुआ और अब इसी विषयसे संबंध रखनेवाले चतुर्थ सूक्तका विचार करते हैं। तृतीय सूक्तका संबंध बाहर रहनेवाले राजाको पुनः स्वराज्यमें लाकर राज्यपर स्थापित करनेके महत्त्वपूर्ण कार्यके साथ है और इस चतुर्थ सूक्तका संबंध सर्व साधारण राजाको और विशेषतः प्रजाके चुने हुए राजाको राज गद्दीपर बिठलानेके कार्य के साथ है, इस लिये इस चतुर्थ सूक्तका संबंध एक रीतिसे तृतीय सूक्तके साथ है और दूसरे विचार से देखा जाय तो यह चतुर्थ सूक्त स्वतंत्र भी है। राजाका राज्याभिषेक इस चतुर्थ सूक्तका मुख्य विषय है। इस सूक्तमें प्रजाद्वारा राजाका चुनाव होनेका वर्णन मुख्य स्थान रखता है, वही पहले देखेंगे—

राजाका चुनाव ।

राजाका पुत्र हो अथवा नयाही योग्य वीर हो, उसको प्रजाकी संमतिसे ही राज्य प्राप्त होता था। श्री रामचंद्र जैसे सर्व मान्य पुरुषोंको भी राज्य प्राप्त होने के लिये प्रजाकी अनुमति लेनी पडी थी, इस बातको देखनेसे प्रजाकी संमती प्रबल शक्ति रखती थी ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है, इस सूक्तने इस वैदिक रीतिपर बहुत ही उत्तम प्रकाश डाला है, देखिये—

प्रदिशः देवीः इमाः पञ्च विशः त्वां राज्याय वृणताम्।

(सू० ४ मं० २)

" दिशा उपदिशाओंमें रहनेवाली यह दिव्य पांच प्रकारकी प्रजा तुझको राज्यके आधिपत्यके लिये चुनें।" प्रजा राज्यशासन चलाने के लिये तेरा स्वीकार करे, ऐसा कहने मात्रसे राजगद्दीपर राजाको रखने या न रखनेका अधिकार प्रजाके आधीन है यह बात स्वयं सिद्ध होती है। अथर्व वेदमें इस बातको जताने वाले कई सूक्त हैं,

उनका विचार उनके स्थानपर यथावकाश होगा, पाठक भी ऐसे स्थान स्थानपर आनेवाले उल्लेखोंको इकट्ठा करके सबका मिलकर इकट्ठा विचार करेंगे तो उनको वैदिक राजनीति शास्त्रका ज्ञान होगा। अस्तु। इस प्रकार राजाका चुनाव करके उनको राज्यपदके लिये स्वीकार करनेका अधिकार प्रजाका है यह बात इस मंत्रभाग द्वारा सिद्ध होगई, अब इस सूक्तके इसी भावके पोषक मंत्र भाग यहां देखिये—

हे राजन्! सर्वाः प्रदिशः (प्रजाः) त्वा ह्वयन्तु। (मं० १)
हविनः सजाताः त्वा अच्छ यन्तु। (मं० ३)
बहुधा विरूपाः सर्वाः (प्रजाः) संगत्य ते वरीयः अक्रन्। (मंत्र०७)
ताः संविदानाः सर्वाः (प्रजाः) त्वा ह्वयन्तु। (मं० ७)

"हे राजन्! सब दिशाओंमें रहनेवाली सब प्रजा तुझे पुकारें॥ भेंट लानेवाले स्वजातीय लोग तेरे संमुख आजावें। बहुत करके विभिन्न रूपवाली सब प्रजा एकत्र सभा करके तुझे श्रेष्ठ बनावे॥ वह जाननेवाली सब प्रजा तुझे ही बुलावें॥" इत्यादि मंत्रभाग प्रजाकी अनुमति राजाके लिये अत्यंत आवश्यक है यही बात बता रहे हैं। इस लिये इस सूक्तका स्पष्ट आशय यही है कि प्रजाद्वारा स्वीकृत होकर ही राजा राजगद्दी पर आजावे। किसी पुरुषको जन्मतः राजगद्दीका अधिकार नहीं हो सकता, परंतु जिसको प्रजा स्वीकृत करे वही राजपदके लिये योग्य हो सकता है। इस सूक्तके उपदेशमें यह महत्त्वपूर्ण बात पाठक अवश्य देखें और वैदिक धर्म के अनुकूल प्रजानियुक्त तथा प्रजासंमत ही राजा है यह स्मरण रखें।

प्रजाका पालन।

राज्याभिषेक के समयही प्रजाके चुने और पसंद किये राजाको राजगद्दीपर अभिषिक्त होनेके समय बताया जाता है कि अब तेरा प्रजापालनरूप कर्तव्य है देखिये—

१ राष्ट्रं त्वा आगन्,
२ वर्चसा सह उदिहि,
३ विशां पतिः प्राङ् एकराट् त्वं विराज,
४ उपसद्यः नमस्यः च इह भव॥ (मं० १)

"हे राजन्! (१) अब तेरे पास यह राष्ट्र आगया है, (२) अपने प्रकाशके साथ उदयको प्राप्त हो, (३) प्रजाका पालक मुख्य एक राजा होकर तू विशेष प्रकाशमान

हो, (४) तथा सब प्रजाओंको पास जाने योग्य और नमस्कार करने योग्य बन।" इस प्रथम मंत्र में "प्रजा-पति" बन, यह आदेश है, पति शब्दका यद्यपि प्रसिद्ध अर्थ स्वामी या मालिक है तथापि यह शब्द "पा" धातुसे बननेके कारण (पाति रक्षति) पालन करनेवालेका वाचकही मुख्यतया यह शब्द है। जो पालन करता है वही पति कहलाने योग्य है, इस लिये प्रजापति (विशां पतिः) ये शब्द प्रजापालन रूप राजाका कर्तव्य बताते हैं। राजा शब्द भी वस्तुतः अनियंत्रित राजाका वाचक नहीं है, प्रत्युत (रंजयति) प्रजाका रंजन करनेवाले उत्तम राजाका वाचक है। इस प्रकार यहां प्रजा-पालन रूप राजाका मुख्य कर्तव्य बताया है। ऐसे राजाको ही प्रजा प्रेमसे (नमस्यः) नमन करती है अर्थात् उसीका सत्कार करती है। राजा ऐसा हो कि जो आवश्यकता पडनेपर प्रजाको (उपसद्यः) मिल सके। जिसका दर्शन प्रजा कर सके ऐसा राजा हो। जो राजा सदा मंत्रियोंसे घिरा रहता है और त्रस्त प्रजाका दर्शनभी नहीं कर सकता वह प्रजासे नमस्कार कैसा प्राप्त कर सकता है? इससे स्पष्ट हो सकता है कि प्रजाका नमस्कार प्राप्त करनेके लिये प्रजाको मिलना आवश्यक ही है।

इस मंत्रके (राष्ट्रं त्वा आगन्) राष्ट्र तेरे पास आगया है इस वाक्यसे स्पष्ट हो रहा है कि राष्ट्र अपनी संमतिसे तेरे समीप आया है, अर्थात् राष्ट्रके पांच प्रकारके प्रजाजनों ने राजगद्दीके लिये तुझे चुना है इस लिये उनकी निज संमतिसे ही यह राष्ट्र तुझे प्राप्त हुआ है, इस कारण तुझे उचित है कि तू राष्ट्रका पालन ऐसा कर कि सदा सर्वदा भविष्य कालमें राष्ट्रकी संमति तेरे अनुकूल ही रहे और कभी प्रतिकूल न बने। इस मंत्रका विचार करके पाठक जानें कि राजाको प्रजाकी अनुकूल संमतिकी कितनी आव-श्यकता है। प्रजाकी अनुमतिके विना राजा राजगद्दीपर रह ही नहीं सकता, यह स्पष्ट आशय यहां प्रतीत होता है।

धनोंका विभाग।

प्रजाओंमें धनका विषम विभाग हुआ तो अतिधनी बने हुए लोग निर्धनोंपर बडा दबाव डालते हैं और उस कारण निर्धन लोग पीसे जाते हैं। इसलिये राजाके आवश्यक कर्तव्योंमेंसे एक यह कर्तव्य वेदने बताया है कि वह प्रजाओंमें योग्य प्रमाणसे वसु-विभाग करे। धन की विषमता प्रजामें न हो इस विषयमें वेदमें स्थान स्थान पर आदेश हैं—

१ राष्ट्रस्य वर्ष्मन् ककुदि श्रयस्व
ततः उग्रः (भूत्वा) नः वसूनि विभज ॥ (मं० २)
२ अध मनः वसुदेयाय कृणुष्व
ततः उग्रः (भूत्वा) नः वसूनि विभज ॥ (मं० ४)

" (१) राष्ट्रके ऐश्वर्यमय उच्च स्थानपर चढकर, उग्र बनकर हमारे लिये धनको विभक्त कर ॥ (२) पश्चात् अपना मन धन के दान के लिये अनुकूल कर, उग्र बनकर हमारे लिये धनका विभाग करके बांट दे। " इन दो मंत्रभागोंमें पहले कहा है कि " हे राजन् ! तू सबसे पहले राष्ट्रके अत्यंत उच्च स्थानपर अर्थात् राजगद्दीपर आरूढ हो, पश्चात् उग्र बन अर्थात् नरम दिलवाला न बन और प्रजामें धनका विभाग कर । "

यद्यपि राजा प्रजाकी अनुमतिसे ही राजगद्दीपर बैठता है तथापि उसको गद्दीपर बैठनेके पश्चात् उग्र बनना चाहिये । यदि वह नरम दिलवाला बनेगा तो उससे राजाके कर्तव्य ठीक प्रकार निभाये जाना अशक्य है । धर्माधर्मका निर्णय करके अधर्माचरण करनेवालेको योग्य शासन करनेका कार्य उग्र बननेके विना नहीं हो सकता । इसलिये राजाको उग्र बनना अत्यंत आवश्यक है । उग्र बनकर और पक्षपात छोडकर अपना कर्तव्य राजाको करना चाहिये ।

धन विभाग ठीक प्रकार करनेके लिये राजाको न तो धनिकोंका पक्षपात करना योग्य है और ना ही निर्धनोंका पक्ष लेना चाहिये । राष्ट्रमें धन विषम प्रमाण में न बंट जाय यह देखते हुए अपना वसुविभाग का कर्तव्य पूर्ण करना चाहिये । यह बडा कठिन है, परंतु राज्यकी सुस्थिति के लिये अत्यंत आवश्यक है । धनकी विषमता, अधिकार की विषमता, ज्ञानकी विषमता और जातीकी उच्चनीचताकी विषमता आदि अनेक विषमताएं होती हैं, उनमें धन और अधिकार की विषमता बडी घातक होती है, इस विषमता के कारण दबे हुए मनुष्य उठना कठिन हो जाता है और जो दबी जातीकी भयानक स्थिति होती है वह सब जानते ही हैं । इसलिये वसुविभाग नामक राजाके कर्तव्य में धनविषयक विषमता दूर करनेका उपदेश किया है । इसका महत्त्व पाठक समझें ।

शुभसंकल्प ।

प्रजाजनोंको शुभसंकल्पवाले बनाना भी राजाका एक मुख्य कर्तव्य है, इसका प्रारंभ राष्ट्रकी माताओं और राष्ट्रके सुपुत्रोंसे होना योग्य है इस विषयमें देखिये —

जायाः पुत्राः सुमनसः भवन्तु। (मं० ३)

हे राजन्! तू अपने राज्यमें शिक्षाका प्रबंध ऐसा कर कि जिससे " स्त्रियां और बालबच्चे उत्तम विचार वाले बनें। " जिस राष्ट्रकी माताएं और बालबच्चे सब उत्तम विचारवाले बने हों उस राष्ट्रकी गणना स्वर्गमें ही हो सकती है। सुविचार वाली कन्याएं और शुभ संकल्पवाले कुमार राष्ट्रमें बढनेसे ही ब्रह्मचर्यका वायुमंडल बन सकता है, अन्यथा जो होना संभव है वह आजकल प्रत्यक्षही दिखाई देरहा है। राष्ट्रमें विद्याके अधिकारी शिक्षक तथा अन्य प्रबंधके शासनाधिकारी जिस समय उत्तम ब्रह्मचारी होसकते हैं उस समय ही राष्ट्रकी सब कन्याएं और सब कुमार उत्तम संकल्पवाले हो सकते हैं। पाठक इस बातका खूब विचार करें। यह एक अपूर्व उपदेश वेदने यहां बताया है जो प्राचीन समय व्यवहारमें आया था, परंतु अब वह फिर शीघ्र व्यवहारमें आवेगा ऐसा दिखाई नहीं देता। क्योंकि अवैदिक वायुमंडल बढ रहा है। इस लिये वैदिक धर्मी आर्योंको उचित है कि वे कुमारी और कुमारोंके अंदर पवित्र विचारका वायुमंडल उत्पन्न करनेका प्रयत्न करें और यह आदर्श अपने मनमें सदा जाग्रत रखें।

राजाका रहना सहना।

राजाका व्यवहार सीधासादा हो, राजा साधारण मनुष्य जैसा बनकर किसी किसी समय राष्ट्रमें भ्रमण भी करे और प्रत्यक्ष जनताका सुख दुःख अवलोकन करे इस विषयमें आदेश देखिये—

इन्द्रेन्द्र! मनुष्याः (वत्) परेहि,
वरुणैः संविदानः सं अज्ञास्थाः॥
स अयं त्वा स्वे सधस्थे अह्वत्,
स उ देवान् यक्षत्; विशः कल्पयात्॥ (मं० ६)

" हे राजन्! साधारण लोगोंके समान बनकर दूर दूर तक जनतामें भ्रमण कर, वहांके श्रेष्ठ मनुष्योंके साथ मिलजुल कर उनकी सब अवस्थाको जान॥ वे तुझे अपने घर बुलावें और यज्ञ करें; इस प्रकार प्रजाओंकी उन्नति कर॥ "

यह मंत्र बहुत दृष्टियोंसे मनन पूर्वक देखने योग्य है। सबसे पहिले इसमें यह कहा है कि राजा किसी किसी समय अपने दरबारी थाट को अलग करके स्वयं साधारण मनुष्योंके भेषमें होकर साधारण मनुष्योंके समान बनकर नगरोंमें भ्रमण करे और अपने

आंखोंसे देखे कि अपने प्रजाकी अवस्था कैसी है, क्या प्रजा किसी प्रकार कष्टमें है या सुखमें है। अपने कर्मचारी प्रजाके साथ कैसा व्यवहार करते हैं। वहांके जो (वरुणैः= वरैः) प्रमुख लोग हों जो विशेष समझदार हों उनसे मिलकर सब अवस्थाको जान लो कि किस बातमें सुधार करके प्रजाका सुख बढाना चाहिये। ऐसा स्वयं देखनेसे तुम्हें पता लग जायगा कि राज्य प्रबंधमें दोष कहां है और गुण कहां है।

दूसरी बात इसी मंत्रमें जो कही है वह यह है कि प्रजाके लोग राजाको विशेष समय अपने घर बुलावें, राजा वहां जावे, उनके साथ मिलजुलकर बातचीत करे, सब मिलकर यज्ञ याग आदि करें; इस रीतिसे राजा प्रजाको समर्थ बनावे और प्रजाकी उन्नति करे।

ये सभी उपदेश उत्तम हैं और जैसे राजाको वैसे ही राजपुरुषोंको भी सदा मनन करने योग्य हैं।

दूतका संचार।

राजा स्वयं अपने राज्यमें भ्रमण करे और सब व्यवस्था स्वयं अपने आंखसे देखे, इस विषयमें ऊपर कहा ही है; परंतु अकेला राजा कहांतक भ्रमण कर सकता है और कहांतक देख सकता है, राजा लोग दूतोंके आंखोंसे ही देख सकते हैं, इसलिये दूतोंका संचार करानेके विषयमें तृतीय मंत्रमें कहा है—

अजिरः दूतः संचरातै। (मं० ३)

"युवा दूत संचार करे।" राष्ट्रमें दूतोंका संचार कराके राजा सब जानने योग्य बातें जान लेवे। और इस ज्ञानसे अपने शासन प्रबंधमें जो कुछ न्यूनाधिक करना हो वह करता रहे। अर्थात् दूत संचार यह शासनका एक आवश्यक अंग है क्योंकि इससे राजाको शासन विषयक प्रजाके सुख दुःखोंका पता लगता है। इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करके अपना शासन चलानेवाला राजा प्रजाको अत्यंत प्रिय होता है, इसलिये प्रजा भी उस राजाका सत्कार विविध प्रकारकी भेंट देकर करती है। इस विषयमें देखिये—

(१) हविनः सजाताः त्वा अच्छ यन्तु ॥ (मं० ३)
(२) उग्रः बहुं बलिं प्रति पश्यासै ॥ (मं० ३)

(१) " हवि लेकर स्वजातीके लोग तेरे सन्मुख उपस्थित हों। (२) उग्र बन कर बहुत भेंट तू देखेगा। " इत्यादि प्रकार प्रजासे बडा सत्कार राजा प्राप्त कर सकता है। तथा—

(१) ते द्यावापृथिवी शिवे स्ताम्। (मं० ५)
(२) उग्रः सुमनाः इह दशमीं वश। (मं० ७)

(१) " हे राजन्! तेरे लिये द्यावापृथिवी कल्याणपूर्ण हों, और (२) तू उग्र तथा उत्तम मनवाला बनकर यहां सौ वर्ष तक राज्यको अपने वशमें कर। " इसीप्रकार " सब देवोंकी सहायता इस राजाको मिले " (मं० ४) इत्यादि प्रकारकी इच्छा लोग उसी समय करेंगे कि जिस समय राजाभी प्रजाका सुख बढानेमें दत्तचित्त होता हो। जो राजा प्रजाके सुख की पर्वाह न करता हो उसके हिताहित की फिक्र प्रजा भी नहीं करती। इस लिये हरएक राजाको सदा ध्यानमें यह बात रखना चाहिये कि " मेरे पास जो राजपद आया है वह प्रजापालन करनेके लिये आया है, न कि अपने सुखभोग भोगने के लिये। " यह भाव मनमें रखता हुआ राजा अपना कर्तव्य योग्य रीतिसे पालन करे।

वरुण।

यहां एक वैदिक वर्णन शैलीकी विशेषता आगई है वह अवश्य देखने योग्य है। इन्द्र वरुण आदि शब्द देवतोंके वाचक ही होते हैं अन्य किसी के वाचक नहीं हो सकते। ऐसा सामान्यतया साधारण लोग समझते हैं। परंतु ये शब्द कभी कभी विशेषण रूप होकर किसी अन्यके गुण बोधक होते हैं और कभी स्वयं किसी अन्य पदार्थ के वाचक भी होते हैं। यहां वरुण शब्द बहुवचनमें आया है इसलिये यह वरुण देवता वाचक निःसंदेह नहीं है, क्यों कि जिस समय वरुण देवताका वाचक यह शब्द होता है उस समय यह सदा एकवचन में ही होता है। यह बहुवचनमें होनेके कारण यह यहां प्रजाजनों का वाचक है। "वरुण, वरण, वर्ण" इस प्रकार यह " चार वर्णोंके लोगों " का वाचक हो सकता है किंवा वर अर्थात् श्रेष्ठोंका भी वाचक हो सकता है। यहां हमारे मतसे " वर्ण " अर्थ लेना अधिक योग्य है, तथापि इसका अधिक विचार पाठक करें।

राजा और राजाके बनानेवाले।

[५]

(ऋषिः - अथर्वा । देवता — सोमः)

आयमगन्पर्णमणिर्बली बलेन प्रमृणन्त्सपत्नान् ।
ओजो देवानां पय ओषधीनां वर्चसा मा जिन्वत्वप्रयावन् ॥ १ ॥
मयि क्षत्रं पर्णमणे मयि धारयताद्रयिम् ।
अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः ॥ २ ॥
यं निदधुर्वनस्पतौ गुह्यं देवाः प्रियं मणिम् ।
तमस्मभ्यं सहायुषा देवा ददतु भर्तवे ॥ ३ ॥
सोमस्य पर्णः सह उग्रमागन्निन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टः ।
तं प्रियासं बहु रोचमानो दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ ४ ॥
आ मारुक्षत्पर्णमणिर्मह्या अरिष्टतातये ।
यथाहमुत्तरोऽसान्यर्यम्ण उत संविदः ॥ ५ ॥
ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः ।
उपस्तीन्पर्ण मह्यं त्वं सर्वान्कृण्वभितो जनान् ॥ ६ ॥
ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये ।
उपस्तीन्पर्ण मह्यं त्वं सर्वान्कृण्वभितो जनान् ॥ ७ ॥
पर्णोऽसि तनूपानः सयोनिर्वीरो वीरेण मया ।
संवत्सरस्य तेजसा तेन बध्नामि त्वा मणे ॥ ८ ॥

[इति प्रथमोऽनुवाकः ।]

अर्थ— (अयं बली पर्णमणिः) यह बलवान् पर्णमणि (बलेन सपत्नान् प्रमृणन्) बलसे शत्रुओंका नाश करता हुआ (आ अगन्) आया है। यह (देवानां ओजः) देवोंका बल और (ओषधीनां पयः) औषधियोंका रस है। यह (अप्रयावन् वर्चसा मा जिन्वतु) विरोध न करता हुआ तेजसे मुझे संयुक्त करे ॥ १ ॥ हे पर्णमणे ! (मयि क्षत्रं) मुझमें क्षात्र बल और (मयि रयिं धारयतात्) मुझमें धन धारण कर। (अहं राष्ट्रस्य अभीवर्गे)

मैं राष्ट्रके आप्तपुरुषोंमें (उत्तमः निजः भूयासं) उत्तम निज बनकर रहूं ॥ २ ॥ (यं गुह्यं प्रियं मणिं देवाः वनस्पतौ निदधुः) जिस गुह्य और प्रिय मणिको देवोंने वनस्पतिमें धारण किया था, (तं देवाः अस्मभ्यं आयुषा सह भर्तवे ददतु) उस मणिको देव हमें आयुके साथ पोषणके लिये देवें ॥ ३ ॥ (इन्द्रेण दत्तः) इन्द्रने दिया हुआ, (वरुणेन शिष्टः) वरुण द्वारा संस्कृत बना (सोमस्य पर्णः) सोम देवताका यह पर्णमणि (उग्रं सहः आ अगन्) उग्र बलसे युक्त होकर प्राप्त हुआ है। (तं) उस मणिके लिये (बहु रोचमानः) बहुत तेजस्वी मैं (दीर्घायुत्वाय शतशारदाय) दीर्घ आयुके लिये और सौ वर्षके जीवन के लिये (प्रियासं) प्रिय करूं ॥ ४ ॥ (पर्णमणिः मह्यै अरिष्टतातये) यह पर्णमणि बडे कल्याणके फैलाने के लिये (मा आ अरुक्षत्) मुझपर आरूढ हुआ है। (यथा अहं अर्यम्णः) जिससे मैं श्रेष्ठ मनवाले (उत संविदः) और ज्ञानीसे भी (उत्तरः असानि) अधिक श्रेष्ठ हो जाऊं ॥ ५ ॥ (ये धीवानः रथकाराः) जो बुद्धिवान् और जो रथ करनेवाले हैं तथा (ये मनीषिणः कर्माराः) जो बुद्धिवान लुहार हैं, हे (पर्ण) पर्णमणे ! (त्वं सर्वान् जनान् अभितः मह्यं उपस्तीन् कृणु) तूं सब जनोंको मेरे चारों ओर उपस्थित कर ॥ ६ ॥ (ये राजानः राजकृतः) जो राजा और जो राजाओंको बनाने वाले हैं, (ये सूताः ग्रामण्यः च) और जो सूत और ग्रामके नेता हैं, हे पर्णमणे ! तू सब जनों को मेरे चारों ओर उपस्थित कर ॥ ७ ॥ हे (मणे) पर्णमणे ! तू (पर्णः तनूपानः असि) पर्णरूप और शरीररक्षक है, (मया वीरेण सयोनिः वीरः असि) मुझ वीर के साथ समान उत्पत्ति वाला वीर है, इसलिये मैं (त्वा संवत्सरस्य तेन तेजसा बध्नामि) तुझको संवत्सरके उस तेजके साथ बांधता हूं ॥ ८ ॥

भावार्थ-यह पर्णमणि बल बढानेवाला, अपने बलसे शत्रुओंका नाश करनेवाला, देवोंका शक्तिरूप और औषधियों के रस से बननेवाला है, यह मुझे अपने तेजसे युक्त करे ॥ १ ॥ इससे मुझमें क्षात्रतेज और ऐश्वर्य बढे और मैं राष्ट्रका हित साधन करनेवाला, अर्थात् राष्ट्रका निज संबंधी बन कर रहूंगा ॥ २ ॥ जिस मणि को देवोंने वनस्पतिसे बनाकर धारण किया था, उस मणिको देव हमें आयु और पुष्टिकी वृद्धिके लिये देवें ॥ ३ ॥ यह वनस्पतिसे बना हुआ, वरुणने सुसंस्कारयुक्त किया हुआ और इन्द्रने हमें

पहले दिया हुआ, वीर्य और बलकी वृद्धि करनेवाला मणि है। उस मणिको मैं सौ वर्षकी दीर्घ आयुके लिये प्रेमपूर्वक धारण करता हूं ॥ ४ ॥ यह मणि मेरे शरीर पर धारण करनेसे मेरा सुख बढावे और इससे मैं श्रेष्ठ मनवाले और ज्ञानी पुरुषसे भी अधिक श्रेष्ठ होऊंगा ॥ ५ ॥ जो बुद्धिमान् रथकार और कुशल लुहार हैं वे सब मेरे पास उपस्थित हों ॥ ६ ॥ जो सरदार और राजाका चुनाव करके राजाको बनानेवाले हैं और जो सूत और ग्रामके नेता हैं वे सब मेरे चारों ओर उपस्थित हों ॥ ७ ॥ यह मणी उत्तम शरीर रक्षक है और वीरताका उत्साह बढानेवाला है, इसको मैं एक वर्ष पर्यंत स्थिर रहनेवाले तेज के साथ धारण करता हूं ॥ ८ ॥

पर्ण मणि ।

इस सूक्तमे पर्णमणिके धारणका उल्लेक है। अथर्ववेद काण्ड २ सू० ४ में जङ्गिड मणिका वर्णन है, उस प्रसंगमें मणिधारणके विषयमें जो लेख लिखा है वह पाठक यहांभी देखें। यह पर्णमणि इसलिये कहा जाता है कि यह औषधियोंके स्वरससे बनाया होता है, देखिये —

१ पर्णमणिः ओषधीनां पयः। (मं० १)

२ पर्णः (पर्णमणिः) सोमस्य उग्रं सहः। (मं० ४)

३ देवाः (पर्ण-) मणिं वनस्पतौ निदधुः। (मं० ३)

(१) "पर्ण मणि औषधियोंका दूध ही है। (२) यह पर्णमणि सोमवल्लीका उग्र बल है। (३) देवोंने पर्णमणिको वनस्पतिमें रखा है।" ये इस के वर्णन स्पष्टतासे बता रहे हैं कि यह मणि वनस्पतियोंके दूध से बनाया जाता है। "पर्ण-मणि" यह शब्द भी स्वयं अपना अर्थ व्यक्त कर रहा है कि यह (पर्ण) पत्तोंका मणि है अर्थात् वनस्पतिके पत्तोंके रससे बना है। इसके धारणसे वनस्पति-रसके वीर्यके कारण शरीरपर बडा प्रभाव होता है, इस विषयमें देखिये—

१ अयं पर्णमणिः बली। (मं १)

२ पर्णः तनूपानः। (मं० ८)

३ बलेन सपत्नान् प्रमृणन्। (मं १)

४ देवानां ओजः ⋯ मा वर्चसा जिन्वतु। (मं० १)

५ मयि क्षत्रं मयि रयिं धारयतात्। (मं० २)

६ आयुषे भर्तवे च तं अस्मभ्यं ददतु। (मं ३)

७ पर्णः उग्रं सहः ⋯ दीर्घायुत्वाय शतशारदाय। (मं ४)

८ पर्णमणिः अरिष्टतातये मा आरुक्षत् । (मं० ५)

"(१) यह पर्णमणि बल बढानेवाला है, (२) यह (तनू-पानः) शरीरका रक्षक है, (३) यह अपने बलसे रोगरूपी शत्रुओंको नाश करता है, (४) यह (देवानां) इंद्रियोंका बल बढानेवाला है यह मेरा तेज बढावे, (५) यह मुझमें क्षात्रतेज और शरीरकी कान्ति बढावे, (६) दीर्घ आयुष्य और शरीरकी पुष्टि इससे बढे, (७) यह मणि बडा बल बढानेवाला है, इससे सौ वर्षकी दीर्घायु मुझे प्राप्त हो, (८) यह मणि शरीरपर धारण करनेपर मेरी शक्ति बढावे।"

इस प्रकारके वर्णन बता रहे हैं कि इस "पर्णमणि" के अंदर बडा प्रभाव है और इसके शरीर पर धारण करनेसे शरीरमें नित्य उत्साह रहता है, बलके कार्य करनेके योग्य शरीरकी शक्ति होती है, शरीरका तेज बढता है और मनुष्य बडा तेजस्वी होनेके कारण प्रभावशाली दिखाई देता है। यह वनस्पतिके रसोंका प्रभाव है। वैद्य लोग इस मणिकी खोज करें।

राष्ट्रका निज बनना।

" राष्ट्रका निज " बन कर रहनेका उपदेश इस सूक्तमें विशेष मनन करने योग्य है। जो लोग राष्ट्रमें रहें वे निज बन कर रहेंगे तो ही राष्ट्रका भला हो सकता है; इस विषयमें द्वितीय मंत्र मनन करने योग्य है —

अहं राष्ट्रस्य अभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः ॥ (मं० २)

" मै इस राष्ट्रके हितचिंतक वर्गमें उत्तम निज बन कर रहूंगा। " यहां राजा, राजपुरुष, अधिकारी वर्ग आदि सब राष्ट्रके निज बन कर रहें यह उपदेश स्पष्ट है। राष्ट्रमें रहता हुआ कोई मनुष्य राष्ट्रके लिये पराया बनकर न रहे। यहां निज बनकर रहनेका भाव क्या है और पराया बनकर रहनेका भाव क्या है यह अवश्य देखना चाहिये। अपने यहां का ही उदाहरण लीजिये। इस भारत वर्षमें जापानी, चीनी, अमरिकन और योरोपीयन आते हैं और रहते भी हैं, परंतु इनमेंसे कोई भी " भारतवर्षका निज " बनकर नहीं रहता। जो ये आते है वे " उपरी " बनकर आते हैं, उपरी बनकर यहां रहते हैं, उपरी बनकर यहांका कारोबार करते हैं और पश्चात् चले जाते हैं। इस कारण इनके उपरी भावसे भारत वर्षका अहित ही होता है। इस लिये उपरी भावसे रहना राष्ट्रके लिये घातक है। जो " निजभाव " से रहेंगे, राष्ट्रका जो हित और अहित है वह अपना हित और अहित है, इस दृष्टिसे व्यवहार करेंगे उनसे राष्ट्रका अहित नहीं होगा। यह तो साधारण मनुष्योंकी बात होगई है, परंतु जो राष्ट्रके कर्मचारी हैं, यदि वे उपरी या पराये भावसे राष्ट्रमें रहने लगे, तो राष्ट्रका नुकसान कितना होगा इसका

हिसाब लगाना कठीन है। इस दृष्टिसे पाठक देखें कि " राष्ट्रका निज " बनकर रहनेका भाव कितना उच्च है और राष्ट्र हितकी दृष्टि से कितना आवश्यक है। " निजभाव " से रहनेके कारण विदेशी लोग भी स्वदेशीके समान राष्ट्रहित करनेवाले बनेंगे और " निज भाव " न रखनेवाले स्वदेशी लोगभी परदेशी लोगोंके समान राष्ट्रहित का घात करनेवाले बनेंगे। यहां पाठक " राष्ट्रका निज " बनकर रहनेका कितना महत्त्व है यह देखें और अपने राष्ट्रके निज बनकर रहें।

राजाको निर्माण करनेवाले।

इस सूक्तके सप्तम मंत्रमें " राज-कृतः " शब्द है इसका अर्थ " राजाको निर्माण करनेवाले (King makers) " है। राजाको किस रीतिसे निर्माण करते हैं यह प्रश्न यहां उत्पन्न हो सकता है। इसका उत्तर इसके पूर्वके चतुर्थ सूक्तने ही दिया है, राजाका चुनाव प्रजा द्वारा होता है और वह राजगद्दीपर आता है, इसीको प्रजाद्वारा राजाका निर्वाचन, राजाका स्वीकार, राजा का नियोजन अथवा राजाका चुनाव कहते हैं। जिसका चुनाव प्रजा करती है, उसका मानो " निर्माण " ही प्रजा करती है। इस प्रकार राजाके पितृ या मातृस्थानमें प्रजा होती है, इसी लिये राजसभाके सदस्य राजाके " पितर " हैं ऐसा वेदमें ही अन्यत्र कहा है (देखो अथर्व. कां. ७ सू. १२ मं० १, २)। प्रजाके जो महाजन नेता अथवा शिष्ट लोग होते हैं वे राजाका चुनाव करते हैं और उसको निर्माण करते हैं, इसी लिये प्रजाकी रक्षा करना राजाका परम श्रेष्ठ कर्तव्य है। मातृरक्षा के समानही प्रजारक्षाका यह राजधर्म है।

मंत्र ६ और ७ में कहा है कि रथकार, सुतार, लुहार, ज्ञानी पुरुष, मंत्री, सूत, ग्राम-नेता, सरदार तथा राजाका चुनाव करनेवाले ये सब लोग राजाके पास रहें, राजाके अनुगामी बनें, राजाके साथ रहकर राजाको योग्य सलाह दें। इस प्रकार राज्यका शासन प्रजाके द्वारा नियुक्त किये राज पुरुषोंद्वारा प्रजाके हितके लिये प्रजाकी अनुमतिसे चलाया जावे। इसीसे राष्ट्रका सच्चा हित हो सकता है।

यद्यपि यह सूक्त वस्तुतः पर्णमणिका वर्णन करता है, तथापि प्रसंगसे राष्ट्रका निज बनकर रहना, राजाका चुनाव प्रजाद्वारा करना इत्यादि महत्त्वपूर्ण बातोंका उपदेश होने के लिये वैदिक राजनीति शास्त्र की दृष्टिसे यह सूक्त बडे महत्त्वपूर्ण आदेश दे रहा है। इसलिये पाठक भी इसी दृष्टिसे इस सूक्तका मनन करें।

[यहां प्रथम अनुवाक समाप्त होता है। यह संपूर्ण अनुवाक राजप्रकरण का ही उपदेश देता है।]

*

वीर पुरुष।

[६]

(ऋषिः—जगद्बीजं पुरुषः। देवता—वानस्पत्योऽश्वत्थः)

पुमा॑न्पुंसः परि॑जातोऽश्वत्थः ख॑दिरा॒दधि॑।
स ह॑न्तु शत्रू॑न्माम॒कान्यान॒हं द्वेष्मि॑ ये च॒ माम्॥ १॥
ताना॑श्वत्थ॒ निः शृ॑णीहि॒ शत्रू॑न्वैबाध॒दोध॑तः।
इन्द्रे॑ण वृत्र॒घ्ना मे॒दी मि॒त्रेण॒ वरु॑णेन च॥ २॥
यथा॑श्वत्थ नि॒रभ॑नो॒ऽन्तर्म॑ह॒त्य॑र्ण॒वे।
ए॒वा तान्त्सर्वा॒न्निर्भ॑ङ्ग्धि॒ यान॒हं द्वेष्मि॑ ये च॒ माम्॥ ३॥
यः सह॑मान॒श्चर॑सि सासहा॒न इ॑व ऋष॒भः।
तेना॑श्वत्थ॒ त्वया॑ व॒यं स॒पत्ना॑न्त्सहिषीमहि॥ ४॥
सि॒नात्वे॑ना॒न्निर्ऋ॑ति॒र्मृ॒त्योः पाशै॑रमो॒क्यैः।
अश्व॑त्थ॒ शत्रू॑न्माम॒कान्यान॒हं द्वेष्मि॑ ये च॒ माम्॥ ५॥
यथा॑श्वत्थ वानस्प॒त्याना॒रोह॑न्कृणु॒षेऽध॑रान्।
ए॒वा मे॒ शत्रो॑र्मू॒र्धानं॒ विष्व॑ग्भिन्द्धि॒ सह॑स्व च॥ ६॥
तेऽध॒राञ्चः॒ प्र प्ल॑वतां छि॒न्ना नौरि॑व॒ बन्ध॑नात्।
न वै॑बाध॒प्रणु॑त्तानां॒ पुन॑रस्ति नि॒वर्त॑नम्॥ ७॥
प्रैणा॑न्नुदे॒ मन॑सा॒ प्र चि॒त्तेनो॒त ब्रह्म॑णा।
प्रैणा॑न्वृ॒क्षस्य॒ शाख॑याश्वत्थस्य॑ नुदामहे॥ ८॥

अर्थ- जैसा (खदिरात् अधि अश्वत्थः) खैरके वृक्षके ऊपर अश्वत्थ वृक्ष होता है इसी प्रकार (पुंसः पुमान् परिजातः) वीर पुरुषसे वीर पुरुष उत्पन्न होता है। (सः मामकान् शत्रून् हन्तु) वह मेरे शत्रुओंका वध करे (यान् अहं द्वेष्मि, ये च माम्) जिनका मैं द्वेष करता हूं और जो

मेरा द्वेष करते हैं ॥ १ ॥ हे (अश्व-त्थ) अश्वके समान बलिष्ठ वीर ! (तान् वैबाधदोधतः शत्रून्) उन विविध बाधा करनेवाले द्रोही शत्रुओंको (निः शृणीहि) मार डाल और (वृत्रघ्ना इन्द्रेण मित्रेण वरुणेन च मेदी) वृत्रका नाश करनेवाले इन्द्र, मित्र और वरुणसे मित्रता कर ॥ २ ॥ हे अश्वत्थ ! (यथा महति अर्णवे निरभनः) जैसे बडे समुद्रमें तू भेदन करता है, (एव) उसी प्रकार (तान् सर्वान् निर्भङ्‌ग्धि) उन सबको छिन्न भिन्न कर (यान् अहं द्वेष्मि ये च मां) जिनका मैं द्वेष करता हूं और जो मेरा द्वेष करते हैं ॥ ३ ॥ हे अश्वत्थ ! (यः सहमानः सासहानः) जो तू शत्रुको दबानेवाला बलवान (ऋषभः इव) बैलके समान बलवान् होकर (चरसि) विचरता है, (तेन त्वया वयं सपत्नान् सहिषीमहि) उस तेरे साथ हम शत्रुओंको पराजित करेंगे ॥ ४ ॥ हे अश्वत्थ ! (निर्ऋतिः मृत्योः अमोक्यैः पाशैः एनान् मामकान् शत्रून् सिनातु) आपत्ति मृत्युके न टूटनेवाले पाशोंसे इन मेरे शत्रुओंको बांध देवे जिनका मैं द्वेष करता हूं और जो मेरा द्वेष करते हैं ॥ ५ ॥ हे अश्वत्थ ! (यथा आरोहन् वानस्पत्यान् अधरान् कृणुषे) जैसा तू ऊपर रहता हुआ अन्य वृक्षोंको नीचे करता है, (एवा) इसी प्रकार (मे शत्रोः मूर्धानं विष्वक् भिन्धि) मेरे शत्रुओंके सिरको सब ओरसे तोड दे और (सहस्व च) उसको जीत लो ॥ ६ ॥ (बन्धनात् छिन्ना नौः इव) बन्धनसे छूटी हुई नोका के समान (ते अधराञ्चः प्लवतां) वे अधोगतिके मार्गसे बहते चले जावें (वैबाधप्रणुत्तानां पुनः निवर्तनं न अस्ति) विशेष बाधा करनेवालों का पुनः लौटना नहीं होता है ॥ ७ ॥ (एनान् मनसा प्रनुद) इन शत्रुओंको मनसे मैं हटाता हूं। (चित्तेन उत ब्रह्मणा प्र) मैं चित्तसे और ज्ञानसे हटाता हूं। (अश्वत्थस्य वृक्षस्य शाखया) अश्वत्थ वृक्षकी शाखासे (एनान् प्र नुदामहे) इनको हम हटा देते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ- खैरके वृक्षपर अश्वत्थ वृक्ष उगता है और उसीपर बढता है, इसी प्रकार वीर पुरुषसे वीर संतान उत्पन्न होती है और वीरोंके साथ ही बढती है। ऐसे वीर हमारे वैरियोंको हटा देवें ॥ १ ॥ हे वीर ! तू शत्रुनाश करनेवाले वीरोंके साथ मिलकर विशेष बाधा करनेवाले शत्रुओंको मार डाल ॥ २ ॥ हे शूर ! जिस प्रकार नौकासे बडे समुद्रके पार होते हैं उसी

प्रकार तू उन सब शत्रुओंका भेदन करके पार हो ॥ ३ ॥ हे बलवान् ! जो तू बलिष्ठ होकर शत्रुको दबाते हुए सर्वत्र संचार करता है, उस तेरी सहाय्यतासे हम अपने सब शत्रुओंको पराजित कर सकते हैं ॥ ४ ॥ हे शक्तिमान् ! मेरे वैरी आपत्तियोंके पाशोंसे बांधे जावें अर्थात् वे आपत्तियोंमें पडें ॥ ५ ॥ जिस प्रकार पीपल का वृक्ष अन्य वृक्षोंपर उगता है और उनको नीचे दबाता है उसी प्रकार वीर मेरे शत्रुओंको नीचे दबा देवे और उनके सिर तोड देवे ॥ ६ ॥ विशेष बाधा करनेवाले शत्रु अधोगतिसे नीचेकी ओर गिरते जांयगे। ऐसे एकवार गिरे हुए फिर कभी उठते नहीं ॥ ७ ॥ मनसे, चित्तसे और अपने ज्ञानसे मैं शत्रुओंको दूर करता हूं ॥ ८ ॥

अश्वत्थ की अन्योक्ति।

यह सूक्त अश्वत्थ की अन्योक्ति है। अन्योक्ति अलंकार पाठक जानते ही हैं। एक का प्रत्यक्ष उल्लेख करके दूसरे के ही विषयमें कहनेका नाम अन्योक्ति है। इसी प्रकार यहां अश्वत्थ वृक्षका वर्णन करते हुए वीर पुरुषका वर्णन किया है। इसलिये यह अश्वत्थान्योक्ति है।

"अश्वत्थ" शब्दके बहुत अर्थ हैं- (१) पीपल वृक्ष; (२) [अश्व-स्थ] अश्वके समान बलवान बनकर रहनेवाला वीर; (३) [अ-श्व-स्थ] जो कल रहेगा ऐसा निश्चय नहीं कहा जाता, नश्वर; (४) सूर्य; (५) अश्विनी नक्षत्र; इत्यादि अनेक अर्थ इस शब्दके हैं। यहां पहले दो अपेक्षित हैं।

अश्वत्थ अर्थात् पीपल वृक्ष दूसरे वृक्षोंपर उगा हुआ दिखाई देता है, "यथा अश्वत्थ वानस्पत्यान् आरोहन् अधरान् कृणुषे। (मं० ६)" इस दृश्यपर काव्य दृष्टिसे यह अलंकार हो सकता है कि यह अश्वत्थ वृक्ष बडाभारी वीर है जो अन्य वृक्षोंको अपने पांव के नीचे दबाता है और अन्यवृक्षोंके सिरपर अपना पांव रख कर खडा हो जाता है। जिस प्रकार वीर पुरुष शत्रुके सिरको अपने पांव के नीचे दबाता है उसी प्रकार मानो पीपल का यह कृत्य है। इसलिये अश्वत्थवृक्ष की अन्योक्ति से इस सूक्तमें शूर पुरुषका वर्णन किया है। पाठक इस दृष्टिसे यह सूक्त पढें।

आनुवंशिक संस्कार ।

इस सूक्तके प्रथमही मंत्रमें कहा है कि "पुंसः पुमान् परिजातः" वीर से वीर संतान उत्पन्न होती है, वीर के कुलमें वीर उत्पन्न होते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि अन्यकुलमें वीर उत्पन्न नहीं हो सकते; परंतु यहां वीर संतान उत्पन्न होनेके योग्य वायुमंडल कहां रहता है यही दिखाया है। बचपनसे वीरताकी बातें श्रवण करने के कारण वीरके संतान वीरता से युक्त होना अत्यंत स्वाभाविक है, यही यहां कहनेका तात्पर्य है।

यह वीर सब प्रकारके शत्रुओंको हटा देवे, यही सब मंत्रोंमें कहा है और मंत्रोंका यह आशय सरल होनेसे इसका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

शत्रुका लक्षण ।

इस सूक्तमें "वै-बाध" (विशेष बाधा करना) यही एक वैरी होने का लक्षण कहा है (मं० २ ; ७)। वैयक्तिक, सामाजिक, धार्मिक, राजकीय आदि अनेक प्रकार के शत्रु हो सकते हैं और इन केन्द्रोंमें ये शत्रु विशेष प्रकारकी बाधा भी करते हैं। यह अनुभव पाठकोंको है ही। ये सब शत्रु दूर करने चाहिये और जनताका सुख बढाना चाहिये। यह इस सूक्तके उपदेशका सार है। शत्रुको दूर करनेका उपाय इसप्रकार करना चाहिये—

मनसा, चित्तेन उत ब्रह्मणा एनान् प्र नुदे। (मं० ८)

"मन, चित्त और ज्ञानसे शत्रुओंको दूर करनेके उपाय सोचने चाहिये" और उन उपायोंका मनन करना चाहिये। मनसे शत्रुनाश करनेका मनन करना चाहिये, चित्तसे इसी बातका चिंतन करना चाहिये, और अपना ज्ञान बढाकर उस ज्ञानसे ऐसी योजनाएं करना चाहिये कि जिससे शत्रु शीघ्रही नष्ट हो जावे। तात्पर्य हरएक प्रकारकी युक्ति करके शत्रुको हटाना चाहिये।

गिरावटका मार्ग ।

जो विशेष बाधा करते हैं, जो जनताको सताते हैं, जो लोगोंको उपद्रव देते हैं वे स्वकर्मसे ही गिरते हैं। उनके बुरे कर्मके कारण वे स्वयं अधोगतिके मार्गसे गिरते रहते हैं, इस विषयमें सप्तम मंत्रका कथन हरएक मनुष्यके लिये मनन करने योग्य है—

बन्धनात् छिन्ना नौः इव, ते अधराञ्चः प्र प्लवताम् ।
वैबाधप्रणुत्तानां पुनः निवर्तनं नास्ति ॥ (मं० ७)

"बंधनसे नौका जैसी छूटती है और जल प्रवाहसे बहती जाती है उस प्रकार वे जनताको विशेष कष्ट देनेवाले दुष्टलोग अधोगतिसे नीचे की ओर गिरते जाते हैं। उनके उठनेकी कोई आशा नहीं है। जो दुष्ट जनताको विशेष बाधा करते हैं और उस कारण पतित होते जाते हैं, उनके ऊपर उठनेकी कोई आशा नहीं है। "

इस मंत्रने पाठकोंको सावधान किया है कि वे अपने चारित्रका अवलोकन करें और सोचें कि अपनी ओरसे तो किसीको कष्ट नहीं होते हैं ? क्योंकि जो दूसरोंको कष्ट देते हैं उनकी उन्नतिकी कोई आशा नहीं है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्यको कष्ट देगा, एक जाती दूसरी जातीको कष्ट देगी, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रको सतायेगा, तो वह सतानेवाले अन्य रीतिसे गिरते जाते हैं और उनके उठनेकी कोई आशा नहीं होती है। जो राष्ट्र दूसरे देशोंको परतंत्रतामें रखते हैं वे इसी प्रकार गिरते जाते हैं। साम्राज्यमदके कारण भी इस प्रकार गिरावट होती जाती है। यदि किसीको दबाकर एक स्थानपर रखना हो तो जैसा दबे हुएको वहां दबकर रहना पडता है, उसी प्रकार दबानेवालेकोभी वहां ही रहना पडता है। इसी प्रकार अन्य बातें पाठक जान सकते हैं। तात्पर्य यह है कि कोई भी जाती जो दूसरोंपर अत्याचार करती है, स्वयं अधोगतिके मार्गसे गिरती जाती है और जबतक वह अपना अत्याचार बंद नहीं करती, तबतक उसके उठनेका कोई मार्ग नहीं होता है। यह जान कर कोई किसी दूसरेपर कभी अत्याचार न करे। दूसरे पर अत्याचार न करनेसे ही उन्नतिका मार्ग खुला रह सकता है।

विजय की तैयारी।

इस सूक्तमें " सहमान, सासहान " (मं० ४) ये दो शब्द हैं, अन्यस्थानोंमें " सहमान, असह्य " ये शब्द हैं, जो विजयकी तैयारीके सूचक हैं—

१ **सहमान**— शत्रुके हमले होनेपर जो अपना स्थान नहीं छोडता।

२ **असह्य, सासहान**— इसके हमले शत्रुपर होनेपर शत्रु इसके संमुख ठहर नहीं सकता।

विजय प्राप्त करना हो तो अपनी तैयारी ऐसी करनी चाहिये। तभी विजय होगा। पाठक इस सूक्तका इस दृष्टिसे विचार करें। और शत्रुको दूर भगाने के विषयमें योग्य बोध प्राप्त करें॥

महाभारतका मुद्रण।

आपकी क्रम संख्या

आपका चंदा।

उत्तर देनेके समय आप क्रमसंख्या लिखिये

(१)

आपने) रु० चंदेके रूपमें इस समय तक भेजे हैं और आपको इस समय तक उस चंदेमें अंक प्राप्त हुए हैं। तबसे अबतक महाभारतके क्रमांक ६० तक अंक छपचुके है और आगे छपाई चलरही है। इसलिये आगे छपे हुए पर्वोंमेंसे जो पर्व आप इस समय लेना चाहते हैं, उनका मूल्य म० आ० द्वारा यथावकाश शीघ्रही भेज कर मंगवाईये। ऐसे ग्रंथ बार बार मुद्रित नहीं होते हैं, और पश्चात् मूल्य बढता भी है। इसलिये जो सज्जन महाभारत का पठन करना चाहते हैं वे इस समय से लाभ अवश्य उठावें।

(२)

यदि आपने अपना चंदा ६० वें अंकतक भेजा है तो आप आगेके अंकोंके लिये चंदा शीघ्र भेजिये। द्रोणपर्व ६५ वें अंक में समाप्त होगा और आगे मनोरंजक कर्ण पर्व शुरू होगा।

(३)

इसके अतिरिक्त आप अपने इष्टमित्रोंमें इसके ग्राहक बढानेका यत्न कीजिये। यदि आप प्रयत्न करेंगे तो ऐसे अमूल्य ग्रंथ के लिये कुछ ग्राहक बना देना आपके लिये कठिन नहीं है। आशा है कि आप इस कार्यकी सहायता करेंगे।

निवेदक

स्वाध्याय मंडळ
औंध (जि. सातारा)

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
संपादक "महाभारत"

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास।

महाभारत।

इस समय तक छपकर तैयार पर्व।

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य
१ आदिपर्व	[१ से ११]	११	११२९	६) छः रु.
२ सभापर्व	[१२ ,, १५]	४	३५६	२) दो ,,
३ वनपर्व	[१६ ,, ३०]	१५	१५३८	८) आठ ,,
४ विराटपर्व	[३१ ,, ३३]	३	३०६	१॥) डेढ ,,
५ उद्योगपर्व	[३४ ,, ४२]	९	९५३	५) पांच ,,
६ भीष्मपर्व	[४३ ,, ५०]	८	८००	४) चार ,,

७ द्रोणपर्व ५१ से ६० अंक छप चुके हैं, आगे छपाई चल रही है, ६५ क्रमांकमें द्रोणपर्व समाप्त होगा और उसका मूल्य करीब ८ आठ) रु० होगा।

सूचना—- ये पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज दीजिये तो डाक व्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा।

प्रबंधकर्ता,

ॐ

स्वाध्याय मण्डल।

वैदिक तत्त्वज्ञान प्रचारक संघ।

औंध (जि० सातारा)

तिथि १ ज्येष्ठ संवत् १९८५

श्रीमान्‌जी नमस्ते।

आप वैदिक धर्मके प्रेमी और प्राचीन आर्य सभ्यताके भक्त हैं, इसलिये आपको यह पत्र भेजा जाता है। स्वाध्याय मंडल द्वारा वैदिक धर्मके ग्रंथ मुद्रण करनेका कार्य गत दस वर्षोंसे हो रहा है, और प्राचीन आर्य सभ्यता के ग्रंथ जो "रामायण और महाभारत" नामसे प्रसिद्ध हैं, उनका मुद्रण भी कुछ वर्ष पूर्व शुरू किया गया है। आर्य सभ्यताके महत्त्वपूर्ण ग्रंथ "महाभारत" का ही मुद्रण सबसे पहले शुरू किया गया है। इस समय यह महाभारत करीब आधा छप चुका है और आगे मुद्रण चल रहा है, थोडे ही समय में समाप्त होगा।

महाभारत अत्यंत अद्भुत ग्रंथ है, जगत्‌में इसके समान दूसरा ग्रंथही नहीं है, इसलिये यह ग्रंथ हरएक आर्य सभ्यताके प्रेमी सज्जनके घरमें होना अत्यंत आवश्यक है। इस ग्रंथसे प्राचीन आर्य सभ्यताका ज्ञान जैसा हो सकता है वैसा किसी दूसरे ग्रंथसे नहीं हो सकता। इसलिये जैसा आर्योंको वैसाही हिंदुओंको इसका पाठ अवश्य करना चाहिये और अपनी प्राचीन सभ्यता का मनन करना चाहिये। आज कलके जीवन युद्धके समय यह महाभारत ग्रंथ ही विजय पानेकी कुंजी पाठकोंको दे सकता है।

इसी उद्देश्यसे हम यह ग्रंथ सुबोध रीतिसे मुद्रित कर रहे हैं।

इस समय तक भारतवर्षमें कईवार इस महाभारतग्रंथ का मुद्रण किया गया और प्रायः प्रत्येक वार धनाढ्य पुरुषोंसे और राजा महाराजाओंसे लाखों रु० दानके रूपमें प्राप्त करके ही मुद्रण किया गया है। धनाढ्य पुरुषों और राजा महाराजाओंके पास जाकर धनकी याचना करने के योग्य कोई मनुष्य हमारे पास नहीं है और संपादकही स्वयं जावे तो यहांका कार्य बंद होता है; इस लिये हम यह कार्य केवल आप जैसे धर्मके प्रेमी ग्राहकोंकी सहायतापर ही कर रहे हैं और आपसे आशा करते हैं कि आप अपनी शक्ति से जो हो सके वह सहायता इस कार्यकी पूर्तिके लिये करेंगे।

आपसे एक सहायता।

महाभारतके ग्राहक बढाईये।

आप इस महाभारत के लिये अपने मित्रोंमेंसे एक या दो नये ग्राहक बना कर उनका चंदा म० आ० द्वारा हमारे पास भेज दीजिये अथवा उनको चंदा भेज देनेकी प्रेरणा कीजिये। चंदा आतेही अंक हम यहांसे भेज देंगे। एकदम जितने पर्व चाहिये उतने पूर्ण पर्वोंका चंदा भेजना लाभकारी है। अथवा चाहे तो एक एक पर्व भी अलग अलग मंगवा सकते हैं।

हम महाभारत वी० पी० से नहीं भेजते। कई सज्जन पहले वी० पी० मंगवाते हैं और पश्चात् वी० पी० वापस करते हैं, इस कारण बडा नुकसान उठाना पडता है। यह महाभारत बडा भारी ग्रंथ होनेसे इस पर डा० व्य० बहुत होता है और वी० पी० वापस आनेपर बडा नुकसान उठाना पडता है, इस लिये महाभारत वी० पी० से भेजना बंद किया है। इस कारण आप जो ग्राहक बनायेंगे उनका चंदा म० आ० से ही भिजवाइये। तो यह कार्य शीघ्र पूर्ण किया जा सकता है।

अल्प मूल्य।

हमने निश्चय किया है कि यह महाभारत थोडा नुकसान उठाकर भी अल्पसे अल्प मूल्यमें जहांतक हो सके वहां तक दिया जावे। आप जानते ही हैं कि केवल मूल संस्कृत महाभारत का मूल्य इस समय ७०) रु. है, केवल भाषाके महाभारतका मूल्य ५०) रु. है। दोनों का मिलकर मूल्य १२०) रु. होता है, तथापि हमने मूल और भाषाटीका समेत महाभारतका मूल्य इस समय केवल ६०) साठ रु० ही रखा है, और जो फुटकर पर्व लेंगे उनके लिये केवल ६५) पैंसठ रु. रखा है। स्मरण रखिये कि,

आगे इसका मूल्य १००) रु. होगा।

इस समय तक जितने भी पुस्तकाकार महाभारत छपे हैं,उन सबसे हमारे महाभारतके मूल श्लोकोंका टाइप तथा भाषाटीका का टाइप बडा है; जिससे पढनेवाले पाठकोंको ग्रंथ पढनेकी बडी सुगमता होगी।

यह महाभारत— मूल श्लोक और भाषाटीका— मिल कर करीब १३००० तेरह हजार पृष्ठोंका ग्रंथ होगा। इससे आप इसके बडेपन का ख्याल कर सकते हैं।

हम प्रत्येक अंक सौ पृष्ठोंका प्रकाशित कर रहे हैं, इससे संपूर्ण ग्रंथके करीब १३० अंक प्रकाशित होंगे और इसमें १०० चित्र भी होंगे। प्रत्येक अंक का मूल्य केवल आठ आना ही रखा है।

अर्थात् संपूर्ण महाभारतका मूल्य करीब ६५) रु. होगा। परंतु जो लोग इस समय पेशगी मूल्य इकट्ठा भेजदेंगे उनको यह ग्रंथ हम केवल ६०) साठ रु. में देंगे। जो सज्जन इस सुविधासे लाभ उठाना चाहते हैं, वे शीघ्र अपना चंदा भेज दें, आगे यह सहूलियत नहीं रहेगी।

पुराने ग्राहक।

जिन्होंने पहले जितना चंदा भेजा है, उतना कम करके साठ रु० की पूर्णताके लिये जितनी रकम और भेजना आवश्यक होगी उतनी ही रकम पुराने ग्राहक भेज दें, नये ग्राहक एक दम साठ रु० भेजें।

सहूलियत।

जो सज्जन एकदम इतनी रकम नहीं भेज सकते वे प्रत्येक अंकका ॥) आठ आने मूल्य है यह जानकर जितने चाहे उतने अंक पेशगी मूल्य भेज कर ही मंगावें। बारह अंकोंका मूल्य ६) छः रु० है। प्रत्येक पर्वका मूल्य इस पत्रके द्वितीय पृष्ठपर पाठक देख सकते हैं। जो पेशगी मूल्य भेजेंगे उनको डा० व्य० माफ होगा, अन्योंके लिये एक रु० मूल्यके महाभारत के लिये तीन आने डा० व्यय अधिक होगा। अर्थात् मूल्य पेशगी भेजनेसे हरएक अवस्थामें अत्यंत लाभ है।

जो सज्जन प्राचीन आर्य सभ्यताका ज्ञान साक्षात् स्वयं प्राप्त करना चाहते हैं उनको इस सहूलियतसे अतिशीघ्र लाभ उठाना चाहिये।

१ ग्राहक बढाइये।

२ पेशगी मूल्य भेजकर पुस्तक मंगवाइये।

३ आगे मूल्य बढेगा, इस लिये शीघ्रही मंगवाइये, देरी करनेसे यह सहूलियत नहीं रहेगी।

अन्य पुस्तकें।

जो पाठक वैदिक धर्म के ग्रंथोंका स्वयं अभ्यास करके वैदिक धर्मका अंतरंग स्वयं देखना चाहते हैं वे निम्न लिखित ग्रंथ अवश्य पढें-

(१)

महाभारतकी समालोचना।

१ समालोचना प्रथम भाग, इसमें कुछ कथाओंका संबंध बताया है। मू० ॥)

२ समालोचना द्वितीय भाग, इसमें देवजाती, नागजाती, सुर असुर, भूत, पिशाच तथा आर्य इतनी जातियोंका संबंध बताया है। प्राचीन इतिहास समझनेके लिये इस ज्ञानकी बडी आवश्यकता है। मू० ॥)

३ समालोचना तृतीय भाग— (छप रहा है) इसमें जय इतिहास का अद्भुत उपदेश दिया है। इसके पढनेसे वीरता बढेगी। मू० ॥)

समालोचना का लेखन आगे चल रहा है। मूल्य प्रतिभाग ॥) डा० व्य० ≋)

(२) अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

१ प्रथम काण्ड सजिल्द मूल्य २) दो रु०
२ द्वितीय काण्ड ,, २) ,,

जो पाठक इन दो काण्डोंको पढेंगे उनको अथर्ववेद के ज्ञानका स्वरूप अच्छी प्रकार विदित होगा। यह भाषा भाष्य इतना सुबोध है कि जो केवल साधारण भाषा ही जानते हैं और थोडासी संस्कृत नहीं जानते वे भी इससे अच्छी प्रकार लाभ प्राप्त कर सकते हैं। इस लिये पाठक इन दो पुस्तकोंको एकवार अवश्य पढें। अथर्ववेद सुबोध भाष्य का तृतीय काण्ड छप रहा है।

यजुर्वेदका स्वाध्याय।

१ यजुर्वेद अध्याय ३०	नरमेध की सुबोध व्याख्या।	मू० १)
२ ,, ,, ३२	सर्वमेध ,, ,, ,,	मू० ॥)
३ ,, ,, ३६	शांतिकरण ,, ,,	॥=)

गोमेध ।

गोमेधके विषयमें बडी विलक्षण कल्पनाएं प्रचलित हैं। बहुतसे लोग समझते हैं कि प्राचीन कालमें गोवध होता था और गौके अंगोंका यज्ञ किया जाता था। इस मतका सप्रमाण उत्तर इस पुस्तकमें दिया है। वेदके गौविषयके मंत्र और गोमेधके सूक्त इसमें अर्थ और विवरणके समेत दिये हैं जिसके पढनेसे गोमेधकी वैदिक रीति स्पष्टतासे ज्ञात हो सकती है। मूल्य १) एक रु.।

वैदिक यज्ञ संस्था ।

प्रथमभाग मूल्य १); और द्वितीय भाग मू० १)

इन दो पुस्तकों में वैदिक यज्ञोंका स्वरूप बताया है। ये दो पुस्तक पढनेसे वैदिक यज्ञोंकी पवित्रता का ज्ञान हो सकता है।

वैदिकधर्मके ग्रंथ ।

१ संस्कृतपाठ माला।

१२ अंकोंका मूल्य ३) रु.
२४ अंकोंका मूल्य ६) "

२ वैदिक यज्ञ संस्था ।

प्रथम भाग मूल्य १)
द्वितीय भाग " १)
तृतीय भाग गोमेध " १)

३ अथर्व वेदका सुबोध भाष्य

१ प्रथम काण्ड। सजिल्द। मूल्य २)
२ द्वितीय काण्ड " " २)

४ छूत और अछूत ।

१ प्रथम भाग। मूल्य १)
२ द्वितीय भाग। " ॥)

५ महाभारतकी समालोचना।

१ प्रथम भाग मूल्य ॥)
२ द्वितीय भाग (देवलोक) " ॥)
३ तृतीय भाग(जय इतिहास)" ॥)

६ स्वयंशिक्षक माला ।

वेदका स्वयंशिक्षक।

१ प्रथम भाग मूल्य १॥)
२ द्वितीय भाग " १॥)

७ योगसाधन माला।

१ संध्योपासना। मूल्य १॥)
२ संध्याका अनुष्ठान। ,, ॥)
३ वैदिक प्राण विद्या ,, १)
४ ब्रह्मचर्य (सचित्र)। ,, १।)
५ योग साधन की तैयारी। ,, १)
६ योगके आसन। (सचित्र) ,, २)
७ सूर्य भेदन व्यायाम।(सचित्र) ।॥)
८ इन्द्रशक्तिका विकास ॥)

८ यजुर्वेदका स्वाध्याय।

१ यजु. अ. ३० नरमेध। मूल्य। १)
२ यजु. अ.३२ एकेश्वर उपासना। ॥)
३ यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय। ॥=)

९ देवतापरिचय ग्रंथमाला।

१ रुद्र देवता परिचय। मूल्य ॥)
२ ऋग्वेदमें रुद्र देवता ,, ॥≈)
३ ३३ देवताओंका विचार ,, ≈)
४ देवता विचार। ,, =)
५ अग्निविद्या। ,, १॥)

१० धर्म शिक्षाके ग्रंथ।

१ बालक धर्म शिक्षा। प्रथम भाग मू. -)
२ बालक धर्म शिक्षा। द्वितीय भाग,, ≈)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक ,, ≈)

११ आगम निबंध माला।

१ वैदिक राज्य पद्धति। मू ।-)
२ मानवी आयुष्य। ,, ।)
३ वैदिक सभ्यता। ,, ।॥)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र। ,, ।=)
५ वैदिक स्वराज्य की महिमा। ,, ॥)
६ वैदिक सर्प विद्या। ,, ॥)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय। ,, ॥)
८ वेदमें चर्खा। ,, ॥)
९ शिवसंकल्पका विजय। ,, ।॥)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता। ,, ॥)
११ तर्कसे वेदका अर्थ। ,, ॥)
१२ वेदमें रोगजंतु शास्त्र। ,, ≈)
१३ ब्रह्मचर्यका विघ्न। ,, =)
१४ वेदमें लोहेके कारखाने। ,, ।-)
१५ वेदमें कृषिविद्या। ,, ≈)
१६ वैदिक जलविद्या। ,, =)
१७ आत्मशक्तिका विकास। ,, ।-)
१८ वैदिक उपदेश माला। ,, ॥)

१२ ब्राह्मण-बोध माला।

१ शतपथ बोधामृत मूल्य ।)

१३ उपनिषद् ग्रंथ माला।

१ केन उपनिषद्। मू. १।)

मंत्री-स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

वैदिक यज्ञ संस्था।

प्रथम भाग। मूल्य १) रु. डा. व्य ।)

इस पुस्तक में निम्न लिखित विषयों का विचार हुआ है।

प्राचीन संस्कृत निबंध।

१-३ पिष्ट-पशुमीमांसा। लघु-पुरोडाश-मीमांसा।

भाषाके लेख (ले०-श्री० पं० बुद्धदेवजी) ४ दर्श और पौर्णमास, ५ अद्भुत कुमार संभव। (ले० -श्री० पं० चंद्रमणिजी) ६बुद्धके यज्ञ विषयक विचार। (संपादकीय) ७ यज्ञका महत्त्व, ८ यज्ञका क्षेत्र, ९ यज्ञका गूढ तत्त्व, १० औषधियोंका महामख (ले० श्री० पं० धर्मदेवजी) ११ वैदिक यज्ञ और पशुहिंसा। (ले० श्री० पं० पुरुषोत्तम लालजी) १२ क्या वेदोंमें यज्ञों में पशुओंका बलि करना लिखा है ?

वैदिक यज्ञ संस्था द्वितीय भाग। मूल्य १) रु डा. व्य।)

इस द्वितीय भागमें निम्न लिखित विषयोंका विचार हुआ है- (ले०-श्री. पं. देवशर्माजी विद्यालंकार)

भारतवर्षमें यज्ञकी कमी, यज्ञकी महिमा, यज्ञसे जो चाहे सो प्राप्त कर लो, यज्ञपुरुष का वर्णन, हवन प्रक्रिया, यज्ञशेष और उच्छेष राजसूय, विश्वजित्, अश्वमेध, गोमेध, सर्वमेध वाजपेय, पंचमहायज्ञ, यज्ञ संसारकी नाभि है।

पं. बुद्धदेवजी लिखित-संज्ञपन और अवदान।

संपादकीय-नरमेध का वैदिक तात्पर्य।

इतने विषयोंका विचार इस पुस्तक में हुआ है।

प्रत्येक विषयके प्रतिपादनके लिये वेदके अनेक प्रमाण दिये हैं और विषयका प्रतिपादन अति सुगम है। मूल्य १) डा. व्य.।)

वैदिक यज्ञ संस्था तृतीय भाग। गोमेध।

इस पुस्तकमें निम्न लिखित विषयोंका विचार हुआ है-

यागमें गोमांस, प्रकरणानुकूल अर्थ विचार, ऋषिपंचमी, वेदका महासिद्धान्त, यज्ञकी पूर्व और उत्तमवेदी मधुपर्क, कलिवर्ज्यप्रकरण, बृहदारण्यक का वचन, गौके वैदिक नाम, गोमेधका विचार, चरक की साक्षी, विवाहमें गोमांस, अतिथिके लिये गौ, यज्ञमें मांस, अन्य यज्ञ, वेदमें अहिंसा, अवध्य गौ और बैल, यज्ञका तत्त्व, गौको खाना। गौ पान लेने का अधिकारी, रक्षक और पाचक, गौका महत्त्व, राष्ट्ररक्षक गौ, गौके लिये सोमरस, सबकी माता गौ।

इत्यादि अनेक विषय इसमें आगये हैं। हरएक विषयका प्रतिपादन करनेके लिये अनेक वेदमंत्रोंके प्रमाण दिये हैं। जो कहते हैं कि " वैदिक समयमें गोमांस भक्षण की प्रथा थी, " उनके लिये यह उत्तम उत्तर है। यह पुस्तक पढनेके पश्चात् उक्त विषयमें कोई शंका नहीं रहेगी।

मूल्य१) रु डा व्य०।)

मुद्रक तथा प्रकाशक - श्री० दा० सातवळेकर, भारत मुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा)

अंक ७

क्रमांक १०३

आषाढ

संवत् १९८५

जोलाई

सन१९२८



छपकर तैयार है।

महाभारत की समालोचना।

प्रथम भाग और द्वितीय भाग।

प्रति भागका मूल्य ॥) डाकव्यय ≡) वी. पी. से ।॥≈)

मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

वार्षिक मूल्य— म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५)

डा. व्य. ॥)

योगमीमांसा

अंग्रेजी त्रैमासिक पत्र !

संपादक—श्रीमान् कुवलयानंद जी महाराज।

कैवल्यधाम आश्रममें योग शास्त्र की खोज हो रही है जिस खोजका परिणाम आश्चर्यजनक सिद्धियोंमें हुआ है, उन आविष्कारोंका प्रकाशन इस त्रैमासिक द्वारा होता है। प्रत्येक अंकमें ८० पृष्ठ और १६ चित्र रहते हैं।

वार्षिक चंदा ७), विदेशके लिये १२ शि० प्रत्येक अंक २) रु.

श्री. प्रबंधकर्ता-योगमीमांसा कार्यालय, कुंजवन पोष्ट लोणावला, (जि. पुणें)

निरुक्तभाष्य

(प्रो० चंद्रमणि विद्यालंकार पाली रत्न गुरुकुल कांगडी द्वारा संपादित) पृष्ठ संख्या १००० दो भागों का मूल्य ७) रु.

वेदका अभ्यास करनेवालों के लिये निरुक्त के अध्ययन की अत्यंत आवश्यकता है। इस लिये यह सुबोध भाष्य आर्य भाषामें निर्माण किया है। श्री. स्वा० श्रद्धानंदजी महाराज, पं गंगनाथ झा, पं० घासीरामजी, प्रो० रामदेवजी आदि सभी बिद्वानों ने इसकी प्रशंसा की है।

प्राप्तिस्थान- प्रबंधकर्ता "अलंकार"

गुरुकुल कांगडी (जि. बिजनौर)

वर्ष ९
अंक ७
क्रमांक १०३

वैदिक धर्म.

आषाढ संवत् १९८५
जुलै सन १९२८

वैदिक तत्त्वज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।
संपादक श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।
स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

राजसभा।

ध्रुवोऽच्युतः प्र मृणीहि शत्रूञ्छत्रूयतोऽधरान्पादयस्व।
सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह।

अथर्व. ६। ८८। ३

हे राजन्! (ध्रुवः अ-च्युतः) स्थिर और पदच्युत न होता हुआ (शत्रून् प्र मृणीहि) शत्रुओंका नाश कर। (शत्रूयतः अधरान् पादयस्व) शत्रुके समान आचरण करनेवालों को नीचे गिरा दे। (सर्वाः दिशः संमनसः) सब दिशाओं में रहनेवाले लोग उत्तम मनवाले और (सध्रीचीः) मिलजुल कर रहनेवाले हों और (इह ते ध्रुवाय समितिः कल्पतां) इस राष्ट्रमें तेरी स्थिरता के लिये सभा समर्थ होवे।

राजा अपनी उत्तम शासन प्रणालीसे सुदृढ होकर उत्तमतासे राज्य करे। सब शत्रुओंका पूरा नाश करे, तथा जो शत्रु के समान आचरण करनेवाले हों उनको दबाकर रखे। सब लोगोंकी संघशक्ति बनाकर राष्ट्रमें अपूर्व सामर्थ्य उत्पन्न करे और समितिद्वारा राज्य शासन कराके, लोकसमितिकी अनुमतिसे स्वयं सुदृढ होकर उत्तम राज्य शासन करे।

वामन अवतारका सन्देश।

" स्वकीय स्वराज्यकी भूख परकीय सुराज्यसे शांत नहीं हो सकती। "

निंदकोंका मत।

वामन अवतार के विषयमें बहुतसे विद्वान् शंका करते है कि इस को अवतार ही क्यों माना है। इस वामनने कौनसा ऐसा महत्कार्य किया कि जिसके कारण वह इतना पूज्य माना गया? बलिराजा बडा धर्मात्मा था, यज्ञयाग और दान धर्म करनेमें वह बडा रत था, ऐसे धर्मात्माराजा को दान लेनेके मिषसे वामनने दबा दिया, इसमें उसका बडापन कैसा माना जा सकता है। इस वामन के कृत्यमें तो बडा धोखा, कपट और छल प्रतीत होता है। बलि की यज्ञशालामें वामन बटुके वेष में जाता है, राजा से दान मांगता है; बलिराजा दान देने लगता है, ऐसी अवस्थामें बलिके सिरपर पांव रखकर वामन उसे धोखा देकर उसको पांव के नीचे दबाता है। क्या यह धर्म है? ऐसे धोखा देनेवाले कपटी वामन को अवतार मानना बडे आश्चर्य की बात है!!

वामन अवतार के संदेश को न समझनेवाले विद्वान् इस प्रकार वामन के कृत्य का निषेध करते हैं और वे बलि की ही प्रशंसा कहते हैं, उनका पक्ष देखिये—

(१) बलिराजा असुर हो, देव हो, या आर्य हो। इतना तो स्पष्ट है कि वह उत्तम धर्मात्मा क्षत्रिय था।

(२) बलिराजा अवश्य ही उत्तम न्यायी, कीर्तिमान् और पुण्यवान् राजा था।

(३) बलि और इन्द्र दोनों क्षत्रिय थे।

(४) बलिका खास और राजकीय चरित्र दोनों पूर्ण निर्दोष थे। प्रजामेंसे किसी ने भी बलिकी निंदा नही की है। उसके राज्यमें सर्व भूमि बडे आनंद में मग्न थी।

(५)बलि के राज शासन की सबने प्रशंसा ही की है, उसके राज्य में प्रजा आनंदमें विहार कर रही थी। और उसके राज्यमें खूब जोर से यज्ञयाग भी चलते थे।

(६) ऐसे धर्मात्मा राजा को धूर्त, भिकारी वामन ने लातसे ठुकराया और कपटसे उसका राज्य छीना।

(७) राजा बलीने वामन का कुछ भी न बिगाडा था, तिसपर भी उसने बलीको लातसे ठुकराया।

(८) वामन ने क्षात्र हत्या की, विश्वासघात किया, कृतघ्नता की और लोककल्याणकारी राजा का नाश करदिया।

(९) बली का नाश करने के लिये वामन ने ऐसा कौनसा महान् पराक्रम किया जिससे उसकी गणना अवतार में की जासके?

वामन को अवतार माननेवाले लोग इन विधानोंपर अवश्य विचार करें। यदि उक्त विधान किसी निःपक्ष मनुष्य के सम्मुख रखें तो उसे निश्चय होगा कि वामन ने, राजा बलिको लात से ठुकराया, एडीसे कुचला, क्षात्रहत्या की, उसका पराभव किया यह सत्य है; परंतु बली भी एक राज्य करने वाला बडा राजा था; अर्थात् वामनने कोई असाधारण पराक्रम

अवश्यही किया होगा। क्योंकि कोई भी राजकर्ता राजा अपना मस्तक साधारण मनुष्यकी पद्मी से कुचलवाने के लिये अपनी इच्छा से कदापि तैयार नहीं हो सकता। अतएव वामनके विशेष पराक्रम करने के विषयमें शंकाही नहीं है। परंतु यह प्रश्न वारंवार सन्मुख आता है इसलिये इस प्रश्न का सदा के लिये निपटारा होना परम आवश्यक है। अतः सर्व प्रथम वामनावतार के पूर्व की राजकीय स्थितिकी जांच करनी चाहियेः—

प्राचीन देशव्यवस्था।

(त्रिविष्टप) तिब्बत में देवजाति का राज्य था। भारतवर्ष में आर्यों का राज्य था। हिमालय के मध्य उतार पर गंधर्वों का राज्य था। हिमालय के पूर्व की ओर भूत जाति का राज्य था जिसे अब भूतान (भूतस्थान) कहते हैं। हिमालय के पश्चिम में पिशाच जातिका राज्य था। तिब्बत एवं भरतखण्ड के पश्चिम में असुर, दैत्य, दानव तथा राक्षसोंके राज्य थे। ये असुर राज्य ईरान से रूस तक फैले हुए थे। महाराष्ट्र के जिस भाग को अब 'देश' कहते हैं उसे पहले " महीपृष्ठ " कहते थे और कोकन को " महीतल " " रसातल " " भूतल " आदि " तल " वा ताल प्रत्ययांत नाम थे। इन्ही नामों में से " पाताल " एक नाम है।

तिब्बत, भरतखंड और समुद्र किनारे के प्रदेश को साधारणतः त्रिविष्टप,भूलोक और पाताल समझते थे। त्रिविष्टप के इन्द्र के अधीन ही यह सम्पूर्ण प्रदेश था। अति प्राचीन काल में असुर, दैत्य, दानव एवं राक्षसों के त्रिविष्टप के देवों के साथ जो युद्ध हुए वे सब उनका राज हरने के लिये ही हुए। आगे चलकर भारतीय आर्य अपनी चातुर्वर्ण्य संस्था के और यज्ञसंस्था के साथ ही प्रबल हुए और गंधर्वादि पास पडोस की जातियां हतबल हुई। राजा बली की कथा उस समय की है जब कि भारतवर्ष में देवों का राज्य था और भारतीय आर्यों का विशेष उदय नही हुआ था। राजा बली की कथा का पूर्वापर संबंध समझने में इतना इतिहास काफी होगा।

राजा बली की जाति।

राजा बली आर्य संतान न था। वह तिब्बत की देवजाति का भी न था। अति प्राचीन समय में हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु नाम के ' दैत्य ' जाति के बादशाह थे। ये वास्तव में ईरान के उत्तर के प्रदेशों के बलवान राजा थे। हम कह सकते हैं कि आजकल जैसे पठान हैं वैसे ही वे थे। जिस प्रकार मुसलमानों ने समय समय पर हिन्दुस्थानपर चढाइयां की उसीप्रकार इन दैत्योंने भी की। हिरण्यकशिपुका पुत्र प्रहलाद था। प्रहलाद का पुत्र वैरोचन था। और वैरोचन का पुत्र बली था। जैसे हिरण्यकशिपु का भारतीय आर्य क्षत्रियोंसे बिलकुल संबंध नही है,वैसे ही राजा बली का भी नही है। क्योंकि वह असुर जातीका था। जो कहना है कि ' राजा बली असली क्षत्रिय थे ' वैसेही निरा पागलपन है जैसे 'महमूद गज़नवी को असली क्षत्रिय कहना है। अन्यान्य देशों में शूरवीर भलेही हों पर उन्हे भारतीय आर्य क्षत्रियों के समान क्षत्रिय कहना इतिहासका अज्ञान प्रदर्शित करना है। जो लोग महमूद गजनवी को असल क्षत्रिय मानने को तैयार हों तो वे बली को भी असल क्षत्रिय कह सकते हैं। क्यों कि दोनों भरतखंड के बाहर के निवासी थे और भारतीय आर्योंसे शत्रुता रखने वाली असुर जातियों के थे। हिरण्यकशिपु जिस प्रकार देवोंका और आर्योंका शत्रु था उसी प्रकार बली भी था। दोनों में उतना ही अंतर था, जितना औरंगजेब और अकबर में था। अर्थात् अंतर केवल राजशासनकी पद्धति में था, शत्रुता में नही।

ईरान से रूसतक असुर, दैत्य, दानव और राक्षसोंके देश थे। उन सब का एकमात्र उद्देश्य तिब्बत के देवराजाको हराना और भारतवर्षमें मनमाना उपद्रव मचाने का था। कारण स्पष्ट ही था। भारतवर्ष में उत्पन्न होनेवाले धान्य की जैसे तिब्बत के देवजाति को आवश्यकता थी वैसे ही असुर आदि को भी थी। इसी हेतु इस सुवर्णभूमि पर अधिकार प्राप्त करने के लिये प्राचीन काल में देव और असुरों के बीच युद्ध हुआ करते थे। पंद्रहवी तथा सोलहवी शताब्दि में जैसा प्रयत्न इंग्लिश, फ्रेंच, पोर्तगीज आदि भारतवर्ष में करते थे, वैसा ही प्रयत्न असुर,

दैत्य, दानव एवं राक्षस तिब्बत के द्वार से करते थे । दोनों की कोशिशों में बहुत समानता है ।

बली की पहली चढाई ।

बली देवजाति का न था और न वह भरतखण्ड का ही निवासी था। वह तिब्बत के पश्चिम के असुर देश का निवासी था । उसने देवों को हराकर भरत खण्ड पर प्रभुत्व जमाने के हेतु तिब्बत पर चढाई की । उसकी पहली चढाई का वर्णन श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कंध के दसवें अध्याय में है ।

इस समय बली, नमुची, यातुधान, वैरोचन, जंभ आदि सब असुर दैत्य, दानव और राक्षस मिलकर देवों पर चढाई कर रहे थे । यह असुरों का 'मित्र-दल' था । देवों का मुखिया सम्राट् इन्द्र था और उसका साथ देने को मरुत्, वरुण, हयग्रीव आदि अनेक देव वीर थे ।

यह युद्ध बहुत दिनों तक होता रहा । इस में सब देवों ने अद्वितीय संघशक्ति से काम लिया । इसीसे बली हार गया । इसका वर्णन इस प्रकार है । :-

येऽवशिष्टा रणे तस्मिन्नारदानुमतेन ते ।
बलिं विपन्नमादाय अस्तं गिरिमुपागमन् ॥
श्री० भागवत ८।११।४७

युद्ध में बली मूर्च्छित हुआ, उसके थोडे ही वीर बचे, तब नारद ने उससे कहा कि ' अब आपलोग यहां से जाइए वर्ना तुम्हारा नाश हो जायेगा ।' यह नारद की बात उन्हें जंची और वे असुर सैनिक मूर्च्छित बलीको लेकर पश्चिम के पर्वत के पीछे भाग गए ।

बलीने त्रिविष्टप पर हम्ला किया सो भी पश्चिम की ओर से, और असुर सैनिक मूर्च्छित बली को लेकर भागे सो भी पश्चिम की ओर ही। इससे स्पष्ट होता है कि बलि का देश तिब्बत के पश्चिम में था। वर्तमान रूसी तुर्कस्थान वा उसके पास का अन्य कोई देश बली का देश होगा। इस पहली चढाई में बली के दांत खूबही खट्टे हुए। अपने देश को लौटते समय रास्ते में भगवान् भृगु ऋषि के आश्रम में वह कुछ मास रहा और दवापानी करने पर अच्छा हो गया । इस विषयमें कहा है -

पराजितश्रीरसुभिश्च हापितो हीन्द्रेण राजन् भृगुभिश्च जीवितः । सर्वात्मना तानभजद्भृगू-न्बलिः शिष्यो महात्मार्थनिवेदनेन ॥
श्री० भागवत ८।१५।३

इन्द्र ने बली को पूर्णतया हराया। उस की अवस्था करीब करीब गतप्राण सी हुई । भृगु के आश्रम में पहुंचने पर वहां की दवापानी से वह जीवित रहा । इसी से वह भृगु को मान देने लगा ।

उस बली दैत्य पर, जो मरने को ही था, भृगु ऋषिने उपकार किये और उसके प्राण बचाए। परन्तु उसने इतने पर भी भरतखण्ड की चढाई का विचार छोडा नही !! क्या यह असुरों की मनः प्रवृत्ति विचार करने योग्य नहीं है ?

पृथ्वीराज के द्वारा जिसके प्राण बचाए गए थे, उसी महम्मद गोरी ने पृथ्वीराज का नाश किया !! हमारी सूचना है कि वाचक उक्त ऐतिहासिक बात से इस पौराणिक बात की तुलना अवश्य करें ।

दीन दुखियों की सहायता करने के विचार ही से भृगु ऋषीने घायल बली को अपने आश्रम में ठहरा लिया और उसका दवापानी किया। परन्तु उसी बली ने आगे चलकर भृगु ऋषी का ऐसा अपमान किया कि जिससे भृगुऋषिकी आंखें एकदम खुलगईं और तब उन्हों ने बली को श्राप दिया । यहां स्पष्टतया विदित हो जाता है कि असुर और दैत्य किस प्रकार अपनी जाति के गुणों पर लौट पडते है। बली अपने देश को लौट गया और उसने फिर देवराष्ट्र पर चढाई की तैयारी की ।

बली की दूसरी चढाई ।

पहली चढाई असफल होनेपर बली ने फिर से नये उत्साह से दूसरी चढाई की तैयारी की । पहले से अधिक अच्छी तैयारी होने पर बली ने देवों के देशपर दूसरी चढाई कीः-

वृतो विकर्षन्महतीमासुरीं ध्वजिनीं विभुः ।
ययाविन्द्रपुरीं स्वृद्धां कंपयन्निव रोदसी ॥११॥
श्री. भागवत ८।१५

बली ने बडी भारी सेना के साथ इन्द्रपुरी पर चढाई की । पर इस समय देवों की ओर से सेना

की तैयारी बिलकुल न थी। अतः इन्द्रको बली की आसुरी सेना का प्रतिकार करना असम्भव मालूम हुआ।-

भगवन्नुद्यमो भूयान्बलेर्नः पूर्ववैरिणः।
अविषह्यमिमं मन्ये केनासीत्तेजसोर्जितः।

श्री. भागवत ८।१५

इन्द्र कहता है-"हमारे पुराने शत्रू बलीने हमला किया है। हमारी तो बिलकुल तैयारी नहीं है। इसके हमले को लौटाना मुझे असंभव मालूम होता है।"

गत यूरपीय महायुद्ध में फ्रान्स की तैयारी न रहते भी जिसप्रकार जर्मनीने हमला किया था,उसी प्रकार देववीर अप्सराओं के साथ नाचने में मग्न थे और बली की इस चढाई के विषय में बिलकुल असावधान थे, ऐसे समय में बलीने बडी तेजी से हमला किया। देव उसका प्रतीकार तक न कर सके। तब देववीर अपने अपने गांव छोडकर जीव रक्षा के लिए भागे और जहां कहीं छिपने को जगह मिली वहां छिप रहे-

देवेष्वथ निलीनेषु बलिर्वैरोचनः पुरीम्।
देवधानीमधिष्ठाय वशं निन्ये जगत्रयम्॥

श्री. भाग. ८।१५।३३

"यह देखकर कि देव भागे, बलीने इन्द्र की राजधानीमें प्रवेश किया और त्रिविष्टप, भरतखंड और पाताल तीनों स्थानोंमें अपने विजय का डंका बजाया।"

इस प्रकार युद्ध न करके दूसरे की असावधानता से लाभ उठाकर बली दैत्य ऐसे भारी भूप्रदेश का स्वामी बन बैठा! बली जानता था कि उसके परनाना हिरण्यकशिपु क्रूरनीति से काम लेते थे, इसी से उनका राज्य लोकप्रिय न हुआ और उनका वध किया गया। अतएव बलीने सौम्य नीतिका आश्रय किया। उसने शासन में ऐसा प्रबंध किया कि, किसी को दुःख न हो और सब वश हो जावें। इस नीति का अवलंब करने में उसका उद्देश यह था कि कोई देव और आर्य राजा बलवा न करें और उसका राज न छुडा लें! बली की नीति सौम्य थी, परंतु उसने अधिकार के सब स्थानों में दैत्यों की ही नियुक्ति की थी। उसका अंदरुनी प्रबंध ऐसा कडा था कि भारतीय आर्यों या त्रिविष्टपीय देवों में से कोई भी निश्चित सीमासे आगे बढने न पावें। बली का राज बाहर से शांतता प्रधान दिखता था। किसी को खुल्लमखुल्ला कष्ट न होता था। सब को एकसा न्याय मिलता भी था अर्थात् आर्यों और देवोंके आपसके झगडे होनेके समय उनका उत्तम न्याय हो जाता था। किसी के धर्म कर्म में कोई बाधा न होती थी। कोई भी असुर पहले के समान आर्यों को मारपीट न करता था। तथापि उसकी राजनीति का फल यह हो रहा था कि भारतीय आर्य, त्रिविष्टपीय देव और पाताल वासी सर्प आदि जातियां प्रतिदिन वीर्यहीन हो रहीं थीं और उनमें पुनः सिर ऊंचा करनेकी हिम्मत और शक्ति न थी। उसकी नीति ही थी कि उन जातियों का तेजोभंग सदा होता रहे और वे सदैव अंकित रहें।

सदैव तेजोभंग होने के कारण उक्त पादाक्रान्त जातियों की सब शक्तियां निर्बल होने लगीं। उन्हें पुरुषार्थ दिखलाने का अवसर न रहनेसे उनका जीवन उत्साह रहित होने लगा। किसी को भी विशिष्ट मर्यादा से परे कार्यक्षेत्र नहीं मिलता था, अत एव उनकी बाढ रुक गई और उपभोग भी स्थगित हो गये। बली दैत्यके कडे बंदोबस्त और उसकी असाधारण शक्ति के कारण कोई भी देववीर या आर्यवीर उठ नहीं सकता था। सब वीर घरों में छिपकर बैठ गये या जंगलों में भाग गये। स्त्रियां घरही में बैठ प्राचीन वैभव का स्मरण कर शोक करने लगीं!!

पुरुषों के विचार।

बलि के द्वारा पराजित देववीर और आर्यवीर हतवीर्य हो गये हैं। बली का सुराज्य ही अच्छा है। हमें भी अधिक उपभोग की क्या आवश्यकता? दैत्य कर्तृत्ववान है। उनके जैसा कर्तृत्व हममें कहां? देवों का आर्यों पर राज्य होना, या आर्यों का देवों पर राज्य होना इससे लाख दर्जे यही अच्छा है कि दैत्यों का जो कि न तो आर्य है और न देव, इन दोनों पर राज हो। क्यों कि देवों का राज हुआ तो देववीर आर्योंपर अत्याचार करेंगे। और आर्योंका

राज हुआ तो आर्यवीर देवोंपर जबरदस्ती करेंगे; ये दोनों स्थितियां बुरी हैं। अतएव इन दोनों जातियों पर जो बली का सुराज है सो ही अच्छा है। बली के राज में हमें कोई कष्ट नहीं है। बलीने स्वयं यज्ञ याग चलाए हैं। वह हमारे यज्ञों में कोई विघ्न बाधाएं नहीं डालता। उसका यही प्रयत्न है कि हमारी धीरे धीरे उन्नति हो। इससे अच्छा तो यही है कि बलि का राज सदैव रहे।

उस समय के पुरुषों के विचार इस प्रकार के थे। इसी लिए बली का सुराज्य स्थापित हो जाने पर किसी भी देववीर ने वा आर्य वीरने बलीका राज नष्ट करनेकी चेष्टा न की। किंतु आर्यस्त्रियां और देवस्त्रियां पूर्व काल के वैभव का स्मरण कर करके अश्रुपात किया करती थीं। कुछ लोग यह देखकर कह देते थे कि वे पुरानी रीति को पसंद करनेवाली पागलनी है। पर कुछ लोग उन स्त्रियों के हृदय में धधकनेवाली स्वतंत्रता की अग्नि को पहचानते थे।

स्त्रियों का शोक।

माताओं के हृदय में जो विचार तीव्र होता है वही बालक के हृदय में जड जमाता है। माताओं के हृदय में यदि राजक्रांति के विचार तीव्रता से वास करते हों तो दो एक पीढियों में निश्चय से राज्यक्रान्ति होती है। परन्तु यदि स्त्रियां स्वयंही परकीय शासन को भूषण समझें,तो राज्यक्रान्ति होना असंभव है।

पराजित देवों और आर्यों की स्त्रियां पूर्व वैभव का स्मरण कर मन मे किस तरह तरसती एवं शोक करती थी देखिए:—

एवं पुत्रेषु नष्टेषु देवमाताऽदितिस्तदा।
हृते त्रिविष्टपे दैत्यैः पर्यतप्यदनाथवत्॥
श्री. भाग. ८।१६।२

"दैत्योंने हमारा राज हरण किया और हमारे पुत्रों का सर्वतः नाश हुआ। इस विचार से अनाथ हुई देवमाताएं मनही मन जलती थी।" ये स्त्रियां सोचती थी कि हमारा प्राचीन वैभव पुनः प्राप्त हो, हमारे पुत्रों की योग्यता राष्ट्रीय दृष्टि से बढे। ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होवे जिससे जिस संपत्ति का उपभोग दैत्य. असुर और राक्षस इस समय कर रहे हैं उस संपत्ति का उपभोग हमारे पुत्र अर्थात् देव करें। सारांश यह कि माताओं के हृदय में दिन रात यह विचार तीव्रतासे वास करता था कि हमारा गत वैभव हमें फिर प्राप्त हो।

आक्षेपक कहते हैं कि 'बलि के राज में प्रजा बहुत आनंद से थी।' हम उन्हे सूचित करते हैं कि वे स्त्रियों के हृदय की उक्त जलन पर ध्यान दें। पर यह जलन उन्हें किस प्रकार दिखेगी? देवमाताओं के हृदय की व्यथा क्या थी और कितनी तीव्र थी? यह बात वे ही जान सकते हैं कि जो स्वराज्य के जीवन के प्यासे हैं। अन्य भोगी लोग ऐसा ही कहेंगे कि दैत्य का राजही चिरकाल तक बना रहे। यदि कदाचित् इन लोगों की आत्मा बलि के राज्य में शरीर धारण कर आई होती तो संभव है कि वे उक्त राजद्रोही माताओंका शिरच्छेद ही करते। उस समय माताओंको हमने राजद्रोही कहा क्योंकि वे प्रतिदिन ईश्वर से राजद्रोही प्रार्थना ही करती थी।

स्त्रियों की इच्छा।

पूजा करके वे दिनरात ईश्वर से यही मांगती थीं कि हमारी हरण की हुई स्वतंत्रता पुनः प्राप्त हो:-

तस्मादीश भजन्त्या मे श्रेयश्चिंतय सुव्रत।
हृतश्रियो हृतस्थानान्सपत्नैः पाहि नः प्रभो॥१५॥
परैर्विवासिता साहं मग्ना व्यसनसागरे।
ऐश्वर्यं श्रीर्यशः स्थानं हृतानि प्रबलैर्मम॥ १६॥
तथा तानि पुनः साधो प्रपद्येरन्ममात्मजाः।
तथा विधेहि कल्याणं धिया कल्याणसत्तम॥१७॥
श्री. भाग. ८।१६

"हे ईश्वर! मैं तुम्हारी भक्ति करती हूं। अतः ऐसा कर जिससे मेरा कल्याण हो। हे प्रभु! प्रबल शत्रूने हमारी सब संपत्ति हरण करली है और हमें स्थानभ्रष्ट कर दिया है। हमें वैभव के शिखर से दुःख के सागर में फेंक दिया, हमें शहर में घूमने फिरने की भी स्वतंत्रता नहीं है। प्रबल शत्रुने हमारे ऐश्वर्य, संपत्ति यश और सब स्थान हर लिये और हमें निराश्रित बना दिया है। हमारे नवजवानों को प्राचीन वैभव प्राप्त हो, वे पहले के समान ऐश्वर्य

संपन्न हों उनकी धवल कीर्ति चारों दिशाओं में फैले और उनके संपूर्ण अधिकार उन्हे पुनः प्राप्त हों। "

बली के स्वराज्यमें पराजित देव माताओंकी प्रतिदिन की यह प्रार्थना सब के लिये विचारणीय है। इस प्रार्थना का प्रत्येक शब्द दर्शाता है कि बलि दैत्यने कैसा भारी अनर्थ देवराज्यमें करदिया था और उसने पराजित लोगों को किस निकृष्ट दशा में पहुंचाया था। इस विषयके निम्न लिखित शब्दोंका मनन कीजिये--

१ हृतश्रियः-

दैत्य उनकी सब संपत्ति हरण कर ले गये थे। अतएव दैत्य प्रतिदिन धनवान हो रहे थे और देव धनहीन हो रहे थे।

२ हृतस्थानाः-

देवों के राज के सब अच्छे अच्छे स्थान ओहदे और अधिकार के स्थान दैत्य हडप कर गये थे। अतएव देव युवकों का कोई कार्य क्षेत्र ही बचा न था।

३ विवासिताः-

दैत्यों ने देवों को देशसे निकाल दिया था।

४ व्यसने मग्नाः--

सब को दुःख सागर में फेंक दिया था।

५ ऐश्वर्य, संपत्ति, यश और स्थान-

देवों और आर्यों के राज में होते हुए भी देवों और आर्यों को न मिल, वे सब दैत्यों को मिलने थे।

उक्त कथन से विदित होगा कि बलि के सुराज्य में देवराष्ट्र और आर्यराष्ट्र की कैसी दशा हो चुकी थी और नव युवकों के साथ असुरों का कैसा व्यवहार था।

देवमाताओंको तो ध्यास लगा था कि हमारा गत वैभव हमें फिर प्राप्त हो। ध्यास लगनेसे ईश्वरी साक्षात्कार होता है। देवमाताओं को भी ईश्वर का साक्षात्कार हुआ। देखोः—

देवमातर्भवत्या मे विज्ञातं चिरकांक्षितम्।
यत्सपत्नैर्हृतश्रीणां च्यावितानां स्वधामतः ॥१२॥
तान्विनिर्जित्य समरे दुर्मदानसुरर्षभान्।
प्रतिलब्धजयश्रीभिः पुत्रैरिच्छस्युपासितुम् ॥१३॥
इन्द्रज्येष्ठैः स्वतनयैर्हतानां युधि विद्विषाम्।
स्त्रियो रुदन्तीमासाद्य द्रष्टुमिच्छसि दुःखिताः॥१४॥
आत्मजान्सुसमृद्धांस्त्वं प्रत्याहृतयशः श्रियः।
नाकपृष्ठमधिष्ठाय क्रीडतो द्रष्टुमिच्छसि ॥१५॥
श्री. भाग. ८।१७

" हे देवमाता। तुम्हारे मनकी बहुत दिनकी इच्छा मुझे ज्ञात है। दैत्योंने तुम्हारे बालकोंका संपूर्ण राज्य हरण किया और उन्हे निजी मकान से भी बाहर कर दिया। तुम्हारी इच्छा है कि तुम्हारे युवक युद्ध में दैत्यों को हरावें और वे गत वैभव पुनः प्राप्तकर लें। तुम्हारी इच्छा है कि तुम्हारे इन्द्रादि पुत्र युद्ध में शत्रु को मार डालें और इस दुःख से दुःखी दैत्य-स्त्रियों को रोते हुए तुम देख सको। तुम्हारी इच्छा है कि तुम्हारे तरुण पुत्र गत वैभव पुनः प्राप्त करें और अपने देश में पूर्ववत् ऐश्वर्य का उपभोग करते हुए तुम उन्हे देख सको।"

उक्त साक्षात्कार के शब्द भी बताते हैं कि बली का राज्य किस प्रकार का था और जित लोगों के विचार उस बलिके सुराज्यमें क्या थे।

उक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि बलि के राजत्वकाल में संपूर्ण देव जाती और संपूर्ण आर्य जाती पूर्णतया निःसत्व हो गयी थी। यदि इस पराधीनता की सीमा के रहते कोई कहे कि 'बलि के राज में प्रजा सुख में थी' तो राष्ट्रीय आपत्ति और किस प्रकार हो सकती है?

ऐसे बलिराजा को बाल ब्रह्मचारी वामन नाम के ब्राम्हण कुमार ने लात से ठुकराया। क्या यह वामन का अन्याय है?

वामन की कर्तूत।

जिस समय वामनावतार हुआ, उस समय राजकाज बहुत बिकट हो गयाथा। त्रिविष्टप की देवजाति, भरतखंड की आर्य जाति और अन्य छोटी छोटी जातियों में फूट की गई थी। अनेक वर्ष तक ये लोक

पराधीन रहे थे। अतएव उन में व्यवस्था का अभाव हो गया था। हर कोई अपनी ही भलाई की फिकर करता था। संघशक्ति उत्पन्न होने की संभावना ही नही थी। सभी लोग हृदय से समझते थे कि। "चारों ओर फैला हुआ बलि का राज्य उलटा देना बिलकुल असंभव है।" देवों के राजा इन्द्र को दिन दहाडे आम रास्ते से निकलना मुष्किल था। स्त्रियों के नेत्रों से बहने वाली दुःख की अश्रुधाराएं बंद न होती थी। सब ओर से ऐसी बिकट परिस्थिति थी। स्वतंत्रता की प्राप्ति का सरल मार्ग किसी की दृष्टि में न आता था। और न कोई उसकी आशा ही करता था। ऐसी पूर्ण निराशामय स्थिति में वामन का जन्म हुआ था। अतः उसके कार्य की महत्ता सहज में ज्ञात हो सकती है।

उस समय की वीरांगनाओं की आकांक्षाएं वामन के अंतःकरण में संकुलित हुई थी। बलि दैत्य असामान्य व्यक्ति था। वह बडा धूर्त एवं नीतिज्ञ था। उसने स्वयं वैदिक धर्म की दीक्षा ली थी। वह स्वतः यज्ञ याग करता था। इस प्रकार वह दिखलाता था कि हम सब प्रकार से प्रजा के हो हैं। परन्तु उक्त तीन देश के लोग अपना मस्तक ऊंचा न करने पावें, इस हेतु जो करना आवश्यक था उसमें वह कदापि न चूकता था। भारतीय लोग प्रथम ही से धर्म के प्रश्न में भोले हैं। बलिराजा यज्ञ करता है। इसी से वे उसकी बडाई गाते थे। पर बहुत थोडे लोग ऐसे थे जो कि उसकी नीति को समझकर यह जानते थे कि उस की राजपर कैसी मजबूत पकड है। इस बातसे हम लोगों को एक शिक्षा मिलती है कि यदि परकीय राजनीतिज्ञ जित लोगों के गुणवर्णन करता है और जित लोगों का धर्म स्वीकार करता है, तो हमें देखना आवश्यक है कि उसके इन कार्यों में राजनैतिक उद्देश क्या है। वामन ने पूर्णतया ताडलिया कि बलि का यह स्वांग केवल इस लिये है कि त्रिविष्टप आदि तीन देशों भर अपनी प्रभुता जारी रहे। इसी लिए, जिस समय बलिका यज्ञ जारी था, सोमाभिषव होने के समय वामन ने यज्ञ में प्रवेश किया और वह बलि के सन्मुख उपस्थित हुआ। याजक लोग सोम का रस निकालने की तैयारी में थे, ऐसे समय वामन की तेजस्वी मूर्ति यज्ञसदः स्थान में खडी हुई।

वामन की पूर्व तैयारी।

वामन यद्यपि छोटा था, वह राज-नीति-निपुण था। उसका शारीरिक बल भी कुछ कम न था। मौके पर वह लडने को तैयार रहता। युद्ध के दांव मल्लयुद्ध के पेंच और चढाई की युक्तियों से वह पूर्ण परिचित था। यही कारण था कि वामन बटु यज्ञमंडप में अकेला न आया था, उसके आने के पूर्व ही गुप्त वेश में सैकडों देववीर और आर्यवीर ब्राह्मणोंके वेषमें यज्ञमंडपमें उपस्थित हुए थे। वे सब अपने अपने अस्त्र-शस्त्र दर्भमुष्टि में, धोती में, छाटी में, कृष्णाजिन में छिपा लाए थे। वे ब्राह्मणों में जाकर बैठे थे। अन्य ब्राह्मणों के सदृश ये वीर भी ब्राह्मणी वेषमें थे। उनकी पोषाक से कोई उन्हें पहचान न सकता था। ऐसी तैयारी कर लेने के पश्चात, वामन स्वतः ब्रह्मचारी के भेष में कौपीन, दण्डकमण्डलु और छाटी लंगोटी धारण किये यज्ञ मंडप में आए और बलि के सन्मुख उपस्थित हुए। उमर छोटी पर तेजस्वी, दिखने में छोटा पर बुद्धिमें भारी, आकार छोटा पर कृति महान्, थोडे किन्तु गंभीर शब्द बोलनेवाला वामन जैसा ब्राह्मण कुमार बलि दैत्य ने पहले कभी नही देखा था। उसका असामान्य तेज देखकर बलि भी स्तंभित हो गया। उसने वामन का स्वागत किया और उससे कहा आपको जो चाहिये सो मांगिए। वामन ने त्रिपाद भूमि मांगी। बलिने उसे कई प्रकार से समझाने की कोशिश की और उसे दूसरी कोई बडी चीज मांगने को कहा, पर वामन अपने वचन पर अटल रहा।

इसी के समान एक कथा मुगल बादशाह के समय में हुई थी। देहली के मुगल बादशाह की पुत्री बीमार हुई। उसे एक यूरपीय डाक्टर ने चंगा किया। तब बादशाह ने डाक्टर से कहा 'आप जो चाहें मांगिए मैं दूंगा।' तब डाक्टर ने कहा 'जहांपनाह, बकरे के चमडे के बराबर जमीन मुझे दीजिए।' इस बात को सुनकर बादशाह खिल खिलाकर हंसे और डाक्टर

को समझाने लगे। पर उसने एक न मानी। तब बादशाहने बकरे के चमडे के बराबर जमीन देने का फरमान दिया। तब उस धूर्त डाक्टर ने उस चमडे के बारीक तंतु निकाले और वे एक दूसरे में जड दिये। तब उसकी लम्बाई मीलोंतक हुई। और उतनी ही जमीन मांगी। बादशाह उसकी बुद्धिमत्ता पर खुश हुए और उसे दूनी जमीन उन्होंने दी।

इतिहास में ऐसी अनेक कथाएं प्रसिद्ध हैं। ऐसी विपरीत बात मांगने वाले के कहने में श्लेष रहता है। यदि यह श्लेष जान सकें तो डर नहीं रहता। यदि न जान सके तो समूल नाश होता है। वामन के 'त्रिपाद भूमि' शब्दोंका श्लेष स्पष्ट ही था। उसका मतलब था 'तिब्बत भारतवर्ष और पाताल' के मांगनेसे। पर यह बात बलि के ध्यान में आना संभव न था। क्योंकि बलिको खबर ही न थी कि ब्राह्मणोंने उसके विरुद्ध कोई षड्यंत्र रचा है और उसमें अनेक देव वीर भी संमिलित हैं। अतएव बलि दैत्य असावधान था।

यद्यपि बलि स्वतः और उसके सब वीर असावधान थे तथापि वह बडा सम्राट् था। इससे उस यज्ञ मंडप के पास और भीतर भी सैकडों राक्षस सैनिक तैयार ही थे। वे आपत्ति आनेपर बली की रक्षा के लिए ही उपस्थित थे। किन्तु उनमें से किसी को भी क्रान्ति की आशंका न थी। इतनी गुप्त रीतिसे वामन ने षड्यंत्र रचा था। वामन ऐसी सावधानी न रखता तो वह बलि दैत्य का राज न उलटा सकता।

वामन ने जब देखा कि शत्रु के वीर असावधान हैं और अपने पक्ष के वीर अस्त्र शस्त्रसहित वहांही बिलकुल तैयार हैं, तब उसने समझ लिया कि यही अवसर अनुकूल है। तभी उसने 'त्रिपाद् भूमि' का दान मांगा। वह जानता था कि यज्ञके सोमका सवन जब तक नहीं हुआ तब तक उसके अनुकूल परिस्थिति में बदल न होगा।

बलि और वामन में दान के लिए थोडा विनोद होने पर, वामन बलि के सन्मुख दान लेने के लिए बैठ गया। इस समय तक बलि के मन में किसी प्रकार की शंका न थी। बलि के पुरोहित को वामन के बारे में संदेह हुआ। कदाचित् उसे वामन के षड्यंत्र के संबंध में कुछ बात भी मालूम हुई होगी। अतएव उसने बलि को सजग करने की चेष्टा की। पर बलिने उसके कथन पर ध्यान न दिया। यदि बलि अपने पुरोहित के कहने में आ जाता तब भी अब उसे वामन की पकड से छूटना असंभव हो गया था।

योग्य अवसर पाकर वामन ने बलि को नीचे गिराया और उसके सिर पर पैर रखा। यह घटना इतनी फुर्ती से और ऐसे जल्दी हुई कि पहले किसी की समझ ही में न आया कि क्या हुआ। ऋत्विज यज्ञ करने में मग्न थे। अन्य ब्राह्मण वेद घोष में तल्लीन थे। प्रेक्षक जन वार्तालाप में लगे थे। ऐसे समय में वामन ने बलि दैत्य को गिराया। इस घटना को प्रथम पहरे दारोंने देखा, तब वे एकदम चिल्ला उठे—

अनेन याचमानेन शत्रुणा बटुरूपिणा।
सर्वस्वं नो हृतं भर्तुर्न्यस्तदंडस्य बर्हिषि ॥११॥
तस्मादस्य वधो धर्मो भर्तुःशुश्रूषणं च नः।
इत्यायुधानि जगृहुर्बलेरनुचरासुराः ॥ १२ ॥
ते सर्वे वामनं हन्तुं शूलपट्टिशपाणयः ॥
श्री. भाग ८। २१

"अहो! इस याचना करने वाले बटुरूपी ब्राम्हण शत्रुने विश्वासघात से हमारे सम्राट का सर्वस्व हरण किया है। हमें सम्राट् की रक्षा करनी ही चाहिये। अतएव इस ब्राम्हण कुमार का वध करना ही हमारा धर्म है। यह कहकर बलि के दैत्य सेवकोंने शूल, पट्टिश आदि अपने आयुध लिये, उन्हें तुरन्त सज्जकर वे वामन का वध करने के हेतु वामन की ओर दौडे।"

इस वर्णन से स्पष्ट है कि वामन ने 'राज्यकी भिक्षा' मांगी और बलि ने खुशीसे दी, यह बात सत्य नहीं। वामन भी संपूर्ण भविष्य पहले ही से जानता था। चतुर वामन प्रथम ही से जानता था कि राज्य की भिक्षा कोई किसी को नहीं देता, और भीख मांगकर पाया हुआ राज्य कोई चला भी नहीं सकता। इसी कारण से उसने मंडप में अपने वीर प्रथम हीसे भेज दिये थे। और इस प्रकार कठिन

प्रसंग में अपनी रक्षा का तथा अपने विचार की पूर्ति में सहायता का प्रबंध पहले ही से किया था। उसके अंदाज के अनुसार ही उसकी तैयारी उसे इस समय सहायक हुई।

तानभिद्रवतो दृष्ट्वा दितिजानीकपान्नृप।
प्रहस्यानुचरा विष्णोः प्रत्यषेधन्नुदायुधाः॥१५॥
श्री० भाग० ८।२१।

"दैत्य अपने नेता वामनपर हम्ला कर रहे हैं, यह देख कुछ मुस्कराकर, अपने आयुधों को सम्हालकर वामन के अनुयायियों ने दैत्य सैनिकों को प्रतिबंध किया।"

यदि वामन प्रथम ही से पूर्णतया तैयार न होता, तो इस समय उसका अंत ही हुआ होता। वामन ने प्रसंगका अनुसंधान पूर्णतया किया था और उस ने अपनी तैयारी योग्य दिशा में की थी। बलि दैत्य और उसके अनुयायी पूर्ण असावधान थे। वामन के अनुयायी यह भी जानते थे कि इस प्रकार का हम्ला अवश्य ही होगा। इसीलिए वामन की विजय बहुत जल्दी हुई। वामन ने दैत्यों को पूर्णतया दबाया। तब उसने बलि को पकडकर उसे रस्सी से अच्छी तरह बांधकर कैद किया।

बबंध वारुणैः पाशैर्बलिं सौत्येऽहनि क्रतौ॥२६॥
हाहाकारो महानासीद्रोदस्योः सर्वतोदिशम्।
गृह्यमाणेऽसुरपतौ विष्णुना प्रभविष्णुना॥२७॥
श्री. भाग. ८।२१

"सोमरस का हवन करने के दिन बलि को वरुण पाशसे कसकर बांध दिया। तब यह देखकर कि बलि जैसे बलवान् सम्राट् को वामन नामके ब्राह्मण कुमार ने कैद किया, चारों दिशाओं में भारी गडबड मच गई।"

इस प्रकार गडबडी मचना स्वाभाविक बात थी। क्यों कि कोई स्वप्न में भी सोच न सकता था कि बलि का राज दो, चार घंटे के भीतर छिन जावेगा। सब लोग यज्ञ के महोत्सव में मग्न थे। बलि के अधिकारी ऐश आराम में तल्लीन थे। कहीं भी खबर न थी कि क्षत्रियों ने चढाई की है। कोई स्वप्न में भी न सोच सकता था कि ब्राह्मण इस प्रकार क्रान्ति का षड्यंत्र रच सकते हैं। परंतु जो किसी के स्वप्न में भी न था वही दो, चार घंटे में प्रत्यक्ष हुआ। इस घटना के कारण संपूर्ण देश में हलचल मच गई तो आश्चर्य ही क्या? किसी भी समय इस प्रकार की भारी राज्यक्रान्ति जब एका एक होती है, तब जनता का कुछ तो भय से और कुछ कर्तव्य मूढता से घबडा जाना स्वाभाविक ही है।

बलि को कैद कर चुकनेपर राजभर में दैत्यों को पकडना आरंभ हुआ। कहीं कहीं दैत्यों ने प्रतिकार करने की चेष्टा की, परंतु उनका बादशाह ही कैद हो चुका था, अतएव उनमें उत्साह की मात्रा बहुतही कम थी। सब दैत्य, असुर, दानव, और राक्षस घबडा गये। अतएव वामन के अनुचरों को, जो सावधान थे, अपना काम करने में सुविधा हुई। अंततः स्वतः बलिने ही सब दैत्यों को वामन के आधीन हो जाने को कहा जिससे दैत्यों का व्यर्थ संहार न हो। तब सर्वत्र शान्ति हुई। वामन ने घोषणा की कि दैत्य साम्राज्य नष्ट हुआ और देवों एवं आर्यों को स्वतंत्रता प्राप्त हुई। और इन्द्र का झण्डा पुनः अमरावती नगरी पर फहराने लगा।

तत्पश्चात् कई लोगों ने विनती की कि बलि को अधिक कष्ट न दिया जावे! बलि ने स्वयं भी सब प्रकार से क्षमा याचना की। तब बलि उसके अनुचरों के साथ छोड दिया गया।

इत्युक्त्वा हरिमानम्य ब्रह्माणं स भवं ततः।
विवेश सुतलं प्रीतो बलिर्मुक्तः सहासुरैः॥३॥
श्री. भाग. ८।२३

"बलीने वामन की सब शर्तें कबूल की। तदनंतर उसने वामनको नमस्कार किया और अपने अनुचरों के साथ वह सुतल देश में जा बसा।"

यह सुतल देश कोंकण का एक भाग था। कोंकण चौदह ताल है। प्रत्येक ताल के अतल, वितल, सुतल आदि नाम हैं। यदि संपूर्ण कोंकण के चौदह भाग किए जावें, तो तीसरा भाग सुतल उसीजगह आता है जहां अब राजापूर और रत्नागिरि हैं। इसी स्थान में बलि दैत्य के जीवन का अंतिम भाग व्यतीत हुआ। इस प्रकार वामन ने बली को सुतल में भेजकर बडी बुद्धिमानी की। यदि बली पहले के समान अपने साथियों को लेकर दैत्यों के

देशमें गया होता, तो वह अवश्य ही फिरसे चढाई करता। और पुनः रक्तपात होता। पूर्व इतिहास की पुनरावृत्ति न होवे इसीसे वामनने बलि को मुक्त तो किया पर कोंकण में उसे नजर कैद में रखा। बलि के एक भी अनुयायी को लौटकर दैत्यों के देश में वामन ने न जाने दिया। उसकी यह बात निःसंदेह प्रशंसनीय है।

प्रथम युद्ध में बली के हार जाने पर यदि इन्द्रने भी ऐसा ही किया होता, तो देवोंको पराधीनता के संकट में पडनेका मौका न आता। इन्द्रने उस समय जो गलती की उसका फल उसे बहुत बुरी रीतिसे भोगना पडा। वामन इन्द्र की इस भूल के भयंकर परिणाम को पूर्णतया जानता था। इसीसे उसने किसी भी असुर को असुर देश में न जाने दिया, वरन् सब को कोंकण में नजर कैद में रखा। और वहां उसने उनके आराम का उचित प्रबंध किया। विशेषतः उसने यह प्रबंध किया कि बली को किसी बात की कमी न हो।

इसके पश्चात् इन्द्रका राज्य इन्द्रको दिया और आर्य राजामहाराजाओंको अपने अपने राज्यमें भेज दिया। वामनने सब को जीवित राजनीति का उपदेश किया और स्वयं तपस्या करने चला गया, स्वयं राज्यका भोग नहीं किया। यह वामन का स्वार्थत्याग अपूर्व है। तात्पर्य यह कि ऐतिहासिक दृष्टिसे जब हम विचार करते हैं, तब हमें यह स्पष्टतया कहना आवश्यक हो जाता है कि वामन के महत्वपूर्ण कार्य से अन्य किसी के कार्य की तुलनाही नही हो सकती। वास्तविक इतिहास इस प्रकार है। जो हाल वास्तव में हुआ था उसका वर्णन ऊपर दिया है। वामन में शौर्य, वीर्य, पराक्रम, तेज आदि अनेक गुण थे। उनका वर्णन कितनाही क्यों न करें वह थोडा ही होगा। इसलिये हम कहते है कि-

वामनावतार का संदेश।

'स्वकीय स्वराज्य की भूक परकीय सुराज्य से शांत नही होती और न शांत होनी चाहिये।' वामनावतारने राजनीति का उक्त सिद्धान्त जो कि अत्यधिक महात्वका है सारे संसारको अति प्राचीन काल में बतलाया था। वामन के पूर्व अन्य किसी ने भी यह सिद्धान्त जनता को न बतलाया था। इस महान् सिद्धान्त के कारण ही जब तक संसार का अस्तित्व है, तबतक राजनीतिज्ञ पुरुष वामन के गुणों का गान अवश्यही करेंगे।

जिस समय देववीर और आर्यवीर बलिके राज्य के अंकित रहने में भूषण मानते थे, उस समय वामन बटुने कहा कि अपना स्वराज्य कैसा भी बुरा क्यों न हो वह परकीय राजाके सुव्यवस्थित सुराज्यसे कई गुणा अधिक लाभ कारी है। जो पाठक मूल कथाको विस्तार से देखना चाहें वे भागवत में देखें और वामनावतार के इस संदेश को जान कर उसका मनन करें।

सच्चा कुमार।

(ले०- श्री. वि. व्यं. जावडेकर, धुळे)

द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥
(मनु०)

बाल्य अवस्था अथवा युवा अवस्था के विद्यार्थी और विद्यार्थिनियां अब भी कुमार या कुमारिकाएं ही होती हैं। परंतु सच्चा कुमार और सच्ची कुवांरी कुछ और ही होती हैं। कुमारी संज्ञा पार्वती की है। पार्वती ही दुर्गा है, दुर्गा ही भवानी है, और भवानी क्या है? मूर्तिमती शक्ति है। इसी प्रकार कुमार संज्ञा शिवपार्वती से उत्पन्न एवं अजेय कार्तिकेय को ही थी। इसी का दूसरा नाम स्कंद है। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जब विभूतियोग सुनाया तब कहा था "सेनानीनामहं स्कंदः"। यदि कुमार-संभव हो तो ऐसा ही हो। परंतु वर्तमान युग में जो कुमार या कुमारिकाएं जन्म लेती हैं वे ऐसी मरी हुयाएं रहती हैं कि उनका जीवन ही कठिन होता है तब

पराक्रम की बात ही कहां?

जीवित रहनेपर यदि अंशतः भी कुमार नाम के योग्य होना हो, तो भगवान् मनु के बनाए ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन ठीक ठीक होना चाहिए। सभी लोग चाहते हैं कि हमारे नव-युवक सुदृढ एवं कर्तृत्ववान् होवें; पर कृति करनेवाला एक भी नहीं दीखता। एक कहावत है कि " पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः "। बस आजकल के लोग इस लोकोक्ति को चरितार्थ करते हैं।

मनु महाराज ने विद्यार्थियों के लिए द्यूत की मनाई की है। वस्तुतः द्यूत संपूर्ण जनता के लिए, शास्त्रकारों के विचार से, मना है। पर ब्रह्मचारीके लिए विशेष रूप से मनाई की गई है। किसी भी खेल में दांव लगाने की पद्धति सर्वथा घातक ही है। इस द्यूत के कारण बडे बडे अनर्थ हुए हैं। पण्डुपुत्र धर्मराज को इस द्यूत के ही कारण सब राजपाटसे हाथ धोकर दासता में पडना आवश्यक हुआ। तब औरों की बात क्या चलाई?

विद्यार्थियों के लिए जनवाद वर्ज्य है। कोशकारोंने जनवाद का अर्थ " News, Rumour " बतलाया है। इससे विदित होता है कि बजारगप्पें फैलाना, अफवाहें उठाना विद्यार्थियों के लिए मना है। जनवार्ता, या अफवाहें जब कभी फैलती हैं, वे प्रायः झूट ही रहती हैं। कभी कभी वे सच्ची या सत्य-असत्य मिश्रित भी रह सकती हैं। अत एव कम से कम विद्यार्थिदशा में तो भी जो सत्य है वही प्रसृत करना चाहिए। असत्य का प्रसार उनसे कदापि न होना चाहिए। लोगों से वाक्कलह करने का भी अर्थ " जनवाद " शब्द से निकल सकता है अतएव विद्यार्थियों को चाहिए कि वे फजूल विवाद न बढावें।

परिवाद।

ब्रह्मचारी के लिए जैसे जनवाद मना है वैसे ही परिवाद भी। " परिवाद " शब्द का अर्थ है ' Scandal '। अतएव विद्यार्थी ' Scandal monger ' कदापि न हो। लोगोंसे शरारत करना चुगली करना, कुछ भी झूटमूट बातें कहकर लोगों के मन कलुशित करना आदि काम निंद्य हैं। और विद्यार्थी दशा अत्यंत पवित्र है। तब भला ऐसी पवित्र दशामें रहते उक्त निंदनीय काम करना अच्छा कैसे हो सकता है?

' तथानृतम् । '

ऊपर तीन दोष बतलाए गये। इन तीनों से बढकर यदि दोष है, यदि किसी दोष को उक्त तीनों दोषों से भी पहला स्थान देना है, तो वह दोष है " झूट बोलना "। संपूर्ण विश्व की रचना एक सत्य पर की गई है। व्यक्तिमात्र की जीवदशा किसी भी समय सत्यपर ही निर्भर होती है। सत्य की महती देखिए कैसी भारी है: —

" नहि सत्यात्परो धर्मः ।"

ऐसी भारी महत्ता जिस सत्य की है उसे कैसे छोडा जाय? उसे छोडकर 'अनृत' असत्य झूट का आश्रय लेना कैसे भारी लांछन की बात है? पर शोक है कि जब हम वर्तमान विद्यार्थियों को देखते हैं तो उनमें सत्य का नाम और निशान तक नहीं मिलता। मालूम होता है उन्हे पता ही नहीं कि सत्य क्या है?

जब विद्यार्थि नियम के विपरीत बर्ताव करता है। वह शिक्षक द्वारा पकडा जाता है। उसकी जांच होती है। इस जांच के समय जब शिक्षक डांट कर प्रश्न करता है तब एक छोटी सी सजा से बचने के लिए विद्यार्थी तुरंत असत्य बोल बैठता है। वह सत्य कथन की प्रायः परवाह नहीं करता। विद्यार्थियों की आपसी बातचीत से भी पता चलता है कि उनमें नैतिक—धैर्य का कैसा भारी अभाव है। ब्रह्मचारी तो उसी को कह सकते हैं जो सत्य के लिए प्राण तक निछावर कर दे, किंतु असत्य से एकदम दूर रहे। उससे यदि भूल भी हुई हो तो उस भूलके लिए उसे एक-आध छडी का प्रसाद मिलेगा। जो उस छडी से बचने की चेष्टा करेगा उसकी योग्यता क्या हो सकती है? और ऐसे बालक से आगे चलकर कौन महत् कार्य हो सकता है? लोकमान्य तिलक का विद्यार्थिदशा का नियम बाना था कि चाहे जो कुछ हो मैं असत्य कदापि

न बोलूंगा। महात्मा गांधीजीकी आज जो कीर्ति है वह उनकी विद्वत्ता के कारण नहीं है किंतु वह उनकी सत्य-निष्ठा और उनके नैतिक - धैर्य का परिणाम है। उन्होंने तपस्या में अपने शरीर को सुखा डाला है पर जितना शरीर सुखाया है उस से कहीं अधिक आत्म-सामर्थ्य बढाया है। उनके जैसा आत्मसामर्थ्य अन्य किसी भी नेता में नहीं है। उनका एक मात्र भरोसा उनका आत्म-बल (Soul Force) है। संभव है कि देश में ऐसे भी विद्वान् होंगे जो महात्माजी को विद्वत्ता के लिहाज से बगल में दबाए फिरें। परंतु पता नहीं वे विद्वान देश के किस कोने में पडे है? सत्य की महिमाही ऐसी भारी है कि उसकी बदौलत महात्माजीकी कीर्ति केवल त्रिखंड में ही नहीं फैली वरन् आस्ट्रेलिया जैसे पांचवें खंडमें भी वह पहुंच गई। हिंदुस्थान के राज—कारण में पहला अद्वितीयत्व लोकमान्य ने प्राप्त किया और उनके बाद महात्माजीने ही। उन्होंने मुख्यतः दो ही गुणों को अपना आधार स्तंभ बना लिया है। और वे गुण हैं सत्य और नैतिक-धैर्य। हिन्दुस्थान में ब्रिटिश साम्राज्य की जड बहुत ही गहरी जमी है पर उसे भी उन्होंने कुछ समय के लिए हिला दिया। उन्होंने यह काम अस्त्र शस्त्र के बलपर नहीं किया केवल सत्य और नैतिक—धैर्य के बलपर। उनका शरीर देखकर मालूम होता है कि पवनकी साधारण झकोर से वह शरीर उड जावेगा। किन्तु उनका पराक्रम ऐसा भारी है कि वे सत्ता रूप गजेन्द्र से सामना कर सकते हैं। सत्य का महत्त्व ही ऐसा भारी है कि वह जितने प्रकार से ब्रह्मचारियों के अर्थात् विद्यार्थियों के हृदय में बसाया जाय उतना ही अच्छा है। यही कारण है कि हम यहां इतना विस्तार कर रहे हैं। उनको चाहिए कि वे सदैव अपनी दृष्टि के सन्मुख ध्रुव, प्रहलाद और हरिश्चंद्र के चरित्रों को रखें।

भक्त प्रहलाद।

प्रहलाद क्या था? केवल एक नन्हा बालक। वह एक विद्यार्थी था। पर उसकी सत्य निष्ठा कैसी भारी थी! उसका पूर्ण विश्वास था कि एक ईश्वर ही सत्य है। उसका बाप हिरण्यकशिपु ए दैत्य था। उस का देवों से बैर था, वह समझत था कि हरि की भक्ति करनेवाला उसका लडक प्रहलाद कुलांगार है। हिरण्यकशिपुने बालक प्रहलाद को हर तरह समझाया। उसने उ बालक को डरानेका भी प्रयत्न किया। पर ज देखा सब प्रयत्न फजूल हुआ। तब उसने समझान रोक कर दण्डसे काम लिया। प्रहलाद को तप्त तै कटाहमें डालनेकी आज्ञा हुई। पर भक्त प्रहलाद न मरा। जब देखा कि इससे उसकी जान नहीं जाती तब जन्मदाता बाप होनेपर भी, हिरण्यकशिपुन हुक्म दिया कि इसे पहाडकी चोटीसे नीचे फेंक दो ऐसा भी किया गया। परंतु भक्त प्रहलाद फिर भ कायम रहा। अहाहा! कैसा भारी उसका अधिका था! जिसकी रक्षा स्वयं भगवान् करते हैं उसे कौ मार सकता है?

सत्य राजा हरिश्चंद्र।

राजा हरिश्चंद्रने अपनी पतिव्रता स्त्री तारामत के साथ कैसेकैसे कष्ट सहे,कैसी भारीसे भारी वि पदाओं का सामना किया। पर ऐसी आपत्ति सहत भी उन्होंने सत्य का त्याग न किया। राजा हरिश्चन्द्र स्वप्न में भी असत्य और अनृत न जानते थे, तब जागृत अवस्था में वे इन पापोंको कैसे जानते?

सुकरात और ईसा मसीह।

ग्रीस का दार्शनिक सुकरात विष का प्याला भ पी गया पर वह सत्य से न डिगा। ईसा मसीह की मृत्यु अत्यंत अमानुषिक रीति से हुई। तथापि उन्होंने सत्य से मुह न मोडा।

महाराज छत्रपति संभाजी।

महाराज छत्रपति संभाजीने सत्य के लिए बलिदान (Self Sacrifice) किया। यह बलिदान की कथा क्या बतलाती है? महाराज संभाजी को औरंगजेब ने कैद किया। औरंगजेबने उनसे कई प्रकार से समझाया कि तुम इस्लामधर्म का स्वीकार करो उसने संभाजी को धर्मांतर करने को विवश करना चाहा। परंतु जब देखा कि वे केवल बातों से नहीं

मानने तब तो वह तीव्रतर उपायों को काम में लाया। उसने संभाजी को धमकाया कि यदि तुम हमारी इच्छानुसार मुसलमान न बनो तो तुम्हें अपने शरीर से हाथ धो बैठना होगा। महाराज संभाजी जैसे धर्मवीर पर भला ऐसी डरावनी का कुछ असर हो सकता है? वे तो साक्षात् धर्म-मेरु थे। उन्होंने तडाके से उत्तर दिया कि "इस्लाम सत्य है या मिथ्या मुझे उससे कुछ मतलब नहीं। जिसे तुम काफिर का धर्म कहते हो वह मेरा सनातन वैदिक धर्म ही मेरी समझ में सत्य है। मेरा विश्वास है कि वह पूर्णतया सत्य है और इसी लिए वह मुझे प्राण से भी प्यारा है। मैं इस सत्य धर्म की रक्षा के हेतु अपने प्राणों को निछावर कर दूंगा, पर इस सत्य धर्म का त्याग कदापि न करूंगा।" अहाहा! कैसा जबरदस्त नैतिक-धैर्य है! आज एक कान काट लिया कल दूसरा, आज एक आंख फोड दी गई कल दूसरी, आज एक हाथ काट डाला गया कल दूसरा। इस प्रकार क्रमशः और दिनशः एक एक अवयव काट लिया गया। ऐसी दारुणतर दुःख की दशा रहने पर भी उस बहादुर ने कभी क्षणभर के लिए अन्यथा न सोचा। अंतमें उसके प्राण पखेरू देह को त्याग गये पर वह सत्य से न हटा। वास्तव में वह सिंह का बच्चा था। नरकेसरी शिवछत्रपती का पुत्र हो कर क्या वह मृत्यु से डर सकता था। नहीं, नहीं, कदापि नहीं !! जरा देखिए तो सही। कहां तो ये रोमहर्षण सत्य के वीरों के उदाहरण और कहां आजकल के नैतिक धैर्य के मिट्टी के पुतले!! यदि सच कह कर अपराध कबूल कर लिया जाय, तो अधिक से अधिक क्या होगा? यही ना कि एकाध 'श्रीमुख' में मिलेगी वा एकाध छडी लगेगी। पर इस तनिक सी सजा से भी अपनी चमडी बचाने के लिए हमारे वर्तमान ब्रह्मचारी बेखटके असत्य बोल देते हैं। क्या इससे भी हीन दशा अन्य कोई हो सकती है? राष्ट्र की उन्नति और स्वतंत्रता की प्राप्ति तभी हो सकती है जब कि हृदय की दीवाल बना दी जाय। उसके लिए कारागृहवास, देश-निर्वासन (काला पानी) और फांसी तक के लिए तैयार होना चाहिए। जिसने हृदय की दीवाल बनाना नहीं सीखा वह इन में से एक आपत्ति भी सहने में समर्थ नहीं हो सकता। ब्रह्मचारी को अनृत का त्याग करना चाहिए और सत्य के लिए चाहे जैसी आपत्ति सहने को तैयार रहना चाहिए। शास्त्रकारों के ये विचार कैसी दूर दृष्टि के हैं सो तो अब प्रकट हुआ ही होगा। यह विचार माता के दूध के साथ बालक को छुटपन ही में पिलाए जांय तभी आगे चलकर कुछ बन सकता है। अन्यथा मुंह की बकबक बहुत होगी पर आगी में कूदने के लिए कोई एक भी तैयार न होगा।

योगचिकित्सा का मूलतत्त्व।

(ले०- श्री० पं० अग्निदेवजी गुप्त।)

जब मैं आगे या पीछे झुक जाता हूं तो फुप्फुस, आमाशय, सूक्ष्मांत्र, बृहदान्त्र अपनी प्रकृतावस्था में नहीं रहते अर्थात् प्राण, उदान, समान, अपान एवं व्यानका मार्ग विकृत हो जाता है जिससे कि विकार उत्पन्न होता है।

इसी जम्भाई को मैं रोकता हूं उससे वातका निःसरण बन्द हो गया चूंकि वात बलवान है इसलिये अन्य रास्तेसे निकलनेका यत्न करेगी। उसमें वह मुखपेशियों को वक्र करदेगी जिससे एक विकार उत्पन्न होता है।

अर्थात् वातके स्वाभाविक मार्गके अवरोधसे एक विकृतावस्था उत्पन्न हो गई ठीक इसी प्रकार रक्तके मुख्य केन्द्रोंमें किसीभी प्रकारसे कोई बाधा आजाने से यह रोग का कारण होता है।

" सर्वार्थानर्थकरणे विश्वास्यैककारणम्।
अदुष्टदुष्टः पवनः शरीरस्य विशेषतः। "
तदप्रष्टौ प्रयत्नेन यतितव्यमतः सतः।

पित्त - तप- सन्तापे धातुसे पृषोदरादित्वात् पित्त शब्द बनता है।

शरीरमें जो रक्तसंस्थान एवं उष्मा अग्नि है वह

पित्त है, सन्तापका हेतु होनेसे अन्तः शरीरमें जहां भी उष्णिमा या सन्ताप प्रकृतावस्थामें वर्तमान है अथवा विकारावस्थामें उत्पन्न होता है वह सब पित्तका कार्य है।

द्वितीय परिच्छेद में जिस अग्निके लिये ऋषि अत्रिका " शान्तेऽग्नौ म्रियते " इत्यादि श्लोक उद्धृत किया है वह शरीरस्थ पित्तही अग्नि है।

" न खलु पित्तव्यतिरेकात् अग्निरूपमुपलभ्यते आग्नेयत्वात् । " धन्वन्तरिः।

" अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः शुभाऽशुभानि करोति । " अत्रिः ।

जिस समय रक्तका मात्रा एवं गुण कम हो जाता है तो उष्णिमा भी कम हो जाती है; एवं जब वृद्धि हो जाती है तो उष्णिमा भी बढ जाती है।

जिस प्रकार एकही बात, स्थान एवं कर्मसे पांच प्रकारकी हो गई है उसी प्रकार एकही उष्मा संतापका हेतु स्थान और कार्य भेदसे पांच प्रकारका पाचक-रंजक-साधक - आलोचक एवं भ्राजक है।

पाचक- भुक्त द्रव्य के (रसायनिक क्रिया)रसादि बननेके लिये उष्मा अग्नि की आवश्यकता है वह उद्रहरिकाम्ल है जिसके भोजन पर क्रिया करनेसे रस, मूत्र, पुरीषादि पृथक् होते है एवं थूक के मिलने से जो मधुर रस उत्पन्न हुवाथा वह अम्ल रस बन जाता है इसी को मधुर विपाक और अम्ल विपाक कहते हैं।

उद्रहरिकाम्लमें उष्ण गुण होनेसे आचार्यने इसे पित्त अर्थात् सन्तापक कहा है। जिस समय यह कम हो जाता है उस समय अग्निवर्धक उष्ण पदार्थ(मसाले आदि)अथवा उदरीकाम्ल को ही औषधरूपमें देते हैं। जिस समय बढ जाता है उस समय इसके न्हास के लिये शीत औषध, बर्फ का पानी, आमाशय पर बाह्य शीत प्रयोग वमन विरेचन आदि देते हैं। यह भोजन का पाचक होनेसे पाचक अग्नि कहाती है।

रंजक- अर्थात् शरीरस्थ रसको रंगने से इसे रंजक कहा है। इसका स्थान प्लीहा और यकृत् है। जिस समय भोजन ग्रहणी में आता है उस समय यकृतस्थ पित्ताशयसे पित्त बाहर होकर पित्त-प्रणाली द्वारा ग्रहणी स्थानमें भोजनसे मिलता है जिससे कि भोजन के रस में दो परिवर्तन होते हैं। १ उसका रंग पीतवर्ण हो जाता है। २ अम्ल विपाकके स्थानमें कटु विपाक हो जाता है।

एक मनुष्य को मलेरिया ज्वर बहुत दिनोंतक आता है उस से उसकी प्लीहा बढ जाती है और नखोंमें रक्तिमा नही रहती। नख श्वेत हो जाते हैं। शरीर में रक्त की कमी स्पष्टरूपसे प्रतीत होती है।

दूसरा मनुष्य बहुत देरतक मिट्टी खाता है जिससे कि उसका मलमूत्र श्वेत एवं लाल आने लगता है। यकृत की वृद्धि प्रतीत होती है। शरीरमें रक्तिमा का स्थान पीलापन ले लेता है। संपूर्ण मुख, आंख, नख, हाथ, पांव पीले हो जाते हैं।

उपरोक्त दोनों अवस्थाओं के कारण भिन्न हैं परन्तु उन्होंने कार्य एक उत्पन्न किया है अर्थात् रक्त की कमी (Anaemia) शरीरमें कर दी जिससे की शरीर मे पीलापन आगया। इसका कारण यकृत् और प्लीहा का विकृत होना है।

आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में कुछ बातें बताता है। यथा-१ रक्त के दो भाग है१-पतला द्रव्य भाग, २--ठोस भाग जिसे Haemoglobin कहते हैं।

२ Heamoglobin में जो लाल रंग है वह haematin लोहेका है।

३ शरीरमें दो प्रकार के श्वेताणु और रक्ताणु हैं। दोनों का कार्य भिन्न है।

४ यह अधिक मात्रामें प्लीहामें पाये जाते हैं।वहा रक्ताणु श्वेताणु मात्रामें अधिक हैं।

५ मलेरिया ज्वर का कीटाणु रक्ताणु को तोड देता है तथा प्लीहा यकृत को विकृत करता है।

६ प्लीहा में श्वेताणु से रक्ताणु बनते हैं अर्थात् उनमें अर्थात् लोहा मिलता है।

७ शरीरसे यदि प्लीहा निकाल दे तो उसका स्थान अस्थग्रन्थि यकृत आदि ले लेगी।

सार-

१ इस लिये जिस जिस रोगों में रक्ताणु कम हो जावें उन रोगों में प्लीहा और यकृत् को ओजना देनी चाहिये।

२ रक्ताणु में रक्तिमा की वृद्धि के लिये लोहे

की मात्रा अधिक किसी रूपमें देनी चाहिये।

उपरोक्त दोनों बातों के आधार पर ही नव्य एवं प्राच्य चिकित्सक पाण्डु-कामला रोग की चिकित्सा करते हैं।

अतः अब भोजन का रस भाग जब प्लीहा-यकृत में पहुंचता है वहां वह उसी श्वेताणू से रक्ताणु बननेवाली प्रक्रिया से रंगा जाता है अर्थात् उस में सम्यक् प्रकार न रंग सके तो शरीर में रक्ताणु एवं रक्तिमा कम हो जाती है। अर्थात् रंजक पित्त विकृत हो जावेगा उससे मल श्वेत, मूत्र लाल होगा उस में पित्तका भाग नहीं होगा।

साधक-धर्म, अर्थ, काम,मोक्ष, पुरुषार्थ का साधक होने से साधक है। इसका स्थान हृदय है। इस साधक पित्तसे अभिप्राय ओजका है। उसका स्थान हृदय है। उसी के द्वारा अपवर्गकी प्राप्ति होती है। अतः ओज प्रकरण को देखिये।

" हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुतदेहिनाम्।
धन्वन्तरिः
षडङ्गमंगविज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम्।
आत्मा च सगुणश्चेतः चिन्त्यं च हृदिसंश्रितम्।"
प्रतिष्ठार्थं हि भावानामेषां हृदयमिष्यते ॥अत्रिः

ओज प्राण है, उसमें उष्मा है चूंकि ओजके अभावसे शरीर मृत होजाता है उस में उष्णिमा नहीं रहती वह शीत हो जाता है। उष्णिमा का कारण होनेसे पित्त कहा है।

भ्राजक- त्वचा में जिससे उष्णिमा है वह भ्राजक पित्त है। त्वचा में आश्रित जिस उष्णिमा से जिस रक्तसे स्वेद पृथक् होता है, एवं अभ्यंगादि कृत स्नेहादि जिसके कारण शरीरमें प्रविष्ठ होते हैं और जिस के कारण शरीरस्थ केश, लोम, नखकी वृद्धि होती है और जिससे कि बालोंमें काला रंग है वह भ्राजक है।

मैं क्रोध करता हूं जिससे कि मुख का चेहरा लाल होजाता है और शरीर रोमांचित हो जाता है अर्थात् त्वक्स्थ धमनियों में रक्तकी मात्रा अधिक होगई जिससे कि त्वचा उष्ण होगई और शरीरसे स्वेदकी मात्रा अधिक बाहर हुई अर्थात् भ्राजक पित्त-पर कार्य अधिक होगया। त्वक्स्थ धमनियोंमें रक्त की मात्रा अधिक होनेसे त्वक्स्थ पित्त बढ जाता है। अर्थात् त्वक्स्थ धमनियों की उष्णिमा को आचार्य भ्राजक पित्तसे कहता है। सन्तापका हेतु होनेसे।

आलोचक- जो पित्त चक्षु में वह आलोचक है जिससे दिखाई देता है।

मेरा यकृत विकृत होजाता है जिससे कि पित्तका मलमूत्रादिके द्वारा निःसरण बन्द होजाता है अब वह अन्तःशरीरमें मार्ग करता है जिस से कि मुख पीला हो जाता है। आंखोंमें पीलापन आजाता है अर्थात् शरीर में पित्त की वृद्धि होगई। जिससे कि दृष्टिमें अन्तर आजाता है, अर्थात् कम दीखने लगता है।

एक मनुष्य अति मैथुन करता है जिससे कि उस की चक्षु इन्द्रिय निर्बल होजाती है। इस इन्द्रियोंके निर्बल होने के साथ साथ शरीर की उष्णिमा भी कम हो जाती है जिससे कि निष्प्रभा, लावण्यरहित हो जाता है।

अर्थात् पित्त कम होगया, विशेष कर त्वक्स्थ एवं चक्षुस्थ पित्त।

शास्त्रने दृष्टि को तेज स्वरूप कहा है। आखों की चक्षुवीक्षक यंत्र से देखते हैं तो Retina दृष्टि एक लाल आगका गोला दिखाई देती है इसी कारण उसे पित्त-सन्तापक कहा है।

संगति- पाठकवृन्द! आपने देखा कि शरीरस्थ एकउष्माके ही स्थान और कार्य भेदसे पांच नाम हो गये हैं। आंखों में आनेसे आलोचक, त्वचा में आने से भ्राजक, हृदयमें आनेसे साधक, प्लीहा यकृत में रहने से रञ्जक, आमाशयमें रहनेसे पाचक है। इसी को आचार्यने अग्नि, उष्मा शब्द से कहा है।

इस पित्तका संबंध रक्तसे बहुत अधिक है। रक्तस्थ उष्मा ही पित्त है। जब पित्त कम हो जाता है रक्त भी कम हो जाता है, जब पित्त बढता है रक्त भी बढ जाता है। जो पित्त प्रकोप कारण है वही रक्त प्रकोप कारण है, दोनोंकी शीत परिचर्या चिकित्सा है।

आनुवंशिक रोगोंका दूर करना।

[७]

(ऋषिः — भृग्वङ्गिराः । देवता-यक्ष्मनाशनम्)

हरिणस्य रघुष्यदोऽधि शीर्षणि भेषजम् ।
स क्षेत्रियं विषाणया विषूचीनमनीनशत् ॥ १ ॥
अनु त्वा हरिणो वृषा पद्भिश्चतुर्भिरक्रमीत् ।
विषाणे वि ष्य गुष्पितं यदस्य क्षेत्रियं हृदि ॥ २ ॥
अदो यदवरोचते चतुष्पक्षमिव च्छदिः ।
तेना ते सर्वं क्षेत्रियमङ्गेभ्यो नाशयामसि ॥ ३ ॥

अर्थ— (रघुष्यदः हरिणस्य शीर्षणि अधि) वेगवान् हरिणके सिरके अंदर (भेषजं) औषध है । (सः विषाणया) वह सींगसे (क्षेत्रियं विषूचीनं अनीनशत्) क्षेत्रिय रोगको सब प्रकारसे नष्ट कर देता है ॥ १ ॥

(वृषा हरिणः चतुर्भिः पद्भिः) बलवान् हरिण चारों पांवोंसे (त्वा अनु अक्रमीत्) तेरे अनुकूल आक्रमण करता है । हे (विषाणे) सींग ! तू (यत् अस्य हृदि गुष्पितं क्षेत्रियं) जो इसके हृदयमें गुप्त क्षेत्रिय रोग है उसको (वि ष्य) नाश करदे ॥ २ ॥

(अदः यत्) वह जो (चतुष्पक्षं छदिः इव) चार पक्षवाले छत के समान (अवरोचते) चमकता है (तेन ते अंगेभ्यः) उससे तेरे अंगोंसे (सर्वं क्षेत्रियं नाशयामसि) सब क्षेत्रिय रोगको हम नाश करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— वेगसे दौडनेवाले हरिणके सींगमें उत्तम औषध है उस सींगसे क्षेत्रिय रोग दूर होते हैं ॥ १ ॥

बलवान् हरिणके सींगसे हृदयमें गुप्त अवस्थामें रहा हुआ क्षेत्रिय रोग दूर हो जाता है ॥ २ ॥

यह चार पंखवाले छतके समान हरिणका सींग चमकता है उससे सब अंगोंमें रहनेवाले क्षेत्रिय रोग का नाश होता है ॥ ३ ॥

अमू ये दिवि सुभगे विचृतौ नाम तारके।
वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम् ॥ ४ ॥
आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः।
आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात्॥ ५ ॥
यदासुतेः क्रियमाणायाः क्षेत्रियं त्वा व्यानशे।
वेदाहं तस्य भेषजं क्षेत्रियं नाशयामि त्वत् ॥ ६ ॥
अपवासे नक्षत्राणामपवास उषसामुत।
अपास्मत्सर्वं दुर्भूतमप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ७ ॥

अर्थ- (अमू ये दिवि) वे जो आकाशमें (सुभगे विचृतौ नाम तारके) उत्तम प्रकाशमान दो सतारे हैं-वनस्पतियां-हैं। (क्षेत्रियस्य अधमं उत्तमं पाशं विमुञ्चतां) क्षेत्रिय रोगके नीचे और ऊंचे पाशको छुडा देवें ॥ ४ ॥

(आपः इत् वै उ भेषजीः)जल निःसन्देह औषध है, (आपः अमीवचातनीः) जल रोगनाशक है (आपः विश्वस्य भेषजीः) जल सब रोगों की दवा है। (ताः त्वा क्षेत्रियात् मुञ्चन्तु) वह जल तुझे क्षेत्रिय रोगसे छुडा देवे ॥ ५ ॥

(यत् क्रियमाणायाः आसुतेः) यदि बिगडने वाले रससे (क्षेत्रियं त्वा व्यानशे) क्षेत्रिय रोग तेरे अंदर व्यापा है। तो (तस्य भेषजं अहं वेद) उसका औषध मैं जानता हूं और उससे मैं (त्वत् क्षेत्रियं नाशयामि) तुझसे क्षेत्रिय रोगको नाश करता हूं ॥ ६ ॥

(नक्षत्राणां अपवासे) नक्षत्रोंके छिपनेपर (उत उषसां अपवासे) उषाके चले जानेपर (सर्वं दुर्भूतं अस्मत् अप) सब अनिष्ट हम सबसे दूर होवे तथा (क्षेत्रियं अप उच्छतु) क्षेत्रिय रोग भी हट जावे ॥ ७ ॥

भावार्थ- ये जो प्रकाशमान सतारोंके समान तारका नामक दो औषधियां हैं उनसे वंशके रोग दूर होते हैं ॥ ४ ॥

जल उत्तम औषधि है, उससे सब रोग दूर होते हैं, सब रोगोंके लिये यह एकही औषध है उस से क्षेत्रियरोग दूर होता है ॥ ५ ॥

यदि बिगडे जलके निमित्त से तेरे अन्दर क्षेत्रिय रोग प्रकट हुआ है तो उसके लिये औषध मैं जानता हूं और उससे रोगभी दूर करता हूं ॥ ६ ॥

नक्षत्र छिपनेपर और उषा चली जाते ही सब रोगबीज हम सब से दूर होवे और हमारा क्षेत्रिय रोग भी दूर होवे ॥ ७ ॥

मातापितासे संतानमें आये क्षेत्रिय रोग।

जो रोग मातापितासे संतानमें आते हैं उनको क्षेत्रिय रोग कहते हैं। ये क्षेत्रिय रोग दूर होना कठिन होता है। इनकी चिकित्सा इस सूक्तमें कही है।

हरिणके सींगसे चिकित्सा।

जो कृष्ण मृग होता है, जिसके सींग बडेभारी होते हैं, उन सींगों में क्षेत्रियरोग दूर करनेका गुण होता है। " हरिण के सिरमें औषध है जो सींगमें आता है जिसके कारण क्षेत्रिय रोग दूर होते हैं। (मं० १) " हरिणके सींगके विषयमें वैद्यकग्रंथका—

मृगशृङ्गं भस्महृद्रोगे त्रिकशूलादौ शस्तम्।

—वैद्यक शब्द सिंधु।

" मृगका सींग भस्मरोग, हृदयरोग और त्रिक शूलादि रोगोंके लिये प्रशस्त है। " यह कथन इस सूक्तके कथनके साथ संगत होता है।

हृदय रोग।

इस सूक्त के द्वितीय मंत्रमें "हृदि शुष्पितं क्षेत्रियं" (मंत्र० २) हृदयमें रहनेवाला गुप्त क्षेत्रिय रोग, यह प्रायः हृदय रोगही होगा। तृतीय मंत्रमें " अंगेभ्यः क्षेत्रियं (मंत्र. ३) " सब अंगोंसे क्षेत्रिय रोग दूर करनेकी बात कही है। प्रथम मंत्रमें सामान्य क्षेत्रिय रोगका वर्णन है। ये सब रोग हरिण के सींगसे दूर होते हैं। हरिणका सींग चंदनके समान पत्थरपर जलमें घिसकर सिरपर लगाया जाता है अथवा थोडा थोडा अल्पप्रमाणमें पेटमें भी लेते हैं। इस प्रांतमें छोटे बालकों को उक्त प्रकार किंचित् जलमें घोलकर पिलाते भी हैं और माताएं कहती हैं कि इससे संतानोंको आरोग्य होता है। सिरमें गर्मी चढनेपर सिरपर लगानेसे गर्मी दूर होती है। मस्तिष्क पागल होनेकी अवस्थामें यह उत्तम औषध है।

औषधि चिकित्सा।

चतुर्थ मंत्रमें " सुभगा और तारका " ये दो शब्द हैं। इसी प्रकारका मंत्र काण्ड २ सू० ८ में आया है, देखिये--

भगवती और तारका।

भग-वती विचृतौ नाम तारके ॥ कां० २ सू० ८ मं० १

इसके साथ इस सूक्तका मंत्र भी देखिये—

सु-भगे विचृतौ नाम तारके ॥ कां० ३ सू० ७ मं० ४

इसमें विधानकी समता है। इस लिये द्वितीय कांडके अष्टम सूक्तके प्रसंगमें "भग-वती और तारका" वनस्पतियोंके विषय में जो लिखा है, वही यहां पाठक समझें। सुभगा और भगवती ये दो शब्द एकही वनस्पतिके वाचक होंगे। और तारका शब्द दूसरी वनस्पतिका वाचक होगा। ये दो वनस्पतियां क्षेत्रियरोग को दूर करतीहैं। इनसे किसका बोध लेना है इस विषयमें कां० २ सू० ८ मं० १ का विवरण देखिये।

द्युलोक और भूलोकमें समान औषधियां।

वनस्पतियोंके साथ द्युलोक का संबंध बताया है। सोम द्युलोकमें है और पृथ्वीपर भी वनस्पतिरूप है। इसी प्रकार "सुभगा (भगवती) और तारका" ये दो औषधियां भी वनस्पतिरूपमे पृथ्वीपर हैं और तेजरूपसे द्युलोक में हैं। यह वर्णन वनस्पतिकी प्रशंसापरक प्रतीत होता है।

जलचिकित्सा।

क्षेत्रिय रोग दूर करनेके लिये जलचिकित्सा करनेका उपदेश इस सूक्तके पंचम मंत्रमें है। इस मंत्रमें कहा है कि "जल सब रोगोंकी एक दवा है इसलिये क्षेत्रिय रोग भी इससे दूर हो सकते हैं।" जलके आरोग्य वर्धक गुणके विषयमें कां० १ सू. ४ – ६ ये तीन सूक्त देखिये।

षष्ठ मंत्रका आशय यह है कि यदि रोग अथवा क्षेत्रिय रोग बिगडे खान या पान से हुए हों, तो पूर्वोक्त प्रकार दूर हो सकते हैं। अर्थात् पूर्वोक्त पांच मंत्रोंमें कहे उपाय ही सब रोग दूर करनेके लिये पर्याप्त हैं।

उक्त उपायोंसे अति थोडे समयमें रोग दूर हो सकते हैं। यदि रोगका प्रारंभ आज हुआ है तो रात्रीके तारागण छिप जानेके समय तथा उषःकाल दूर होकर दिनका प्रकाश शुरू होते ही ये सब रोग दूर होते हैं। यदि यह वर्णन काव्य परक माना जाय तो उसका अर्थ इतनाही होगा कि "अतिशीघ्र रोग दूर होंगे।"

राष्ट्रीय एकता।

[८]

(ऋषिः— अथर्वा। देवता— मित्रः, विश्वेदेवाः)

आ यातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेशयन्पृथिवीमुस्रियाभिः।
अथास्मभ्यं वरुणो वायुरग्निर्बृहद्राष्ट्रं संवेश्यं दधातु ॥ १ ॥
धाता रातिः सवितेदं जुषन्तामिन्द्रस्त्वष्टा प्रति हर्यन्तु मे वचः।
हुवे देवीमदितिं शूरपुत्रां सजातानां मध्यमेष्ठा यथासानि ॥ २ ॥

अर्थ— (उस्रियाभिः पृथिवीं संवेशयन्) किरणोंसे पृथ्वीको संयुक्त करता हुआ (ऋतुभिः कल्पमानः मित्रः) ऋतुओंके साथ समर्थ होता हुआ (मित्रः) मित्र (आयातु) आवे (अथ) और (वरुणः वायुः अग्निः) वरुण वायु और अग्नि (अस्मभ्यं संवेश्यं बृहत् राष्ट्रं) हम सबके लिये उत्तम प्रकार रहने योग्य बडे राष्ट्रको (दधातु) धारण करें॥ १ ॥

(धाता रातिः सविता) धारण कर्ता, दाता सविता (मे इदं वचः) मेरा यह वचन (जुषन्तां) प्रीतिसे सुनें और (इन्द्रः त्वष्टा) इन्द्र और त्वष्टा कारीगर (मे इदं वचः प्रति हर्यन्तु) मेरा यह वचन स्वीकार करें। (शूरपुत्रां देवीं अदितिं हुवे) शूरपुत्रोंवाली अदीन देवी माता को मैं बुलाता हूं (यथा सजातानां मध्यमे-स्थाः असानि) जिससे मैं स्वजातियोंमें मध्य-प्रमुख-स्थानपर रहनेवाला होऊं ॥२॥

भावार्थ—अपने किरणोंसे पृथ्वीको प्रकाशित करने वाला और ऋतुओंके साथ सामर्थ्य बढानेवाला सूर्य, वरुण, वायु और अग्नि ये सब देव हमें ऐसा बडा विशाल राष्ट्र देवें कि जो हमारे रहने योग्य हो॥ १ ॥

सबका धारणकर्ता, दाता सविता और इन्द्र तथा त्वष्टा ये मेरा वचन सुनें और मानें, तथा मैं शूर पुत्रोंकी माता देवी अदितिको भी कहता हूं कि इन सबका ऐसा सहाय्य मुझे प्राप्त हो कि जिससे मैं स्वजातियोंमें विशेष प्रमुख स्थानपर विराजमान होने की योग्यता प्राप्त कर सकूं॥ २ ॥

हुवे सोमं सवितारं नमोभिर्विश्वानादित्याँ अहमुत्तरत्वे ।
अयमग्निर्दीदायद्दीर्घमेव सजातैरिद्धोऽप्रतिब्रुवद्भिः ॥ ३ ॥

इहेदसाथ न परो गमाथेर्यो गोपाः पुष्टपतिर्व आजत् ।
अस्मै कामायोप कामिनीर्विश्वे वो देवा उपसंयन्तु ॥ ४ ॥

अर्थ- (अहं सोमं सवितारं विश्वान् आदित्यान्) मैं सोम सविता और सब आदित्योंको (उत्तरत्वे) अधिक श्रेष्ठताकी प्राप्तिके लिये (नमोभिः हुवे) अनेक सत्कारोंके साथ बुलाता हूं। (अ-प्रति-ब्रुवद्भिः सजातैः इद्धः) विरुद्ध भाषण न करनेवाले स्वजातियोंके द्वारा प्रदीप्त किया हुआ (अयं अग्निः) यह अग्नि (दीर्घं एव दीदयत्) बहुत काल तक प्रकाशित रहे॥ ३ ॥

(इह इत् असाथ) यहां ही रहो, (परः न गमाथ) दूर मत जाओ। (इर्यः गोपाः) अन्न युक्त गौका पालन करनेवाला (पुष्टपतिः वः आजत्) पोषण करता हुआ तुमको यहां लावे। (विश्वे देवाः) सब देव (अस्मै कामाय) इस कामनाकी पूर्तिकी (कामिनीः वः) इच्छा करनेवाली तुम प्रजाओंको (उप उप संयन्तु) एकता के विचारसे संयुक्त करें ॥ ४ ॥

भावार्थ— मैं नमन पूर्वक सोम सविता तथा सब आदित्योंको बुलाता हूं कि वे मुझे ऐसी सहायता दें कि मैं अधिक श्रेष्ठ योग्यता पा के योग्य होऊं। परस्पर विरोध न करनेवाले स्वजातीय लोगोंके द्वारा जो यह एक राष्ट्रीयताका अग्नि प्रदीप्त किया गया है वह बहुत देर तक हमारे लोगोंमें जलता रहे ॥ ३ ॥

तुम सब यहां एक विचारसे रहो, परस्पर विरोध करके एक दूसरे से दूर न हो जाओ। अन्न अपने पास रखनेवाला कृषक और गौओंका पालन करने वाला तुम्हारी पुष्टि करनेवाला वैश्य तुम को इकट्ठा करके यहां लावे। एक इच्छाकी पूर्तिके लिये प्रयत्न करनेवाली सब प्रजाओंको सब देव एकताके विचारसे संयुक्त करें ॥ ४ ॥

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि ।
अमी ये विव्रता स्थन तान्वः सं नमयामसि ॥ ५ ॥
अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत ।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ॥ ६ ॥

अर्थ-(वः मनांसि सं) तुम्हारे मनोंको एक भावसे युक्त करो, (व्रता सं) तुम्हारे कर्मों को एक भावसे युक्त करो, (आकूतिः सं नमामसि) संकल्पोंको एक भावसे झुकाते हैं। (अमी ये विव्रताः स्थन) यह जो तुम परस्पर विरुद्ध कर्म करनेवाले हो (तान् वः सं नमयामसि) उन सब तुमको एक विचारमें हम झुकाते हैं ॥ ५ ॥

(अहं मनसा मनांसि गृभ्णामि) मैं अपने मनसे तुम्हारे मनोंको लेता हूं। (मम चित्तं चित्तेभिः अनु आ-इत) मेरे चित्तके अनुकूल अपने चित्तोंको बनाकर आओ। (मम वशेषु वः हृदयानि कृणोमि) मेरे वशमें तुम्हारे हृदयोंको मैं करता हूं। (मम यातं अनुवर्त्मानः आ-इत) मेरे चालचलनके अनुकूल चलनेवाले होकर यहां आओ ॥ ६ ॥

भावार्थ- तुम्हारे मन एक करो, तुम्हारे कर्म एकताके लिये हों, तुम्हारे सङ्कल्प एक हों जिससे तुम सङ्घशक्तिसे युक्त हो जाओगे। जो ये आपसमें विरोध करनेवाले हैं उन सबको हम एक विचारसे एकत्र झुकादेते हैं ॥५॥

सबसे प्रथम मैं अपने मनसे तुम्हारे मनोंको आकर्षित करता हूं मेरे चित्तके अनुकूल तुम अपने चित्तोंको बनाकर यहां आओ। मैं अपने वशमें तुम्हारे हृदयोंको करता हूं। मैं जिस मार्गसे जाता हूं उस मार्गपर चलते हुए तुम मेरे पीछे पीछे चले आओ ॥ ६ ॥

अधिक उच्चता ।

मनुष्यके अंदर अधिक उच्चताकी प्राप्ति करनेकी इच्छा स्वभावतः रहती है। कोई भी मनुष्य मनसे यह नहीं चाहता कि अपनी उन्नति न हो। हरएक मनुष्य जन्मतः उन्नति ही चाहता है इसविषयमें तृतीय मंत्रका कथन विचारणीय है—

हुवे सोमं सवितारं नमोभिः
विश्वानादित्याँ अहमुत्तरत्वे ॥ (मं० ३)

"सोम सविता और सब आदित्योंको उच्च होनेकी स्पर्धामें सहायताके लिये बुलाता हूं।" अर्थात् मैं देवताओंसे ऐसी सहायता चाहता हूं कि जिससे मैं दिव्य मार्गसे उन्नतिको प्राप्त कर सकूं।

"उत्, उत्तर" ये शब्द एकसे एक बढ कर अवस्थाके द्योतक हैं। साधारण अवस्थासे "उत्" अवस्था बढकर और उस से "उत्तर" अवस्था अधिक श्रेष्ठ होती है। मनुष्य सदा "उत्तरत्व" की प्राप्तिका प्रयत्न करे यह तृतीय मंत्रकी सूचना है अर्थात् मनुष्य अपने से उच्च अवस्थामें चढनेका यत्न तो अवश्य ही करे परंतु उससे भी एक सीढी ऊपर होनेका ध्येय अपने सन्मुख रखे। "उत्-तर-त्व" शब्दमें यह सब अर्थ है जो पाठकोंको अवश्य देखना चाहिये।

यह अधिक उच्च अवस्था देवमार्गसे ही प्राप्त करना चाहिये। "श्रेय और प्रेय" अथवा "दैव और आसुर" ऐसे मार्ग मनुष्यके सन्मुख आते हैं, उनमेंसे श्रेय अर्थात् दैव मार्गका अवलंबन करनेसे मनुष्यका कल्याण होता है और दूसरे मार्गपरसे चलनेसे मनुष्यकी हानि हो जाती है। आसुर मार्गको दूर करनेके लिये और श्रेय मार्गपर जानेकी प्रेरणा करनेके लिये ही इस मंत्रमें "देवताओंकी नम्रतापूर्वक प्रार्थना" करनेकी सूचना दी है। देवताओंकी नम्रतापूर्वक प्रार्थना करनेवाला मनुष्य सहसा निकृष्ट मार्गपर अपना पांव नहीं रख सकता। देवताओंकी सहायताकी प्रार्थना करना इस प्रकार मनुष्यत्वके विकासका हेतु है। एक वार इस दैवी मार्गपर अपना पांव रखनेके बाद भी कई मनुष्य आसुरी लालसाओंमें फंस जाते हैं। इस प्रकार की गिरावट से बचानेके हेतु चतुर्थ मंत्र कहता है कि—

इह इत् असाथ, न परो गमाथ। (मं ४)

"इसी दैवी मार्गपर रहो, इसको छोडकर अन्य मार्गसे न जाओ।" यह सावधानीकी सूचना विशेष ध्यान देने योग्य है। कई वार ऐसा देखा गया है कि मनुष्य आत्मोन्नतिके पथसे उन्नत होता चला जाता है और फिर एकदम गिरता है। ऐसा न होवे इस लिये इस चतुर्थ मंत्रने यह सूचना दी है। यदि पाठक इस सूचना को ध्यानमें धारण करेंगे तो निःसंदेह इससे उनका बचाव हो सकता है।

उन्नतिका मार्ग ।

मनुष्यकी उन्नतिके लिये, मनुष्य सामाजिक प्राणी होनेके कारण, उसको सांघिक जीवनमें रहना आवश्यक है । यह अलग अलग रह कर उन्नत हो नहीं सकता । वैयक्तिक जीवनके लिये इतने स्वार्थत्याग की आवश्यकता नहीं है जितनी कि सामुदायिक जीवनके लिये आवश्यकता है। इस कारण सामुदायिक जीवन व्यतीत करनेवाले मनुष्यों के लिये उचित है कि वे अपना व्यवहार ऐसा करें कि जिससे समाजमें परस्पर विरोध पैदा न हो, इस विषयमे पंचम मंत्रका उपदेश देखिये—

वः मनांसि सं, वः व्रतानि सं, वः आकूतीः सम्। (मं० ५)

" तुम्हारे मन, तुम्हारे कर्म और तुम्हारे संकल्प सम्यक् रीतिसे एकताको बढाने वाले हों। " इस मंत्रमें जो " सं " उपसर्ग है वह " उत्तमता और एकता " का द्योतक है । मनुष्योंके संकल्प, उनके मानसिक विचार और सब प्रकारके कर्म ऐसे हों कि जो एकताकी तथा उत्तमताकी वृद्धि करनेवाले हों । कई लोग बाहरसे कोई बुरा कार्य करेंगे नहीं, परंतु मनसे ऐसे बुरे विचार और बुरे संकल्प करेंगे, कि जिनका परिणाम आपसमें फिसाद मचानेका हेतु बने । ऐसा नहीं होना चाहिये । संकल्प विचार और कर्म सभी सदा शुभ होने चाहियें और कभी वैरका भाव उसमें नहीं आना चाहिये । यदि अपने समाजमें कोई इसके विरुद्ध वर्ताव करने वाला हो तो उसको भी समझाकर सन्मार्गपर लाना चाहिये, इस विषयमें पञ्चम मन्त्रका उत्तरार्ध देखने योग्य है—

अमी ये विव्रता स्थन तान्वः सं नमयामसि ॥ (मं० ५)

" ये जो विरुद्ध आचरण करनेवाले हैं उनको भी एकता के मार्ग पर हम झुकादेते हैं । " इस प्रकार विरोधी लोगोंको भी समझाकर एकताके मार्ग पर लाना चाहिये । समाजके शासन का ऐसा प्रबंध होना चाहिये कि जिसमें रहनेवाले लोग विरुद्ध मार्ग पर चल ही न सकें । सज्जन तो सदा शुभ मार्ग पर से चलेंगे ही, परंतु दुर्जन भी विरोधके मार्गपर जाना छोड दें और शुभ मार्गपर चलनेमें ही अपना लाभ है इस बातको अच्छी प्रकार समझ जांय । इस प्रकार सब जनताको एकताके मार्गपर लानेसे और समाजसे दुर्वर्तन करनेवाले मनुष्योंको दूर कर देनेसे अथवा उनको सुधारने से जनताकी उन्नतिका मार्ग सीधा हो सकता है ।

सुधारका प्रारंभ।

हमेशा यह बात ध्यानमें धारण करना चाहिये कि सुधार का प्रारंभ अपने अंतःकरण के सुधारसे होता है। जो लोग अपने अन्तःकरण के सुधार करने के विनाही दूसरोंके सुधार करनेके कार्यमें लगते हैं, वे न तो उस कार्यको निभा सकते हैं और न स्वयं उन्नत हो सकते हैं। इस लिये वेदने इस सूक्तके छठे मंत्रमें अपने सुधारसे जगत् का सुधार करनेका उपदेश किया है, वह अवश्य देखिये—

अहं मनसा मनांसि गृभ्णामि।
मम वशेषु वः हृदयानि कृणोमि। (मं० ६)

" मैं अपने मनसे अन्य लोगोंके मन आकर्षित करता हूं। इस प्रकार मैं अपने वशमें अन्योंके हृदयोंको करता हूं। "

इस मंत्रमें " अपने शुभाचरणसे अन्योंके दिलोंको आकर्षित करनेका उपदेश " हर एक को ध्यानमें रखने योग्य है। पाठक ही विचार करें और अपने चारों ओर देखें कि कौन दूसरों के मनोंको आकर्षित कर सकता है? क्या कभी कोई दुराचारी अशुभ संकल्प वाला मनुष्य जनताके मनोंको आकर्षित कर सकता है? ऐसी बात कभी नहीं होती। सत्पुरुष और शुभ संकल्पवाले पुण्यात्माही जनताके मनोंको आकर्षित कर सकते हैं। जीवित अवस्थामें ही नहीं प्रत्युत मरनेके पश्चात् भी उनके सद्भावप्रेरित शब्द जनता के मनोंका आकर्षण करते रहते हैं। यह उनमें सामर्थ्य उनके शुभ और सत्य संकल्पोंके कारण ही उत्पन्न होता है। ऐसे पुरुष जो बोलते हैं वैसा जनता करती है, यह उनकी तपस्याका फल है। हरएक मनुष्यको यह सामर्थ्य प्राप्त करनेका यत्न करना चाहिये। अपने संकल्पोंकी पवित्रता करनेसे ही यह बात सिद्ध हो जाती है। जो अपनी पवित्रता जितनी करेगा उतनी सिद्धि उसको प्राप्त होगी। इसके पश्चात् वह पुण्यात्मा कह सकेगा कि—

मम चित्तं चित्तेभिः अनु एत।
मम यातं अनु वर्त्मान एत॥ (मं० ६)

" मेरे चित्तके अनुकूल अपने चित्तोंको बनाओ, मेरे अनुकूल चलते हुए मेरे मार्गसे चलो। "

वस्तुतः जो पुण्यात्मा सत्य मार्गपर चलके अपने शुभ मंगल संकल्पोंसे जनताके मनोंको आकर्षित करते हैं उनके लिये यह सिद्धि अनायासही प्राप्त होती है। अर्थात्

उनके कहने के विना ही अन्य लोग उनके अनुकूल अपने चित्तोंको करते हैं और उनके मार्गसे ही चलनेका यत्न करते हैं। यह स्वयं होता रहता है। परंतु जनताको 'अपने मार्गसे चलो' ऐसा कहनेका यदि किसीको अधिकार होगा तो ऐसे पुण्यात्माओंको ही होता है, यह बात यहां कही है। इस प्रकार अपना सुधार करनेवाले पुण्यात्मा जनताके मार्ग दर्शक होते हैं। जगत्का सुधार करनेका सच्चा मार्ग इस प्रकार आत्म सुधारमें ही है। इस लिये जो प्रयत्न अयोग्य पुरुष जनताके सुधारके लिये करते हैं, उतना प्रयत्न यदि वे आत्म सुधारके लिये करेंगे तो अधिक भला हो सकता है। जो शक्ति आती है वह आत्मसुधार करनेके कारण ही आती है। आत्मसुधार करनेके मार्गके विना सच्चे सुधारका कोई मार्ग नहीं है। जब इस मार्गसे शक्ति की वृद्धि होती है और जब वह अपने मनसे दूसरोंके मनोंको आकर्षित कर सकता है, तभी उसको जनताको 'अपने पीछे चलो' ऐसा कहनेका अधिकार आता है। वह कहता है कि--

"मेरे मार्ग से मेरे साथ साथ चलो। मेरे चित्तके अनुकूल अपने चित्तोंको बना कर चलो (मं० ६)।" अर्थात् जिस मार्गसे मैं जाता हूं उसी मार्गसे तुम आओ। इसी मार्गसे चलनेपर तुम्हारा भला होगा। इस प्रकार इस अवस्थामें यह मनुष्य जनता का मार्ग दर्शक होता है। उसका आचरण और उसका जीवन अन्य जनोंके लिये मार्ग दर्शक अर्थात् आदर्श होता है।

संवेश्य राष्ट्र।

उक्त प्रकारके मार्ग दर्शक आदर्श जीवनवाले धर्मात्मा और पुण्यात्मा जिस राष्ट्रमें अधिक होते हैं और जहांके लोग उनके अनुकूल अपने आचरण बनाकर चलते हैं, उस राष्ट्रको "संवेश्य राष्ट्र" कहते हैं, क्यों कि उसमें (संवेशन) प्रवेश करके वहां रहने योग्य वह राष्ट्र होता है। मनुष्य वहां जांय और रहें और आनंद प्राप्त करें। इस प्रकारका राष्ट्र हमें देवताओंकी कृपासे प्राप्त हो यह प्रथम मंत्रमें प्रार्थना है, देखिये—

अस्मभ्यं० बृहद्राष्ट्रं संवेश्यं दधातु। (मं० १)

"हम सब के लिये देव प्रवेश करने योग्य बडा राष्ट्र देवें।" अर्थात् देवोंकी कृपासे हमें ऐसा उत्तम आदर्शराष्ट्र प्राप्त होवे अथवा हमारा राष्ट्र वैसा ही बने। इस प्रकारके राष्ट्रमें "मैं प्रमुख बनूंगा" यह महत्त्वाकांक्षा जनताके अंतःकरणमें रहेगी, क्योंकि इसमें किसी कारण भी किसीके साथ पक्षपात नहीं होगा इसका सूचक वाक्य द्वितीय मंत्रमें है—

यथा सजातानां मध्यमेष्ठा असानि। (मं० २)

" स्वजातियोंकी सभामें मुख्य स्थानमें बैठनेके योग्य मैं होऊंगा। " यह इच्छा ऐसे राष्ट्रके लोगोंके अंतःकरणमें रहेगी, इस विषयमें विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं है। जो पूर्वोक्त आत्मसुधारके मार्गसे अपनी शक्तिका विकास करेंगे वे उक्त स्थानमें जा कर विराजेंगे, अन्य लोग अपनी अपनी योग्यताके अनुसार अपने योग्य स्थानमें अपना कर्तव्य करेंगे। परंतु किसीको भी उन्नतिके मार्गमें प्रतिबंध नहीं होगा। सब लोग अपने पुरुषार्थसे अपनी उन्नतिका साधन करेंगे और सब मिलकर अपने राष्ट्रको उन्नतिके शिखरपर ले जांयगे। इस विषयमें एक प्रकारकी सात्विक स्पर्धा ही होती है जिसको तृतीय मंत्रने " उत्तरत्व की स्पर्धा " कहा है। इस स्पर्धामें परस्पर का घात नहीं होता प्रत्युत परस्परकी उन्नति होती है। सब जनताके मनुष्य एक भावसे इस राष्ट्रोन्नतिका अग्नि प्रदीप्त करते हैं और उसमें अपने अपने कर्मोंकी आहुतियां डालते हैं, इस विषयमें तृतीय मंत्रका उत्तरार्ध देखिये—

राष्ट्रीय अग्नि।

अयमग्निर्दीदायद्दीर्घमेव सजातैरिद्धोऽप्रतिब्रुवद्भिः। (मं० ३)

" (अ-प्रति-ब्रुवद्भिः) आपसमें विरोधका भाषण न करनेवाले (स-जातैः) स्वजातियों के द्वारा प्रदीप्त किया हुआ यह एकराष्ट्रीयताका अग्नि बहुत दीर्घ कालतक प्रदीप्त स्थितिमें रहे। " अर्थात् यह बीचमें अथवा अल्पकालमें ही न बुझ जावे। क्यों कि इसी अग्नि की गर्मीसे सब राष्ट्रीय मनोरथ सफल और सुफल होते रहते हैं। इसलिये यह राष्ट्रीय अग्नि सदा प्रदीप्त रहना चाहिये। यह अग्नि वे ही मनुष्य प्रज्वलित रख सकते हैं कि जो (अ-प्रति-ब्रुवत्) आपसमें विरोधके शब्द नहीं बोलते, आपसमें झगडा नहीं करते, आपसमें द्वेष नहीं बढाते; प्रत्युत आपसमें मेल मिलाप करने की ही भाषा बोलते हैं। ऐसे सज्जन ही राष्ट्रोन्नतिके महान् अग्निका चयन करते हैं।

इस सूक्तमें " सजात " शब्द आया है और यह शब्द वेदमंत्रोंमें अनेक वार आया है। " सजातीय, समान जातीय, स्वजातीय " इत्यादि अर्थमें यह शब्द प्रयुक्त होता है। जिनमें जातिभेदकी भिन्नता नहीं है ऐसे एक जातिवाले, एक राष्ट्रीयतावाले लोग, यह अर्थ इस शब्दका है। जातीभेदके कारण एकदूसरेसे लडनेवाले लोग " सजात " नहीं कहलायेंगे। एक राष्ट्रके लोग परस्पर " सजात " ही होते हैं, परंतु उनमें राष्ट्रीयताकी

भावना प्रबल रहनी चाहिये और छोटी जात पातकी भावना गौण होनी चाहिये । ऐसे लोग जब आपसमें एकताके प्रेमसे कोई कार्य करते हैं तब उनमें एक विलक्षण शक्ति उत्पन्न होती है, वही अग्नि शब्दद्वारा तृतीय मंत्रमें कही है । यही राष्ट्रभक्तिका अग्नि है जो कि संपूर्ण राष्ट्रकी उन्नतिमें सहायक होता है ।

राष्ट्रका पोषक ।

इस प्रकारके राष्ट्रके सच्चे पोषक दोही लोग होते हैं, उनका वर्णन चतुर्थ मंत्र द्वारा हुआ है—

इर्यो गोपा पुष्टपतिर्व आजत् । (मं० ४)

" (इर्यः) अन्नका उत्पन्न करनेवाला और (गो-पा) गौओंकी रक्षा करनेवाला ये दो आप लोगोंकी पुष्टि करनेवाले हैं । " यह मंत्रभाग बहुत मनन करने योग्य है । अन्नकी उत्पत्ति करनेवाला किसान और गौओंकी रक्षा करनेवाला गवालिया ये दो वर्ग राष्ट्रकी पुष्टि के लिये आवश्यक हैं । राष्ट्रकी बुनियाद ठीक करनेका कार्य ये लोग करते हैं, इसलिये राज्यशासनमें इनकी स्थिति अच्छी करनेका विशेष प्रबंध होना अत्यंत आवश्यक है । यदि अन्न उत्पन्न करनेवाले किसान और गोरक्षक ये दो वर्ग राष्ट्रमें अवनत हुए तो राष्ट्रकी कदापि पुष्टि नहीं हो सकती । पाठक इस दृष्टिसे इनका महत्त्व जानें और यह उपदेश इस प्रसंगमें देनेमें वेदने कितनी महत्त्व पूर्ण बात कही है यह भी स्मरण रखें ।

शूरपुत्रोंवाली माता ।

राष्ट्रकी बुनियाद " संतान " है । पुत्र और पुत्रियां ही राष्ट्रका भावी उत्कर्ष या अपकर्ष करनेवाली होती हैं । इनकी सच्ची शिक्षा माताके द्वारा होती है । माता अपने बालबच्चोंको किस प्रकार शिक्षा देवे इसकी सूचना द्वितीय मंत्र में दी है । इस विषय के सूचक शब्द ये हैं—

शूरपुत्रां अदितिं देवीं हुवे । (मं० २)

" शूर पुत्रोंकी अदीना देवी माताको मैं बुलाता हूं । " अथवा उनकी मैं प्रशंसा करता हूं । यहांका "अ-दिति" शब्द "अदीन, प्रतिबंधमें न रहनेवाली, राष्ट्रके स्वाधीनताके विचार रखनेवाली" इत्यादि भाव रखता है । "शूरपुत्रा" शब्दका भाव स्पष्ट है ।

राष्ट्रमें देवियां ऐसी हों जिनको अदीन और वीरपुत्रा कहा जावे। "वीरसूर्भव" अर्थात् वीर पुत्र उत्पन्न कर यह वैदिक आशीर्वाद सुप्रसिद्ध है। वही बात अन्य रीतिसे यहां बताई है।

राष्ट्रीय शिक्षा।

इस प्रकार की वीरमाताएं जहां होंगी वहां ही राष्ट्रीयताके भाव परम उत्कर्षतक पंहुंच सकते हैं। देवियोंको, बहिनोंको और पुत्रियोंको किस ढंगसे शिक्षा देना चाहिये इसका विचार भी यहां निश्चित हो जाता है। जिस शिक्षासे माताएं वीरपुत्र उत्पन्न करनेवाली हों ऐसी शिक्षा उनको देनी चाहिये।

दैवी सहायता।

उक्त राष्ट्रीयताके विचारोंकी पूर्णता होकर संपूर्ण जनता इस रीतिसे समर्थ राष्ट्र शक्तिसे युक्त होवे, इस विषयमें चतुर्थ मंत्र देखिये—

अस्मै कामायोप कामिनीर्विश्वे वो देवा उपसंयन्तु॥ (मं० ४)

"सब देव इस कामनाकी पूर्तिकी इच्छा करनेवाली तुम सब प्रजाओंको एकताके विचारसे युक्त करें।" अर्थात् तुम सब लोगोंमें एकताका विचार बढ जावे। यह एक प्रकारसे पूर्ण और उच्च आशीर्वाद है। जो पाठक परमेश्वर भक्तिपूर्वक राष्ट्रोन्नतिके लिये प्रयत्न शील होंगे वे ही इस आशीर्वादको प्राप्त करनेके अधिकारी हो सकते हैं।

आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक।

इस सूक्तके अन्य मंत्रभागमें "मित्र वरुणादि देवोंकी सहायता हमें राष्ट्रशक्ति बढानेके कार्यमें प्राप्त हो" यह आशय है। यह आशय आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक कार्यक्षेत्रमें देखकर अर्थबोध लेनेकी रीति इससे पूर्व कई प्रसंगोंमें वर्णन की है। (विशेषकर काण्ड १ सू० ३०, ३१ के विवरण देखिये) इस लिये उसका यहां पुनः विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। उक्त दृष्टिसे पाठक इस सूक्तका अधिक विचार करें और बोध प्राप्त करें।

क्लेश-प्रतिबन्धक उपाय ।

[९]

(ऋषिः- वामदेवः । देवता- द्यावापृथिवी, विश्वेदेवाः)

कर्शफस्य विशफस्य द्यौः पिता पृथिवी माता ।
यथाभिचक्र देवास्तथाप कृणुता पुनः ॥ १ ॥
अश्रेष्माणो अधारयन्तथा तन्मनुना कृतम् ।
कृणोमि वध्रि विष्कन्धं मुष्काबर्हो गवामिव ॥ २ ॥

अर्थ— (कर्श+फस्य=कृशस्य) कृश अथवा निर्बल की अथवा उसी प्रकार (विश+फस्य) प्रबल की भी (माता पृथिवी) माता पृथ्वी है और उनका (पिता द्यौः) पिता द्युलोक है । हे (देवाः) देवो ! (यथा अभिचक्र) जैसा पराक्रम किया था (तथा पुनः अपकृणुत) उसी प्रकार फिर शत्रुओंका प्रतिकार करो ॥ १ ॥

जैसे (अ-श्रेष्माणः अधारयन्) न थकने वाले ही किसी का धारण करते रहते हैं (तथा तत् मनुना कृतम्) उसी प्रकार वह कार्य मनन शील ने भी किया होता है । (मुष्काबर्हः गवां इव) जैसा अण्डकोश तोडने वाला मनुष्य बैलोंको निर्बल कर देता है उसी प्रकार मैं (वि-स्कन्धं वध्रि कृणोमि) रोगादि विघ्नको निर्बल करता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ— बलवान् और निर्बल इन दोनोंके माता पिता भूमि और द्युलोक हैं । अर्थात् ये दोनों प्रकारके लोग आपसमें भाई हैं । देवता लोग पराक्रम करके शत्रुका पराभव करते हैं शत्रुको हटादेते हैं और निर्बलों का संरक्षण करते हैं ॥ १ ॥

न थकते हुए परिश्रम करनेवाले ही विशेष कार्य करनेमें समर्थ होते हैं । मननशील मनुष्य भी वैसाही पुरुषार्थ करते हैं । मैं भी उसी प्रकार शत्रुको तथा विघ्नोंको निर्बल करता हूं; जिस प्रकार अण्डकोश तोडनेवाले बैलका अण्डकोश तोडकर उसको निर्वीर्य कर देते हैं ॥ २ ॥

पिशङ्गे सूत्रे खृगलं तदा बध्नन्ति वेधसः ।
श्रवस्युं शुष्मं काबवं वध्रिं कृण्वन्तु बन्धुरः ॥ ३ ॥
येना श्रवस्यवश्चरथ देवा इवासुरमायया ।
शुनां कपिरिव दूषणो बन्धुरा काबवस्य च ॥ ४ ॥
दुष्ट्यै हि त्वा भत्स्यामि दूषयिष्यामि काबवम् ।
उदाशवो रथा इव शपथेभिः सरिष्यथ ॥ ५ ॥

अर्थ -(वेधसः) ज्ञानी लोग (पिशङ्गे सूत्रे) भूरे रंगवाले सूत्रमें (तत खृगलं आबध्नन्ति) उस मणिको बांधते हैं। (बंधुरः) बंधन करनेवाले (श्रवस्युं शुष्मं काबवं) प्रसिद्ध प्रबल शोषक रोगको (वध्रिं कृण्वन्तु) निर्बल करें ॥ ३ ॥

हे (श्रवस्यवः) यशस्वी पुरुषो ! (येन) जिससे (असुरमायया देवाः इव चरथ) जीवन दाताकी कुशलतासे युक्त देवोंके समान आचरण करते हो तथा (कपिः शुनां दूषणः इव) बंदर जैसा कुत्तोंको तुच्छ मानता है वैसे (बन्धुरा काबवस्य च) बंधन करनेवाले रोगका अथवा दुःखका प्रतिबंध करते हैं ॥ ४ ॥

(दुष्ट्यै हि त्वा भत्स्यामि) दुष्टताके हटानेके लिये मैं तुझे बांधूंगा। और (काबवं दूषयिष्यामि) विघ्नको निर्बल बना दूंगा। (आशवः रथाः इव) शीघ्र चलने वाले रथों के समान तुम (शपथेभिः उत सरिष्यथ) शापोंके बंधनसे दूर हो जाओगे ॥ ५ ॥

भावार्थ- भूरे रंगके सूत्रसे ज्ञानी लोग मणिको बांधते हैं जिससे प्रसिद्ध शोषक रोगको निर्वीर्य बना देते हैं ॥ ३ ॥

यशस्वी पुरुष जीवनके दैवी मार्गसे जाते हैं और मृत्युको दूर करते हैं, बंदर वृक्षपर रहता हुआ कुत्तोंको तुच्छ मानता है, इसी प्रकार रोग प्रतिबंधकी विद्या जाननेवाले रोगको दूर करते हैं ॥ ४ ॥

दुष्ट स्थितिको दूर करनेके लिये योग्य प्रतिबंध करना चाहिये, उसी प्रकार रोगादि विघ्नोंको निर्बल करना चाहिये। जैसे वेगवाले रथसे मनुष्य पहुंचनेके स्थानपर शीघ्र पहुंच जाता है, उसी प्रकार उक्त मार्गसे मनुष्य दुष्ट अवस्थासे मुक्त हो जाता है ॥ ५ ॥

एकशतं विष्कन्धानि विष्ठिता पृथिवीमनु ।
तेषां त्वामग्र उज्जहरुर्मणिं विष्कन्धदूषणम् ॥ ६ ॥

अर्थ- (एकशतं विष्कन्धानि) एक सौ एक विघ्न (पृथिवीं अनु विष्ठिता) पृथ्वीपर रहे हैं। (तेषां अग्रे) उनके सामने (विष्कन्धदूषणं त्वां मणिं) कष्ट नाशक तुझ माणि को (उत् जहरुः) ऊंचा उठाया है। सबसे बढकर माना है ॥ ६ ॥

भावार्थ- पृथ्वीपर सेंकडों विघ्न और दुःख हैं। उनके प्रतिबंधक उपायों में दुःखप्रतिबंधक माणि विशेष प्रभाव शाली है जिसको धारण किया जाता है ॥ ६ ॥

यह सूक्त समझनेके लिये बडा कठिन और अत्यंत दुर्बोध है। इस सूक्तके "कर्शफ, विशफ, खृगल, काबव," ये शब्द अत्यंत दुर्बोध हैं और बहुत प्रयत्न करनेपर भी इन शब्दोंका समाधान कारक अर्थ इस समयतक पता नहीं लगा। जो पाठक वेदके अर्थकी खोज कर रहे हैं वे इस विषयकी खोज अवश्य करें।

सबके माता पिता ।

प्रथम मंत्रके प्रथमार्धमें एक महत्त्व पूर्ण बात कही है वह सबके बंधुभाव की बात है।

कर्शफस्य विशफस्य द्यौः पिता पृथिवी माता । (मं० १)

जगत् में दो प्रकारके मनुष्य हैं, एक (कर्श+फ=कृश) अशक्त बलहीन अथवा जगत्की स्पर्धामें (कर्+शफ) बुरे खुरवाले अर्थात् जो अपना बचाव कर नहीं सकते; और दूसरे (विश+फ) अपने आपका प्रवेश दूर दूर तक कर सकते हैं और दूसरोंका पराजय करके अपना अधिकार दूसरोंपर जमा देते हैं। इसी शब्दका दूसरा अर्थ यह है कि (वि+शफ) विशेष खुर वाले अर्थात् जो पशु दूसरोंको लाथें मारनेमें समर्थ होते हैं। "विशफ" के दोनों अर्थोंमें समान भाव यह है कि "पाशवी शक्तिसे युक्त।"

विश्वबन्धुत्व ।

जगत्में ये दो प्रकारके लोग हैं एक (वि+शफ) पाशवी शक्तिसे युक्त और दूसरे (कर्शफ) पाशवी शक्तिसे हीन। सदा ही ऐसा देखाजाता है कि पाशवी शक्तिसे बली बने हुए लोक निर्बल लोगोंको दबाते रहते हैं। इसकारण सामाजिक, राजकीय और

धार्मिक विषमता बढ जाती है और उसी प्रमाणसे जनताके क्लेश बढते जाते हैं। इन क्लेशोंके निवारण का एक मात्र उपाय यह है कि " सब लोग परस्पर भाई हैं और एक परम पिता और एक परम माताकी संतानें हैं," इस उच्च भावको जाग्रत करना। यदि निर्बल और सबल दोनों मानेंगे कि 'हम सबका परम पिता और परम माता एकही है, इसलिये हम सब मनुष्य आपस में भाई भाई हैं' तो पश्चात् एक दूसरेसे झगडा करनेका कारण ही नहीं रहेगा। क्यों कि जो झगडा होता है वह परकीयताके भावसे होता है, वह परकीय भाव इस प्रकार हटगया तो झगडाही नहीं रहेगा। सामाजिक, राजकीय और धार्मिक झगडे हटानेका पहला उपाय वेदने यह बताया है।

मातृभूमिको अपनी माता मानना और सूर्य, द्युलोक अथवा प्रकाशमय देवको अपना पिता समझना, यह झगडा मिटानेके लिये उत्तम उपाय है। मातृभूमिकी भक्ति यदि जनताके मनमें जाग्रत होगई तो उन सबकी एकता होनेमें विलंब नहीं लगेगा। मातृभूमिकी भक्तिही ऐसी एक वस्तु है कि जो राष्ट्रीय एकता को विकसित कर देती है और सबमें अद्भुत सामर्थ्य उत्पन्न कर देती है। मातृभूमिकी भक्तिमें विशेषतः स्वदेशप्रेमही आता है परन्तु भूमिमाताका विस्तृत अर्थ लेनेपर विश्वबंधुत्वकी कल्पना भी आती है।

पराक्रम।

मातृभूमिका हित करनेका उद्देश्य अपने सन्मुख रखकर, उस संबंधसे उत्पन्न होनेवाले अपने कर्तव्य करनेके लिये और उस उच्च कार्यके लिये आवश्यक त्याग करनेके लिये मनुष्योंको सिद्ध रहना चाहिये। जिस प्रकार देवासुर युद्धमें देव असुरोंको हटानेके कार्यमें बडा पराक्रम करते हैं, असुरोंपर आक्रमण करते हुए उनको हटादेते हैं, उसी प्रकार शत्रुओंको हटानेके कार्यमें बडा पुरुषार्थ करना चाहिये। शत्रुका पराभव करना और उनको दूर करना ये दो बातें इस पुरुषार्थमें मुख्य हैं—

यथाऽभिचक्र देवास्तथाऽप कृणुता पुनः ॥ (मं० १)

" जैसा (अभिचक्र) शत्रुपर हमला करना चाहिये वैसा ही (अपकृणुत) उनको दूर करना चाहिये " हमला करके शत्रुका पराभव करना चाहिये और उनको अपने स्थानसे परे भी हटाना चाहिये। इतना सब करके अशक्तोंका रक्षण करना चाहिये।

यह सब होनेके लिये, सब लोगोंका बंधुत्व व परमात्मा को सबका माता पिता मानना, इन दो बातोंकी आवश्यकता है। पाठक इस अतिश्रेष्ठ उपदेश का अच्छी प्रकार मनन करें।

परिश्रमसे सिद्धि।

परिश्रम करनेके विना कुछभी सिद्धि प्राप्त नहीं होती है। जो सिद्धि होती है वह प्रयत्नसे साध्य होती है। जो भी विजयी लोग हुए हैं वे थकावटसे ग्रस्त नहीं होते थे। वे परिश्रम करनेके लिये डरते नहीं थे, इसी लिये उनमें धारक शक्ति उत्पन्न हुई और वे जातियों समाजों और राष्ट्रोंका धारण कर सके। इसीलिये मंत्रमें कहा है—

अश्रेष्माणो अधारयन्
तथा तन्मनुना कृतम्। (मं० २)

"जो परिश्रम करनेसे नहीं थकते वेही धारण करते हैं। मननशील ने भी वैसाही कर लिया था।" परिश्रम करनेके विना धारक शक्ति नहीं आसकती। और जो मनन शील लोग हैं वे भी अपनी मनन शक्तिसे इसी परिणाम तक पहुंचे हैं। प्रयत्न शीलताही मनुष्य मात्रका उद्धार करनेवाली है। इस लिये हरएक मनुष्यको प्रयत्न शीलताका महत्त्व जान कर पुरुषार्थ प्रयत्नसे अपना उद्धार करना चाहिये और अपने राष्ट्रका भी अभ्युदय साधन करना चाहिये।

परिश्रमी पुरुष अपने प्रयत्नसे सब विघ्न दूर कर सकता है, उसके लिये सबही अवस्थाएं प्रयत्न साध्य होती हैं, उसके लिये अशक्य और अप्राप्य ऐसा कोई स्थान नहीं होता है वह निश्चय पूर्वक कहता है कि—

कृणोमि वध्रि विष्कन्धं मुष्काबर्हो गवामिव। (मं० २)

"मैं निश्चयसे विघ्नको निर्बल करता हूं जिस प्रकार अण्डकोशको तोडनेवाले लोग बैलोंको निश्चयसे निर्वीर्य करते हैं।" पुरुषार्थ प्रयत्नसे सब विघ्न, सब प्रतिबंध, सब आधिव्याधियोंके कष्ट दूर हो सकते हैं। पुरुषार्थ प्रयत्न के सन्मुख ये विघ्न ठहर ही नहीं सकते।

यहां बैलोंके अण्डकोश तोडकर उनको प्रजननके कार्य के लिये असमर्थ बनानेकी विद्याकी सूचना है। खेतीके लिये इसी प्रकारके बैलोंका उपयोग होता है।

असुर-माया।

"असुरमाया" का विषय चतुर्थ मंत्रमें आया है। "माया" शब्दका अर्थ "कौशल्य, हुनर, कला, प्रवीणताका कर्म" है। "असुर" शब्दका अर्थ "(अ-सुर) दैत्य अथवा (असु-र) जीवन की विद्या जानने वाले और उस विद्याका प्रकाश करनेवाले"

है। इसलिये " असुर-माया " का अर्थ " असुरोंके पासका कलाकौशल, हुनर अथवा जीवनके साधन प्राप्त करनेकी विद्या " है। यह असुर माया अपनी अपनी ढंगकी देवोंके पासभी रहती है और दैत्योंके पासभी होती है। देव सम्पूर्ण प्रकारकी यह विद्या प्राप्त करते हैं और अपनी उन्नति सिद्ध करते हैं और श्रेष्ठत्व प्राप्त करते हैं, इस विषयमें कहा है—

असुरमायया देवा इव अवस्यवः चरथ। (मं० ४)

"इस जीवन की विद्यासे जैसे देव चलते हैं, वैसे तुमभी यशस्वी और प्रशंसित होकर चलो।" देव जैसे इस जीवन विद्यासे यशस्वी होते हैं वैसे ही तुम भी होओ। यह चतुर्थ मंत्रका कथन मनुष्योंको पुरुषार्थके मार्गपर चलानेके लिये ही है। जो मनुष्य इस मार्गसे चलेंगे, वे देवोंके समान पूजनीय होंगे और यशके भी भागी बनेंगे।

सैंकडों विघ्न।

इस पृथ्वीपर विघ्न तो सैंकडों हैं, व्यक्ति, समाज, जाती और राष्ट्र की उन्नतिमें सैंकडो किसके विघ्न होते हैं। जो भी पुरुषार्थ करनेका कार्य चला हो, उसमें विघ्न तो अवश्यही होंगे, परंतु उनसे डरना नहीं चाहिये। इन विघ्नोंके विषयमें कहा है।

एकशतं विष्कन्धानि विष्ठिता पृथिवीमनु। (मं० ६)

" सैंकडों विघ्न पृथ्वीपर हैं। " जब ये विघ्न हैं और हरएक कार्यमें ये रहेंगे ही तब उनसे डरनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। उनको प्रतिबंध करते हुए आगे बढना चाहिये। आगे बढनेके लिये अपना वेग बढाना चाहिये—

आशवो रथा इव शपथेभिः उत् सरिष्यथ। (मं० ५)

"शीघ्रगामी रथ जैसे शीघ्र आगे बढते हैं उसीप्रकार पुरुषार्थ प्रयत्न करनेसे तुम भी विघ्नोंको पीछे डालकर आगे बढजाओगे।" अपना वेग बढानेसे विघ्न पीछे हटते हैं, परंतु जो अपना वेग कम करते हैं, वे विघ्नोंसे त्रस्त होते हैं। इस लिये अपनी पुरुषार्थ शक्ति बढानेसे मनुष्य विघ्नोंको परास्त करके विजयका मार्ग सुधर सकते हैं। इस विषयके उदाहरण देखिये—

शुनां दूषणः कपिः इव। (मं०४)

"कुत्तोंका तिरस्कार करनेवाला बंदर जैसा होता है।" बंदर वृक्षपर रहते हैं इसलिये वे कुत्तोंकी पर्वाह नहीं करते। वे कुत्तोंको तुच्छ समझते हैं क्योंकि वे कुत्तोंकी अपेक्षा बहुत ऊंचे स्थानपर रहते हैं, अतः कुत्ते उन बंदरोंको कोई विघ्न कर नहीं सकते। इसी

प्रकार जिन स्थानोंमें विघ्न होते हैं उन स्थानोंको छोडकर उनसे ऊंचे स्थानोंमें रहनेसे कोई विघ्न कष्ट नहीं दे सकते । जैसे बंदर वृक्षपर रहनेके कारण कुत्तोंके कष्टोंसे बचे रहते हैं, इसी प्रकार हरएक विघ्नसे मनुष्य अपने आपको बचावे । विघ्नका जो स्थान होगा उससे अपना स्थान ऊंचा करनेसे मनुष्य उनसे सदा दूर रह सकता है । इसी विषयके सूचक निम्न लिखित मंत्र हैं—

> श्रवस्युं शुष्मं काबवं वध्रिं कृण्वन्तु बन्धुरः ॥ (मं० ३)
>
> काबवस्य च बन्धुराः ॥ (मं० ४)
>
> काबवं दूषयिष्यामि ॥ (मं ५)

" विघ्नोंका प्रतिबंध करनेवाले लोग प्रसिद्ध शोषक विघ्नको निर्बल करें ॥ विघ्नका प्रतिबन्ध करें ॥ मैं विघ्नको परास्त करूंगा । "

ये सब विधान विघ्नोंका प्रतिबंध करनेके सूचक हैं । विघ्नोंको परास्त करना अथवा विघ्नोंको दूर करना यह मनुष्यका ध्येय है और इसके उपाय इससे पूर्व दिये ही है । शारीरिक व्याधियोंमे अपने आपका बचाव करनेके लिये मणि धारण का उपाय इससे पूर्व कई सूक्तोंमें कहा गया है । (देखो काण्ड २ सूक्त ४) इस प्रकारके मणि धारणसे रोगोंका प्रतिबंध होजाता है इसलिये मणिधारण की सूचना देनेके लिये इस सूक्तमें निम्न लिखित मंत्र भाग हैं—

> पिशंगे सूत्रे खृगलं तदा बध्नन्ति वेधसः । (मं० ३)
>
> दुष्ट्यै हित्वा भत्स्यामि । (मं० ५)
>
> तेषां त्वामग्र उज्जहरुर्मणिं विष्कन्ध-दूषणम् ॥ (मं० ६)

" भूरे रंगवाले सूत्रमें ज्ञानी लोग इस मणिको बांधते हैं ॥ दुरवस्था हटानेके लिये तुझे बांधूंगा ॥ मणिको विघ्नोंका निर्बल करने वाला सबसे मुख्य उपाय मानकर ऊपर उठाते और धारण करते हैं ॥ "

इन मंत्र भागोंसे स्पष्ट होजाता है कि व्यक्तिके शारीरिक रोगरूपी आधिव्याधियोंको हटानेके लिये यह मणिधारण एक उत्तम उपाय है । सामाजिक और राष्ट्रीय विघ्नोंको दूर करनेके लिये विश्वबंधुत्व की कल्पना का फैलाव करनेका उपाय प्रमुख स्थान रखता है । तथा अन्यान्य संपूर्ण विघ्नोंको हटाने के लिये परिश्रम करने अर्थात् पुरुषार्थ करनेकी शक्ति मनुष्यमें पर्याप्त है । इस सूक्तका अच्छा मनन पाठक करेंगे तो उनको अपनी उन्नतिका मार्ग विघ्न रहित करनेका उपाय निःसंदेह प्राप्त हो सकता है ।

कालका यज्ञ।

(१०)

(ऋषिः—अथर्वा। देवता—एकाष्टका)

प्रथमा ह व्यु॑वास सा धेनुरभवद्यमे ।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ १ ॥
यां देवाः प्रतिनन्दन्ति रात्रिं धेनुमुपायतीम् ।
संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली ॥ २ ॥

अर्थ- (प्रथमा ह वि+उवास) पहली उषाकी वेला उदयको प्राप्त हुई। (सा यमे धेनुः अभवत्) वह नियम में धेनु जैसी हुई। (सा पयस्वती) वह दूध देनेवाली धेनु (नः उत्तरां उत्तरां समां दुहां) हमारे लिये उत्तरोत्तर अर्थात् आनेवाले वर्षोंमें दूध देती रहे ॥ १ ॥

(देवाः) देव (यां उपायतीं रात्रिं धेनुं) जिस आनेवाली रात्रीरूपी धेनुको देखकर (प्रतिनन्दन्ति) आनन्दित होते हैं। (या संवत्सरस्य पत्नी) जो संवत्सरकी पत्नीरूप है (सा नः सुमङ्गली अस्तु) वह हमारे लिये उत्तम मंगल करनेवाली होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—पहली उषा उदयको प्राप्त हुई है। जो सुनियमोंका पालन करता है उस के लिये यह वेला कामधेनु जैसी अमृत रस देनेवाली बनती है। इस लिये यह वेला हमारी भविष्यकी आयु में हमें भी अमृत रस देनेवाली बने ॥ १ ॥

प्राप्त होनेवाली इस रात्री रूपी कामधेनुको देख कर देव आनंदित होते हैं। यह संवत्सर की पत्नी रूपी वेला हमारे लिये उत्तम मंगल करनेवाली बनो ॥ २ ॥

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे ।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ॥ ३ ॥
इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा ।
महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवगज्जनित्री ॥ ४ ॥
वानस्पत्या ग्रावाणो घोषमक्रत हविष्कृण्वन्तः परिवत्सरीणम् ।
एकाष्टके सुप्रजसः सुवीरा वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ५ ॥

अर्थ— हे (रात्रि) रात्री ! (यां त्वा) जिस तुझको (संवत्सरस्य प्रतिमां) संवत्सरकी प्रतिमा मानकर (उपास्महे) हम सब भजते हैं, (सा नः आयुष्मतीं प्रजां) वह हमारी दीर्घ आयुवाली प्रजाको (रायः पोषेण संसृज) धनकी पुष्टिसे संयुक्त कर ॥ ३ ॥

(इयं एव सा) यही वह है कि (या प्रथमा व्यौच्छत्) जो पहली प्रगट हुई और जो (आसु इतरासु प्रविष्टा चरति) इन इतरोंमें प्रविष्ट हो कर चलती है । (अस्यां अन्तः महान्तः महिमानः) इसके अन्दर बडी महिमाएं हैं । (नव-गत् वधूः जनित्री जिगाय) यह नूतन कुलवधू जननी होती हुई विजय करती है ॥ ४ ॥

(परिवत्सरीणं हविः कृण्वन्तः) सांवत्सरिक हवनका अन्न बनानेवाले (वानस्पत्याः ग्रावाणः घोषं अक्रत) वनस्पतिके साथ संबंध रखनेवाले पत्थर शब्द कर रहे हैं । हे (एकाष्टके) एक अष्टका ! (वयं सुप्रजसः सुवीराः) हम सब उत्तम सन्तानवाले और उत्तम वीरोंवाले तथा (रयीणां पतयः स्याम) धनके स्वामी होवें ॥ ५ ॥

भावार्थ— संवत्सरकी प्रतिमा रूप यह रात्री है, इसकी उपासना हम करते हैं, इस लिये यह हमारे संतानोंको दीर्घ आयु, धन और पुष्टि देवे ॥३॥

यही वेला वह है कि जो पहले प्रकट हुई थी और जो अन्य वेलाओंके साथ संयुक्त होकर चलती है। इस वेला में अनेक महत्त्वपूर्ण शक्तियां हैं। यह वेला विजय करती है जिस प्रकार नवीन कुलवधु प्रथम संतान उत्पन्न करती हुई कुलका यश बढाती है ॥ ४ ॥

आज सांवत्सरिक हवनकी सामग्री बनाने वाले-सोमरस निकालनेवाले-पत्थर और काष्ठयंत्र आवाज कर रहे हैं । हे एकाष्टके ! हम सब उत्तम संतान युक्त और उत्तम वीरोंसे युक्त होकर बहुत धनके स्वामी बनें ॥५॥

इडा॑यास्प॒दं घृ॒तव॑त् सरीसृ॒पं जात॑वेदः॒ प्रति॑ ह॒व्या गृ॑भाय ।
ये ग्रा॒म्याः प॒शवो॑ वि॒श्वरू॑पास्तेषां॑ स॒प्तानां॒ मयि॑ र॒न्तिर॑स्तु ॥ ६ ॥
आ मा॑ पु॒ष्टे च॒ पोषे॑ च॒ रात्रि॑ दे॒वानां॑ सुम॒तौ स्या॑म । पू॒र्णा द॑र्वे॒ परा॑ पत
सुपू॑र्णा॒ पुन॒रा प॑त । सर्वा॑न्य॒ज्ञान्त्सं॑भु॒ञ्जतीष॒मूर्जं॑ न॒ आ भ॑र ॥ ७ ॥
आ॒यम॑गन्त्संवत्स॒रः पति॑रेकाष्टके॒ तव॑ ।
सा न॒ आयु॑ष्मतीं प्र॒जां रा॒यस्पोषे॑ण॒ सं सृ॑ज ॥ ८ ॥

अर्थ- हे (जातवेदः) उत्पन्न पदार्थोंको जाननेवाले अग्नि ! (इडायाःघृतवत् सरीसृपं पदं प्रति) गौके घीसे युक्त स्रवनेवाले स्थानके प्रति (हव्या गृभाय) हव्यको ग्रहण कर। (ये ग्राम्याः विश्वरूपाः पशवः) जो ग्रामीण अनेक रूपवाले पशु हैं (तेषां सप्तानां रन्तिः मयि अस्तु) उन सातोंकी प्रीति मुझमें होवे ॥ ६ ॥

हे (रात्रि) रात्री ! (पुष्टे च पोषे च मा आभर) पुष्टि और पोषण के संबंधमें मुझको भर दे। हम (देवानां सुमतौ स्याम) देवोंकी सुमतिमें रहें। हे (दर्वे) चमस ! तू (पूर्णा परा पत) पूर्ण भरी हुई दूर जा और (सुपूर्णा पुनः आपत) उत्तम पूर्ण होकर पुनः पास आ। (सर्वान् संभुञ्जन्ती) सब यज्ञोंका उत्तम प्रकार सेवन करती हुई (नः इषं ऊर्जं आभर) हमारे लिये अन्न और बल लाकर भर दे ॥ ७ ॥

हे (एकाष्टके) एकाष्टके ! (अयं संवत्सरः) यह संवत्सर (ते पतिः) तेरा पति होकर (आ अगन्) आया है। (सा) वह तू (नः आयुष्मतीं प्रजां) हमारी दीर्घायुवाली प्रजाको (रायः पोषेण सं सृज) धनकी पुष्टिसे युक्त कर ॥ ८ ॥

भावार्थ- हे जातवेद ! तू गौके घीसे युक्त तथा जिसमें से गौका घी चूरहा है ऐसा घीसे पूर्ण भिगा हुआ हव्य ग्रहण कर। जो अनेक रंगरूपवाले ग्राम्य सात पशु हैं वे मेरे ऊपर प्रेम करते हुए मेरे साथ रहें ॥ ६ ॥

हे रात्री ! हमें बहुत पुष्टि और शक्ति दे। देवोंकी मंगलमयी मति हमें सहारा देती रहे। हे चमस ! तू घीसे पूर्ण हो कर अग्निमें आहुति देनेके लिये आगे बढ, और वहांकी दैवीशक्ति से पूर्ण होकर हमारे पास फिर लौट आ और हमारे लिये अन्न और बल विपुल प्रमाणमें दे ॥ ७ ॥

हे एकाष्टके ! यह संवत्सर तेरा पतिरूप है, उसकी पत्नीरूप तू हमारे बाल बच्चों के लिये दीर्घ आयुष्य धन और पुष्टि दे ॥ ८ ॥

ऋतून्यज ऋतुपतींनार्तवानुत हायनान् ।
समाः संवत्सरान्मासान्भूतस्य पतये यजे ॥ ९ ॥
ऋतुभ्यष्ट्वार्तवेभ्यो माद्भ्यः संवत्सरेभ्यः ।
धात्रे विधात्रे समृधे भूतस्य पतये यजे ॥ १० ॥
इडया जुह्वतो वयं देवान्घृतवता यजे ।
गृहानलुभ्यतो वयं सं विशेमोप गोमतः ॥ ११ ॥

अर्थ- (मासान् ऋतून् आर्तवान् ऋतुपतीन्) मास, ऋतु, ऋतु संबंधी ऋतुपतियोंको तथा (उत हायनान् समाः संवत्सरान् यजे) अयनवर्ष, समवर्ष और संवत्सरको अर्पण करता हूं और (भूतस्य पतये यजे) भूतके स्वामीके लिये यज्ञ करता हूं ॥ ९ ॥

(माद्भ्यः ऋतुभ्यः आर्तवेभ्यः संवत्सरेभ्यः) महिने, ऋतु, ऋतुसे संबंध रखनेवाले तथा वर्ष इन सबके लिये और (धात्रे, विधात्रे, समृधे) धाता विधाता तथा समृद्धिके लिये (भूतस्य पतये यजे) भूतोंके पतिके लिये मैं अर्पण करता हूं ॥ १० ॥

(इडया घृतवता जुह्वतः) गौ द्वारा प्राप्त घीसे युक्त अर्पण द्वारा हवन करनेवाले (वयं देवान् यजे) हम सब देवोंका यजन करते हैं । (अलुभ्यतः गोमतः गृहान्) जिसमें न्यूनता नहीं है, जो गौओंसे युक्त हैं, ऐसे घरोंमें (वयं उप सं विशेम) हम प्रवेश करेंगे ॥ ११ ॥

भावार्थ- मैं अपने दिन, पक्ष, मास, ऋतु, काल, अयन और संवत्सर आदि कालावयवोंको भूतपति परमेश्वरके यजनके लिये समर्पित करता हूं अर्थात् अपनी आयुको यज्ञ के लिये अर्पण करता हूं ॥ ९ ॥

मास, ऋतु, [शीत, उष्ण, वृष्टिसंबंधी तीन] काल, अयन, संवत्सर आदि मेरी आयुके काल विभागोंको धाता, विधाता, समृद्धिकर्ता भूतपति परमात्माके लिये अर्थात् यज्ञके लिये समर्पित करता हूं ॥ १० ॥

गौके घीसे मैं देवोंका यजन करता हूं और ऐसे यज्ञ करता हुआ मैं अपने घरोंमें प्रवेश करता हूं । हमारे घरोंमें बहुतसी दूध देनेवाली गौवें सदा रहें और हमारे घरोंमें कभी किसी पदार्थकी न्यूनता न हो ॥ ११ ॥

एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमानमिन्द्रम्।
तेन देवा व्यसहन्त शत्रून्हन्ता दस्यूनामभवच्छचीपतिः ॥ १२ ॥
इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे दुहितासि प्रजापतेः।
कामानस्माकं पूरय प्रति गृह्णाहि नो हविः ॥ १३ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः समाप्तः।

अर्थ-(एकाष्टका तपसा तप्यमाना) यह एक अष्टका तपसे तपती हुई (महिमानं इन्द्रं गर्भं जजान) बडे महिमावाले इन्द्र रूपी गर्भको प्रकट करती रही। (तेन देवाः शत्रून् वि-असहन्त) उससे देवोंने शत्रुओंको जीत लिया। (दस्यूनां हन्ता शचीपतिः अभवत्) क्योंकि शत्रुओंका नाश करनेवाला शक्तिशाली प्रगट हुआ है॥ १२॥

हे (इन्द्रपुत्रे) इन्द्र जैसे पुत्रवाली! हे (सोमपुत्रे) चन्द्रमा जैसे पुत्र-वाली! तू (प्रजापतेः दुहिता असि) तू प्रजापतिकी दुहिता है, (नः हविः प्रति गृह्णीष्व) हमारा हवि तू स्वीकार कर (अस्माकं कामान् पूरय) और हमारी कामनाओंको पूर्ण कर॥ १३॥

भावार्थ-यह एकाष्टका तप करती हुई बडे प्रभाव शाली इन्द्र नामक गर्भको धारण करती है और पश्चात् प्रकट करती है। इस इन्द्रके प्रभावसे शत्रु दूर भाग जाते हैं अथवा पूर्ण परास्त होते हैं। यह शक्तिशाली इन्द्र शत्रुओंका नाशक है॥ १२॥

हे इन्द्रको जन्म देनेवाली! और हे सोमको जन्म देने वाली अष्टके! तू प्रजापतिकी दुहिता है। इस यज्ञमें जो हवि हम अर्पण कर रहे हैं उसका स्वीकार कर और हमारी संपूर्ण इच्छाएं पूर्ण कर॥ १३॥

कामधेनु।

काल अर्थात् समय अथवा वेला, यह एक बडी शक्तिशाली कामधेनु है। यह किस मनुष्यके लिये कामधेनु होती है और किसके लिये नहीं होती, इस विषयमें प्रथम मंत्र का कथन मनन करने योग्य है—

प्रथमा ह व्युवास, सा धेनुरभवद्यमे। (मं० १)

"पहली उषा प्रकाशित हुई है, वही नियमोंका पालन करने वालेके लिये दूध देने-

वाली गौ जैसी होती है।" उषा ही वेलाकी सबसे प्रथम अवस्था है, इस उषासे कालके मापन का प्रारंभ होता है। यह वेला "यम" के लिये ही दूध देने वाली गोमाता बनती है। यह यम कौन है? यम यह है—

यम।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।

योगदर्शन

"अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम हैं।" ये मनुष्यके चालचलनके नियम हैं, इनहीं के साथ "शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरभक्ति ये पांच नियम लगे हैं।" इनका पालन करनेवाला अर्थात् इन नियमोपनियमों के अनुसार अपना आचरण करनेवाला "यम" कहलाता है। नियम से चलनेवाला मनुष्य बडा प्रभावशाली महात्मा होता है, इसी मनुष्य के लिये यह "समय" कामधेनु बनता है। परंतु अनियम से व्यवहार करनेवाले के लिये यह काल भयानक कालरूप बनता है। इसलिये उन्नति चाहनेवाला मनुष्य उत्तम नियमोंके अनुकूल चले, समयका उपयोग उत्तम रीतिसे करे और अभ्युदय तथा निःश्रेयस प्राप्त करके यशका भागी बने। हरएक मनुष्य चाहता है कि—

सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्॥ (मं० १)

"वह काल हमारे लिये उत्तरोत्तर की आयुमें अमृत रस देनेवाला होवे।" यह हरएक की इच्छा रहना स्वाभाविक है, क्योंकि सुख तो हरएकको चाहिये। परंतु बहुत थोडे लोग कालका उपयोग उत्तम रीतिसे करना जानते हैं और यमनियमोंका उत्तम रीतिसे पालन करनेवाले तो उनसे भी थोडे होते हैं। इस लिये हरएक की इच्छा होते हुए भी बहुत से मनुष्यों के लिये काल प्रतिकूल होता है और जो पूर्वोक्त प्रकार यम नियमोंसे अपने आपका आचरण सुयोग्य बनाते हैं, उनके लिये ही यह अनुकूल होता है। पाठक यह नियम सबसे प्रथम ध्यानमें धारण करें, क्योंकि उन्नतिके लिये यह सबसे प्रथम आवश्यक है।

उषासे यह काल प्रारंभ होता है, कालका प्रारंभ उषामें है। सब यह जानते हैं कि उषा से दिन का प्रारंभ होता है, इसलिये कई स्थानोंमें उषाको दिनकी माता कहा है। रात्री प्रायः निद्रामें जाती है इसलिये "नियमोंको आचरणमें लाना, कालका योग्य उपयोग करना" इत्यादि बातें प्रायः दिनके साथ संबंध रखती हैं। रात्रीका सात आठ घण्टोंका समय निद्रामें जाता है, इसको छोड कर जो कार्यका समय अवशिष्ट रहता है,

उसीका सदुपयोग अथवा दुरुपयोग मनुष्य करता है और उन्नत या अवनत होता है ।

एक पूर्ण दिनमें ' दिन और रात्री ' ये दो विभाग हैं । इतने समय के आठ प्रहर होते हैं । आठ प्रहरोंका नाम " अष्टक अथवा अष्टका " है, एक पूरे दिनकी यह " एकाष्टका " है अर्थात् आठ प्रहरोंका समय है । दिनमें चार प्रहर और रात्रीमें चार प्रहर होते हैं, इन सबका मिलकर नाम ' एकाष्टका ' है, यही इस सूक्तकी देवता है । दिनके आठ प्रहरोंका उत्तम उपयोग कैसा करना यह बताना इस सूक्तका उद्देश्य स्पष्ट है । प्रत्येक दिनका योग्य उपयोग होता रहा तो सब आयुका उत्तम उपयोग होगा । सब आयुका यज्ञ करनेका यही तात्पर्य है ।

अंधकारमयी रात्री ।

दिनमें प्रकाश रहता है इसलिये मनुष्य प्रायः निर्भय रहते हैं । रात्रीमें अंधकार होनेके कारण मनुष्य भयभीत होते हैं इसलिये प्रकाशमय दिनके संबंधमें कुछ कथन करनेकी अपेक्षा अंधकार पूर्ण रात्रीके विषयमें ही कुछ कहना आवश्यक होता है, यह कार्य द्वितीयसे चतुर्थतक तीन मंत्रोंद्वारा हुआ है, इन मंत्रोंका आशय यह है--

" देव भयदायिनी अंधकारमयी रात्रीका आनंदसे स्वागत करते हैं, क्योंकि यह रात्री संवत्सर की पत्नी है, वह हम सबके लिये उत्तम मंगल करनेवाली बने (मं० २) । इस रात्रीको संवत्सरकी छोटी प्रतिमा मान कर उसका स्वागत करना चाहिये, वह हमें दीर्घायु प्रजा, धन और पुष्टि देवे (मं० ३) । यही वह है कि जिससे पहली उषा उदित होगई थी, यही इतर वेला विभागोंमें प्रविष्ट होकर चलती है । इस रात्रीमें बडी महिमाएं हैं, यह वीर पुत्रको जन्म देनेवाली कुलवधुके समान यशस्विनी रात्री है (४)।।"

यह भावार्थ इन तीन मंत्रोंका है । इन मंत्रोंमें रात्रीकी भयानकता दूर करके उसकी मंगलमयता बतायी है । जिस रात्रीको साधारण लोग डरावनी मानते हैं, उसीको वेद ऐसी मंगलमयी, अनंत महिमाओंसे युक्त और कुलवधुके समान भावी यशकी सूचक बताता है । सृष्टिकी घटनाओंकी ओर देखनेका यह वेदका पवित्र दृष्टिकोन है । पाठक इसी दृष्टिकोनसे जगत्की ओर देखें और उसमें परमात्माकी महिमा अनुभव करें । जैसा दिनमें प्रकाशमय स्वरूप परमात्माका दिखाई देता है उसी प्रकार रात्रीमें उसीका शांत स्वरूप प्रकट होता है, दिनमें विविधताका अनुभव होता है और रात्रीमें वह विविधता मिट जाती है । इस प्रकार दिनमें और रात्रीमें परमात्माका मंगल स्वरूप देखना चाहिये । यही वेदको अभीष्ट है ।

संवत्सरकी प्रतिमा ।

तृतीयमंत्रमें रात्रीको संवत्सरकी प्रतिमा कहा है। संवत्सर वर्ष का नाम है । वर्ष बडे आकार वाला है उसकी प्रतिमा यह रात्री है। प्रतिमा का अर्थ "प्रति+मान" है अर्थात् मापनेका साधन । दिन रात्री या दोनों मिलकर अहोरात्र संवत्सरका माप करनेका साधन है , दिन से ही वर्ष मापा जाता है । यही रात्री संवत्सरकी पत्नी है । संवत्सर पति है और रात्री उसकी पत्नी है । वार्षिक कालका विशाल रूप संवत्सर है और छोटा रूप दिन या रात्री है । यह रात्री—

सा नो अस्तु सुमंगली । (मं० २)
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण संसृज । (मं०३)
महान्तो अस्यां महिमानो अन्तः । (मं० ४)

"यह रात्री हमें मंगलमयी होवे । यह रात्री हमें धन और पुष्टिके साथ दीर्घायु प्रजा देवे । इस रात्रीमें बडे महिमा हैं ।" यह रात्रीका वर्णन निःसंदेश सत्य है । रात्री सचमुच सुमंगली है । इसी रात्रिमें निद्रासे विश्राम लेते हुए मनुष्य इतना आराम प्राप्त करते हैं कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता और जिसका अनुभव हरएक को है । "जो रात्रीमें रतिक्रिडा करते हैं वे ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं । (प्रश्न उप ० १।१३)"यह उपनिषद्वचन कहता है कि गृहस्थी लोग गृहस्थधर्मके नियम पालन पूर्वक रात्रीकालमें रति करते हुए और उस आश्रमके योग्य आचरण करते हुए भी ब्रह्मचर्य ही पालन करते हैं । इस से उत्तम सुसन्तान उत्पन्न होती है जो दीर्घायु और तेजस्वी भी होती है। इस प्रकार इस रात्रीमें अनेक महिमाएं है और इस कारण रात्री बडी उपकारक है । पाठक इस रीतिसे रात्रीका उपकार देखें और इस रात्रीका स्वागत करें । कई कहेंगे कि रात्रीमें चोरादिकोंका तथा हिंसक प्राणियोंका उपद्रव होता है इसलिये रात्री भयदायक है, तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसी कारण आत्मरक्षाकी शक्ति मनुष्यों में उत्पन्न होती है और उससे धैर्य शौर्य वीर्य पराक्रम आदि गुण बढते हैं । इस दृष्टिसे भी रात्रीके बडे उपकार ही हैं ।

हवन ।

आगे पंचम मंत्रमे पत्थरोंके द्वारा सोम औषधिका रस निकालना और यज्ञमें हवन करनेके लिये हवि तैयार करनेका वर्णन है । षष्ठ मंत्रमें हरएक प्रकारका हवि घीसे पूर्णतया

भिगो कर, घी चूता है ऐसी अवस्थामें हवन सामग्रीकी आहुतियां डालनी चाहिये इत्यादि वर्णन है। यह सब याजकोंके लिये लक्ष्य पूर्वक देखने योग्य है। घीके अंदर हवाका दोष दूर करनेका सामर्थ्य है, इस कारण हवा शुद्धिके लिये हवन इष्टही है। मनुष्य अपने व्यवहारसे अनेक प्रकारके विष हवामें फेंकता है, इस लिये उन रोगोत्पादक विषोंका उपशम करनेके लिये इस प्रकारका हवन करना अत्यंत आवश्यक है। इस प्रकार हवनादि द्वारा वायुकी शुद्धता करनेसे गृहस्थी लोग सुखी, बलवान्, नीरोग और सुप्रजासे युक्त होंगे, यह सूचना पंचम मंत्रके उत्तरार्धमें मिलती है, वह सूचना हरएक गृहस्थीको मनमें धारण करना चाहिये। षष्ठ मंत्रके 'उत्तरार्धमें ग्रामीण सप्त पशु मनुष्योंपर प्रेम करते हुए घरमें रहें' ऐसा कहा है। यह गृहस्थाश्रम का स्वरूप है। गृहस्थके घरमें गाय बैल, घोडे घोडीयां, भेड बकरी आदि पशु और उनके बछडे रहें, यह घरकी शोभा है, इनका उपयोग भी है।

सप्तम मंत्रके द्वितीय भागसे आहुति डालनेवाले चमसका वर्णन करते हुए एक बडे महत्त्व पूर्ण बातका उपदेश किया है। " आहुति देनेवाला चमस पूर्ण भरकर अग्निके पास चला जावे और वहांसे अग्निकी तेजस्विता लेकर वापस आवे और वह हवन करनेवालेकी तेजस्विता बढावे।"

पूर्णा दर्वे परापत, सुपूर्णा पुनरापत। (मं० ७)

" चमस पूर्ण भर कर दान देनेके लिये आगे बढे और वापस आनेके समय भी वहांसे तेज भर कर वापस आवे। " इस में चमसका भरकर जाना और भरकर आना लिखा है। दान देनेके समय चमस भरकर यज्ञके पास जाय और अपनी आहुती दे देवे, दान देनेके समय कंजूसी न की जावे, यह बोध यहां मिलता है। जिस देवताको दान दिया है उस देवता के प्रशंसित गुण उस चमसमें आते हैं, चमस खाली होते ही मानो वह देव अपने गुण उस चमसमें भर देता है। उन गुणोंको ग्रहण करके वह चमस वापस आवे और दानदाताको गुणी बनावे। यह आशय यहां है। इस मंत्रके मननसे पाठक बहुत बोध प्राप्त कर सकते हैं। " यज्ञ " का " दान और आदान " इस मंत्रके मननसे अच्छी प्रकार ज्ञात हो सकता है। " जो अपने पास है वह दूसरोंके हितार्थ दान देना और दूसरोंमें जो श्रेष्ठ गुण हों उनको अपनाना " यह यज्ञका तत्त्व इस मंत्रसे स्पष्ट हो रहा है। पाठक इसका मनन करें।

आगे अष्टम मंत्रका आशय द्वितीय और तृतीय मंत्रोंके आशयके समानही है इस लिये इस मंत्रपर अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

कालका यज्ञ।

नवम और दशम मंत्रोंमें कालके अवयवोंका नामनिर्देश करके उन कालावयवोंका यज्ञ करनेके संबंधमें बडा महत्त्व पूर्ण उपदेश है। (१) मास= महिना। (२) ऋतु= दो मासका समय। (३) आर्तव काल= दो ऋतुओंसे बननेवाला काल, शीत काल, उष्ण काल, वर्षा काल। (४) अयन=तीन ऋतुओंका समय, वर्षके दो अयन होते हैं, दो अयनोंके मानसे गिने हुए वर्षका नाम 'हायन' होता है। (५) समाः-तीस दिनोंका एक मास, ऐसे बारह मासोंका अर्थात् ३६० दिनोंका एक वर्ष "समाः" नामसे प्रसिद्ध है क्योंकि इस प्रकारके वर्षके महिनोंके दिन समसंख्या वाले होते है। (६) संवत्सर- सौर वर्ष, इस वर्षके ३६५ दिन होते हैं, और मासोंके दिनोंमें न्यूनाधिकता होती है। [इसके अतिरिक्त चांद्रवर्ष होता है इसका उल्लेख यहां नहीं किया है उसके दिन ३५४ होते हैं, इसके महिनोंके दिनोंकी संख्या भी न्यूनाधिक होती है]

इस प्रकारका "जो मेरी आयुका काल है वह सब मैं सब भूतोंका पालन करनेवाला जो परमात्मा है उसके लिये समर्पित करता हूं," अर्थात् मेरी आयुका यज्ञ मैं करता हूं। अपनी आयुका विनियोग जनताकी भलाई करनेके कार्यमें करनेका नामही आयुष्यका यज्ञ है। परमात्माका कार्य "सज्जनोंका पालन और दुर्जनोंका दण्डन करना" है। यही जनताके हितका कार्य है, इस कार्यके लिये अपना सर्वस्व तन मन धन अर्पण करना "आत्म यज्ञ" करना ही है। इस प्रकारका अपनी आयुका यज्ञ करनेका उपदेश नवम और दशम मंत्रोंमें है, इसलिये ये मंत्र अत्यंत मनन करने योग्य है।

यज्ञका कार्य।

इन मंत्रोंमें जो यज्ञ करना है वह "(धात्रे, विधात्रे, समृधे, भूतस्य पतये। मं० ९-१०)" धारक, निर्माता, समृद्धिकर्ता, और भूतोंके पालनकर्ताके लिये करना है, अपनी आयु इन कार्योंके कर्ताके लिये समर्पित करना है। (१) जो प्रजाओंका धारण करता है, (२) जो जनताके लिये सुख साधन निर्माण करता है (३) जो जनताकी समृद्धिकी वृद्धि करता है और (४) जो उन सबका पालन करता है उसके कार्यके लिये अपनी आयुका समर्पण करना आत्मयज्ञका तात्पर्य है। अर्थात् प्रजाहितके इतने कार्योंके लिये अपनी आयुका विनियोग करनेका नाम यज्ञ है। इस प्रकारका आत्मयज्ञ जो करते हैं वे लोकोत्तर दिव्य पुरुष सर्वत्र पूजनीय होते है।

ग्यारहवें मंत्रमें यज्ञकाही वर्णन करते हुए कहा है, कि—

अनुभ्यन्तः वयं गृहान् उप संविशेम। (मं० ११)

" लोभ न करते हुए अपने घरमें हम प्रवेश करेंगे। " अर्थात् हम लोभ न करते हुए घरोंमें व्यवहार करेंगे, अथवा हमारे घरोंका वायुमंडल ही ऐसा होगा कि वहां किसीका लोभ या स्वार्थ करनेकी आवश्यकता नहीं होगा। जो लोग अपनी आयुका पूर्वोक्त प्रकार यज्ञ करते हैं उनके घरोंका वायुमंडल ऐसाही होगी इसमें कोई सन्देह नहीं है।

शत्रुनाशक इन्द्र।

बारहवें और तेरहवें मंत्रमें एकाष्टकाके गर्भधारण करनेका और इन्द्र नाम पुत्रको जन्म देनेका वर्णन है। एकाष्टका अहोरात्री है और इसीके गर्भमें सूर्य रहता है और रात्री के प्रसूत होनेपर सूर्य बाहर आता है, जो प्रकाशके शत्रुओंका पूर्ण नाश करता है। जो लोग कालका यज्ञ पूर्वोक्त प्रकार करते हैं उनके प्रयत्नसेभी इन्द्र संज्ञक ऐसा विशाल तेज उत्पन्न होता है कि उससे उनके सब शत्रु परास्त होते हैं। यह वेला बडी महिमाएं अपने अंदर रखती है, इसीका पुत्र (इन्द्र) प्रकाशका उग्र देव है और इसी का पुत्र (सोम) शांतिका देव भी है। (मं० १३)

रात्रीका अथवा उषाका पुत्र सूर्य है, इसीको दिवस्पुत्र भी वेदने कहा है। रात्रीका दूसरा पुत्र चन्द्र है इसीको सोमभी कहते हैं। ये दोनों प्रकाशका फैलाव और अन्धकारका नाश करते हैं और जनताको प्रकाश देते हुए मार्ग बता देते हैं। वेदमें इनका विविध प्रकारसे वर्णन हुआ है और वह बडा बोध प्रद है।

इस से यह बोध लेना होता है कि मनुष्य स्वयं ज्ञान प्राप्त करे और दूसरोंको अपने ज्ञान का प्रकाश देवे। कलानिधि चन्द्रमाके समान मनुष्य भी स्वयं विविध कलाओंमें पूर्ण प्रवीणता संपादन करके स्वयं कलानिधि बन दूसरोंको कलाओं का अर्थात् हुनरोंका ज्ञान देकर जनताकी उन्नति करे। माताएं अपने संतानों को इस प्रकार की शिक्षा देकर बालकोंकी पूर्ण उन्नति करें।

यह इसकी महिमा जान कर प्रत्येक मनुष्य इस सूक्तके उपदेश के अनुसार अपनी आयुका उत्तम यज्ञ करे और यशका भागी बने।

(यहां द्वितीय अनुवाक समाप्त।)

दशम वर्षका ॐ इतिवृत ।

स्वाध्याय मंडल.



स्वाध्यायमंडल आश्रम ।

द्वारा

प्रकाशित

पुस्तकों का सूचीपत्र.

मंत्री- स्वाध्याय मंडल, औंध. (जि. सातारा)

ॐ

स्वाध्याय मंडल।

औंध (जि. सातारा)



स्वाध्याय मंडलके कर्मचारी गण।

स्वाध्याय मंडल का उद्देश्य

(१) वेदोंका स्वाध्याय करना और कराना।

(२) वैदिक शब्दोंके मूल अर्थ की खोज करना।

(३) मूल वेदोंका अर्थ मूल वेदोंके आधारसे करना।

(४) लोगों में वैदिक धर्म की जागृति करना।

(५) वैदिक धर्म के सुबोध ग्रंथ प्रसिद्ध करना।

(६) वैदिक धर्मकेसाथ अन्य धर्मग्रंथोंकी तुलना करना।

(७) वैदिक धर्मकेसाथअन्यमत ग्रंथोंकी तुलना करना।

(८) वैदिक दृष्टीसे गाथाओंका अर्थ निश्चित करना।

(९) प्रचलित युरोपीयन मतकी समालोचना करना।

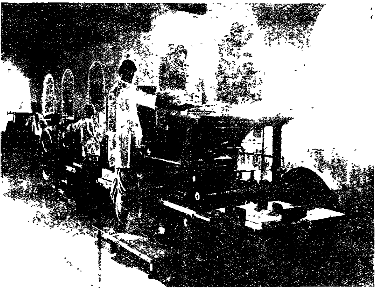
(१०) प्रतिपक्षियोंके आक्षेपोंका सप्रमाण उत्तर देना।

ये स्वाध्याय मंडल के उद्देश्य हैं और इसी दृष्टिसे आज दसवर्ष इस मंडलका कार्य चल रहा है, जिसका वृत्त इस लेखद्वारा प्रसिद्ध किया जाता है। आशा है कि वैदिक धर्मके प्रेमी इस कार्यको बढानेके लिये सहायता देंगे।

औंध (जि. सातारा) १ जनवरी १९२८ — श्रीपाद दामोदर सातवळेकर. स्वाध्याय मंडल, औंध

स्वाध्याय मंडल।

"वेदका पढना पढाना, सुनना सुनाना, सब आर्योंका परम धर्म है।"



भारत मुद्रणालय का छपाई कार्यालय।

नाम

(१) नाम=इस संस्थाका नाम 'स्वाध्याय मंडल' है।

उद्देश।

(२) उद्देश-- (पूर्वस्थानमें दिये है।)

कार्यक्षेत्र।

(३) कार्यक्षेत्र=उक्त उद्देशोंके अनुसार वैदिक तत्त्वज्ञान और वैदिक धर्मके सुबोध ग्रंथ प्रचलित अनेक भाषाओंमें प्रसिद्ध करना तथा वेदके पठन पाठनके लिये उचित सहायता और उत्तेजना देना।

स्वाध्याय मंडलका व्यय।

(४) स्वाध्याय-मंडल का व्यय=पुस्तक प्रकाशन में लाभकी आशा न करनेके कारण, स्वाध्याय मंडल के व्यय आदिके लिये, उदार चित्त 'दानी महाशयों की उदारता' परही विश्वास रखा है। आशा है कि धनिक लोग स्वयं द्रव्यकी सहायता करेंगे और दूसरे लोग सहायता करवायेंगे।

सदस्यों के नियम।

प्रतिपालक वर्ग।

(५) स्वा० मंडलके प्रतिपालक=जो धनिक पांच सौ रु० अथवा अधिक धनराशी स्वा० मंडलको दान देंगे, वे स्वा० मंडलके "प्रतिपालक" हो सकते है इनको "स्वाध्याय-मण्डल" के सब पुस्तक मिलेंगे

पोषकवर्ग।

(६) स्वाध्याय मंडलके पोषक = जो धनिक सौ रु० अथवा अधिक धनराशी स्वाध्याय मंडलको दान देंगे वे स्वाध्याय मंडल के " पोषक " हो सकते है। इनको वह सब पुस्तक भेंटके रूपमें मिलेंगे कि जो इनकी रकम आने के पश्चात् मुद्रित होंगे।

[इस वर्ष बीस रु. से अधिक मूल्यके पुस्तक इस वर्ग के सदस्योंको भेजे गये है।]

सहायकवर्ग।

(७) सहायक = जो यथाशक्ति द्रव्यकी सहायता करेंगे वे स्वाध्याय मंडलके " सहायक " हो सकते हैं।

स्थिर सहायक वर्ग।

(८) स्थिर-सहायक=जो २५, ५०, १००, अथवा अधिक रु. स्वाध्याय मंडलके पास अनामत रखेंगे वे "स्थिर सहायक" होंगे। (दो वर्षके पश्चात् जिस समय चाहे उस समय इनका धन वापस हो सकता है।)

[इनको तथा सहायक वर्ग के सदस्योंको उनकी रकमके हिसाबसे क्रमशः २, ४॥, और १०, रु. के पुतस्क (डाकव्यय समेत) प्रतिवर्ष भेंट किये जांयगे। अर्थात् डाकव्यय इन के जिम्मे होगा। इस वर्ग के सदस्य सालके अन्तमें अपनी रुचि के अनुसार जो चाहे सो पुस्तकें चुनकर भी ले सकते हैं।]

मासिक सहायता।

(९) मासिक-सहायक=जो प्रतिमास यथाशक्ति सहायता करेंगे वे 'मासिक-सहायक' होंगे।

[इनको भी सब ग्रंथ प्राप्त धनके अनुसार मिलते रहेंगे।]

सूचना।

सूचना = सहायक, स्थिर सहायक, तथा मासिक सहायक आदिकोंको उनकी रकम प्राप्त होनेके अनुसार स्वा० मं० के पुस्तक मिलेंगे।

सबको उचित है कि वे स्वा० मंडलके पुस्तक स्वयं पठन करें, इन पुस्तकोंका प्रचार करनेमें सहायता करें और उक्त प्रकारके पालक, पोषक, सहायक आदिकों की संख्या बढानेमें सहायता दें। क्यों कि आर्थिक सहायताके विना 'स्वाध्याय-मंडल' का कार्य चल नही सकता।

वार्षिकवृत्त

(१०) वार्षिकवृत्त= स्वाध्याय मंडलका वार्षिक वृत्त प्रतिवर्ष प्रसिद्ध होगा, जिसमें स्वाध्याय मंडल के सब कार्य का विवरण आदि प्रकाशित होगा।

प्राप्तिपत्र।

(११) प्राप्ति प्रत्र=प्रत्येक दानका प्राप्तिपत्र स्वाध्याय मंडलसे दानी महाशयके पास पहुंचेगा। तथा वार्षिकवृत्तमें उसका उल्लेख रहेगा।

पुस्तक विक्रीके नियम।

(१२) उधार पुस्तक देना बंद किया है। सब पुस्तक वी. पी द्वारा ही भेजे जाते हैं, अथवा पेशगी मूल्य आनेपर रजिस्ट्री डाकसे भेजे जाते है। पैकिंग अच्छा करनेका विशेष ख्याल किया जाता है।

कमिशन

(१३) कमिशन – व्योपारियों के लिये निम्न प्रकार कमिशन दिया जाता है –

१०० रु. के पुस्तकोंपर	२०	फी	सेकडा
५० ,,	१५	,,	,,
२५ ,,	१०	,,	,,
१० ,,	५	,,	,,

दस रु० से कम रकमकी पुस्तकें मंगवाने वालों को कमिशन नहीं मिलेगा।

कमिशन नहीं मिलेगा।

(१४) वैदिक धर्म, पुरुषार्थ, महाभारत, संस्कृत पाठमाला, तथा संस्कृत स्वयंशिक्षक इन मासिकों पर कमिशन नहीं मिलेगा, क्यों कि इनका मूल्य पहिले से ही न्यून से न्यून रखा है।

डाकव्यय का अनुमान।

(१५) प्रायः एक रुपयेके मूल्यके पुस्तकों के लिये दो या तीन आने डाक व्यय लगता है। किसी अवस्था में कुछ न्यून वा अधिक भी होता है। परंतु साधारण अनुमान यही है। पुस्तकों का जो मूल्य इस सूचीपत्र में लिखा है वह डाकव्यय के विना है। वी. पी. मंगवाने वालों को पुस्तकों के मूल्य के अतिरिक्त उक्त हिसाब से डाकव्यय देना पडेगा। परंतु जो मनी आर्डरसे दाम पेशगी भेजेंगे, उनको डाकव्यय माफ होगा। मूल्य पेशगी भेजनेवालों को इतना लाभ है। पुस्तकें मंगवाने के समय ग्राहक इस सहूलियतसे लाभ उठावें। किसी कारण भी वी. पी. मंगानेवालों को डाकव्यय माफ नहीं होगा।

दूसरे के नाम पर

(१६) कोई महाशय दूसरेके नामपर वी. पी. भेजनेको न लिखें। हमारा अनुभव है कि इस प्रकार की वी पी. यां स्वीकृत नहीं होतीं। इस लिये ऐसी वी. पी. आगे नहीं भेजी जायगी।

बदलेमें पुस्तक

(१७) बदलेमें पुस्तक नहीं दिये जाते, क्यों कि उनकी बिक्री करनेका साधन यहां नहीं है।

पेशगी मूल्य भेजनेसे लाभ।

(१८) पेशगी मूल्य भेजने से लाभ = जो लोग ५) पांच अथवा अधिक रु. की पुस्तकें, पुस्तकों का सब मूल्य पेशगी म. आ. द्वारा भेजकर मंगवा-येंगे, उनको उक्त कमिशनके अतिरिक्त पांच फी सेकडा कमिशन अधिक मिलेगा और डाक व्यय माफ होगा। पांच रु. से कम मूल्य की पुस्तकें मंगवानेवालों को यह लाभ नहीं होगा।

ध्यान दीजिये।

वी. पी. मंगवाकर लोग वापस करते हैं, इससे बहुत नुकसान उठाना पडता है, इसलिये म.आ. से पेशगी मूल्य भेजने वालोंको ही उक्त सहूलियत दी है। वी. पी. से पुस्तकें मंगवाने वालोंको यह लाभ नहीं होगा। अर्थात् वी. पी. से मंगाने वालोंको डाकव्यय देना पडेगा। पुस्तकें मंगवाने के समय ग्राहक इस बातका विचार अवश्य करें।

(१९) एक रु.से कम मूल्यकी पुस्तकें वी.पी.से मंगवाने में डाकव्यय दुगना देना पडता है। अतः १) एक रु. से कम मूल्य की पुस्तकें मंगवानी होंगी तो ब्रिटिश पोष्टके टिकट भेजकर मंगवाने में लाभ है। उदाहरण=)दो आनेकी पुस्तक पर वी.पी. व्यय ।-) पांच आने लगता है और एक रु. के पुस्तकों पर भी ।-) लगता है। पुस्तकें मंगवाने वाले इसका अवश्य विचार करें।

(२०) पत्र व्यवहार कृपया संस्कृत, हिंदी या आर्य भाषा, मराठी या अंग्रेजी में कीजिये। अन्य भाषाओंके पत्र यहां पढे नहीं जाते।

(२१) वापस आई हुई पुस्तकें पुनः मंगवानी होंगी तो डाकव्यय दुगना देना पडेगा।

(२२) एक समय भेजी हुई पुस्तकें पुनः किसी भी कारण से वापस नहीं ली जायगी।

नियम परिवर्तन।

उक्त नियमोंमें परिवर्तन करनेका अधिकार स्थानिक कार्यकारी मंडलको होगा। परंतु स्वा० मंडल-की उन्नतिके लिये सब सभासद अपनी सूचनाएं मंडलके पास भेज सकते हैं, जिनका निःपक्षपातसे विचार कर के योग्य सूचनाका अवश्य स्वीकार किया जायगा।

औंध, जि. सातारा } श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
१जनवरी १९२८ } स्वाध्याय मंडल, औंध

[स्वाध्याय मंडल द्वारा प्रकाशित ।]

वैदिक धर्म के ग्रंथ

१ आगम निबंध माला ।

वेद अनंत विद्याओंका समुद्र है । इस वेद समुद्रका मंथन करनेसे अनेक " ज्ञान रत्न " प्राप्त होते हैं, इन रत्नों की यह माला है ।

(१) वैदिक-राज्य पद्धति । मू. ।-)
(२) मानवी आयुष्य मू. ।)
(३) वैदिक सभ्यता मू. ।।।)
(४) वैदिक चिकित्सा शास्त्र । मू. ।=)
(५) वैदिक स्वराज्यकी महिमा । मू. ।।)
(६) वैदिक सर्पविद्या । मू. ।।)
(७) मृत्युको दूर करनेका उपाय । मू. ।।)
(८) वेदमें चर्खा । मू. ।।)
(९) शिवसंकल्प विजय । मू. ।।।)
(१०) वैदिक धर्मकी विशेषता । मू. ।।)
(११) तर्कसे वेदका अर्थ । मू. ।।)
(१२) वेदमें रोग जंतु शास्त्र । मू. ≡)
(१३) ब्रह्मचर्यका विघ्न । मू. =)
(१४) वेदमें लोहेके कारखाने । मू. ।-)
(१५) वेदमें कृषिविद्या । मू. ≡)
(१६) वैदिक जल विद्या । मू. =)
(१७) आत्मशक्तिका विकास । मू. ।-)
(१८) वैदिक उपदेश माला । मू. ।।)
(१९) इन्द्र शक्तिका विकास मू. ।।)

२ धर्म शिक्षा के ग्रंथ

बालक और बालिकाओंकी पाठशालाओंमें "धर्म शिक्षा " की पढाईके लिये तथा घरोंमें बालबच्चोंकी धार्मिक पढाईके लिये ये ग्रंथ विशेष रीतिसे तैय्यार किये हैं ।

(१) बालकोंकी धर्म-शिक्षा.

प्रथमभाग, प्रथम श्रेणीकी धर्म शिक्षा के लिये । मू. -)

(२) बालकों की धर्म-शिक्षा

द्वितीय भाग । द्वितीय श्रेणीकी धर्म शिक्षा के लिये । मू. =) दो आने ।

(३) वैदिक पाठमाला

प्रथम पुस्तक । तृतीय श्रेणीकी धर्म शिक्षा के लिये । मू. ≡)

अन्य श्रेणीयोंके लिये पुस्तक तैयार हो रहेहैं ।

[३] योगसाधन माला.

" योग साधन " का अनुष्ठान करनेसे शारीरिक आरोग्य, इंद्रियोंकी स्वाधीनता, मानसिक शक्तिका उत्कर्ष, बुद्धिका विकास और आत्मिक बलकी प्राप्ति होना संभव है। इसलिये यह " योग-साधन " हर-एक मनुष्यको करने योग्य है।

१ संध्योपासना.

योग की दृष्टिसे संध्या करनेकी प्रक्रिया इस पुस्तक मे लिखी है। मू० १॥) डेढ. रु०

२ संध्याका अनुष्ठान।

(यह पुस्तक पूर्वोक्त " संध्योपासना " में संमि-लित है,इस लिये"संध्योपासना"लेनेवालों को इसके लेनेकी आवश्यकता नहीं है।) मू०॥)आठ आने।

३ वैदिक प्राण विद्या।

प्राणायाम करनेके समय जिस प्रकार " मनकी भावना " रखनी चाहिये, उसका वर्णन इस पुस्तक में है। मू.१) एक रु.

४ ब्रह्मचर्य.

इस पुस्तकमें " अथर्व वेदीय ब्रह्मचर्य सूक्त" का विवरण है। ब्रह्मचर्य साधनके योगासन तथा वीर्य-रक्षण के अनुभवसिद्ध उपाय इस पुस्तक में दिये है। यह पुस्तक "सचित्र" है। इसमे लिखे नियमों के अनुसार आचरण करनेसे थोडेही दिनोंमें वीर्य स्थिर होनेका अनुभव निःसन्देह होता है। मू०१।) सवा रु.

५ योग साधन की तैयारी.

जो सज्जन योगाभ्याससे अपनी उन्नति करना चाहते हें, उनको अपनी तैयारी किस प्रकार करनी चाहिये इस विषयकी सब बातें इस पुस्तकमें लिखी है। मू. १) एक रु.।

६ आसन।

इसमें उपयोगी आसनों का वर्णन चित्रोंके समेत दिया है। मू. २) रु.

७ सूर्यभेदन व्यायाम

(सचित्र) बलवर्धक योगके व्यायाम। मू. ॥।)

" योग साधन " के अन्य पुस्तक छप रहे हैं मुद्रित होतेही सूचना दी जायगी।

[४] यजुर्वेदका स्वाध्याय.

१ यजुर्वेद अ० ३० की व्याख्या।

" नर मेध " मनुष्योंकी उन्नतिका सच्चा साधन। वैदिक नरमेध कितना उपयोगी है, इस विषयका ज्ञान इस पुस्तकके पढनेसे हो सकता है। मू० १)एक रु

२ यजुर्वेद अ० ३२ की व्याख्या।

"सर्वमेध" एक ईश्वर की उपासना। य.अ ३२ में एक ईश्वरकी स्पष्ट कल्पना बताई है। मू. ॥)

३ यजुर्वेद अ० ३६ की व्याख्या

" शांति करण" सच्ची शांति का सच्चा उपाय। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और जगत् में सच्ची शांति कैसी स्थापन की जा सकती है, इसके वैदिक उपाय इस पुस्तक में देखिये। मूल्य ॥=)

५ उपनिषद् ग्रंथ माला।

तत्त्वज्ञान के भंडारमें " उपनिषद् ग्रंथ " अमूल्य ग्रंथ हैं। तत्त्वज्ञान की अंतिम सीमा इन ग्रंथोंमें पाठक अनुभव कर सकते है। जीवनके समय ये ग्रंथ उच्च तत्त्वज्ञान के द्वारा सदाचार की शिक्षा देते हैं। और मृत्युके समय अमृतमय शांति प्रदान करते हैं। हरएक मनुष्यके लिये इन ग्रंथोंका पठन, मनन और अधिक विचार करनेकी अत्यंत आवश्यकता है।

१ ईश उपनिषद्।

इस पुस्तक में ईश उपनिषद्की व्याख्या है। मू. ॥।≈

२ केन उपनिषद्।

इस पुस्तकमें केन उपनिषद् का अर्थ और स्पष्टीकरण, अथर्ववेदीय केन सूक्त की व्याख्या और देवी भागवतकी कथाकी संगति बता दी है। उमा, यक्ष, आदि शब्दोंके अर्थ वैदिक प्रमाणोंसे निश्चित करके बताया है, कि उनका स्थान आध्यात्मिक भूमिकामें कहां है और उसकी प्राप्तिका उपाय क्या है।

मू. १।) रु.

६ देवता-परिचय ग्रंथ-माला।

" वैदिक देवता " ओंका सूक्ष्मज्ञान होनेके विन वेदका मनन होना असंभव है, इसलिये इस ग्रंथमालामें "देवताओंका परिचय" करानेका यत्न किया है। पुस्तकोंके नामोंसेही पुस्तकोंके विषयका बोध हो सकता है –

१ रुद्र देवताका परिचय। मू. ॥)

२ ऋग्वेदमें रुद्र देवता। मू. ॥≈)

३ ३३ देवताओंका विचार। मू. ≡)

४ देवता विचार। मू. ≡)

५ वैदिक अग्निविद्या। मू. १॥)

"अन्य" देवताओंका विचार और परिचय कराने वाले ग्रंथ तैयार हुए हैं, शीघ्रही मुद्रित होंगे।

७ ब्राह्मण बोध माला।

१ शत-पथ-बोधामृत। मू० ।)

६

८ स्वयं-शिक्षक-माला।

१ वेदका स्वयं शिक्षक।

प्रथम भाग। मूल्य, १॥) डेढ रु०

२ वेदका स्वयं शिक्षक।

(द्वितीय भाग मू. १॥) डेढ रु०।

वैदिक यज्ञ संस्था।

प्रथम भाग। मूल्य १) रु. डाकव्यय ।)

इस पुस्तक में निम्न लिखित विषयों का विचार हुआ है--

प्राचीन संस्कृत निबंध।

१-३ पिष्ट-पशुमीमांसा। लघु-पुरोडाश-मीमांसा।

भाषाके लेख। (ले०-श्री०-पं० बुद्धदेवजी)

४ दर्श और पौर्णमास, ५ अद्भुत कुमार संभव। (ले० -श्री० पं० चंद्रमणिजी) ६ बुद्ध के यज्ञ विषयक विचार (संपादकीय) ७ यज्ञका महत्त्व, ८ यज्ञका क्षेत्र, ९ यज्ञका गूढ तत्त्व, १० औषधियोंका महामख, (ले०-श्री०पं० धर्मदेवजी) ११ वैदिक यज्ञ और पशु-हिंसा। (ले०- श्री० पं० पुरुषोत्तम लालजी) १२ क्या वेदोंमें यज्ञों में पशुओंका बलि करना लिखा है?

वैदिक यज्ञ संस्था। द्वितीय भाग। मूल्य १) रु. डा. व्य. ।)

इस द्वितीयभागमें निम्नलिखित विषयोंका विचार हुआ है- (ले०-श्री पं. देवशर्माजी विद्यालंकार)

भारतवर्षमें यज्ञकी कमी, यज्ञकी महिमा, यज्ञसे जो चाहे सो प्राप्त कर लो, यज्ञपुरुष का वर्णन, हवन प्रक्रिया, यज्ञशेष और उच्छेष, राजसूय, विश्वजित, अश्वमेध, गोमेध, सर्वमेध, वाजपेय, पंचमहायज्ञ, यज्ञ संसारकी नाभि है।

पं. बुद्धदेवजी लिखित=संज्ञपन और अवदान।

संपादकीय=नरमेध का वैदिक तात्पर्य।

इतने विषयोंका विचार इस पुस्तकमें हुआ है। प्रत्येक विषयके प्रतिपादनके लिये वेदके अनेक प्रमाण दिये है और विषयका प्रतिपादन अति सुगम है। मूल्य १) डा. व्य. ।)

वैदिक यज्ञ संस्था। तृतीय भाग।

गोमेध।

इस पुस्तकमें निम्न लिखित विषयोंका विचार हुआ है—

यागमें गोमांस, प्रकरणानुकूल अर्थ विचार, ऋषिपंचमी, वेदका महासिद्धान्त, यज्ञकी पूर्व और उत्तरवेदी, मधुपर्क, कलिवर्ज्य प्रकरण, बृहदारण्यक का वचन, गौके वैदिक नाम, गोमेधका विचार, चरक की साक्षी, विवाहमें गोमांस, अतिथिके लिये गौ, यज्ञमें मांस, अन्य यज्ञ, वेदमे अहिंसा, अवध्य गौ और बैल, यज्ञका तत्त्व, गौको खाना।

गोमेधके दो सूक्तोंका सरल अर्थ, गौका दान, गौ दान लेने का अधिकारी, रक्षक और पालक, गौका महत्त्व, राष्ट्ररक्षक गौ, गौके लिये सोमरस, सबकी माता गौ।

इत्यादि अनेक विषय इसमें आगये हैं। हरएक विषयका प्रतिपादन करनेके लिये अनेक वेदमंत्रोंके प्रमाण दिये हैं। जो कहते है कि "वैदिक समयमें गोमांस भक्षण की प्रथा थी," उनके लिये यह उत्तम उत्तर है। यह पुस्तक पढनेके पश्चात् उक्त विषयमें कोई शंका नही रहेगी।

मूल्य १) रु. डा. व्यय ।-)

स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

अग्नि विद्या।

इस पुस्तक में निम्न लिखित विषय हैं।

१ अग्नि शब्दका भाव, २ अग्निके पर्याय शब्द, ३ पहिला मानव अग्नि, ४ वृषभ और धेनु, ५अंगिरा ऋषि, ६ वैश्वानर अग्नि, ७ ब्राह्मण और क्षत्रिय, ८ जनता का केन्द्र, ९ सब धन संघका है,१० बुद्धिमें पहिला अग्नि, ११ मनुष्यमे अग्नि, १२ मर्त्योंमें अमर अग्नि,१३वाणीमें अग्नि,१४पुरोहित अग्नि,१५शक्ति प्रदाता अग्नि, १६ हस्त-पाद-हीन गुह्य अग्नि, १७ वृद्ध नागरिक,१८मूकमें वाचाल, १९अनेकों का प्रेरक एक देव, २० जीवनाग्नि, २१ अग्निकी दस बहिनें, २२ देवोंके साथ रहनेवाला अग्नि, २३ यज्ञका झंडा, २४ गुहा निवासी अग्नि, २५ सात संख्याका गुह्य तत्त्व, २६ तनूनपात् अग्नि, २७ यज्ञ पुरुष, यज्ञशाला, मंदिर (चित्र), २८ परमाग्नि, २९ अग्नि सूक्त का अर्थ और व्याख्या।

हर एक विषयको सिद्ध करने के लिये वेद के विपुल प्रमाण दिये हैं। इस पुस्तकके पढने से अग्नि विद्या की वैदिक कल्पना ठीक प्रकार ज्ञात हो सकती है। मूल्य १॥) रु. डाकव्यय।) है

'केन' उपनिषद्!

इस पुस्तकमें निम्न लिखित विषयोंका विचार हुआ है-

१ केन उपनिषद्का मनन, २ उपनिषद् ज्ञान का महत्त्व, ३ उपनिषद् का अर्थ, ४ सांप्रदायिक झगडे, ५ 'केन' शब्द का महत्त्व, ६ वेदान्त, ७ उपनिषदों में ज्ञान का विकास, ८ अग्नि शब्दका भाव, ९ उपनिषद्के अंग, १० शांतिमंत्रोंका विचार, ११ तीनों शांति मंत्रों में तत्त्वज्ञान, १२ तीन शांतियोंका भाव, १३ ईश और केन उपनिषद्, १४ "यक्ष" कौन है? १५ हैमवती उमा, १६ पार्वती कौन है? १७ पर्वत, पार्वती, रुद्र, सप्तऋषि और अरुंधती, १८ इंद्र कौन है? १९ उपनिषद् का अर्थ और व्याख्या, २० अथर्ववेदीय केनसूक्तका अर्थ और व्याख्या, २१ व्यष्टी, समष्टी और परमेष्टी, २२ त्रिलोकी, २३ अथर्वाका सिर, २४ ब्रह्मज्ञानी की आयुष्यमर्यादा, २५ ब्रह्मनगरी, अयोध्या, आठ चक्र, २६ आत्मवान् यक्ष, २७ अपनी राजधानीमें ब्रह्मका प्रवेश, २८ देवी भागवत में देवी की कथा, २९ वेदका वागांभृणी सूक्त, इंद्र सूक्त, वैकुंठ सूक्त, अथर्व सूक्त, ३० शाक्तमत, देव और देवताकी एकता, ३१ वैदिक ज्ञान की श्रेष्ठता।

इतने विषय इस पुस्तक में आगये हैं इस लिये उपनिषदोंका विचार करनेवालों के लिये यह पुस्तक अवश्य पढने योग्य है। मूल्य १।) रु. डाकव्यय =) है।

स्वाध्याय मंडल, औंध. (जि. सातारा)

संस्कृत पाठ माला।

[स्वयं संस्कृत सीखने का अत्यंत सुगम उपाय।]

हरएक आर्यका कर्तव्य है कि वह संस्कृत भाषा सीखे और वेद तथा आर्ष शास्त्र स्वयं पढे, उसका मनन करे और प्रचार करे।

यह कर्तव्य तबतक ठीक रीतिसे पालन नही हो सकता, जबतक संस्कृत सीखनेके सुगम साधन निर्माण नही हुए हों। इस कठिनता का हम गत दस वर्षोंसे मनन कर रहे हैं। इन वर्षोंमें हमने अनेक प्रयत्न किये, छोटे और बडे विद्यार्थियोंको भिन्न भिन्न रीतियोंसे पढा कर अनुभव लिया और इतने अनुभव का और मननका निचोड इन पुस्तकोंमें संगृहित किया है। इसी लिये ये पुस्तक अत्यंत सुगम और सबके उपयोगी सिद्ध होगये है।

ये पुस्तक हमने छः से दस वर्षोंके बालकों और बालिकाओंको पढाये और अनुभव लिया, कि ये छोटे बालक पहिले महिनेसे ही छोटे छोटे वाक्य संस्कृत मे बोलने लगते है और इन पुस्तकों की पढाई करना उनके लिये एक बडा आनंद का कार्य हो जाता है!! इसी प्रकार स्त्रियों और पुरुषोंके लिये भी ये पुस्तक अत्यंत लाभकारी सिद्ध हुए है।

इसी लिये आपसे निवेदन है कि आप इन पुस्तकों की सूचना अपने समाजके अन्य सभासदों, सदस्यों और प्रेमी भद्र पुरुषोंको दीजिये। हर एक आर्य भाई अवश्य संस्कृत सीखे। कईयों को अबतक पता नही है कि ऐसी सुगम पुस्तकें बनी है। इस लिये आप यथा संभव जितनोंको इन पुस्तकों की सूचना दे सकते है दीजिये, ताकि आपकी प्रेरणा द्वारा वहां के भद्रपुरुष संस्कृत के अभिज्ञ बनें।

आप अपने समाजके अधिवेशनोंमे इसकी घोषणा दीजिये और ऐसी व्यवस्था कीजिये कि आपके स्थान पर अधिक से अधिक मनुष्य संस्कृत पढनेवाले बने।

हरएक की सुविधा के लिये इस संस्कृत पाठ-मालाके बारह पुस्तकों का मूल्य म० आ० से केवल ३ तीन रु रखा है। वी. पी. से. ४ रु० होगा। इस लिये ग्राहक म० आ० से ही ३) रु. भेजें, वी. पी. से मंगवाने पर उनका व्यर्थ नुकसान होगा।

आशा है कि आप इस संस्कृत के प्रचार के लिये इतनी सहायता देंगे।

जहां अन्य स्थानोंमें सहस्रों मनुष्य इन पुस्तकों से लाभ उठा रहे हैं, वहां आपके परिचित मनुष्य क्यों वंचित रहे?

इस लिये इन पुस्तकों की सूचना आप अधिक से अधिक मनुष्योंतक पहुंचानेकी कृपा कीजिये।

संस्कृत पाठमाला के अध्ययन से लाभ।

(१) अपना कामधंदा करते हुए फुरसत के समय आप किसी दूसरेकी सहायता के बिना इन पुस्तकोंको पढकर अपना संस्कृत का ज्ञान बढा सकते हैं।

(२) प्रतिदिन घंटा अथवा आध घंटा पढनेसे एक वर्षके अंदर आप रामायण महाभारत समझने की योग्यता प्राप्त कर सकते हैं।

(३) पुस्तक अत्यंत सुगम हैं। बिना नियमों को कंठ किये आपका संस्कृत भाषामें प्रवेश हो सकता है।

(४) घरमें पुत्रों, पुत्रियों और स्त्रियोंको इन पुस्तकों का पढना और पढाना अत्यंत सुगम है। इन पुस्तकोंके पठनसे आपके घर के सब मनुष्य संस्कृत जाननेवाले हो सकते हैं।

(५) पाठशालामें जानेवाले विद्यार्थी इन पुस्तकों से बडा लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

यदि आपके मनमे संस्कृत सीखनेकी इच्छा है तो आप इन पुस्तकों के ग्राहक बन जाइये।

संस्कृत पाठ माला.

[चोवीस भागोंमें सब संस्कृत की पढाई हो गई है।]

बारह पुस्तकोंका मूल्य म. आ. से ३) और वी. पी. से ४)

चोवीस पुस्तकोंका मूल्य म. आ. से ६) रु. और वी. पी. से ७)

प्रतिभाग का मूल्य ।-) पांच आने और डा. व्य. -) एक आना।

अत्यंत सुगम रीतिसे संस्कृत भाषाका अध्ययन करनेकी अपूर्व पद्धति।

इस पद्धतिकी विशेषता यह है--

१ प्रथम द्वितीय और तृतीय भाग।
इन तीन भागोंमें संस्कृत भाषाके साथ साधारण परिचय करा दिया गया है।

२ चतुर्थ भाग।
इस चतुर्थ भागमें संधि विचार बताया है।

३ पंचम और षष्ठ भाग।
इन दो भागोंमें संस्कृतके साथ विशेष परिचय कराया गया है।

४ सप्तम से दशम भाग।
इन चार भागोंमें पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसक लिंगी नामोंके रूप बनानेकी विधि बताई है।

५ एकादश भाग।
इस भागमें "सर्वनाम' के रूप बताये हैं।

६ द्वादश भाग।
इस भागमें समासों का विचार किया है।

७ तेरहसे अठारहवें भाग तक के छः भाग।
इन छः भागों में क्रियापद विचार की पाठविधि बताई है।

८ उन्नीससे चौवीसवें भागतकके छः भाग।
इन छः भागोंमें वेदके साथ परिचय कराया है।

अर्थात् जो लोग इस पद्धतिसे अध्ययन करेंगे उन को अल्प परिश्रमसे बडा लाभ हो सकता है।

स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

इन्द्र शक्तिका विकास।

मनुष्य मात्र में इन्द्रशक्ति है, परंतु वह इतनी जाग्रत नहीं है। उसको जाग्रत करना और विकसित करना योगानुष्ठानोंसे साध्य होता है। उसके निर्देश वेद और उपनिषदोंमें अनेक हैं। इनकी संगति लगाकर अपने अंदर इन्द्रशक्तिका संवर्धन करनेकी अनुष्ठानपद्धति इसमें दर्शायी है। जो लोग इसपुस्तक का मनन करेंगे उनको इसके अनुष्ठानकी कल्पना ठीक रीतिसे हो सकती है। यह अनुष्ठान सुगम है, इसलिये प्रायः सभी मनुष्य कर सकते हैं। इस पुस्तक में निम्न लिखित विषयों का विचार हुआ है--

मनुष्य जीवन का उद्देश्य, अपने अंदर की शक्तियां, अपने अंदरकी इन्द्रशक्ति, इन्द्र और स्वर्ग, इन्द्रके गुण धर्म, इन्द्रशक्ति के विकास के चिन्ह, इन्द्र तत्त्व सूर्य में है, सब शक्तियोंका मूल स्रोत, मनुष्य का ध्येय, अभ्युदय, मृत्यु और अमरत्व, इन्द्र और वृत्रका युद्ध।

इन्द्र शक्ति का घातक खानपान, इन्द्र और मरुत, प्राणायाम की पूर्व तैयारी, आसन और प्राणायाम प्रयत्नसे इन्द्र शक्तिका वर्धन, पिता और पुत्र, ऋतुओंका साक्षात्कार।

इन्द्र शक्तिका वर्धक खान पान, अनुष्ठानका तत्त्व, वैदिक विकासवाद, वैदिक संकोचवाद, संकोच विकास का स्वरूप, बीज प्रदाता ईश्वर देवोंका प्रवेश मार्ग (चित्र), गर्भ प्रकरण, संपूर्ण तेजों का तेज, आत्माकी मुक्ति, आठ चक्र और नंदनवन, चक्र व्यूहमें प्रवेश।

पुरुषार्थका अवसर, शरीर में देवताओंका निवास, (चित्र) अपनी आत्मशक्तिका ध्यान, अपने अंदर, ३३ देवताओं का निवास, उनका अपने अंदर अनुभव, उन्नतिका उपाय, दो मार्ग, प्रकाशका मार्ग, अनुष्ठान।

इस प्रकार यह पुस्तक अनुष्ठान करनेवाले महाशयोंके लिये बडा उपयोगी है।

मूल्य ॥) और डाक व्यय =) है।

छूत और अछूत।

अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ! अत्यन्त उपयोगी!!

इसमें निम्न लिखित विषयों का विचार हुआ है,

१ छूत अछूत के सामान्य कारण,
२ छूत अछूत किस कारण उत्पन्न हुई और किस प्रकार बढी,
३ छूत अछूत के विषयमें पूर्व आचार्योंका मत,
४ वेद मंत्रों का समताका मननीय उपदेश,
५ वेदमें बताए हुए उद्योग धंदे,
६ वैदिक धर्मके अनुकूल शूद्रका लक्षण,
७ गुणकर्मानुसार वर्ण व्यवस्था,
८ एक ही वंशमें चार वर्णों की उत्पत्ति,
९ शूद्रोंकी अछूत किस कारण आधुनिक है,
१० धर्मसूत्रकारोंकी उदार आज्ञा,
११ वैदिक कालकी उदारता,
१२ महाभारत और रामायण समयकी उदारता
१३ आधुनिक कालकी संकुचित अवस्था।

इस पुस्तकमें हरएक कथन श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास, धर्मसूत्र आदि के प्रमाणोंसे सिद्ध किया गया है। यह छूत अछूत का प्रश्न इस समय अति महत्त्वका प्रश्न है और इस प्रश्नका विचार इस पुस्तक में पूर्णतया किया है।

प्रथम भाग मू. १) डा. व्य. =)
द्वितीय भाग मू. ॥) ,, =)

वेदोंका शुद्ध मुद्रण।

यजुर्वेद।

दैनिक स्वाध्याय के लिये वेदोंकी चारों संहिताओं का, उपलब्ध शाखा संहिताओंके साथ, शुद्ध मुद्रण करनेका संकल्प किया है। इस कार्य के लिये श्रीमान् महाराजा साहेब औंध नरेशजी से पांच सहस्र रु० दान भी गतवर्ष प्राप्त हुआ था। उक्त दान प्राप्त होते ही यजुर्वेदका मुद्रण शुरू किया जो इस समय तैयार हो चुका है। इसके तैयार करनेके लिये जहां जहां शुक्लयजुर्वेदी माध्यन्दिन शाखीय विद्वान ब्राह्मणोंके स्थान थे वहांसे उनके पाससे शुद्ध हस्त लिखित ग्रंथ मंगवाये। उनकी पडताल करनेसे मंत्रपाठका निश्चय किया। इस पडताल से अबतक छपे ग्रंथोंकी अनेक अशुद्धियोंका पता लगा। इतना करनेपर भी जहां पाठनिश्चय केवल पुस्तकों द्वारा तथा भाष्योंके मनन से भी न हो सका, वहां का पाठनिश्चय घनान्त वेदपाठी विद्वान ब्राह्मणोंके वेद-पाठ श्रवण करके और स्थान स्थान के ब्रह्मवृंदों से पूंछ कर किया है। इस प्रकार बडे परिश्रमसे इस यजुर्वेद का मुद्रण किया है।

शुक्लयजुर्वेद की काण्व और वाजसनेयी ये दो शाखा संहिताएं हैं। यह वाजसनेयी शाखा संहिता का मुद्रण है। इसीके समान काण्व शाखा की संहिता है। जिस के मंत्रपाठमें कुछ भिन्नता है। परंतु संहिता का क्रम इसीके समान है। अध्याय ४० ही हैं, परंतु कुछ मंत्र आगे पीछे हैं। दोनों की तुलना करना स्वाध्याय के लिये अत्यावश्यक है, इसलिये विस्तारपूर्वक इस काण्व संहिताके पाठभेद मुद्रित किये हैं।

ये पाठभेद देनेके समय प्रतिपृष्ठपर काण्वशाखा का अध्याय दर्शाया है। साथ साथ दशक दिये हैं। अनुवाक बताये हैं। एक ओर वाजसनेयी संहिता के मंत्रांक दिये है। वहां ही मंत्रोंका प्रारंभ दिया है। जितना मंत्रभाग भिन्न है उतनाही उसके आगे दिया है और दूसरी ओर काण्वसंहिता का मंत्रांक दिया है। इससे पाठक थोडेसे अवलोकन से जान सकते है कि एक संहिताका एक मंत्र दूसरी संहिता में कहां है और किस रूपमें है। स्वाध्याय के लिये यह अत्यंत आवश्यक है।

तत्पश्चात् अध्यायक्रमसे और अकारादिक्रमसे ऋषि और देवता सूचियां दी हैं। इसके पश्चात् अध्यायक्रमसे विषयसूची भी दी है। इससे स्वाध्यायशील पाठकोंको स्वाध्याय करनेके लिये बहुत सहायता मिल सकती है।

इसका नमूना पृष्ठ इस पृष्ठके साथ साथ दिया है। इस से पाठक जान सकते हैं कि इसमें कैसे अलग अलग मंत्र दिये हैं, किसी प्रकार भी मंत्रोंकी संकीर्णता नहीं है। एक एक मंत्र खुला और स्पष्ट मुद्रित हुआ है। पाठक इस स्वाध्याय की सुविधाका अनुभव करें और इस पुस्तक का संग्रह करें।

पाठकों की सुविधाके लिये मूल्य अल्पही रखा है-

यजुर्वेद विना जिल्द	१।।)	रु. डा. व्य.।=)
कपडा और कागजकी जिल्द	२)	" " ।।)
पूर्णकपडेकी जिल्द	२।।)	" " "
पूर्णरेशीम की जिल्द	३)	" " "

तपसे स्वाहा तप्यते स्वाहा तप्यमानाय स्वाहा तप्ताय स्वाहा घर्माय स्वाहा।
निष्कृत्यै स्वाहा प्रायश्चित्यै स्वाहा भेषजाय स्वाहा ॥ १२ ॥

यमाय स्वाहान्तकाय स्वाहा मृत्यवे स्वाहा।
ब्रह्मणे स्वाहा ब्रह्महत्यायै स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा
द्यावापृथिवीभ्याᳬं स्वाहा ॥ १३ ॥ [१९५८]

इत्येकोनचत्वारिंशोऽध्यायः।

अथ चत्वारिंशोऽध्यायः।

ईशा वास्यमिदᳬं सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥ १ ॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतᳬं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

असुर्या नाम ते लोका ऽअन्धेन तमसावृताः।
ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ ३ ॥

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा ऽआप्नुवन्पूर्वमर्शत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥ ४ ॥

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५ ॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति ॥ ६ ॥

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक ऽएकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरᳬं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

आसनों का चित्रपट।

आसनों का व्यायाम लेनेसे सहस्त्रों मनुष्योंका स्वास्थ्य सुधर चुका है। इस लिये आसन व्यायामसे स्वास्थ्य लाभ होनेके विषयमें अब किसी को संदेह ही नहीं रहा है। अतः लोग सब आसनोंके एक ही कागज पर छपे हुए चित्रपट बहुत दिनोंसे मांग रहे थे। वैसे चित्रपट अब मुद्रित किये हैं। २०--३० इंच कागज पर सब आसन दिखाई दिये गये हैं। यह चित्रपट कमरे में दिवार पर लगाकर उस के चित्रोंको देख कर आसन करनेकी बहुत सुविधा अब हो गई है।

मूल्य केवल ≈) तीन आने और डाक व्यय –) एक आना है।

वेदका स्वयं शिक्षक!

प्रथम और द्वितीय भाग।

ये अत्यंत सुगम रीतिसे वेदमें प्रवेश करानेवाले पुस्तक हैं। जो पाठक प्रतिदिन आधा घण्टा इन के अध्ययन के लिये देंगे, उनका प्रवेश वेदके भव्यमंदिरमें सुगमतासे हो सकता है। इतने सुबोध पुस्तक अबतक तैयार नहीं हुए हैं। इस समय दो भाग तैयार हैं। प्रत्येक भाग का मूल्य १॥) डेढ रु. और डाकव्यय तीन आने ≈) है।

स्वाध्याय मंडल – औंध, जि. (सातारा)

मराठी पुस्तकें.

पुरुषार्थ ग्रंथ माला.

१ संध्या [उपासना]

मराठी अर्थासह, किं० १ आणा. व ट. ख. १ आणा.
संध्या हा 'ध्यानयोग' च आहे व तो विशिष्ट भावना मनांत स्थिर करीत गेल्यानेंच सिद्ध होणार आहे अशा रीतिनें संध्या करतां यावी म्हणूनच या पुस्तकामध्यें संध्येचे मूळ वेदमंत्र दिले असून त्या खाली त्या मंत्रांचें सरळ मराठी भाषांतर दिलें आहे, हें भाषांतर वाचलें असतां मंत्र म्हणतेवेळीं संध्या करतांना जी भावना मनांत धरणें अवश्य आहे तिचें सहज ज्ञान होईल व अशा रीतिनें संध्या करीत गेल्यास हरएकास आपली ऐहिक व पारमार्थिक उन्नति सहज साध्य करून घेतां येईल.

२ सूर्यास नमस्कार.

(ले०-श्री० बाळासाहेब पंत, बी. ए. प्रतिनिधि सं. औंध)

या पुस्तकांत नमस्कारांच्या व्यायामाची सचित्र पद्धति दिली आहे. सुमारें दीड तप न चुकतां दररोज स्वत: श्रीमंतांनीं या पद्धतिनें नमस्कारांचा व्यायाम घेतला. अशा अनुभवानें या व्यायामाची श्रेष्ठता स्वतः पाहिल्यानंतर श्रीमंतांनी औंध संस्थाना मध्यें सर्व शाळांतून हा नमस्कारांचा व्यायाम अवश्य केला. त्यामुळें सर्व साधारणपणें सर्व मुलांवर इष्ट परिणाम झाल्याचें दिसून आलें. इतक्या अनुभवानंतर हें पुस्तक श्रीमंतांनी लिहिलें आहे. म्हणून त्याची श्रेष्ठता सहज समजेल. कि ४ आणे, ट. ख. १ आणा.

नमस्कारांचा सचित्र तक्ता.

(२० + ३० इंच म्ह०) सुमारें सवा हात रुंद व पावणेदोन हात लांब अशा कागदावर समंत्रक नमस्कारांचीं २५ नांवें क्रमानें छापली आहेत व वर उगवत्या सूर्याचें प्रेक्षणीय चित्र दिलें आहे व नमस्कार घालण्याची रीति दाखवणारी चित्रेंही क्रमानें दिली आहेत. किंमत २ आणे, ट ख. एक आणा.

३ मनुष्याचें आयुष्य.

मनुष्याचें आयुष्य किती आहे, ते वाढवतां येतें कीं नाहीं, वाढवतां येत असल्यास तें कोणत्या उपायांनी वाढवतां येतें, पूर्वी कोणी या उपायांनी आपलें आयुष्य वाढवलें होतें की काय; पूर्वी या देशांत कोणी कसे व किती आपलें आयुष्य वाढवलें. आज आपणांस आमचें आयुष्य कोणत्या उपायांनी वाढवतां येईल, इत्यादि विषयांचें विवेचन शास्त्रीय प्रमाणांसह या पुस्तकांत आहे कि ३ आणे ट. ख १ आणा.

४ स्वधर्माची ओळख.

यांत स्वधर्माची ओळख पटविणारे लेख आहेत. हें पुस्तक वाचलें असतां आपल्या धर्माची उत्तम माहिती होईल. किं० ४ आणे. ट. ख.१ आणा.

५ वैदिक संस्कृतीचें स्वरूप

या पुस्तकामध्यें वैदिक संस्कृतीचें स्वरूप, दिव्य ऋषींचें दर्शन, शिक्षणाचें ध्येय, स्वराज्याची पात्रता, प्राचीन हिंदुस्थानांतील स्वराज्य वगैरे विषयांचें विवरण आहे. हें पुस्तक वाचलें असतां आर्यांच्या प्राचीन संस्कृतीची उत्कृष्ट कल्पना होऊं शकते.

किं० ४ आणे, ट. ख. १ आणा.

६ सूर्यभेदन व्यायाम (मराठी)

खात्रीनें आरोग्य, बल व आयुष्य वाढवणारा योगासनांचा व्यायाम. किंमत. ६ आणे ट. ख. १ आणा.

७-१० आरोग्यासाठीं योगसाधन.

प्रथम, द्वितीय, तृतीय व चतुर्थ भाग.

प्रत्येक भागाची किंमत आठ आणे;प्रत्येकीट.ख.२आणे.

या पुस्तकांत मनुष्याच्या आरोग्य साधनासाठीं योगसाधनाच्या जेवढ्या भागांचा विचार करणें आवश्यक आहे तेवढा अगदीं सुबोध रीतिनें केला आहे.

या पुस्तकामध्यें आरोग्यासाठी योगसाधन कसें करावें तें दाखवलें आहे. शरीराच्या आरोग्यासाठी आवश्यक असणारी आसनें यांमध्यें सचित्र दिलीं असून, त्या संबंधी भरपूर माहिती दिलेली आहे. या शिवाय ही आसनें करण्यापासून कोणास कसा फायदा झाला तें त्यांच्याच शब्दांत दिलें आहे. यांतील आसनें केल्यानें मनुष्यास रोगाची बाधा होणार नाही.

आसनांचा चित्रपट.

भिंतीवर टांगून त्याकडे पाहत आसनांचा व्यायाम घेणें फार सोईचें होतें.२० । ३० इंच आकाराच्या उत्तम जाड कागदावर सर्व आसनें दाखवलीं आहेत. आसनांचा अभ्यास करणारांनी हा चित्रपट लवकर मागवावा. किंमत तीन आणे. व. ट. ख. १आणा.

पुरुषार्थाचे कायमचे वर्गणीदार.

जे लोक पुरुषार्थ-मासिकाला कायमचे वर्गणीदार होऊं इच्छितील त्यांनी एकवेळ पंचवीस रु०पुरुषार्थ कचेरीत भरावे, म्हणजे ते कायमचे वर्गणीदार होतील व पुढें केव्हांही त्यांस वर्गणी भरावी लागणार नाहीं. पुरुषार्थाचा आकार वाढून जरी वर्गणी वाढली तरी त्यांस याच देणगीवर सतत "पुरुषार्थ" मासिक मिळत जाईल.

पुरुषार्थ मासिकाची वार्षिक वर्गणी म. आ. नें २ रु० व वी. पी. नें २॥ रु. नमुन्याचा अंक मागवा.

मराठी

संस्कृत स्वयं शिक्षक.

स्वाध्याय मंडलांतून प्रसिद्ध

झालेलीं हिंदी पुस्तकें.

यजुर्वेद वाजसनेयी संहिता.

उपलब्ध शाखासंहितांसह चारही वेदांचें मुद्रण करावें असा आमचा मनोदय पुष्कळ दिवसांपासून होता या पवित्र कार्यास श्रीमंत महाराज सरकार बाळासाहेब पंत प्रतिनिधि सं० औंध, यांनी पांच हजार रु. ची उदार देणगी गेल्यावर्षी दिली. त्यावेळेपासून यजुर्वेदाच्या वाजसनेयी माध्यंदिन शुक्ल संहितेचें मुद्रण चालू केलें. तें आतां पूर्ण झालें आहे या संहितेची शुद्ध प्रत तयार करण्यासाठी ज्या ज्या ठिकाणी माध्यन्दिन यजुर्वेदी ब्राह्मण आहेत तेथून अनेक जुन्या हस्तलिखित पोथ्या आणवून त्यांचे पाठ तपासून शुद्ध पाठ तयार केले व जेथें आजपर्यंत छापलेल्या पोथ्यांमध्यें व हस्तलिखित पोथ्यांमध्यें पाठभेद आढळला व ज्या पाठभेदाचा निर्णय भाष्यादिकांच्या सहाय्यानेंही होऊं शकला नाही त्यांचा निश्चय घनपाठी विद्वान ब्राह्मणांकडून करवून घेतला. या कामी काशी, ग्वालेर, त्र्यंबकेश्वर अहमदनगर वगैरे ठिकाणच्या ब्रह्मवृंदांनी आपल्या पोथ्या देऊन व पाठभेद निश्चित करण्यास मदत करून आम्हांस बरेंच सहाय्य केलें व त्यांच्याच मदतीनें ही संहिता छापणें शक्य झालें. इतक्यांच्या एकवटलेल्या संघटित प्रयत्नानें या संहितेचें मुद्रण केलें असल्यामुळें हें आजपर्यंत छापलेल्या सर्व पुस्तकांत अधिक निर्दोष आहे असें म्हणण्यास हरकत नाही.

यामध्यें प्रत्येक मंत्र अगदी सुटा असा छापलेला आहे त्यामुळे मंत्र वाचण्यास फार सोपें जातें. आजपर्यंत छापलेल्या पोथ्यांमध्यें पदच्छेदाकडे फारसें लक्ष्य पुरवलेले नाही. तो दोष या पुस्तकामध्यें आम्ही ठेवलेला नाही व जेथें जसें पद पाडलें पाहिजे तेथें तें तसेंच दाखवलें आहे.

शुक्लयजुर्वेदाच्या काण्व व वाजसनेयी अशा दोन संहिता सारख्या आहेत. मंत्रांमध्यें कांही पाठभेद, मंत्रांचा क्रमभेद असे थोडे भेद आहेत. ते दाखवण्यासाठी या पुस्तकांत स्वतंत्र एक परिशिष्ट जोडलेलें आहे. पानाच्या डाव्या बाजूस वाजसनेयी संहितेचे मंत्रांक व उजव्या बाजूस काण्वसंहितेचे मंत्रांक दिलेले आहेत आणि मध्यें पाठभेद दिलेले आहेत. या व्यवस्थेमुळें एका संहितेमधील अमुक मंत्र दुसऱ्या संहितेंत कोठें आहे तें चटकन समजतें व तेथें असलेल्या पाठभेदाचेंही ज्ञान होतें. यामुळें हे एक पुस्तक घेतल्यानें काण्व व वाजसनेयी या दोनही संहिता घेतल्याचें श्रेय येतें. इतकें शुद्ध व उत्तम मुद्रण करून इतकें स्वस्त पुस्तक आजपर्यंत कोणीही दिलेलें नाही. यांत पुढें लिहिल्या प्रमाणे प्रकरणें आली आहेत—

१ विस्तृत प्रस्तावना	पृष्ठें १——८
२ वाजसनेयी संहिता	१—१७०
३ काण्वसंहिता पाठविशेष	१७१—२०२
४ सूची—	
अकारादिक्रमानें ऋषिसूची	२०३—२०६
अध्याय " "	२०७—२१४
" " देवतासूची	२१५—२२७
अकारादिक्रमानें देवतासूची	२२८—२३६
विषयसूची-	२३७—२३९

या प्रमाणें योजना यामध्यें केलेली आहे. यामुळें हें पुस्तक सर्वांस फारच उपयोगी असें झालें आहे. सर्वांस सांईचें व्हावें म्हणून किंमत फारच कमी ठेवली आहे.

साधी बांधणी-किंमत	१॥ रु. ट. ख०	।=
कागदी "	" २ "	" ।॥.
कापडी "	" २॥ "	" ।॥.
रेशमी "	" ३ "	" ।॥.

ज्यांनां जसें पुस्तक पाहिजे असेल त्यांनीं तसें मागवावें. वी. पी. नें चार आणे अधिक बसतील.

स्वाध्याय मंडलका दशम वर्षका कार्य।

स्वाध्याय मंडलके दशम वर्षका कार्यवृत्त पाठकोंके सन्मुख रखा जाता है। इस वर्ष कुछ विशेष कार्य हुए हैं जो पाठकोंके सन्मुख रखने में हमें विशेष आनंद हो रहा है।

वेदोंका मुद्रण।

वेदोंका अच्छा और शुद्ध मुद्रण करने की इच्छा हमारे मनमें बहुत दिनोंसे थी, परंतु इसकी पूर्तिके साथ धन का संबंध होनेके कारण यह इच्छा बहुत देर तक कार्य रूपमें परिणत न हो सकी। गत वर्ष कुछ आर्थिक सहायता मिली थी, इस कारण वेदोंके मुद्रण का विषय फिर मन में जाग्रत हुआ और वेद मुद्रण का कार्य शुरू किया गया। और इस वर्ष "यजुर्वेद" छापकर ग्राहकोंके सन्मुख रख दिया है। यजुर्वेद ही पहले मुद्रित करनेका कारण इतना ही था कि अन्य संहिताओंके पुस्तक इसकी अपेक्षा कई गुणा बडे हैं। इसलिये उनपर छपाई के लिये बहुत व्यय होगा। इस कारण यह छोटीसी संहिता सबसे पहले मुद्रण के लिये ली, जो पाठकों के सन्मुख इस समय रखी है।

इस संहिता के मुद्रण के लिये हमसे जितना परिश्रम हो सकता था, पूर्ण रीतिसे किया गया। हस्तलिखित ग्रंथ स्थान स्थान से एकत्रित किये, संपूर्ण मुद्रित ग्रंथ लाये गये, उनकी तुलनासे पाठभेदोंका निश्चय किया और जहां संदेह हुआ वहां वेदपाठी विद्वान ब्राह्मणोंकी सहायतासे पाठनिश्चय किया। कई मास इसीमें व्यतीत हुए इतने परिश्रमसे इसका पाठ शुद्ध होने के पश्चात् मुद्रण किया गया।

इस समय तक जितने यजुर्वेद वाजसनेयी संहिता के मुद्रित ग्रंथ हैं उन सबसे अधिक शुद्ध यह पुस्तक है, इतना ही हम इस विषय में कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त शब्दोंका पदच्छेद, मंत्रसमाप्तिकी चरणरेखा आदिकी शुद्धता के विषय में भी इस पुस्तक में पाठक अधिक निर्दोषता का अनुभव करेंगे।

मंत्रोंकी देवता और मंत्रों के ऋषि भी इस समयतक अशुद्ध छपे थे। यहां तक कि "वसुश्रुत" के स्थानपर 'सुश्रुत' ही कई पुस्तकोंमे छपा था। इस विषयकी शुद्धता भी इस पुस्तक में पाठक देखेंगे।

"वाजसनेयी संहिता" के समान ही "काण्व संहिता" है। दोनों संहिताओं में कुच्छ पाठ भेद और थोडासा मंत्रक्रम का भेद है, शेष संहिता एक जैसी ही है। इस लिये जो पाठक संहिताका विशेष अध्ययन करना चाहते है उनको दोनों संहिताओं के पाठ भेद एक ही पुस्तक में मिलना लाभकारी है। इस कारण इस पुस्तक में काण्व संहिता के पाठ-विशेष ऐसी सुबोध रीतिसे दिये हैं कि थोडे ही प्रयत्नसे पाठक जान सकते है कि एक संहिताका मंत्र दूसरी संहितामें कहां और किस रूपमें है। इसलिये यह एक पुस्तक लेनेसे ही दोनों संहिता-ओंके पुस्तक लेनेका श्रेय मिल सकता है। किसी भी अन्य पुस्तक में यह सुविधा नहीं है।

इस में प्रत्येक मंत्र अलग अलग मुद्रित किया है इस लिये हम कह सकते हैं कि नित्य पाठ के लिये इस के समान कोई पुस्तक नहीं है।

यजुर्वेद की अन्य संहिताएं।

यजुर्वेद की अन्य संहिताओंका भी मुद्रण करना है, परंतु उस कार्यकी आवश्यक सिद्धता इस समय तक नहीं हुई है। इस समय—

यजुर्वेद की पादानुक्रमणिका।

मुद्रणके लिये लिखी है। यजुर्वेदकी पादानुक्रमणिका इस समय तक किसी भी स्थानमें छपी नहीं है। पादानुक्रमणिकाके विना संहिताका पठन कठिन होता है। किसी समय मंत्रका द्वितीय तृतीय और चतुर्थ पाद कहां है यह देखना हो, तो मंत्रारंभ की अनुक्रमणिकासे वह काम नहीं हो सकता। इसलिये मंत्रपादोंकी अनुक्रमणिका की उपयोगिता स्वयं सिद्ध है।

यजुर्वेद का सर्वानुक्रम।

यजुर्वेद सर्वानुक्रमसे मंत्रोंके ऋषि देवता का निश्चय होता है। इस लिये इसका मुद्रण शुरू किया है। इसके नीचे टिप्पणी ऐसे ढंगसे दी है कि जिसको देखनेसे संस्कृत न जाननेवाला मनुष्य भी मंत्रोंके

ृषि और देवता जान सकता है। इस दृष्टिसे यह
थ अपूर्व लाभदायी निश्चयसे होगा।

अथर्व वेद।

अथर्व वेद की संहिता का मुद्रण करनेका कार्य
ने हाथ में लिया है। इस संहिताके शुद्ध पाठ का
स्तक छपनेके लिये तैयार हुआ है। इस में अथर्व-
दीय पिप्पलाद संहिताके पाठ विशेष देनेका वि-
ार है, जिससे दोनों संहिताओंकी तुलना पाठक
ढते पढते कर सकते हैं। अथर्व वेद के वेदपाठी
स समय नहीं हैं, जो अथर्व वेदी ब्राह्मण हैं उन्होंने
थर्व वेद का कंठ करना मुदत से छोड दिया है।
स लिये जो सुविधा ऋग्यजु साम वेदों के पाठ
िश्चय करनेमें मिल सकती है वह सुविधा अथर्व
द के लिये नहीं मिल सकती। इस कारण अथर्व
ाठ विशेष का निश्चय केवल उपलब्ध ग्रंथों से ही
रना चाहिये। वैसा ही किया जा रहा है। अथर्व
द की पिप्पलाद संहिता कश्मीरी लिपीमें जर्मनीमें
ोंके पोटोकी शकल में मिलती है। परंतु वह
हुत स्थानपर खंडित है अर्थात् पूर्ण मंत्र या पूर्ण
क्त कई स्थलोंमें नहीं हैं। बडा प्रयत्न करनेपर भी
ामूलाग्र शुद्ध पिप्पलाद संहिता नहीं प्राप्त हुई।
तः इसके संबंध में जो ग्रंथ मिले है उन की ही
हायतासे हमने कार्य शुरू किया है। पाठ निश्चय
ाते ही मुद्रण शुरू किया जायगा।

यह अथर्व वेद संहिता यजुर्वेद के तीन गुणा
डी है इस कारण इसकी छपाई पूर्ण होने के
ये देरी भी अवश्य लगेगी।

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

गत वर्षमें " अथर्ववेदका सुबोध भाष्य " प्रारंभ
िया गया था। प्रारंभमें हम वैदिकधर्म मासिकमें
सके थोडे पृष्ठ ही देते थे, परंतु यह भाष्य पाठ
ाने बहुत पसंद किया और बहुतोंने इस को शीघ्र
र्ण करनेकी प्रेरणा की, इस लिये अब इसके
र्ण मुद्रणका प्रबंध किया है। इस समय तक इस
अथर्ववेद के दो काण्ड मुद्रित होचुके हैं और तृतीय
ाण्ड का मुद्रण इस समय चल रहा है। यह भाष्य
बिलकुल नये ढंगसे लिखा गया है और वेदका गूढ
आशय सुबोध और स्पष्ट शब्दोंमें प्रकट करनेका
यत्न इसमें हो रहा है। इस लिये जो पाठक इसको
पढते हैं वे इसकी सुबोधता के कारण सहज ही में
वेदाशयको समझ लेते हैं और वैदिक ज्ञान के मह-
त्वका अनुभव करते हैं। जो पाठक इन ग्रंथोंको पढेंगे
उनको इनकी विशेषता का वर्णन करनेकी आवश्य-
कता नहीं है।

पुरुष मेध।

बहुत पाठक पुरुषमेध उत्तरार्धको पढना चाहते
हैं। कई वर्षोंके पूर्व " पुरुषमेध पूर्वार्ध " छपचुका,
पश्चात् उत्तरार्ध लिखनेके लिये समय ही नहीं मिला।
अब इस कार्यके लिये समय निकालकर इस उत्त-
रार्धका लेख तैयार किया है। इस समय इसका
मुद्रण हो रहा है। पुरुष मेध उत्तरार्ध यजुर्वेद अ०
३१ की व्याख्या ही है। यह प्रकाशित होनेसे पुरुष
मेध प्रकरण का ज्ञान पाठकोंको उत्तम रीतिसे हो
सकता है। जो लोग " मेध " में हिंसा की आव-
श्यकता समझते हैं वे इस पुरुषमेध प्रकरण को
(यजुर्वेद अ० ३० और ३१ की व्याख्या को) अव-
श्य पढें। इसके पढनेसे पाठकोंका निश्चय होगा कि
पुरुषमेध प्रकरण मानवी उन्नतिकी वैदिक पद्धति
बता रहा है। हिंसाका इसमें कोई संबंध नहीं है।

महाभारत।

महाभारत का मुद्रण करीब आधा हो चुका है।
द्रोण पर्व समाप्त होते ही आधा महाभारत हो जायगा।
इस ग्रंथ के मुद्रण करनेसे वेदाभ्यासी सज्जनोंको
एक लाभ हो सकता है वह यह है कि, वृत्रादिकी
जो कथाएं वेदों और ब्राह्मणोंमेंसे पौराणिकोंने लीं
और उनमें उन कथाओंका विस्तार किया, उसका
वास्तविक स्वरूप केवल महाभारत के अध्ययनसे
ही प्रकट हो सकता है। महाभारतकार की प्रतिज्ञा
ही है कि उन्होंने वेदका ही अर्थ इस अपूर्व ढंगसे
बताया है। हम यह बात वेद और महाभारत की
तुलना करके ढूंढ रहे हैं और जो बातें हमारी इस
अन्वेषणासे निश्चित रूपमें हमारे सन्मुख उपस्थित
होचुकी हैं, वे वैदिक तत्त्वज्ञानपर अपूर्वही प्रकाश
डालती हैं। महाभारत समालोचनाके आगेके भागों

में हम क्रमशः इन बातोंका विचार करेंगे ।

आर्थिक सहायता ।

जो कार्य ऊपर दिये हैं और जो हाथमें लिये हैं उनकी पूर्ती के लिये धन की कितनी आवश्यकता है, इसका विचार पाठक ही करें, और जो उचित सहायता की जा सकती है अवश्य करें। हमारे सामने प्रतिदिन यदि कोई कष्ट है तो आर्थिक कष्ट ही है। यदि पाठक अपनी अनुकूलता के अनुसार हमारी सहायता करेंगे, तो हम भविष्यमें इससे भी अधिक कार्य करके दिखा देंगे। परंतु यही आर्थिक कठिनता रही तो कार्यका विस्तार करना कठिन है। जो लोग वेदोंके अन्वेषण करनेके कार्य का महत्त्व जानते हैं, और जिनको इस कार्यपर होनेवाले आवश्यक व्यय की कल्पना है, उनको चेतावनी देने की आवश्यकता ही नहीं है, परंतु जो लोग इसके व्यय की कल्पना नहीं कर सकते उनको भी चेतावनी देनेकी आवश्यकता नहीं है।

वेदके अन्वेषण का कार्य इतना विस्तीर्ण है कि जिसपर लाखों रु० का व्यय भी थोडाही हो सकता है। ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य का थोडासा मासिक व्यय भी नहीं भुगता जाता, यह आजकी अवस्था है। फिर इस कार्यका विस्तार करनेकी बात तो बडी दूर की है।

संपूर्ण वेद संहिताओंका मुद्रण, वेद समन्वय का बनाना, ब्राह्मण ग्रंथोंका उत्तम मुद्रण और उन ग्रंथोंकी सूचियां बनाना ये कार्य प्रत्येकमें लाखों रु०का व्यय चाहते हैं। वेदोंका अनुशीलन तो इनके बननेके पश्चात का विषय है। पाठक विचार कर सकते हैं कि इनमेंसे कौनसा कार्य पूर्ण करने की उनकी तैयारी है। वेदका आन्दोलन और अनुशीलन यदि होना चाहिये ऐसा आपका मत है तो आपको उचित है कि आप अपनेसे जितनी हो सकती है, उतनी आर्थिक सहायता इस कार्यकी पूर्ति के लिये करें।

ग्राहक बढाइये ।

यदि पाठक वैदिक धर्म, महाभारत, तथा अन्यान्य पुस्तकोंका प्रचार करनेमें सहायता देंगे, अर्थात ग्राहक संख्या बढाकर हमारी सहायता करेंगे, तो भी बडीही सहायता हो सकती है। जो धन इस समय पुस्तकोंके रूपमें रुका रहता है, यदि वह रुका न रहेगा, तो भी आगेका कार्य करनेके लिये ब[ड़ी] सहायता हो सकती है। इसलिये पाठकोंसे हमा[रा] सानुरोध प्रार्थना है कि वे स्वाध्यायमण्डल द्वा[रा] प्रकाशित पुस्तकोंके प्रचार करनेमें हमें सहायता दे[ं] इससे धार्मिक ग्रंथोंका प्रचार होगा और हमें [भी] सहायता अनायाससे प्राप्त होगी।

दान द्वारा सहायता करनेवाले सज्जन उचि[त] दान देके सहायता करें, और अन्य सज्जन ग्राह[क] बढाने द्वारा सहायता करें। ऐसा करनेसे यह का[र्य] बहुत बढ सकता है।

पोषक वर्ग

जो सज्जन स्वाध्याय मंडल को सौ रु० अथ[वा] अधिक रकम दान देंगे, उनको स्वाध्याय मंडल[के] पुस्तक जो उनका दान प्राप्त होनेके पश्चात् मुद्रि[त] होंगे, विना मूल्य भेंट किये जाते हैं। सौ रु० दा[न] करनेवालोंको इस वर्षतक करीब तीन चौथ[ाई] रकमके पुस्तक पंहुच चुके हैं और थोडे ही सम[य] के अंदर उनके दान दिये सब रकमके पुस्तक उन[को] प्राप्त हो जांयगे। और पश्चात् भी उनको स्वा०मंड[ल] के पुस्तक मिलते ही रहेंगे। इस प्रकार जो सज्ज[न] पोषक वर्ग का सौ रु० चंदा एकवार भेजेंगे उन[का] लाभ निःसंदेह है। पांच सात वर्षोंमें उनको प्रायः[स] रकम के पुस्तक मिल जांयगे और आगे जो पुस्त[क] प्रकाशित होंगे, मिलते ही रहेंगे। इसलिये पाठ[क]से निवेदन है कि वे अपना नाम पोषकवर्ग में दा[खि]ल करनेका यत्न करें। इससे स्वाध्याय मंडल [को] भी सहायता होगी और उनका भी लाभ होगा।

जो सज्जन पोषक वर्ग का पूर्ण चंदा भेजक[र] स्वाध्याय मंडल के पोषक बनेंगे, उनको पूर्व मुद्रि[त] पुस्तक उचित कमिशन काटकर मिलेंगे। यह [भी] एक उनका लाभ है।

जो सज्जन इस समय पोषक वर्ग में हैं, यदि [वे] अपने मित्रोंको स्वा० मंडल के पोषक बननेक[ी] प्रेरणा करेंगे तो वे भी पोषक वर्गकी संख्या ब[ढा] सकते हैं। इस प्रकार की थोडी थोडी सहायता चार[ों] ओर से होने लगी तो यहांका कार्य ठीक प्रका[र] चल सकता है।

कर्जा ।

गत वर्ष तेईस हजार रु. कर्जाथा, इस वर्ष इक्कीस हजार रु० रहा है। इस प्रकार पूर्ण कर्जा हटनेके लिये आठ दस वर्ष लगेंगे। परंतु ये ही दस वर्ष विशेष कार्य करने के है। दस वर्षों के पश्चात् कार्य करने की शक्ति आयुके प्रमाण से न्यून ही होगी। इस लिये पाठकोंसे निवेदन है कि वे इस समय योग्य सहायता करने द्वारा स्वाध्याय मंडल को कर्जमुक्त करें जिससे हम कुछ अधिक स्वतंत्र हो कर अधिक कार्य कर सकते है। यदि धर्म के प्रेमी धनिक पुरुष इसका योग्य विचार करेंगे ते इस प्रश्नका हल हो जाना कोई अशक्य बात नही है।

आगे के लिये हमने निश्चय ही किया है कि कोई ऐसा कार्य करना ही नहीं कि जिसके लिये कर्जा करने की आवश्यकता हो। यदि कर्जा करने के विना काय न चलता हो तो उस को बंद ही करना। परंतु पहले उत्साह के समय जो कर्जा हुआ वह उतरने ही नही पाता है, इस लिये जो पाठक इस बातमें हमारी सहायता कर सकते हैं वे इस समय अवश्य सहायता करें। एकवार कर्जा उतर जानेपर कोई नया कर्जा करना ही नहीं है, इसलिये यह फिर उत्पन्न ही नही होगा। परंतु पूर्वका बना हुआ निपटना अवश्य है।

इक्कीस हजारके कर्जेमें से करीब दस हजार रु. का कर्जा तो स्वयं उतरनेवाला है; क्यों कि वह प्रायः ग्राहकोंका चंदा ही है। परंतु अन्य ग्यारह हजार रु० का कर्जा ही है जो उतारनेका विचार करना आवश्यक है। और जिसके शीघ्र उतर जाने की कोई सूरत नजर नही आती है। इस लिये वास्तविक देखा जाय तो इतना ही सवाल ह। आशा है कि पाठक इसका योग्य विचार करेंगे।

वी. पी. वापस

प्रतिवर्ष हम वी. पी. वापस होने के विषय में लिखते हैं तथापि इस में कोई सुधार नहीं होता है। गतवर्ष वी. पी. वापस होने के कारण डाकव्ययका करीब ६५०, रु० का नुकसान हुआ है, इसके अतिरिक्त पैकिंगऔर पुस्तकें खराब होनेका नुकसान है। इस लिये हमने महाभारत, वेद आदि बडे पुस्तक वी. पी. से भेजना बंद किया है। वी. पी. न भेजी तो ग्राहक बडा क्रोध करते है, वे लिखते हैं कि उनपर हमारा विश्वास नही है इ०; परंतु उनको इस बातका पता नही की वी. पी. मंगवाकर वापस करनेवाले भी बहुत हैं। और यहां बैठकर हमें पहले पत्रसे पता नही चलता कि यह सज्जन पुस्तकें मंगवाकर वी. पी. वापस करेंगे और ये नही करेंगे। पाठक इसमें हमारी अवस्थाका विचार करें। वी.पी. मंगवाने में उनका आधा आना ही खर्च होता है परंतु हमारा कई रुपयों का नुकसान वी.पी.वापस होनेसे होता है। इस लिये पाठकों से निवेदन है कि वे पुस्तकों का मूल्य म०आ०से भेज दें और पुस्तकें मंगावें, ऐसा करनेसे उनका बडा लाभ होगा। उनको नियमानुसार कमिशन भी मिलेगा और डाकव्यय भी माफ होगा। आशा है कि पाठक इस रीतिसे लाभ प्राप्त करेंगे।

दूसरे के नाम वी. पी.

कई पाठक अपने मित्रों के नाम वी. पी. भेजने की आज्ञा हमें करते है। हमारा इस समय तक जो अनुभव है उस से हमारा निश्चय हुआ है कि ऐसी दूसरे के नामपर भेजी हुई वी पि. यां प्रायः वापस आती हैं। सौ में पांच भी स्वीकृत नही होती। इस लिये पाठकों से प्रार्थना है कि वे दूसरे के नामपर वी. पी. भेजने के लिये हमें बाधित न करें। यदि उनके मनमें हमारी सहायता करना या हमारे ग्रंथोंका प्रचार करना है, तो अपने मित्रसे पुस्तकों का मूल्य म. अ. द्वारा भिजवा दें। इस में उनको कमिशन मिलेगा और डा.व्यय भी माफ होगा। परंतु आगे इस प्रकार को वी पि.यां हम नही भेजेंगे। क्यों कि इस विषय का बहुत कडुवा अनुभव हमने लिया है।

अन्तमें निवेदन है कि पाठक इस कार्यका महत्त्व जानकर इस संस्थाकी आर्थिक सहायता करें और अनेक प्रकार से हमारे प्रचार के कार्यमें सहायता दें, जिससे यह कार्य अधिक बढ जाय और जनता में स्वाध्याय का प्रेम अधिक बढानें में समर्थ हो।

१।१।२८ निवेदक

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा) का दशम वर्षका आयव्यय।

(ता. १।१।२७ से ता० ३१।१२।२७ तक) परिशिष्ट संख्या १

आय		रु.	आ	व्यय		रु	आ.
गतवर्षकी रोकड औंध में		१८८१	०	मुद्रणालय-			
वैदिकधर्म चंदा		२१५२	५	यन्त्रव्यय	१०५-१३		
महाभारत ,,		३१५९	१४	टाइप	१२६६-११		
पुरुषार्थका ,,		१९३५	६	फार्निचर	२७४- ०		
पुस्तक विक्री से प्राप्त		८२७३	१२	चित्र ब्लाक आदि	४२०- ३	२०७६	११
दान प्राप्त-				पुस्तकालय		२६४	९
पोषक वर्ग चंदा	१६०२-०			पुस्तक छपाई मुंबईमें—			
मासिकदान	६०-०			गतवर्षका देना	९००-०		
इतर दान	२२३-१			इसवर्षकी छपाई	१२४३-११		
		१८८५	१			२१४३	११
स्थिर ग्राहक चन्दा		१०	०	कागज आदि—			
छपाई से प्राप्त		१२९	११	गतवर्षका देना	१२७३-१४		
पुराना टाइप विक्रीसे प्राप्त		७३	५	इसवर्षका ,,	२४२२- ४		
कर्जा—						३६९६	२
स्थिर सहायक चंदा	६१०-०			वेतन		६०६७	११
अनामत	५२-०			डाकव्यय		२०२२	३
नवीन कर्जा	११००-०			स्टेशनरी		१५८	८
		१७६२	०	रेलवेव्यय		३१२	१२
				विज्ञापनव्यय		१६४	५
				यंत्र रिपेअर आदि		२५०	०
				साधारण व्यय		३३४	४
				कर्जानिवृत्ति—			
				स्थि. स. चंदा वापस	३०००-०		
				,, ,, ,, सूद	२१०-०		
				औंधस्टेट बैंक कर्जा वापस	५५०-०		
						३७६०	०
				रोकड औंध में		११	१०
रु.		२१२६२	६			२१२६२	६

स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा) का हानिलाभ पत्रक ।

(ता. १ । १ । २७ से ता. ३१ । १२ । २७ तक) परिशिष्ट संख्या २

आय		रु.	आ.
वैदिक धर्म चंदा-			
गतवर्षका शेष	६५०-०		
इस वर्ष प्राप्त	२१५२-५		
	२८०२-५		
बाद पेशगी	५४०-०	२२६२	५
महाभारत चंदा—			
गतवर्षका शेष	२१९०-०		
इस वर्ष प्राप्त	३१५९-१४		
	५३४९-१४		
बाद पेशगी	१९८०-०	३३६९	१४
पुरुषार्थ चंदा—			
गतवर्षका शेष	८००-०		
इस वर्ष प्राप्त	१९३५-६		
	२७३५-६		
बाद पेशगी	७००-०	२०३५	६
स्थिरग्राहक चंदा—			
गतवर्षका शेष	१०-०		
इस वर्ष प्राप्त	१०-०		
	२०-०		
बाद पेशगी	४-०	१६	०
दान प्राप्त—			
पोषक वर्ग चंदा	१६०२-०		
मासिक दान	६०-०		
अन्य दान	२२३-१	१८८५	१
पुस्तक विक्रीसे प्राप्त		८२७३	१२
छपाईसे प्राप्त		१२९	११
पुराना टाइप विक्रीसे प्राप्त		७३	५
अन्तिमदिन पुस्तक संग्रह		१८९१०	०
		३६९५५	६
व्यय का शेष (हानि इस वर्ष)		२३२२	५
रु.		३९२७७	११

व्यय.		रु.	आ.
आरंभदिन पुस्तक संग्रह		२०५५०	०
पुस्तक छपाई मुंबईमें—			
इस वर्ष दिया	१२४३-११		
शेष देना	१००-०	१३४३	११
कागज आदि—			
इस वर्ष दिया	२४२२-४		
शेष देना ...	२०९२-१	४५१४	५
अन्य व्यय—			
वेतन	६०६७-११		
डाकव्यय	२०२२- ३		
स्टेशनरी	१५८- ८		
रेलवे व्यय	३१२-१२		
विज्ञापन	१६४- ५		
यंत्र दुरुस्ति	२५०- ०		
साधारण व्यय	३३४- ४	९३०९	११
घटाव—			
टाइपका	१९००- ०		
यन्त्रका	७००- ०		
पुस्तकालयका	१५०-०		
मकानका	६००-०	३३५०	०
सूद		२१०	०
रु.		३९२७७	११

स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा) का आर्थिक अवस्थापत्रक ।

(ता. ३१।१२।२७ के दिन) परिशिष्ट संख्या ३

कोश और कर्जा.			रु.	आ.
स्थिरकोश--				
गतवर्षका शेष		२८२०४-१		
बाद इसवर्षकी हानि		२३२२-५	२५८८१	१२
यंत्रका घटाव--				
गतवर्षका		६६६७-३		
इसवर्षका		३३५०-०	१००१७	३
कर्जा--				
(१) स्थिर सहायकवर्ग—				
गतवर्षका	१३३४९-४			
इसवर्षका	६१०-०			
	१३९५९-४			
इसवर्षवापस	३०००-०			
		१०९५९-४		
(२) अन्यकर्जा—				
कागजादिक	२०९२-१			
छपाईका	१००-०			
अनामत	५२-०			
पेशगी—				
वै० धर्मका	५४०-०			
म० भारत	१९८०-०			
पुरुषार्थ	७००-०			
स्थिरग्राहक	४-०			
बैंकका शेष—				
गतवर्ष ४१५०				
दिया ५५०				
	३६००-०			
		९०६८-१		
(३) नवीन कर्जा		११००-०		
(४) गतवर्षका अनामत		१३-९	२११४०	१५
रु.			५७०३९	१३

संपत्ति.			रु.	आ.
मुद्रणालय—				
मकान		१२७९७-१		
यंत्रादि—				
गतवर्षतक	१३२६८-६			
इसवर्ष	१०५-१३			
		१३३७४-३		
टाईप—				
गतवर्षतक	४५५४-१२			
इसवर्ष	१२७६-११			
		५८३१-७		
अन्यसामान—				
गतवर्षतक	२१७३-१			
इसवर्ष	४२०-३			
		२५९३-४	३४५९५	१५
फर्निचर—				
गतवर्षतक		१४७-४		
इसवर्षका		२७४-०	४२१	४
पुस्तकालय—				
गतवर्षतक		२८३६-७		
इसवर्षका		२६४-९	३१०१	०
अन्तिम दिन पुस्तक संग्रह ...			१८९१०	०
रोकड हाथमें—			११	१०
रु.			५७०३९	१३

पोषक वर्ग।

१ श्रीमती कर्मदेवीजी लाहौर		१००
२ डा० साहबदयालजी अमृतसर		१००
३ म. ढोंढारामजी चूडामणी बेगमपुर		१००
४ म. हरजीवन भगवानदासजी सूरत		१००
५ " प्रभुदास दयाभाई करमसद		१००
६ प्रो. डी. बी. परांजपे पुणें		१००
७ म. रामजीलाल दोहद		१००
८ " हिम्मतलालजी गुप्त सणसोली		१००
९ " सोमपाल शर्माजी रावळपिंडी		१००
१० " पटेल मोहनदास कलोल		१००
११ " चंद्रकान्तजी सूरत-		१००
१२ ठा. केशरी सिंहजी मोगर		१००
१३ म. दामोदर पीतांबर द्विवेदीजी लुनावाडा		१००
१४ श्री. छत्रसिंह हमीरसिंह राणा मियागांव		१००
१५ विष्णुचंद्र साहेब लैली		९७
१६ " प्रभुदयाल जी सिमला		७५
१७ " अ० नि० देशपांडे राळेगांव		३०
	कुल रु०	१६०२

दान

१ म. रतिलालजी	मुंबई	२००रु.
२ ,, बलदेव नरोत्तम	सारंग	१०
३ पं. गणपतिजी आर्योपदेशक	देहली	५
४ म. गोविंदलाल निर्भयरामजी	सूरत	५
५ ,, भूधर भाई हाजी भाई"		३
६ गुप्तदान ·		-)
	कुल. रु०	२२३-)

स्थिर सहायक वर्ग।

१ चारोसर प्रदेश आर्यसमाज	आनंद	१३०रु.
२ म बलभद्रजी	देहली	१००
३ ठा. रामस्वरूपसिंहजी	रास्ना	१००
४ म. रामचंद्रजी	नजीबाबाद द.	१००
५ म. बाबूरामजी क्लार्क	लाहौर	८०
६ ,, डी० एन० लेलेजी	हैदराबाद-द.	५०
७ ,, र. ज. गोखले	औंध ·	२५
८ ,, शंकर जयराम सोमवंशी ·	नंदुरबार	२५
	कुल रु०	६१०)

मासिकदान।

म. मराठे इंजिनियर	मुंबई	६०)
	कुल रु०	६०)

स्थिर ग्राहक वर्ग।

म. कोल्हटकर	वैराग	१०)
	कुल रु०	१०)

वैदिक यज्ञ संस्था।

प्रथम भाग। मूल्य १) रु. डा. व्य ।)

इस पुस्तक में निम्न लिखित विषयों का विचार हुआ है।

प्राचीन संस्कृत निबंध।

१-३ पिष्ट-पशुमीमांसा। लघु-पुरोडाश-मीमांसा।

भाषाके लेख (ले०-श्री० पं० बुद्धदेवजी) ४ दर्श और पौर्णमास, ५ अद्भुत कुमार संभव। (ले०-श्री० पं० चंद्रमणिजी) ६यज्ञके यज्ञ विषयक विचार। (संपादकीय) ७ यज्ञका महत्त्व, ८ यज्ञका क्षेत्र, ९ यज्ञका गूढ तत्त्व, १० औषधियोंका महायज्ञ, (ले० श्री० पं० धर्मदेवजी) ११ वैदिक यज्ञ और पशुहिंसा। (ले० श्री० पं० पुरुषोत्तम लालजी) १२ क्या वेदोंमें यज्ञों में पशुओंका बलि करना लिखा है?

वैदिक यज्ञ संस्था द्वितीय भाग। मूल्य १) रु डा. व्य।)

इस द्वितीय भागमें निम्न लिखित विषयोंका विचार हुआ है- (ले०-श्री. पं. देवशर्माजी विद्यालंकार)

भारतवर्षमें यज्ञकी कमी, यज्ञकी महिमा, यज्ञसे जो चाहे सो प्राप्त कर लो, यज्ञपुरुष का वर्णन, हवन प्रक्रिया, यज्ञशेष और उच्छेष, राजसूय, विश्वजित, अश्वमेध, गोमेध, सर्वमेध, वाजपेय, पंचमहायज्ञ, यज्ञ संसारकी नाभि है।

पं. बुद्धदेवजी लिखित-संज्ञपन और अवदान।

संपादकीय-नरमेध का वैदिक तात्पर्य।

इतने विषयोंका विचार इस पुस्तक में हुआ है।

प्रत्येक विषयके प्रतिपादनके लिये वेदके अनेक प्रमाण दिये हैं और विषयका प्रतिपादन अति सुगम है। मूल्य १) डा. व्य.।)

वैदिक यज्ञ संस्था तृतीय भाग गोमेध।

इस पुस्तकमें निम्न लिखित विषयोंका विचार हुआ है—

योगमें गोमांस, प्रकरणानुकूल अर्थ विचार, ऋषिपंचमी, वेदका महासिद्धान्त, यज्ञकी पूर्व और उत्तरवेदी, मधुपर्क, कलिवर्ज्यप्रकरण, बृहदारण्यक का वचन, गौका वैदिक नाम, गोमेधका विचार, चरक की साक्षी, विवाहमें गोमांस, अतिथिके लिये गौ, यज्ञमें मांस, अमृत्य यज्ञ, वेदमें अहिंसा, अवध्य गौ और बैल, यज्ञका तत्त्व, गौको खाना। गौ दान लेने का अधिकारी, रक्षक और पाचक गौका महत्त्व, राष्ट्ररक्षक गौ, गौके लिए सोमरस, सबकी माता गौ।

इत्यादि अनेक विषय इसमें आगये हैं। हरएक विषयका प्रतिपादन करनेके लिये अनेक वेदमंत्रोंके प्रमाण दिये हैं। जो कहते हैं कि 'वैदिक समयमें गोमांस भक्षण की प्रथा थी," उनके लिये यह उत्तम उत्तर है। यह पुस्तक पढनेके पश्चात् उक्त विषयमें कोई शंका नहीं रहेगी।

मूल्य१) रु. डा व्य०।)

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा)

REGISTERED No 1463

ॐ

वैदिक धर्म।

वैदिक तत्व ज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

वर्ष ९
अंक ८
क्रमांक
१०४

श्रावण
संवत् १९८५
अगस्त
सन १९२८



छपकर तैयार हैं।

महाभारत की समालोचना।

प्रथम भाग और द्वितीय भाग।

प्रति भागका मूल्य ॥) डाकव्यय ≈) वी. पी. से ॥≈)

मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

वार्षिक मूल्य— मं० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५)

विषयसूची।

१ निर्भयता	१	७ वाग्विलास	१६
२ मातृभूमिका वैदिक गीत	२	८ अथर्ववेदका स्वाध्याय	८१-११२
३ आत्मिक बल	१०	हवनसे दीर्घ आयुष्य	८१
४ नागपञ्चमी	१२	गृहनिर्माण	८८
५ दीर्घायु बननेका सरल उपाय	१३	जल	९७
६ शीर्षासनपर मेरा विश्वास	१५	गोशाला	१०१

वाणिज्यसे धनकी प्राप्ति १०४

वर्ष ९
अंक ८
क्रमांक १०४

श्रावण संवत् १९८५
अगस्त सन १९२८

वैदिक धर्म.

वैदिक तत्त्वज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।
संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।
स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

निर्भयता।

यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि।
मघवञ्छग्धि तव तन्न ऊतिभिर्वि द्विषो वि मृधो जहि॥

ऋ. ८।६१।१३

हे (इन्द्र) प्रभो! (यतः भयामहे) जहां से हमें भय होता है (ततः नः अभयं कृधि) वहांसे हमें निर्भय कर। हे (मघवन्) ऐश्वर्यसंपन्न ईश्वर! इस कार्य के लिये तू (शग्धि) समर्थ है। (तत् तव ऊतिभिः नः द्विषः विजहि) इस लिये अपनी रक्षाओंसे हमारे शत्रुओंको विनष्ट कर तथा (मृधः विजहि) दुष्टों का भी नाश कर।

हमारे लिये संपूर्ण स्थान निर्भयतासे युक्त हों, हम निर्भय हो कर चारों दिशाओंमें अपना कार्य कर सकें और अपना अभ्युदय सिद्ध कर सकें। हे प्रभो! तू ही ऐसा करनेके लिये समर्थ है, हम तेरे पास आते हैं, हमें निर्भय कर और हमारे शत्रुओंका नाश कर.

मातृभूमि का वैदिक गीत।

(१)

जिस देश में जो लोग रहते हैं वह उनकी मातृभूमि कहलाती है। जैसे भारतीयोंकी भरतभूमि, चीनी लोगों की चीनभूमि, अंग्रेजोंकी इंग्लैंड भूमि और इसी तरह दूसरे दूसरे लोगोंकी अलग अलग मातृभूमि है। जिस तरह माता के रक्तमांस आदि से बच्चे का देह बनता है उसी तरह मातृभूमि में उत्पन्न होनेवाले अनाज, पानी, वहांकी हवा और अन्य वनस्पतियों से उस देश के मनुष्यों के देह बनते हैं। इसलिये उस देश को अपनी मातृभूमि समझना उस देश के निवासियों का स्वभाव है।

परमेश्वर का नियमही है कि माता के दूधपर बच्चे काही अधिकार रहना चाहिये क्योंकि माताके स्तनों में जो दूध परमेश्वर अपने अटल नियमों से उत्पन्न करता है वह उस माता के उत्पन्न होनेवाले बच्चे के लिये ही रहता है। बच्चे का पालन उसकी माता के दूध से ही होना चाहिये। माता का दूध पीना बच्चेका जन्मसिद्ध अधिकार है और वह उसका धर्म भी है। यदि कोई जबरदस्त बालक अपनी माताका दूध पीकर दूसरे बालक की माताका भी दूध जबरदस्ती से पियेगा और दूसरे बच्चे को भूखा रखेगा, तो उसका वह कार्य परमेश्वर के नियमों के विरुद्ध होगा और वह जबरदस्त बच्चा ईश्वर के नियमों के अनुसार अपराधी समझा जावेगा। इसी तरह एक देशके मातृभूमि के बालक दूसरे देशके मातृभूमि के बालकोंको परतंत्र बनावें और उस देश में उत्पन्न होनेवाले उपभोग के पदार्थ उस देश के निवासियों को न देकर अपनेही सुख के लिये उपयोग करें, तो वह उनका बहुत बडा अपराध होगा। किसीको भी भूलना न चाहिये कि जो स्थिति माता और बच्चे की है वही मातृभूमि और उसके बच्चों की है।

प्रत्येक मनुष्य जानता है कि जिस घर में वह रहता है उस घर पर उसका कितना प्रेम रहता है। रात्रि के समय कोई चोर आता है और उस घरमेंसे कोई वस्तु अपने काम के लिये ले जाता है। न्यायी सरकार ऐसे चोर को पकडकर सजा देती है क्योंकि न्यायका मुख्य हेतु यह है कि किसी के भी घरकी उसके पूर्वजों से चली आई वस्तुपर उसीका अधिकार होना चाहिए। चोरका उसपर अधिकार नहीं है, इसलिये वह सजा पाने के योग्य है। जिस तरह एक छोटासा घर किसी एक कुटुंब का रहता है, उसी तरह देश यह एक बडा घर है; और वह घर सब देशवासियों का है। यदि उस राष्ट्रस्वरूप घरपर दूसरे देशों के बलवान लोग मिलकर हमला करें और वहां की वस्तुओं पर अपना अधिकार बतावें तो वास्तव में वह अपराध एक घर पर हमला करने वाले डाकू के समान है। उसी के समान किन्तु उससे कुछ उग्र स्वरूप का है। यह सिद्ध करने की ज्यादा जरूरत नही है। इस संसारके बडे बडे तत्वज्ञानी लोग यही कहते हैं। लेकिन संसार का राजकारभार तत्वज्ञानियों के हाथ में न होनेसे बलवान लोक इस तरह के राष्ट्रीय लूट मारको अपराध नही समझते और इस बडे अपराधी को इसी कारण सजा नही होती। परंतु ईश्वर के नियमों में इस तरह का पक्षपात नही हो सकता।

हमें यह देखना नही है कि अपराधी को दण्ड मिलना आवश्यक है या नही है। हमें सिर्फ यहि दिखलाना है कि माताके दूधपर उसके बच्चे का, घर पर उस घर के मालिक का, राष्ट्रपर उस राष्ट्र के लोगों का और मातृभूमि के उपयोगी वस्तुओंपर उस मातृभूमि के बच्चों का अधिकार है।

बच्चा अपनी माता का दूध पीता है इस लिये उसका अपनी मातापर बहुत प्रेम रहता है। मनुष्य

अपनी मातृभूमि में पैदा होनेवाले अनाज, फल, कंद, मूल इत्यादि खाते हैं और पुष्ट बनते है। इस लिये उनका अपनी मातृभूमि पर प्रेम रहता है। इसलिये कवि जिस तरह मातृभूमि के गाने बनाते हैं, उसी तरह लोग माता के गाने गाते हैं और दूसरों को उत्साहित करते हैं।

पाठकों को यह बात पुनः पुनः बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि माता और मातृभूमि के विषयमें लिखे हुए काव्य नैसर्गिक प्रेम उपजाते हैं।काव्यके भिन्न भिन्न रसों में प्रेमरस श्रेष्ठ है। मातृदेवता के काव्य में जैसा प्रेमरस भरा रहता है वैसा अन्य किसी काव्य में हो नहीं सकता। माता क्या है? असीम प्रेम की मूर्ति है। उसके प्रेमको अन्य किसी बात की उपमा ही नहीं है। उसका प्रेम वास्तव में अनुपम है। यदि माता के प्रेम को कोई उपमा देनी ही हो तो वह मातृ-प्रेम की ही हो सकती है, दूसरी नहीं।

वह मनुष्य विरला ही होता है जिसे माता के प्रति आदर न हो। माता के प्रेम से ही प्रत्येक मनुष्य का पालन होता है। मातृभूमि पर भी मनुष्य का प्रेम होता है। यह देशप्रेम भी असीम होता है। कैसी भी आपत्ति, कैसा भी संकट क्यों न हो, मनुष्य मातृभूमिका त्याग करनेको तैयार नहीं होता। माता के वा मातृभूमिके यश के कारण शरीर निछावर करने तक को मनुष्य तैयार रहता है।

यही असीम प्रेम है जिससे सब देश के लोगोंने अपनी जन्मभूमि के गीत शक्तिभर प्रयत्न करके उत्तम उत्तम बनाए हैं। मातृ-भूमि के लिए लोगोंने काव्य बनाए हैं। सभी देशों में यह प्रथा है कि आनंदोत्सव में, विजयोत्सव में देशवासी अपने अपने राष्ट्रगीत का गान करते है।

इस प्रकार का कोई राष्ट्रगीत या मातृभूमिगीत भारतवासियों में है या नहीं इस के विषयमें कई विद्वानोंके भिन्न भिन्न मत हैं। कई विद्वान यह बतलाते हैं कि भारतवासियों का एक राष्ट्र कभी भी नहीं था इसलिये उनमें राष्ट्रगीत होना असम्भव है। मध्यकालमें अपने विस्तृत देश के बहुतसे छोटे छोटे राज्य बन गयेथे। इसलिये यदि कहा जाय कि उस कालमें एक राष्ट्रियत्व की कल्पना न थी तो वह सच हो सकता है। परन्तु हम में प्रारंभ से राष्ट्रीयताकी कल्पना है, वह ऋषियोंके कालसे चली आयी है और इसका निदर्शक राष्ट्रगीत भी हमारे पास है। इसी का समर्थन करने के लिये इस लेख में मातृभूमि के वैदिक सूक्त का विचार किया है। यह सूक्त अथर्व वेद के १२ वें कांड का पहला सूक्त है।

सूक्त का उपयोग

जिस सूक्त के विषय में हम यहां लिख रहे हैं उसका महत्व राष्ट्रीय है या नहीं उसके उपयोग से जान सकते हैं। इसलिये इसका उपयोग कहां किया जाता है देखोः—

१ ग्रामपत्तनादि रक्षणार्थम्०। (सायन भाष्य)
अथर्ववेद० १२। १। १

"ग्राम, पत्तन, नगर आदि की रक्षा के समय इसका उपयोग करना चाहिये।" अर्थात् ग्राम, नगर, प्रान्त, राष्ट्र, स्वदेश आदि की रक्षा के समय इसका उपयोग करना चाहिये। स्वदेश की रक्षा के लिये जब कोई काम करना हो तब यह सूक्त कहना चाहिये। इस पर से यह सिद्ध है कि स्वराष्ट्र रक्षा से इस सूक्त का निकट संबंध है सबलोग जानते हैं कि राष्ट्रगीत का यही उपयोग है। सब देशों में राष्ट्रगीत का उपयोग इसी काम के लिये किया जाता है। परन्तु इसका विशेष विचार करना चाहिये. इस लिये नीचे और प्रमाण दिये हैं।:-

२ पार्थिवी भूमिकामस्य।
नक्षत्रकल्प १७

"पृथ्वी की इच्छा करनेवाले ने पार्थिवी महाशांति करने के समय इसका उपयोग करना चाहिये।" देश में या राष्ट्र में जब अशांति उत्पन्न होती है तब उस अवस्था को दूर करने के लिये जो प्रयत्न किया जाता है उसे 'पार्थिवी महाशांति' यह वैदिक नाम है। इसमें कई महत्वपूर्ण बातें करनी पडती हैं। ऐसे समय यह सूक्त कहना चाहिये। यह नक्षत्र-कल्प कर्ता का कहना है। "भूमिकामः" अर्थात् भूमी की इच्छा करनेवाला या अपनी मातृभूमि में शांतता करने की इच्छा करनेवाला जो

मनुष्य है, उसने वह काम करते समय यह सूक्त कहना चाहिये। इस सूक्त के कहने से मातृभूमि के हितका काम करने के लिये उत्साह मिलता है। इसी प्रकारः-

३ भौमस्य दृतिकर्मणि।

कौशीतकी सूत्र. ५। २

" (भौम) प्रदेश के, देशके वा राष्ट्र के (दृति कर्म) आदर के लिये जो काम करना है, उस काम में इस सूक्तका उपयोग करना चाहिये। " दृति " का अर्थ ' आदर '। " दृतिकर्म " का अर्थ है आदर के लिये किया हुआ काम। राष्ट्रीय महोत्सव विजयोत्सव के समय इस सूक्त का उपयोग करना चाहिये।

सायणाचार्यजीने अपने भाष्यमें यह भी बतलाया है कि इस सूक्त का उपयोग कौन कौन कर सकते हैं। हम अब उसी को देखेंगे।-

१ पुष्टिकामः।
२ व्रीहियवान्नकामः।
३ मणि हिरण्यकामः।

(सायनभाष्य अथर्व०) १२। १

" पुष्टी की इच्छा करनेवाले को, अन्न की इच्छा करने वाले को, रत्न, सुवर्ण आदि की इच्छा करने वाले को इस सूक्त को कहना चाहिए।" तात्पर्य यह कि इस सूक्त का गायन उस समय करना चाहिये जब हम राष्ट्रीय उन्नति के काम करते हों। यदि वाचक विचारें कि राष्ट्रगीत ऐसे ही अवसर पर गाये जाते हैं, तो वे सूक्तकार एवं भाष्यकार के कथन का रहस्य समझ सकते हैं।

इस सूक्त का विचार करते समय हमें देखना चाहिये कि यह सूक्त किस गण में है। पूर्व के ऋषियों ने अथर्ववेद के कुछ गण बना दिये हैं। उनमें से " वास्तोष्पति " नामका जो गण है उसमें यह सूक्त है। ' वस्तु ' पर पतित्व का वा मालिका हक्क बतलाने या सिद्ध करनेवाले सूक्त ' वास्तोष्पति' सूक्त में हैं। ऊपर बतलाया गया है कि पूर्वोक्त सूक्त उस समय कहने का है जब किसी देश के निवासी मातृभूमि पर अपना हक बतलाते हों। इसलिये यह सूक्त " वास्तोष्पति " गण में शामिल किया गया है।

यदि हम उपरि उक्त बातों पर ध्यान दें, तो हमें उक्त सूक्त की महत्ता दिखाई देगी; और विशेष रूप से विदित होगा कि मातृभूमि का यह वैदिक गीत विशेष राष्ट्रगीत ही है तथा वह राष्ट्रीय अवसर पर ही गाना चाहिये।

मातृभूमि की कल्पना।

बाहरी सबूतों का विचार कर के ही अबतक हमने मातृभूमि के सूक्त का स्वरूप देखा। अब भीतरी सबूतका विचार करेंगे और देखेंगे कि इसके विचार कहांतक राष्ट्रीय महत्व के हैं। अतएव पहले यह देखेंगे कि इस सूक्त में जो मातृभूमि की कल्पना है वह किस प्रकार की है। जो लोग समझते है कि हमलोगों में " मातृभूमि " की कल्पना तक नहीं है, वे इन वचनों का विचार अच्छी तरह करें और प्रत्यक्ष देखलें कि हमारे अति प्राचीन साहित्य में मातृभूमि के विचार विद्यमान हैं तब यह भी सिद्ध होगा कि मातृभूमि की कल्पना सर्व प्रथम ऋषियों की है।

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।

अथर्व० १२। १। १२

" मेरी माता भूमि है और मै मातृभूमि का पुत्र हूं "। हमारी देशभूमि ही हमारी माता है और हम सब उस मातृभूमि के पुत्र हैं। अर्थात् हम सब देशवासी एकही माताके पुत्र हैं अतएव हम सब सच्चे देशबंधु हैं। स्पष्ट ही है कि प्रत्येक देश के निवासी को यही भाव मन में लाना चाहिये मातृभूमि के भक्तों के गौरव के विषयमें ऋग्वेद का यह मंत्र पढने योग्य है।—

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो
महसा वि वावृधुः। सुजातासो जनुषा पृश्नि-
मातरो दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन॥ ६॥

ऋग्वेद. ५।५९।६

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय॥

ऋग्वेद. ५। ६०। ५

" संपूर्ण (पृश्नि—मातरः) मातृभूमि को माता माननेवाले सब (मर्त्याः) मनुष्य सच्चे कुलीन हैं। उनमें न कोई (ज्येष्ठ) श्रेष्ठ है न कोई कनिष्ठ है और न कोई मध्यम है। उन सबों का दर्जा समान है। वे सब (उत-भिदः) अपने ऊपर के दबाव का भेद कर ऊपर आनेवाले हैं। सबका विचार एकसा है अर्थात् वे (भ्रातरः) बन्धु ही हैं। वे अपने (सौभगाय) धन के बढाने के लिये (सं वावृधुः) सब मिलकर प्रयत्न करते हैं।

इस मंत्र में " पृश्नि-मातर " अर्थात भूमि को माता मानने वाले सत्पुरुषों का वर्णन देखने योग्य है। मातृभूमि के भक्त एकही विचार वाले रहते हैं। उन में उच्च नीच भाव नहीं रहता। उन सब लोगों का दर्जा एकसा रहता है और वे सब मिलकर एक विचार से मातृभूमि के उद्धारार्थ काम करते हैं। वे आपस में बंधु प्रेम रखते हैं और अपनी उन्नति कर लेते हैं। मातृभूमि को अपनी सब की माता माननेसे आचरण में जो फरक पडता है वह इस मंत्र में स्पष्ट रीति से बताया गया है। अपने व्यवहार का केन्द्र मातृभूमि है यह माननेवाले और न मानने वाले लोगों के व्यवहार में यह भेद होता है। वेदों में यह बात इतने साफ तौर से बतलाई है इसका कारण यह है कि वैदिक धर्मियों को यह बतलाना है कि इसका विचार करके उन लोगों में मातृभूमि की भक्ति बढे और वे अपनी उन्नति करलें। उसी तरहः—

इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः।
बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः।

ऋग्वेद. १।१३।९

" (मही) मातृभूमि (सरस्वती) मातृसंस्कृति और (इळा) मातृभाषा तीन सुख देनेवाली देवताएं हैं। वे सर्वकाल अंतःकरण में रहें।"

इस मंत्र की तीन देवताओं में मातृभूमि को स्थान दिया है। तीन देवताओं का संबंध स्पष्ट करके बतलाने की यहां आवश्यकता नहीं है। क्यों कि वह इतना स्पष्ट है कि वह एकदम मालूम होजायगा। इन सब मंत्रों का विचार करने से मालूम होगा कि हमारे धर्मग्रंथों में मातृभूमि का महत्व और श्रेष्ठत्व कितना वर्णन किया हुआ है। इसी के बारे में और बातें देखनेके पहिले यह मंत्र देखिये—

भूमे मातर्निधेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्॥
अथर्ववेद १२।१।६३

" हे (मातः भूमे) मातृभूमि, मुझे कल्याण अवस्था से युक्त कर " अर्थात् मेरा सब प्रकारसे कल्याण कर। इसमें " भूमे मातः " आदि पदों से मातृभूमि की योग्यता जान सकते हैं। इसी तरहः-

सा नो भूमिः पूर्व पेये दधातु ॥ ३ ॥
सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ॥ ४ ॥
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहाम्. ॥ ९ ॥
सा नो भूमिर्वर्धयद्वर्धमाना ॥ १३ ॥
सा नो भूमिरादिशतु यद्धनं कामयामहे ॥४०॥
सा नो भूमिः प्रणुदातां सपत्नानसपत्नं मा
पृथिवी कृणोतु ॥ ४१ ॥
अथर्व वेद० १२। १

वह हमारी मातृभूमि हमें अपूर्व पेय पदार्थ देवे। वह हमारी भूमि हमें गायें और अन्न देवे। वह हमारी भूमि हमें बहुत दूध देवे। वह हमारी भूमि हमारा संवर्धन करे। वह हमारी भूमि हमारी इच्छानुसार धन देवे। वह हमारी भूमि हमारे शत्रुओं को दूर करे और मुझे शत्रुरहित बनावे।"

पिछले संबंध का ध्यान रखनेसे विदित होगा कि इन सब मंत्रों में 'भूमि' शब्द 'मातृभूमि' के अर्थ में आया है। " मातृभूमि हमारे लिये यह करे, वह करे आदि रचना काव्यमय अलंकार हैं। इसका अर्थ वास्तव में यह है कि " मातृभूमि की कृपा से हमारे हाथ से यह कार्य होवे या यह कार्य होकर वह फल मिले। " क्यों कि प्रत्येक काव्य में इस तरह की अलंकारिक याचना रहती है। उन सब प्रार्थनाओं का शाब्दिक अर्थ भिन्न रहता है और अंदर का भाव भिन्न रहता है। इस विषय में यह मजेदार मंत्र देखियेः-

सा नो भूमिर्विसृजतां
माता पुत्राय मे पयः ॥ १० ॥
अथर्व वेद० १२। १

" वह हमारी मातृभूमि मुझे अर्थात् अपने पुत्र को बहुत दूध देवे । " यह मंत्र कितना अच्छा है और अलंकारिक है देखिये । माता और पुत्र का संबंध दूध पीनेसे ही शुरू होता है । माता का दूध पुत्र पीता है यह सब जानते हैं । गाय का दूध हम सब पीते हैं इसलिये गाय हमारी माता है । भूमिका अनाज रस आदि दूध हमें मिलता है इसलिये वह हमारी माता है । यह सर्वसाधारण और सीधा व्यवहार है । इसका वर्णन करते समय उपरोक्त मंत्र का जो भाग अर्थात् "मेरी माता मुझे ही दूध देवे" और इसी तरह के वर्णन से हमारी मातृभूमि में पैदा होने वाले उपभोग के पदार्थ हमें ही मिलें और दूसरा कोई उन्हें हमसे दूर न ले जावे " आदि अर्थ का जो भाग है वह बहुत अच्छा है और बोधप्रद है। इस तरफ पाठकगणों को अवश्य ध्यान देना चाहिये ।

अब कोई यह भी कह सकता है कि "भूमि या हमारी भूमि " आदि शब्दों से " हमारी राष्ट्रभूमि' यह भावार्थ नही निकल सकता और इस बातको बिना सिद्ध किये हम यह भी नहीं कह सकते कि मातृभूमि के बारेमें हमारे धर्मग्रंथों में पूर्णरूप से वर्णन दिया हुआ है। यह संदेह योग्य है और उसके निवारण के लिये हम यह मंत्र पाठकों के सन्मुख रखते हैं। —

सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे।
अथर्व वेद० १२।१।८

" वह हमारी मातृभूमि हमारे उत्तम राष्ट्र में (उत्तमे राष्ट्रे) तेज और बल बढावे।"

इस में " उत्तमे राष्ट्रे " का अर्थ और " हमारी भूमि " का अर्थ एकही है। " हमारे उत्तम राष्ट्रमें " अर्थात् " हमारी मातृभूमि में " तेज और बल की वाढ होवे । " हमारी मातृभूमि में " या " हमारे राष्ट्र में " आदि शब्दों का अर्थ यही है कि " हम लोगों में" या " हमारे देशबांधवों में " और यह बात साधारण विचार करने वाला जान सकता है । परन्तु " हम लोगों में ' या ' हमारे देशबांधवों में ' तेज और बल बढे "कहने से यह कहना कि हमारे राष्ट्र में या हमारी मातृभूमि में तेज और बल बढे " उच्च भावना प्रदर्शित करता है । इसी दृष्टि से " मातृभूमि, हमारा राष्ट्र, हमारा देश" आदि शब्दों में कितना गूढ रस भरा हुआ है ।

अब इसी मंत्र के " उत्तमे राष्ट्रे " (हमारे अच्छे राष्ट्रमें) शब्द और भी एक उच्च भाव प्रदर्शित करते हैं । उसका अब विचार करना चाहिये । राष्ट्रभक्तों की दृष्टि से राष्ट्र किस दशा में होना चाहिये वह इन शब्दों से स्पष्ट है। इन शब्दों से सूचित होता है कि राष्ट्रभक्तों की महत् अकांक्षा होनी चाहिये कि ' हमारा राष्ट्र सब राष्ट्रों में उत्तम हो ' । " तर, तम" तुलनात्मक उच्चता बतलाने वाले प्रत्यय हैं । " उत्, उत्तर और उत्तम " उच्चता की तीन सीढियां बतलाते हैं।" उत्तम" से सर्वोत्कृष्ट अवस्था मालूम होती है । राष्ट्रभक्तों की प्रबल इच्छा होनी चाहिये कि हमारा राष्ट्र सब राष्ट्रों में अति उत्तम दशामें हो । इस इच्छा से प्रेरित हो उन्हें चाहिये कि वे अपने राष्ट्र को अत्युच्च कोटिका बनाने में शक्ति भर प्रयत्न करें । उक्त शब्दका यही भाव है कि राष्ट्रके किसी भी दशा में स्वतंत्र वा परतंत्र होनेसे संतोष न होना चाहिये, अपितु देशवासियों का लक्ष्य होना चाहिये कि किसी निश्चित उच्चतम कोटि को पहुंचे और वे उस लक्ष्य की पूर्ति करने में भरसक प्रयत्न करें ।

इस मंत्र का विचार करने से मालूम हो सकता है कि इस वैदिक सूक्त में केवल मातृभूमि की ही कल्पना नहीं है बल्कि राष्ट्र के बारे में स्पष्ट भाव हैं और अपना राष्ट्र सब राष्ट्रों के आगे रहे यह उच्च महत्वाकांक्षा इसमें व्यक्त है । वाचक स्मरण रखें कि अपना धर्म इतनी उच्च राष्ट्रीय भावना जागृत करने वाला है और वह इस आदर्श को स्पष्ट शब्दों में जनता के सन्मुख रखता है । जिस किसी को सन्देह हो वह ऊपर लिखे वचनों को पढकर उसे दूर कर ले ।

इतना स्पष्ट उपदेश हमारे धर्म वचनों में होते हुए भी हमारे राष्ट्र में राष्ट्रीय भावना यथोचित रीति से जागृत नहीं है । यद्यपि यह बात सच है तो भी इसका कारण धर्म का अयोग्य होता नहीं है परन्तु धर्म की ओर ध्यान न देना और दूसरी अयोग्य बातों की ओर ध्यान देना है। जिस वेद में यह

उच्च राष्ट्रीय भावना जागृत करने वाले वचन हैं उस के प्रति लोगों में जो श्रद्धा या विश्वास है वह केवल दिखावटी है। लोग आधुनिक ग्रंथोंपर ही अधिक विश्वास करते हैं। इसीलिये सच्चा सोना दूर रह गया और मिट्टी हाथ लगी है।

अपनी मातृभूमि और अपने राष्ट्र के बारे में इस तरह स्पष्ट विधान अथर्ववेदीय मातृभूमि के गीतों में हैं। उन गीतों को देखने से सिद्ध होगा कि हमारा धर्म शुरू सेही राष्ट्रीय भावना जागृत रखनेवाला और उसकी वृद्धि करनेवाला है। यह भूलना नहीं चाहिये कि राष्ट्र के संबंध में जो कर्तव्य है वह अपने धर्म का मुख्य भाग है।

अध्यात्मज्ञान और राष्ट्रभक्ति

हम लोगोंमें धार्मिक बातों की ओर कितना दुर्लक्ष हो रहा है यह उदाहरण देकर बतलाना अयोग्य नहीं होगा। अध्यात्म ज्ञान का और मातृभूमि की भक्ति का एक दूसरे से संबंध है ऐसा यदि कहा जाय तो उसे कोई सत्य नहीं समझेगा। इतना दुर्लक्ष उसकी तरफ हो रहा है। अध्यात्म विचार करनेवाले वेदान्ती सब संसार को छोडकर किसी गुफा में जाकर बैठने का प्रयत्न करते हैं और जिनको सब लोग राष्ट्रभक्त कहते है वे लोग साफ कहते है कि धर्म का राजकारण में कोई संबंध नहीं है। इस विरोध के देखते यदि कोई कहे कि अध्यात्मविद्या और राष्ट्रभक्ति का निकट संबंध है तो उसे कौन सच कह सकता है? वास्तविक दशा देखने के पहले हम इतिहास के एक दो उदाहरण से देखेंगे कि यह विषय कैसा होना चाहिये।

अर्जुन युद्धभूमि में उतरा था और शत्रु को जीतने की महत्वाकांक्षा रखकर उसने युद्ध की तैयारी की थी। पर युद्ध को प्रारम्भ होने के समय ही वह मोह में पड गया और जंगल में जाकर तपश्चर्या करने के लिये तैयार हो गया। वह सोचने लगा कि युद्ध करके स्वराज्य लेनेसे तपश्चर्या करके उच्च अवस्था प्राप्त कर लेना कहीं अधिक उच्च है। तब भगवान श्रीकृष्णने अर्जुन को वैदिक अध्यात्म विद्याका उपदेश किया। यह भगवद्गीता का उपदेश सुनकर अर्जुन का मोह दूर हो गया, उसे उसकी अवस्था का ज्ञान प्राप्त हो गया और वह शत्रु को मारने के लिये तैयार हो गया। इसके बाद उसने युद्ध किया और निष्कंटक स्वराज्य पूर्णतासे प्राप्त कर लिया।

दूसरा उदाहरण श्रीरामचंद्रजीका है। रामचंद्रजीका विद्याभ्यास पूर्ण होनेपर उन्हें यह भ्रम हुआ कि "सब बातें दैवाधीन हैं और पुरुषार्थ से कुछ नहीं हो सकता।" इस भ्रम के कारण उन्होंने पुरुषार्थ के काम करना छोड दिया। तब वसिष्ठ ऋषि ने उन्हें वेदान्त शास्त्र का-अध्यात्म शास्त्रका-उपदेश किया। इस उपदेश के बाद उनका भ्रम दूर हो गया और वे प्रबल पुरुषार्थी बन गये। इसके बाद उन्होंने लंकाद्वीप के राक्षसों का नाश किया, संपूर्ण भरतखंड को पूर्ण स्वतंत्र बना दिया और आर्य क्षत्रियों का यश उज्वल बना दिया।

इन दोनों उदाहरणों में यह बतलाया है कि अध्यात्मज्ञान के बाद प्रबल पुरुषार्थ करके स्वराष्ट्र के शत्रुओंका पूर्णतासे नाश कर के राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त कर लेना चाहिये।

श्रीशिवाजी महाराज को भी एक दो समय उदासीनता ने आ घेरा था और वह रामदासस्वामी और संत तुकाराम के उपदेश से दूर हुई। ये बातें महाराष्ट्र के इतिहास में हैं। इन सब बातों का विचार करने पर हमें यह कहना पडता है कि अध्यात्मज्ञान या वेदान्तज्ञान राष्ट्रीय इच्छा के विरोधी नहीं हैं। यह इतिहास देखने के बाद हम जिस मातृभूमि के वैदिक गीतके बारे में विचार कर रहे है उस के आगे के और पीछे के सूक्तों में कौन से विषय आये हुए हैं देखो:-

यह मातृभूमि का वैदिक राष्ट्रगीत अथर्ववेद के १२ वें कांड का प्रथम सूक्त है। इसके पूर्व जो सूक्त हैं वे सूक्त और उनके विषय क्रमसे आगे दिये हुए हैं।:-

दशम कांड

सूक्त दूसरा …… केन सूक्त (केन उपनिषद् का विषय) ब्रह्मविद्या।

सूक्त ३ से६ तक…… शत्रु का नाश करना
सूक्त ७ और ८…… ज्येष्ठ ब्रह्मसूक्त (ब्रह्मज्ञान)
सूक्त ९ …… शत्रुपर शस्त्रप्रहार करना
सूक्त १० …… गौ माता का रक्षण। गौ को दुःख देनेवाले शत्रु का नाश करना।

एकादश कांड
सूक्त १ … ब्रह्मौदन सूक्त (अन्न सूक्त)
,, २ …… रुद्र सूक्त (पशुपति सूक्त)
,, ३ …… ओदन सूक्त (भात, अन्न)
,, ४ …… प्राण सूक्त (प्राणशक्ति का वर्णन)
,, ५ ……ब्रह्मचर्य(ब्रह्मचर्य पालन करना)
,, ६ …. कालचक्र वर्णन
,, ७ …… उच्छिष्ट ब्रह्मसूक्त (संपूर्ण जगत् धारण करने वाले ब्रह्म का सूक्त।)
,, ८ …… ब्रह्मसूक्त (शरीर में प्रविष्ट होने वाले ब्रह्म का सूक्त।)

,, ९और१० .. .. युद्ध की तैयारी का सूक्त।
द्वादश कांड सूक्त १ …मातृभूमि का वैदिक गीत।

इन सूक्तों के क्रम में युद्ध, शत्रुनाश आदि विषयों के पहिले ब्रह्मज्ञान के सूक्त आये हुए हैं। ब्रह्मज्ञान के बाद शत्रु का नाश करने का विषय आया है। अथर्ववेदके दसवें कांड में ऐसा दो बार निर्देश है। ग्यारहवें कांड में अन्न, प्राण, ब्रह्मचर्य, काल आदि के बाद ब्रह्मज्ञान है, उसके बाद युद्ध की तैयारी का वर्णन है और उसके बाद मातृभूमिका वैदिक गीत है। सूक्तों का यह क्रम देखनेसे स्पष्टतासे मालूम होता है कि "ब्रह्मज्ञान के बाद स्वातंत्र्यके लिये युद्ध होता होगा।" वाचकों को यह विधान कदाचित् आश्चर्यकारक मालूम होगा। इसलिये ऊपर दिये हुए सूक्तों का अर्थ समझने के लिये और यह जानने के लिये कि हमने किया हुआ विधान योग्य है या नहीं प्रत्येक सूक्त में से नमुने के लिये एक एक मंत्र यहां दिये हैं।

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥३१
तस्मिन्हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥३२॥
अथर्ववेद कांड १०।सू.२

"अष्टचक्र और नौ द्वारों से युक्त देवों की अयोध्या नगरी है। उस नगरी में तेजयुक्त स्वर्ग कोश है। उस कोश में जो पूज्य देव है उसे ब्रह्मज्ञानी ही जानते हैं।" यह हृदयस्थानीय ब्रह्म का वर्णन देखने के बाद अगले सूक्तमें के शत्रु को छिन्न भिन्न करने के मंत्र देखोः—

तेनारभस्व त्वं शत्रून् प्रमणिहि दुरस्यतः।
अथर्व. १०।३।१

अरातीर्योर्भ्रातृव्यस्य दुर्हार्दो द्विषतः शिरः।
अपिवृश्चाम्योजसा॥
अथर्व० १०।६।१

"दुष्ट शत्रुओं का नाश करना शुरू करो। दुष्ट शत्रुका सिर मैं तोडता हूं।"

इस तरह ये सूक्त देखने के बाद ७ और ८ सूक्तों में का वेदान्त वर्णन देखोः-

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चंद्रमाश्च पुनर्णवः।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥३३॥
अथर्व. १०।७

पुंडरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥४३॥
अथर्व० १०।८

"चंद्रमा और सूर्य जिसकी आंखें हैं, अग्नि जिसका मुख है उस ज्येष्ठ ब्रह्म को नमन करता हूं। नौ दल के कमल में जो देव है उसे ब्रह्मज्ञानी ही जान सकते हैं।" यह ब्रह्मवर्णन देखने के बाद उसी के आगे के सूक्त का पहिला मंत्र देखोः-

अघायतामपि नह्या मुखानि
सपत्नेषु वज्रमर्पयैतम्॥
अथर्व० १०।९।१

"पापी लोगों का मुह बंद करो और यही शस्त्र शत्रु पर फेंको।" इसी तरह तीसरे प्रकार के सूक्तों

का क्रम है। उन सूक्तों का विषय यहां नहीं बतलाते। केवल ११ वें कांड में के आठवें सूक्त का एक मंत्र यहां देते हैं और बाकी के प्राण और ब्रह्मचर्य के सूक्तों में का वर्णन विस्तार भयसे छोड देते हैं।

तस्माद्वै पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते ।
सर्वा ह्यस्मिन्देवा गावो गोष्ठ इवासते ॥३२॥
अथर्व० ११ । ८

" इसलिये इस (पुरुषं) पुरुष ब्रम्ह कहते हैं। क्योंकि जिस तरह गायें अपने बांधने की जगह में रहती हैं उसी तरह सब देवता इसी के आश्रय से रहते हैं।" इस ब्रम्हज्ञान के सूक्त के आगे का सूक्त देखोः-

तेषां सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठत संनह्यध्वम्
मित्रा देवजना यूयम। इमं संग्रामं संजित्य
यथा लोकं वितिष्ठध्वम् ॥ २६ ॥
अथर्व० ११ । ९

" मित्रों, तैयारी करो, उठो। इस युद्ध में जीतने के बाद अपने अपने देश को जाओ।" उसी तरहः—

सहस्रकुणपा शेतामामित्री सेना समरे
वधानाम्। विविद्धा ककजा कृता ॥ २५ ॥
अथर्व० ११ । १०

" शत्रु की सेना में से हजारों मुरदे युद्धभूमि में पडें " इस तरह का वर्णन अध्यात्मज्ञान के बाद कई बार आचुका है।

इसे अचानक काकतालीय न्याय से आया हुआ नही कह सकते, क्यों कि वह तीन जगह इसी तरह आया है। राम और अर्जुन के उपदेश के समय भी यही हुआ है। इसलिये " अध्यात्मज्ञान के बाद स्वातंत्र्य के लिये युद्ध " होना स्वाभाविक है। इन सब सूक्तों के बाद वैदिक राष्ट्रगीत आया हुआ है। इससे यह समझ सकते हैं कि जिस सूक्त के बारे में यह लेख लिखा गया है वह सूक्त वास्तव में राष्ट्रीय महत्व का है क्यों कि वह युद्ध के समय आया हुआ है।

इस सूक्त के बारेमें विचार करने के पहिले हमें यही देखना चाहिये कि अध्यात्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान आदि विषयों का युद्धादि राष्ट्रीय बातों से क्या संबंध है।

१ अध्यात्मज्ञान

बुद्धि, मन, अहंकार, प्राण, इंद्रिय और शरीर के सब अंगोंको आत्माका आधार है। ये सब बडी शक्तियां है। इन शक्तियों का ज्ञान होना अध्यात्मज्ञान कहलाता है।

ये सब शक्तियां हम में हैं। हम बिलकुल क्षुद्र नहीं हैं। हमारे अधीन ये बडी बडी शक्तियां हैं। उनको चलाने वाले हम हैं। यह अपनी शक्ति अध्यात्मज्ञान से मालूम होती है। अध्यात्मज्ञान प्राप्त करने के पूर्व जो मनुष्य अपने को क्षुद्र और निर्बल समझता है वह यदि अध्यात्मज्ञान प्राप्त करने पर स्वतः को सबल और समर्थ समझने लगे तो उस में कोई आश्चर्य नहीं है। इसीलिये रामचंद्रजी जो अपने को दैवाधीन और परतंत्र समझते थे वे ही अध्यात्मज्ञान प्राप्त होने पर दैव को भी अपने अधीन समझने लगे और अपने पुरुषार्थ से विपरीत दैव को भी अपने मन के अनुसार बनाने में समर्थ समझने लगे। यह शक्ति अध्यात्मज्ञान से प्राप्त हो सकती है।

२ ब्रह्मज्ञान

विश्वव्यापी सच्चिदानंद शक्ति का अस्तित्व स्थिर और चर सब में एकसा है। इस ज्ञान से सब संसार की तरफ देखने की दृष्टि बदल जाती है।

उसे अपने अंदर की शक्ति का और जगत् की शक्तियों का ज्ञान रहता है, इसलिये उसे योग्य काम करते समय शोक या मोह का होना असम्भव है। वह अच्छे अच्छे लोगोंकी रक्षा करता है और दुष्ट लोगों का नाश करता है। वह धर्म का अच्छी तरह पालन करके लोगों में शांतता रखता है। जगत् की ओर देखने की उसकी दृष्टि उच्च होती है इस लिये उसे स्त्री और बालबच्चों का मोह नहीं होता, घर या दौलत का लोभ नहीं होता, या ऐशआराम के कारण वह अपने कर्तव्य को छोड नही सकता।

इसके सिवा इस ज्ञान से दूसरा एक लाभ हो सकता है। वह यह है कि पृथ्वी पर जितने युद्ध स्वार्थ के लिये होते हैं वे नहीं होंगे और उनसे जिन सज्जनों को कष्ट पहुंचते हैं वे नहीं पहुंचेंगे। क्यों कि ब्रह्मज्ञान के कारण उसकी दृष्टि पवित्र हो जाती है। और फिर वह स्वार्थ के कारण दूसरे को परतंत्र करे या लूटे यह बात असम्भव है। जगत के सज्जनों को दुःख देने वालों का नाश करने के लिये ही उसकी तलवार म्यान के बाहर निकलेगी। आजकल जिस तरह स्वार्थ से लडाइयां होती हैं, दूसरे राष्ट्र को निष्कारण लूटने के संघटित राष्ट्रीय अन्याय हो रहे हैं, केवल अपनी सेना में तोपें हैं इसलिये दूसरों को कष्ट देना और दूसरे की उन्नति कम करने के जो राक्षसों के समान भयंकर काम हो रहे हैं; यदि हरएक देश में अध्यात्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान हो जावें तो वे सब बंद हो जावेंगे। राष्ट्रकी जो क्षात्रशक्ति है वह बहुत बडी महाशक्ति है। इस शक्ति को ब्रह्मज्ञानी मनुष्यही अच्छी तरह सम्हाल सकता है। ब्रह्मज्ञानहीन स्वार्थी लोग इस राष्ट्रीय क्षात्रशक्ति का दुरुपयोग करके जगत् में जबरदस्ती का पापी साम्राज्य फैलाते हैं। इन सब बातोंका विचार करने से मालूम होगा कि पहले ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके दृष्टि उच्च बनाना चाहिये और उसके बाद राष्ट्रीय महाशक्ति का उपयोग करना चाहिये। यही वेदों की आज्ञा है। और यही उनकी अपूर्व दूरदर्शिता को बतलाती है। यह बात हमारे वैदिक धर्म ने ही पहिले पहिल सब जगत् को प्राचीन काल में बतलाई। यह बात यद्यपि अतिप्राचीन काल में भरतखंड में जारी थी तथापि वह बाद में लुप्त हो गई और फिर वह कहीं भी शुरू नहीं हुई। यह बात फिर शुरू करने के लिये हमें स्वतंत्रता प्राप्त करना चाहिये और यह बात जगत् में प्रचलित करने पर जगत् में शांति रखने का महामंत्र सबको बतलाना चाहिये।

इस तरह ब्रह्मज्ञान युद्ध के पूर्व क्यों होना चाहिये और उसका महत्व क्या है यह सारांश में बतलाया है। वास्तव में यह बात विस्तृत करके लिखना थी। परन्तु वैसा करने के लिये जगह नहीं थी। इसलिये यह विषय सारांश में दिया है। अब इसके आगे वैदिक राष्ट्रीय गीतका स्वरूप बतलाना है। (क्रमशः)

आत्मिक बल

राजनैतिक हलचल का प्रधान उद्देश है स्वराज्य को प्राप्त करने का सरल एवं व्यावहारिक मार्ग बतलाना। राजनीति-शास्त्र का अध्ययन किये बिना मनुष्य राजनैतिक हलचल में जान नहीं ला सकता। कोई भी शास्त्र का अध्ययन शास्त्र-शुद्ध ही होना चाहिए। यदि हम गणित शास्त्र का अध्ययन करना चाहते हैं तो वह मुँह से केवल ' गणित, ' ' गणित ' रटने से न होगा। इसी तरह यदि हम ' स्वराज्य ' प्राप्त करना चाहते हैं तो वह मुखसे ' स्वराज्य ' ' स्वराज्य ' रटने से नहीं प्राप्त हो सकता। यदि वास्तव में ' स्वराज्य ' चाहिए तो राजनीति-शास्त्र का सूक्ष्म अध्ययन कर प्रयत्न करना होगा। किन्तु इसके लिए कुछ पूर्व-तैयारी की भी आवश्यकता है। राजनीति-शास्त्र प्रत्यक्ष व्यवहार में उपयोगी सिद्ध हो इसलिए जो पूर्व-तैयारी चाहिए वह ' आत्मिक बल ' है। संसार में जो जो महान् पुरुष हुए हैं, जिन्होने अपने पराक्रम से क्रान्तिएं की हैं उन्होंने प्रथम ' आत्मिक बल ' प्राप्त किया। इसके बादही उन्होंने अपने निजी अनुभव के सिद्धान्त संसार को बतलाए।

मनुष्य का स्वभाव ही है कि जब वह कोई कार्य देखता है तब उसकी प्रवृत्ति कारण ढूँढने की ओर सहजही में होती है। कारण ढूँढते समय उसका ध्यान उस कार्य से मिलने वाली पहले की कारण

परम्परा तथा कार्य की ओर भी रहता है। इस तुलना से उसे जो अनुभव प्राप्त होता है, उससे अपने कार्य का वह निश्चय करता है तथा उस कार्य को प्रत्यक्ष करने लगता है। किन्तु संसार में हम देखते हैं कि कई लोग अपने कार्य में असफल होते हैं! इसका क्या कारण है? यदि सूक्ष्म दृष्टि से जाँच की जावे तो विदित होगा कि इस असफलता का कारण आत्मिक-बल का अभाव है। मनुष्य कार्य करने में उद्यत होता है किन्तु उसे आत्मिक बल या आत्म-विश्वास नहीं होता। उसी से कार्य बिगड जाता है। किसी भी कार्य को सफल करने की कार्यकर्ता की इच्छा हो तो उसे अत्यन्त आवश्यक है कि वह प्रथम आत्मिक बल प्राप्त करे।

राज्य के अधिकारों के बल पर सूत्र चलानेवाले वर्ग को छोड दें तब भी केवल आत्मिक बल के कारण मानव समाज को जीतने वाले तेजस्वी पुरुष हो गए हैं और अब भी विद्यमान हैं। जैसे लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक और महात्मा गान्धी। इन पुरुषों को तनिक भी अधिकार या दण्ड देनेकी शक्ति नहीं थी और न है किन्तु जनता इन दोनों महापुरुषों की आज्ञाओंका पालन करने को तत्पर रहती थी। सो क्यों? इन महापुरुषों का आत्मिक बल ही ऐसा प्रभावशाली है। आत्मिक बल संसार के सब बलों से श्रेष्ठ है। राज-सत्ता-बल विनाशी है किन्तु आत्मिक बल अविनाशी है। श्री रामदासस्वामी जी (छत्रपति श्री शिवाजी के गुरु), श्री शिवाजी, प्रथम पेशवा बाजीराव, राणा प्रताप आदि पुरुषों ने अतीव कठीन परिस्थिति के रहते जटिल समस्याओं को हल किया। यह किस बलपर? केवल आत्मिक बल पर।

अब प्रश्न यह होगा कि 'आत्मिक बल' कैसे प्राप्त करें? यह बल विशेष आत्मसंशोधन से प्राप्त होगा। जब हम दृढ प्रतिज्ञा कर लेते हैं कि अमुक काम हम करेंगे, तब उसके सफल करने में लग जाना चाहिए। बाहरी दृष्टि का त्याग कर अन्तर्दृष्टि करनी चाहिए। इससे अपने अंतःकरण में होनेवाले विचारों का युद्ध एवं परिवर्तन हमे दिखेगा। हम अपने मन को जब बाहरी सृष्टि से खींचकर अपने वशमें कर लेंगे तब अपनी मानसिक शक्ति का उपयोग आत्मिक बल बढाने में कर सकते हैं। घडी की कमान (स्प्रिंग) जब तक कसी रहती है तभी तक उसमें शक्ति होती है और इस शक्ति को हम चाहे जिस काम में लगा सकते हैं। बंद की हुई भाफ की शक्तिका यही हाल है। इस भाफ की शक्ति से राक्षसी शक्ति के कितने ही काम आज हो रहे हैं। इसी तरह आत्मिक बल से भी महान् कार्य हम कर सकते हैं। हमें अपने मन तथा विचार की शक्ति बडे बडे हवाई किले बांधने में न खर्च करनी चाहिए किन्तु उसे हृदयरूप पञ्जिन में बन्द रखनी चाहिए। इस बन्द शक्ति का उपयोग मौके मौके पर करना आवश्यक है।

भारतवासियों को स्वराज्य चाहिए हो तो उन्हें प्रथम आत्मिक बल की वृद्धि करनी होगी। तभी बन्द भाफ के सदृश आत्मिक बल से जटिल से जटील समस्याएँ हल होगी और बडे बडे कार्य सफल होंगे। लोकमान्य तिलक को जब कालेपानी की सजा हुई और वे रेल में बिठाकर दूर भेजे गए तब भी उन्हें उस समय पर शान्तता से नीद आई। ऐसी कठिन सजा मिलने पर भी वे शांतता से सो सके! क्या इससे उनका आत्मिक बल नहीं चमकता? ऐसा भारी आत्मिक बल प्राप्त होनेपर तोपें, बन्दूकें, हवाई जहाज आदि कुछ न कर सकेंगे और देश में स्वराज्य हो जावेगा। इसी आत्मिक बल के तेज से हिन्दुस्थान में एकता होगी। तब बताईए आप आत्मिक बल प्राप्त कर स्वराज लेना चाहते हैं या पराधीनता की बेडियों से बँधे रहना पसंद करते हैं?

नाग-पञ्चमी ।

जो स्वभाव ही से दुष्ट है, जिसको नष्ट करने के हेतु राजा जनमेजय को 'सर्प-सत्र' करना पडा, दूध पीकर भी जो विष नही त्यागता, उस सांप की पूजा का यह दिन है। उपकार का बदला अपकार से चुकानेवाले इस दुष्ट जीव की पूजा के लिए एक खास दिन रखा गया है! सो क्यों?

साँप कहते ही लोग डण्डा लेकर उसे पीटने के लिए खडे हो जाते है। जनता में भूतों की किस्साएं जिस प्रकार प्रचलित है उसी तरह साँप की भी। देश के कई भागों में साँप अधिक हैं, किन्तु उससे भी अधिक हैं उनकी किस्साएँ। ब्रह्म-विद्या के सदृश सर्प-विद्या में भी प्रत्यक्ष प्रमाण की अपेक्षा शब्द-प्रमाण को ही लोग अधिक मानते हैं। सब साँप विषहरे नही होते। जो साँप विषहरे होते है उनमें सबका विष एकसा तीव्र नही होता। अर्थात् सभी साँपों के काटने से मनुष्य मर नहीं जाता। इसी से सर्प के मन्त्र जाननेवालों की बन पडी। तिसपर साँप स्वभाव ही से बडा डरपोक होता है। ऐसी दशामें जब हम देखते हैं कि एकाध साँप निकलते ही उसे मारने के लिए दस पाँच आदमी डण्डे लेकर खडे हो जाते है तब मनुष्य के अज्ञान पर तथा उसके दीर्घ द्वेष पर तरस आता है। साँप तो विषहरा है ही किन्तु मनुष्य का दीर्घ-द्वेष-रूप विष उससे कुछ कम नही है। मनुष्य का दीर्घ-द्वेष साँप के विष से कही बढकर प्रतीत होता है।

नाग-पञ्चमी का उत्सव इस दीर्घ-द्वेष-रूप विष को नष्ट करने का उपाय है। वर्षा ऋतु का मुख्य महिना श्रावण है। श्रावण की झडी के समय साँप का संचार होता है। बेचारा साँप वर्षा के पानी से बचनेके हेतु अपने बिलों को छोड कर आश्रयस्थान ढूँढते ढूँढते मनुष्यके घरों में आता है। इसे छोड कर कोई दूसरा आश्रय न होने ही से उसे घरों में आना पडता है। किन्तु उसे एकान्त बहुत प्रिय है। मुमुक्षु जनों को मनुष्यों को त्याग देने का उपदेश करते समय साँप का उदाहरण दिया गया है। इस प्रकार साँप मनुष्यों से सदा ही दूर रहता है। किन्तु लाचारीसे वर्षा की मार से बचने के लिए बहुत सकुचते और डरते हुए वह अतिथि बनकर मनुष्यों की शरण में, उनसे रक्षा की भीख मांगने आता है। हिन्दुओं की समझ है कि परमेश्वर अतिथि का रूप ले भक्तों की परीक्षा करने आते हैं। इसीसे हिन्दुधर्म में अतिथि सत्कार का बडा महत्व है। अतिथि यदि दुष्टता के लिए प्रसिद्ध हो तब तो भक्त की सत्व परीक्षा का ही प्रश्न उपस्थित होता है। ऐसी दशा में क्या हम अतिथि के साथ दुष्टता का बर्ताव करेंगे? कदापि नहीं। नाग-पञ्चमी का उत्सव यही जता देने को है कि "हमारे सन्मुख अति दुष्ट मनुष्य भी उपस्थित हो जावे तो हमें सारी दया और सुजनताको इकट्ठा कर उससे बर्ताव करना चाहिए"। सुजनता का त्याग हम कदापि न करें।

सेन्ट फ्रान्सिस ऑव् असीसी के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह साधु पुरुष ऐसा शान्त और दयालु था कि साँप उसकी गोद में सुख से सोते थे। क्या यह अहिंसा का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण नही है? इस से भी श्रेष्ठ उदाहरण उसमें दिखलाया जो सर्प का बिछाना बनाकर उसपर विष्णु स्वयं सो गया। यह है अहिंसा की परम अवधि! भक्तों के लक्षण बताते समय कहा गया है कि "भक्त वह है जो स्वयं लोगों की घृणा नही करता और जिसकी लोग घृणा नहीं करते" भक्त के पहिचानने की दो कसौटी हैं। प्रथम कसौटी--अर्थात् लोगों की घृणा न करना कुछ सरल है। कारण यह खुद के अधिकार की बात है। दूसरे की घृणा न करना मनुष्य के आधीन है। किन्तु दूसरी कसौटी अत्यन्त कठिन है। लोग

घृणा न करें यह अपने हाथ की बात नहीं,यह तो लोगों के आधीन है। इसीलिए ऐसा बर्ताव करना जिससे लोगों में अपनी चाह हो, लोग सदा प्रेम करें, बडी कठिन बात है। सेन्ट फ्रन्सिस का उदाहरण पहली कसौटी को सिद्ध करता है, किन्तु शेषशायी भगवान् दूसरी कसौटी को सिद्ध करते हैं। दोनों उदाहरणों में नाग-पूजा है। एक में नाग की पूजा की गई है और दूसरे में स्वयं नागने पूजा की है। नाग-पञ्चमीका थोडे शब्दों में वर्णन करना हो तो कहेंगे " शान्ताकारं भुजग-शयनं "।

कहते हैं जिसके सिरपर नाग अपनी फन से छाया करता है वह मनुष्य चक्रवर्ती नरेश होता है। हम कहते हैं क्यों न होगा ? सर्प की फन की छाया में शान्ताकार वृत्तिसे शयन करनेवाला व्यक्ति अहिंसा की मूर्ति ही है। यही नाग-पञ्चमी का संदेश है। नाग-पञ्चमीका संदेश जिसने सुनलिया उसके हृदय में प्रेम का साम्राज्य हो जाता है। इसे सनातन सिद्धान्त समझना चाहिए कि जिसके हृदय में प्रेमका साम्राज्य है वह संसार का एकमात्र राजा है। वह " सर्वलोकैकनाथ " है क्यों कि वह स्वयं अपना नाथ है।

जो कोई नागपञ्चमी का रहस्य विचार से ग्रहण करेगा उसके हृदय से द्वेषभाव हट जावेगा और उसे स्वराज्य प्राप्त होगा।

" इति श्रीभुजग-शयनार्पणमस्तु। "

दीर्घायु बनने का सरल उपाय।

आपने अपनी मासिक पत्रिका में ' दीर्घ आयु ' विषयपर एक लेख लिखा है। उसमें ऋग्वेद के अनेक वाक्यों के आधारोंपर आपने यह सिद्ध किया है कि मनुष्य कम से कम सौ साल जीवित रह सकता है। प्राचीन ऋषियोंने मनुष्य की आयु की मर्यादा सौ वर्ष की बतलाई है। उनका यह भी कथन है कि यदि वह 'युक्ताहार विहार' से रहे तो इस से भी अधिक दिन जीवित रह सकता है। यह युक्ताहार वही है जिसे अंग्रेजीमें Plain-living अर्थात् सादी रहन सहन कहते हैं। मांसखाना, सुरापान, तथा उत्तेजक पदार्थों का सेवन, संक्षेप में राजस एवं तामस भोजन दीर्घ आयु के विरोधी हैं। यही हमारे प्राचीन आर्य ऋषियों का कथन है। वर्तमान समय ने ऐसा पलटा खाया है कि कोई भी बात हमारे माननीय ऋषियों ने कही हो तो उसे हम यथार्थ वा प्रमाणसिद्ध तबतक नही मानते जबतक आधुनिक तज्ञ उसको नही दुहराते ! उपरोक्त कथन का भी यही हाल है। इसीलिए उपरोक्त कथन को एक आधुनिक तज्ञ द्वारा दुहराया हुआ जब हमने एक स्थानमें पढा, तब वह आपके पाठकों को लाभदायक होगा यह जानकर इस लेख को लिखा है। वर्तमान नवयुवकों से मेरी नम्र सूचना है कि इसे पढ कर भी यदि वे युक्त एवं मिताहार करें तो बहुत लाभ होगा।

यह लेख एक डाक्टर ने अमेरिका की एक पत्रिका मे प्रसिद्ध किया है। वह कहता है, " सुप्रसिद्ध हेन्री फोर्ड साहब का कथन है कि यदि मनुष्य चाय, काफी, तमाखू और मद्य का त्याग करे तो वह सवासौ साल जीवित रहेगा। यह निश्चय जानो कि यदि सब लोग बडी सावधानी रखें कि शरीर-रूप ' ऑटोमोबाइल ' में किसी भी रूपमें कोयला (carbon) न जाने पावे तो उसे उपरोक्त दीर्घ आयु मिलेगी। " सुविद्य पाठक समझ गए होंगे कि फोर्ड साहबने अपने व्यवसाय का दृष्टान्त लिया

है। इस पर कोई आक्षेप करेंगे कि जो कार्बन किसी पदार्थ में स्वभावतः रहता है उसे आप किस प्रकार नष्ट करेंगे? इसका जवाब यह कि पदार्थ को उचित रीतिसे चबानेपर कार्बन का दोष मिट जाता है। जादा चबाने से थोडी वस्तुही में तृप्ति हो जाती है। व्हाइट ब्रेड खानेवाले सफेद चूहों की अपेक्षा कुछ न खानेवाले चूहे अधिक दिन जीए। यह देख कर मैंने अपने कुटुम्ब में व्हाइट ब्रेड का उपयोग बन्द कर दिया है। चाय काफी मनमानी पीनेवाले नवयुवकों को यह देखकर दुःख होगा कि फोर्ड साहबने अपने कुटुम्ब में इन पदार्थों के सेवन को भी मना किया है। किन्तु वास्तव में यह बात यथार्थ है। आपने भविष्य किया है कि थोडे ही समयमें इन पेयोंपर बहिष्कार किया जावेगा। किन्तु हम भारतवासी इस भविष्य को झूट सिद्ध करेंगे!!

सुप्रसिद्ध आधुनिक विद्युत शोधक एडिसन साहब के आजा के बाप एकसौ दो वर्ष तक जीवित रहे। उनकी रहन सहन सादी थी। उनके आजा एकसौ पांच वर्ष तक जीवित रहे। इनके सात पुत्र हुए जिनमें से एक एडिसन साहब के पिता थे। ये सब भी करीब सौ साल जीवित रहे। यह बात ध्यान देने योग्य है कि वर्तमान एडिसन साहब खुद, अपने बुढापे की फुर्ती तथा काम करने की शक्ति का एक कारण यह बताते हैं कि उनके पुरखाओंने शुरू की हुई उनके कुटुम्बकी सादी रहन सहन ही इसका कारण है। अमेरिका के नररत्न एवं शास्त्रज्ञ की रहन सहन बतलाई उन्हीं की बराबरी के वनस्पति-शास्त्रज्ञ बरबॅंक हैं। उपरोक्त दो पुरुषोंने जिस प्रकार अपने अपने विषय में कीर्ति प्राप्त की है उसी प्रकार बरबॅंक महोदयने वनस्पति शास्त्र में कीर्ति प्राप्त की है। इन शास्त्रज्ञों का शरीर नीरोग रखा गया इसी से इन्हे नये नये आविष्कार करने का अवसर मिला है और अपना काम अधूडा छोड कर परलोक सिधारने का कुअवसर नहीं आया। तीसरे महाशय भी पेयों के अर्थात् चाय, काफी, मदिरा आदि के कट्टर विरोधी हैं। यदि इन सद्गुणोंका हम भारतवासी अनुकरण करें तो अवश्य ही हम दीर्घायु होंगे।

सात्विक आहार का जैसा महत्व है वैसा ही मिताहार का भी। उपरोक्त लेखक कहता है, 'टॉमस पार नाम का एक मनुष्य लन्दन में १४९वर्ष की अवस्था में मर गया। मृत्यु के कुछ दिन पूर्व राजवैद्यने उनकी परीक्षा की थी और कहा था कि इन का स्वास्थ्य बिलकुल ठीक है। उनकी रक्तवाहिनी मृदु (elastic) हैं। उनका कहना था कि ऐसे स्वास्थ्यवाले मनुष्य को और पचीसवर्ष जीवित रहना कोई कठिन बात नहीं. किन्तु इस मनुष्य की सादी रहन सहन में बदल हो गया। क्यों कि उसे राजमहल में रहने का निमन्त्रण हुआ और वह राज महल में रहने को गया। और साल भर ही में उसका देहान्त हो गया। इसका कारण स्पष्ट ही है। अब तक उसने उपरोक्त पेयों को स्पर्श ही नहीं किया था इतनाही नही वह केवल शाकाहारी था। किन्तु राजा के साथ स्वादिष्ट भोजन मिलने पर उसका सात्विक आहार और मिताहार बंद हो गया। इसीसे उसकी आयु खतम हो गई!! चारचार स्वादिष्ट पदार्थ खाकर आधुनिक पेयोंका सेवन करनेवाले अब भी ध्यानसे देखें कि मितआहारका कैसा भारी महत्व है। यदि हम भी ऐसा ही करेंगे तो "जीव शरदः शतम्" के अनुसार हम भी सौ साल जीवित रहेंगे और—

पश्येम शरदः शतम्। जीवेम शरदः शतम्।
बुध्येम शरदः शतम्। रोहेम शरदः शतम्।
पूषेम शरदः शतम्। भवेम शरदः शतम्।
भूयसीः शरदः शतात्।

अथर्ववेद १८।६७

इसीतरह—

शृणुयाम शरदः शतं। प्रब्रवाम शरदः शतं।
अदीनास्याम शरदः शतं। भूयश्च शरदः शतात्।
वा. यजुर्वेद ३६।२४

"हम सौ वर्ष तक आंखों से देखेंगे, सौ वर्ष तक जीवित रहेंगे, सौ वर्ष तक ज्ञान प्राप्त करते रहेंगे,

सौ साल तक बढते रहेंगे, सौ साल तक पुष्ट होते रहेंगे,सौ वर्ष तक पराक्रम करते रहेंगे,सौसेअधिक वर्ष तक उन्नती का प्रयत्न करते रहेंगे। इसी तरह-

" सौ साल तक सत् उपदेश सुनेंगे, सौ वर्ष तक सदुपदेश का प्रवचन करेंगे, सौ वर्ष तक स्वावलम्बन की अदीन अवस्थामें रहेंगे,सौ साल से अधिक जीवित रहकर अपना कर्तव्य करेंगे।"

इस प्रकार हमारे धर्म में सब स्थानों में कहा गया है कि उपरोक्त इच्छाएँ करो और उन के अनुकूल प्रयत्न करो। इसीलिए अपने को धार्मिक मनुष्य समझने वाले प्रत्येक का कर्तव्य है कि वह इस प्रकार प्रयत्न करे। यह बिलकुल सरल बात है। जीभ के चोचलों को छोडो और सादी रहन सहन से रहो तो आयु क्षीण नहीं होती।

जो इस प्रकार अपना बर्ताव रखेंगे उन्हे अवश्यमेव लाभ होगा। जरा करके तो देखिए।

शीर्षासनपर मेरा विश्वास.

(ले०- श्री. देवीप्रसाद जी पिपलका)

मैं कोई दो तीन वर्षसे शीर्षासन करता हूं जोकि १, १॥ मास में ही इससे लाभ उठा चुका था।

फसली बुखार जो मुझे हरसाल आया करता था, आसनकी शुरुआत में उस वर्ष नहीं आया। आहार विहार के संबंध में मैं कोई बद परहेज नही। लेकिन यह मनके संबंध की बात है और मुझे मन पर अभी पूर्ण अधिकार प्राप्त नही है। आसन मैंने आध्यात्मिक उन्नति के लिये नहीं किया, यह तो स्वास्थ्य के साधने के लिए करता हूं, खुराक मुझे आसन में लेखानुसार नहीं मिल सकी। न शौक ही किया है साधारण रोटी दाल साग ही मिलती है। शुरुआतमें नाक द्वारा स्वास लेना असह्य मालूम होता था। मैं आसनको कोई क्रमसे नहीकरता, चार पाई पर, छत पर, पत्थर पर, जंगल में, कोठे में, चाहे जहां कपडे पहिने रातमें, शाम को, सुबह को, दो प्रहर को जब मौका लगे। मैं शीर्षासन का अन्ध विश्वासी नहीं हूं।मुझे एक खास रोग था जिसके कारण ४-६ मास बाद कै(वमन) होता था पीछे ज्वर हो जाता है,यह मेरे शरीर में पित्तकी प्रबलता है, आरंभ में तो बहुत दिन तक नहीं हुआ। लेकिन इसका नाश नहीं हुआ मुझे शौचके पश्चात् धातु जाता था, वह बिल्कुल ही सा बंद है।

"एक गुजराती पुस्तकमें लिखा था कि शौच मूत्र त्याग में जोर न लगाना चाहिए और अधिक समय तक इन स्थानों पर बैठना नहीं चाहिए"इस प्रमेह के हटाने में यह अनुभव भी सहायक है।

कई वार ऐसा हुआ है कि दस्त साफ नहीं हुआ है, उठकर चला आया हूं, आसन करतेही दस्तकी सम्भावना होती है साफ दस्त होता है। शीर्षासन करने वाले का मन जब तक आहार विहार से काबू में नहीं तब तक विशेष लाभ नहीं होता है इसी कारण मेरे स्वप्नदोष का भी नाश नहीं हुआ, कमी जरूर है।

कमजोर दिमागवाले शिरके नीचे मुलायम वस्त्र रुई संचित वस्त्र रखें। मैंने कई रईस,वकील, पहलवान, मास्टर, उपदेशक आदि साधारण महापुरुषों से शीर्षासन कराया है दो एक मुसलमान भाई भी इस पर मोहित हुए हैं, क्यों कि मैं वैष्णव होते हुए हिन्दु- मुस्लिम एकताका हामी हूं, लेकिन आपके आसनों का प्रचार रूप में मैंने किसी से कुछ नहीं कहा; बल्कि अपने प्रेमियोंको ही यह सब कुछ करा सकाहूं, इससे दिमाग की कमजोरी दूर होती है।

उल्टा खडा हो कर पेटको दबाकर तथा चलाकर अर्ध शीर्षासन करने लगता हूं घुटने कुछ नीचे कर लेता हूं। तो पेटकी सम्पूर्ण अशुद्ध वायु निकल जाती है। इससे फोडा जल्दी अच्छा हो जाता है। एक आदमी का छः मासका फोडा दूर हो चुका है।

मयूरासनसे पेटके कब्ज का नाश होता है। उपरोक्त श्वास रुकनेमें नाक घिर आती है फिर खडे होकर साफ कर लेता हूं तब स्वास लेने में कठिनता नहीं मालूम होती। रक्त का संचार होता है पेटाकृति सुडौल हो जाती है, स्नान के बाद ठीक रहता है। इति

वाग्विलास।

१ वैदिक पीयूष बिन्दु।

(संग्रहीता— स्व० पं० शिवशंकर जी काव्यतीर्थ। संपादक— श्री. स्वा० वेदानन्दतीर्थ, दयानन्दोपदेशक महाविद्यालय, गुरुदत्त भुवन लाहौर। मू० ।-) पं० शिवशंकर जी का समस्त जीवन वेद प्रवचन और वेद रहस्योद्घाटन में बीता है, वेद मंत्रार्थ लिखवाते ही उनका प्राणान्त हुआ है। ऐसे वेदप्राण महाविद्वान् का लेख पढने में किसे रुचि न होगी ? पाठक इस वैदिक अमृतका पान करके आनंद उठावें।

२ इषे त्वा ऊर्जे त्वा।

(भाष्यकर्ता— वैदिक मुनि। प्राप्तिस्थान-महेश औषधालय, पो. ब. नं. २४ पापड मंडी लाहौर।)
यजुर्वेद के " इषे त्वा " इस प्रथम मंत्रका सरल और सुबोध संस्कृत में भाष्य है। वैदिक मुनि जी की भाष्य शैली बहुत अच्छी है। ऐसा भाष्य संपूर्ण वेद पर वैदिक मुनि करेंगे तो बडा लाभ हो सकता है।

३ आसन चिकित्सा।

अर्थात् जीवन विज्ञान. (ले०— श्री. कविराज अत्रिदेवजी गुप्त बी. ए. भिषग्रत्न। धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ अलीगढ मू० २)

आसनोंसे रोगोंको दूर करने की विधि इस पुस्तक में बताई है तथा आर्यवैद्यक के सिद्धान्तों को दिखलाकर आसन चिकित्सा के मूल सिद्धान्तों का भी प्रदर्शन अच्छी प्रकार किया है। यह पुस्तक अपने विषय में बहुत ही अच्छी है। जो आसनों का विचार करते हैं उन को तो यह अच्छी प्रकार पढना चाहिये। पुस्तक बहुत अन्वेषणापूर्वक लिखी है।

४ फेंफडोंकी परिक्षा।

(ले०— कविराज शिवशरण वर्मा वैद्यरत्न। प्रकाशक धन्वन्तरिमंडल- फगवाडा, कपूरथला स्टेट। मू १॥)

फेंफडों की परीक्षा संबंधी विषय बडी उत्तमतासे इस पुस्तकमें दर्शायागया है। विषय सरल स्पष्ट और खोजपूर्ण है।

५ सत्यनाम

(श्री, यो० श्री० मथुरादासजी द्वारा रचित। प्र०—श्रीरमाविलास पुस्तकालय। अजमतगढजि, आजमगढ। मू. ≡)॥)
सत्यनाम विषयक संतोंके भजन इसमें पाठक देख सकते हैं।

६ देवनागरी लिपी

(श्री. पं. गौरीशंकर भट्ट, मसवानपुर, कानपुर) सुलेख विषयक लेख पढने योग्य है।

७ बालबोध प्रश्नोत्तरी

(ले० और प्र०—म० रामचंद्रजी मंत्री आर्य प्र० उ० सभा, सहारानपुर। मू. ३ पैसा) प्राथमिक शिक्षा के लिये यह प्रश्नोत्तरी बहुत अच्छी है। ४)रु की १०० मिलती हैं।

८ धर्मध्वंसक शारदा बिल

(प्र० अ. भा. मा० आग्रवाल पंचायत कलकत्ता।) शारदाबिल के विरोधमें मारवाडीयोंने जो विरोध किया है उसका स्वरूप इसमें पाठक देखें।

९ संक्षिप्त आर्य धर्म

(प्र० श्रीबलाई चांद मलिक आर्य. यज्ञ गृह ४५ न. विडन स्ट्रीट कलकत्ता। मू.-) इसमें अति संक्षेप से आर्यमत का प्रकाशन किया है। संक्षेपसे बहुत सिद्धांत इसमें उत्तमतापूर्वक दर्शाये हैं।

धूपकी बत्तियाँ।

" महालक्ष्मी सुगंध कार्यालय " कोल्हापुर शहर की धूपकी बत्तियां बडी सुगंधिवाली हैं। सात आठ प्रकार की सुगंधी बत्तियां उनके कारखाने में बनती हैं। प्रथम श्रेणी का मूल्य ३॥) है और सप्तम श्रेणी वाली का मूल्य २०) है। जो उपासना के समय सुगंधी बत्तियां वर्तते हैं वे इस कार्यालय से मंगावे।

हवन से दीर्घ आयुष्य !

[११]

(ऋषिः-ब्रह्मा, भृग्वङ्गिराः। देवता—इन्द्राग्नी, आयुष्यं, यक्ष्मनाशनम्)

मुञ्चामि॑ त्वा ह॒विषा॒ जीव॑नाय॒ कम॑ज्ञातय॒क्ष्मादु॒त रा॑जय॒क्ष्मात् ।
ग्राहि॑र्ज॒ग्राह॒ यद्ये॒तदे॑नं॒ तस्या॑ इन्द्राग्नी॒ प्र मु॑मुक्तमेनम् ॥ १ ॥
यदि॑ क्षि॒तायु॒र्यदि॑ वा॒ परे॑तो॒ यदि॑ मृ॒त्योर॑न्ति॒कं नी॒त ए॒व ।
तमा ह॑रामि॒ निर्ऋ॑तेरु॒पस्था॒दस्पा॑र्शमेनं श॒तशा॑रदाय ॥ २ ॥

अर्थ—(कं जीवनाय) सुख पूर्वक दीर्घ जीवन के लिये मैं (त्वा) तुझको (अज्ञात-यक्ष्मात् उत राजयक्ष्मात्) अज्ञात रोगसे और राजयक्ष्मा नामक क्षय रोगसे (हविषा मुञ्चामि) हवनसे छुडाता हूं। (यदि ग्राहिः एतत् एनं जग्राह) यदि जकडनेवाले रोगने इसको इस प्रकार पकड रखा हो तो (तस्याः इन्द्राग्नी एनं प्रमुमुक्तं) उस पीडासे इन्द्र और अग्नि इसको छुडावें ॥ १ ॥

(यदि क्षितायुः) यदि समाप्त आयुवाला अथवा (यदि वा परेतः) यदि मरनेके करीब पहुंचा हो किंवा (यदि मृत्योः अन्तिकं नीतः एव) यदि मृत्युके समीप भी पंहुचा हुआ क्यों न हो, (तं निर्ऋतेः उपस्थात् आहरामि) उसको मैं विनाशके पाससे वापस लाता हूं और (एनं शतशारदाय अस्पार्शम्) इसको सौवर्षके दीर्घायुष्यके लिये सुरक्षित करता हूं॥ २ ॥

भावार्थ— तुझे सुखमय दीर्घ आयुष्य प्राप्त हो इसलिये तुझे ज्ञात और अज्ञात रोगोंसे हवनके द्वारा छुडाता हूं। जकडनेवाले रोगोंने यद्यपि तुझे पकड रखा हो, तथापि इन्द्र और अग्निकी सहायतासे तू उन कष्टोंसे मुक्त हो सकता है ॥ १ ॥

आयु समाप्त हुई हो, करीब मरनेकी अवस्था प्राप्त हुई हो, करीब करीब मृत्युके समीप भी पहुंचा हुआ हो, तो भी उसको उस विनाशकी अवस्थासे मैं वापस लाता हूं और सौ वर्षकी दीर्घ आयु प्राप्त कराता हूं॥ २ ॥

सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ।
इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् ॥ ३ ॥
शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान् ।
शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ॥ ४ ॥
प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम् ।
व्यऽन्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितराञ्छतम् ॥ ५ ॥

अर्थ-(सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषा एनं आहार्ष) सौ शक्तियोंसे युक्त, सौ वीर्योंसे युक्त, शतायु देनेवाले हवनसे इसको मैंने लाया है। (यथा विश्वस्य दुरितस्य पारं) जिससे संपूर्ण दुःखोंके पार होके (एनं इन्द्रः शरदः अति नयति) इसको इन्द्र सौ वर्षकी पूर्णायुकेभी परे पहुंचावे ॥ ३॥

(वर्धमानः शतं शरदः जीव) बढता हुआ सौ शरद् ऋतुओं तक जीता रह (शतं हेमन्तान्, शतं उ वसन्तान्) सौ हेमन्त ऋतुओं तक तथा सौ वसन्त ऋतुओं तक जीवित रह। (इन्द्रः अग्निः सविता बृहस्पतिः ते शतं) इन्द्र, अग्नि, बृहस्पति और सविता, तेरे लिये सौ वर्षकी आयु देवें। (एनं शतायुषा हविषा आहार्ष) मैंने इसको सौ वर्षकी आयु देनेवाले हविसे यहां लाया है ॥ ४ ॥

हे (प्राणापानौ) प्राण और अपान ! (प्र विशतं) प्रवेश करो (अनड्वाहौ व्रजं इव) जैसे बैल गोशालामें प्रवेश करते हैं। (अन्ये मृत्यवः वि यन्तु) दूसरे अनेक अपमृत्यु दूर हो जावें, (यान् इतरान् शतं आहुः) जिनको इतर सौ प्रकारके कहा जाता है ॥ ५ ॥

भावार्थ— हवन में हजारों शक्तियां हैं और सेंकडों वीर्य हैं, ऐसे हवनसे इसको मैंने वापस लाया है। यह मनुष्य अब सम्पूर्ण कष्टोंसे पार हुआ है, अब इसको इन्द्र सौ वर्षके भी परे ले जायेगा ॥ ३ ॥

मैंने तुझे सौ वर्षकी आयु प्रदान करनेवाले हवनसे मृत्युसे वापस लाया है। इन्द्र, अग्नि, सविता और बृहस्पति तुझे सौ वर्षकी आयु देवें। अब तू सब प्रकारसे बढता हुआ सौ वर्षतक जीवित रह ॥ ४ ॥

हे प्राण और अपान ! तुम दोनों इस मनुष्यमें ऐसे प्रवेश करो जैसे बैल गोशालामें प्रवेश करते हैं। अन्य सेंकडों अपमृत्यु इससे दूर भाग जावें ॥ ५ ॥

इहैव स्तं प्राणापानौ मापं गातमितो युवम् ।
शरीरमस्याङ्गानि जरसे वहतं पुनः ॥ ६ ॥
जरायै त्वा परि ददामि जरायै नि धुवामि त्वा ।
जरा त्वा भद्रा नेष्ट व्यन्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितराञ्छतम् ॥ ७ ॥
अभि त्वा जरिमाहित गामुक्षणमिव रज्ज्वा । यस्त्वा मृत्युरभ्यधत्त
जायमानं सुपाशया । तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद् बृहस्पतिः ॥ ८ ॥

अर्थ- हे (प्राणापानौ !) प्राण और अपान ! (युवं इह एव स्तं) तुम दोनों यहां ही रहो, (इतः मा अप गातं) यहांसे मत् दूर जाओ । (अस्य शरीरं) इसका शरीर और (अंगानि) सब अवयव (जरसे पुनः वहतं) वृद्धावस्थाके लिये फिर ले चलो ॥ ६ ॥

(त्वा जरायै परि ददामि) तुझे वृद्धावस्थाके लिये अर्पण करता हूं । (त्वा जरायै निधुवामि) तुझको वृद्धावस्था के लिये पहुंचाता हूं । (त्वा जरा भद्रा नेष्ट) तुझे वृद्धावस्था सुख देवे, (अन्ये मृत्यवः वि यन्तु) अन्य अपमृत्यु दूर हो जावें, (यान् इतरान् शतं आहुः) जिनको इतर सौ प्रकारके कहा जाता है ॥ ७ ॥

(उक्षणं गां इव रज्ज्वा) जैसे बैलको अथवा गौको रस्सीसे बांध देते हैं उस प्रकार (जरिमा त्वा अभि आहत) बुढापेने तुझको बांधा है । (यः मृत्युः जायमानं त्वा सुपाशया अभ्यधत्त) जिस मृत्युने उत्पन्न होते हुएही तुझको उत्तम पाशसे बांध रखा है (ते तं) तेरे उस मृत्युको सत्यस्य हस्ताभ्यां बृहस्पतिः उदमुञ्चत्) सत्यके दोनों हाथोंसे बृहस्पति छुडा देता है ॥ ८ ॥

भावार्थ- हे प्राण और अपान ! तुम दोनों इसके शरीरमें निवास करो, यहांसे दूर मत जाओ। इसके शरीरको और संपूर्ण अवयवोंको पूर्ण वृद्ध अवस्था तक अच्छी प्रकार चलाओ ॥ ६ ॥

हे मनुष्य ! मैं अब तुझको वृद्धावस्थाके लिये समर्पित करता हूं । वृद्धावस्थातक मैं तुझको आयु देता हूं । तुझे आरोग्यपूर्ण बुढापा प्राप्त हो और सब अन्य अपमृत्यु तुझसे अब दूर हों ॥ ७ ॥

जैसे गाय या बैलको एक स्थानपर रस्सीसे बांधदेते हैं वैसे अब तेरे साथ वृद्धावस्थाकी पूर्ण आयु बांधी गई है । जो अपमृत्यु जन्मते ही तेरे साथ लगा हुआ था उस अपमृत्युसे तुझको सत्यके हाथोंसे बृहस्पति छुडा देता है ॥८॥

हवनसे दीर्घायुष्यकी प्राप्ति।

हवन की बडी भारी शक्ति है, इससे आरोग्य, बल, दीर्घ आयुष्य आदि प्राप्त हो सकता है। यज्ञ यागोंमें हवन होता है, ये यज्ञयाग ऋतुओंकी संधियोंमें किये जाते हैं और इनसे ऋतुपरिवर्तनके कारण होनेवाले रोगादि दूर हो जाते हैं इस विषयमें कहा है-

औषधियोंके यज्ञ।

भैषज्ययज्ञा वा एते। तस्मादृतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते।
ऋतुसन्धिषु व्याधिर्जायते॥ गो. ब्रा. उ. प्र. १।१९

"ये औषधियोंके महामख हैं, इसलिये ऋतुसंधियोंमें ये यज्ञ किये जाते हैं इसका कारण यह है कि ऋतुसंधियोंमें व्याधियां होती हैं।"

ऋतुपरिवर्तनके कारण हवा बिगडती है, इससे रोग होते हैं। इन रोगोंका प्रतिबंध करनेके लिये ये औषधियाग किये जाते हैं। रोगनाशक, आरोग्यवर्धक और पुष्टिकारक तथा बलवर्धक औषधियोंका इनमें हवन किया जाता है। जो यज्ञ रोगनाशक, आरोग्य-वर्धक, पुष्टिकारक और बलवर्धक होंगे वे दीर्घ आयु देनेवाले निःसंदेह होंगे इसमें किसी को भी संदेह नहीं हो सकता। इस लिये इस सूक्तमें जो हवनसे दीर्घ आयुष्य प्राप्त कर-नेका संदेश दिया है वह अवश्य विचार करने योग्य है।

हवनसे रोग दूरकरना।

हवनसे रोग दूर करनेके विषयमें इस सूक्तका कथन मनन करने योग्य है—

अज्ञातयक्ष्मात् उत राजयक्ष्मात् त्वा मुञ्चामि। (मं० १)
तस्याः (ग्राह्याः) इन्द्राग्नी एनं प्रमुमुक्तम्। (मं० १)

"अज्ञात रोग और ज्ञात रोग, या राजयक्ष्मा रोग इन रोगोंसे रोगमुक्त कर देते हैं। पकडनेवाले रोगसे इन्द्र और अग्नि इस रोगी को मुक्त कर देते हैं।"

इस मंत्र में हवनसे ज्ञात और अज्ञात रोगोंकी दूर होजानेकी संभावना दर्शायी है। ज्ञात रोग वे होते है कि जिनकी पहचान संपूर्ण लक्षणोंसे आसानीसे होती है। तथा अज्ञात रोग उनको कहते हैं कि जो ठीक प्रकार पहचाने नहीं जाते अथवा जिनके विषयमें वैद्योंकी परीक्षामें मतभेद हुआ करता है। कोई वैद्य एक रोग बताता है तो दूसरा वैद्य दूसरा ही रोग बताता है। इस प्रकार रोग ज्ञात हो अथवा अज्ञात हो,उसको

हवन द्वारा दूर किया जा सकता है, अर्थात् अग्निमें योग्य औषधियोंका हवन करनेसे रोगी रोगमुक्त हो जाता है । विविध रोगोंकी निवृत्तिके लिये अन्यान्य औषधियोंका हवन करनेकी आवश्यकता है और कुछ पदार्थ ऐसे भी हवनमें होते होंगे कि जिनसे सामान्यतया आरोग्य प्राप्त होता हो । ऐसे योग्य औषधियोंके संमिलित हवनसे मनुष्य पूर्ण नीरोग और दीर्घायुसे युक्त हो जाता है ।

हवनका परिणाम ।

हवनका परिणाम यहां तक होता है कि आसन्न मरण रोगी भी रोग मुक्त होकर आरोग्य प्राप्त करता है इस विषयमें द्वितीय मंत्र स्पष्ट शब्दों द्वारा कहता है कि, "यदि यह रोगी करीब मरनेकी अवस्थातक पहुंच चुका हो, मृत्युके पास भी गया हो, इसकी आयु भी समाप्त हो चुकी हो, तोभी हवनसे इसकी सब आपत्ति दूर हो सकती है और इसको सौ वर्षकी पूर्ण आयु प्राप्त हो सकती है । " (मं० २)

शतायु करनेवाला हवन ।

इस वर्णन से हवनका अपूर्व आरोग्यवर्धक परिणाम ज्ञात हो सकता है। तृतीय मंत्रमें हवनका नाम ही "शतायु हवि" कहा है अर्थात् इस हवन से सौ वर्षकी पूर्ण आयु प्राप्त हो सकती है । इस " शतायु हवि " के अंदर शतवीर्य अर्थात् सौ प्रकारके बल होते हैं और (सहस्र-अक्ष) हजार प्रकारकी शक्तियां होती हैं । इससे--

नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् । (मं० ३)

" सब दुरितको दूर किया जाता है । " दुरित नाम पापका है । यह " दुरित " (दुः-इत) वह है कि जो दुःख उत्पन्न करनेवाला शरीरमें घुसा होता है; यह शरीरमें घुस कर नाना प्रकारकी पीडाएं उत्पन्न करता है । हवनसे यह दुरित अर्थात् रोगोत्पादक द्रव्य शरीरसे दूर किया जाता है ।

चतुर्थ मंत्रमें विश्वास पूर्वक कहा है कि अब तो " हवन किया गया है, इन्द्र, अग्नि, सविता, बृहस्पति आदि देवताओंसे शक्तियां प्राप्त की गई हैं, अब तू विश्वास पूर्वक अपनी सब शक्तियां बढाता हुआ सौ वर्षतक जीता रह । अब तुम्हें मृत्युका भय नहीं है । (मं० ४) " हवन का ऐसा सुपरिणाम होता है और इतना विश्वास उत्पन्न हो जाता है । यह हवनका परिणाम मनन पूर्वक देखने योग्य है ।

पंचम और षष्ठ मंत्रोंमें प्राण और अपानको आदेश पूर्वक कहा है कि— "हे प्राण

और अपान ! तुम अब इसी पुरुषके देहमें घुसो, यहां ही अपने कार्य करो और इसके शरीरको तथा संपूर्ण इन्द्रियोंको पूर्ण आयुकी समाप्तितक अपने अपने कार्य करनेके योग्य रखो। तथा इसके शरीरसे पृथक् न होओ। तुम्हारे कार्यसे इसके संपूर्ण अपमृत्यु दूर हो जावें (मं० ५-६)।" जब पूर्ण आरोग्य प्राप्त होता है और हवनसे शरीरमें नव जीवन संचारित होता है; तब शरीरमें स्थिर रूपसे प्राणापान रहेंगे ही। यह हवनका परिणाम है।

सप्तम मंत्रमें कहा है कि- "हे मनुष्य ! अब मैं तुझको वृद्ध अवस्थाके लिये समर्पण करता हूं, तुझे सुखमयी वृद्ध अवस्था प्राप्त होवे और सब अपमृत्यु तुझसे दूर होजावें" (मं०७)। वृद्ध अवस्थाकी गोदमें समर्पण करनेका तात्पर्य यही है कि पूर्ण वृद्धावस्था होनेतक अर्थात् सौ वर्षकी पूर्ण आयुतक जीवित रहना।

मरणका पाश।

अष्टम मंत्रमें एक बडा भारी सिद्धांत कहा है कि हर एक मनुष्य जन्मते ही मृत्युके पाश से बांधा जाता है—

यस्त्वा मृत्युरभ्याधत्त जायमानं सुपाशया। (मं० ८)

"मृत्यु तुझको अर्थात् हरएक प्राणिमात्रको जन्मतेही उत्तम पाशसे बांधकर रखता है।" कोई मनुष्य अथवा कोई प्राणी मृत्युके इस पाशसे छूटा नहीं होता। जो जन्मको प्राप्त हुआ है वह अवश्य किसी न किसी समय मरेगा ही। सब उत्पन्न हुए प्राणिमात्रों को मृत्युने अपने पाशोंसे ऐसा जकड कर बांधा है कि वे इधर उधर जा नहीं सकते और सब मृत्युके वशमें होते हैं।

"सब जन्म लेनेवाले प्राणियोंको एक वार अवश्य मरना है" यह इस मंत्रका कथन हरएकको अवश्य विचार करने योग्य है। हरएकको स्मरण रखना चाहिये कि अपने सिरपर मृत्युने पांव रखा हुआ है। इस विचारसे मनुष्यको सत्य धर्मका पालन करना चाहिये। सत्यही इस मृत्युसे बचाने वाला है।

सत्यसे सुरक्षितता।

मृत्युके पाशसे बचानेवाला एक मात्र उपाय "सत्य" है यह अष्टम मंत्रने बताया है।-

तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद् बृहस्पतिः । (मं०८)

"बृहस्पति तुझे सत्यके संरक्षक हाथोंसे उस मृत्युसे बचाता है ।" अर्थात् जो मनुष्य सत्यका पालन करता है उसका बचाव परमेश्वर करता है । वस्तुतः सत्यसे ही उसका बचाव होता है । सत्यका रक्षण ऐसा है कि जिससे दूसरे किसी रक्षण की तुलना नहीं हो सकती, अर्थात् एक मनुष्य अपना बचाव सत्यके हाथोंसे करता है और दूसरा मनुष्य अपना बचाव शस्त्रास्त्रोंसे करता है तो सत्यसे अपना बचाव करनेवाला मनुष्य अधिक सुरक्षित है, अपेक्षा उसके कि जो अपने आपको शस्त्रोंसे रक्षित समझता है । सत्याग्रह से अपनी रक्षा करना ब्राह्मबल है और शस्त्रास्त्रोंसे अपनी रक्षा करना क्षात्र बल है । क्षात्रबलमे ब्राह्मबल अधिक श्रेष्ठ है इसमें किसीको संदेह ही नहीं है ।

सत्यपालनसे दीर्घायुकी प्राप्ति ।

यहां हमें सूचना मिलती है कि दीर्घायुकी प्राप्ति करनेकी इच्छा करनेवाले को सत्यका पालन करना अत्यंत आवश्यक है । सत्यके संरक्षक हाथोंसे सुरक्षित हुआ मनुष्य ही दीर्घजीवी हो सकता है ।

इस मंत्रमें जो हवन का महत्त्व वर्णन किया है वह यज्ञ शास्त्रमें प्रसिद्ध है । यज्ञसे जनताकी भलाई, आरोग्य प्राप्ति आदि होनेका वर्णन सब यज्ञ शास्त्र कर रहे हैं । इस दृष्टिसे यह सूक्त एक आरोग्य प्राप्तिका नवीन साधन बता रहा है ।

किस रोगके दूर करनेके लिये किस हवन सामग्री का हवन होना चाहिये इस विषयमें यहां कुछ भी नहीं कहा है परन्तु हवन का सर्व सामान्य परिणाम ही यहां बताया है । हरएक रोगके दूर करनेके लिये विशेष प्रकारके हवनोंका ज्ञान अन्यान्य सूक्तोंसे प्राप्त करना चाहिये । वैदिक विद्याओंकी खोज करनेवालोंके लिये यह एक बडा महत्त्व पूर्ण खोजका विषय है । खोज करनेवाले इसकी खोज अवश्य करें । इससे जैसा व्यक्तिका भला हो सकता है, वैसा ही राष्ट्रका भी भला हो सकता है ।

गृह निर्माण।

[१२]

(ऋषिः— ब्रह्मा । देवता—शाला, वास्तोष्पतिः)

इहैव ध्रुवां नि मिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठाति घृतमुक्षमाणा ।
तां त्वा शाले सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उप सं चरेम ॥ १ ॥
इहैव ध्रुवा प्रति तिष्ठ शालेऽश्वावती गोमती सूनृतावती ।
ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय ॥ २ ॥

अर्थ— (इह एव ध्रुवां शालां निमिनोमि) इसी स्थानपर सुदृढ शाला को बनाता हूं। वह शाला (घृतं उक्षमाणा क्षेमे तिष्ठाति) घी सींचती हुई हमारे कल्याणके लिये ठहरी रहेगी। हे (शाले) घर! (तां त्वा सर्ववीराः अरिष्टवीराः सुवीराः उप संचरेम) तेरे चारों ओर हम सब वीर विनष्ट न होते हुए उत्तम पराक्रमी बनकर फिरते रहेंगें ॥ १ ॥

हे शाले! तू (अश्वावती गोमती सूनृतावती) घोडोंवाली, गौओंवाली और मधुर भाषणोंवाली होकर (इह एव ध्रुवा प्रतितिष्ठ) यहां ही स्थिर रह। तथा (ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वती) अन्नवाली, घीवाली और दूधवाली होकर (महते सौभगाय उच्छ्रयस्व) बडे सौभाग्य के लिये उंची बनकर खडी रह ॥ २ ॥

भावार्थ— इस उत्तम स्थानपर मैं उत्तम और सुदृढ घर बनाता हूं, जिसमें घी आदि खाने पीनेके पदार्थ बहुत रहें और जो सब प्रकार के स्वास्थ्य साधनोंसे परिपूर्ण हो। हम सब प्रकार के शौर्यवीर्यादि गुणोंसे युक्त होकर और किसी प्रकार कष्टोंको प्राप्त न होते हुए इस घरके चारों ओर घूमा करेंगे ॥ १ ॥

इस घरमें घोडे, गौवें, बैल आदि पशु बहुत हों, यह घर उत्तम मीठे भाषणसे युक्त हो, अन्न घी दूध आदि खाद्य पेय इसमें बहुत हों और इसमें रहनेवालोंको बडे सौभाग्यकी प्राप्ति हो ॥ २ ॥

धरुण्य॑सि शाले बृहच्छ॑न्दाः पू॒तिधा॑न्या ।
आ त्वा॑ व॒त्सो ग॑मे॒दा कु॑मा॒र आ धे॒नवः॑ सा॒यमा॑स्पन्द॑मानाः ॥ ३ ॥
इ॒मां शालां॑ सवि॒ता वा॒युरिन्द्रो॒ बृह॒स्पति॒र्नि मि॑नोतु प्रजा॒नन् ।
उ॒क्षन्तू॒द्ना म॒रुतो॑ घृ॒तेन॒ भगो॑ नो॒ राजा॒ नि कृ॒षिं त॑नोतु ॥ ४ ॥
मान॑स्य पत्नि श॒रणा॑ स्यो॒ना दे॒वी दे॒वेभि॒र्निमि॑तास्यग्रे॑ ।
तृणं॒ वसा॑ना सु॒मना॑ असस्त्व॒मथा॒स्मभ्यं॑ स॒हवी॑रं र॒यिं दाः॑ ॥ ५ ॥

अर्थ- हे शाले! (बृहत्-छन्दाः पूतिधान्या) बडे छतवाली और पवित्रधान्य वाली तथा (धरुणी असि) धान्यादि का भण्डार धारण करनेवाली तू है।(त्वा वत्सः कुमारः आ गमेत्) तेरे अंदर बछडा और बालक आजावे।(आस्पन्दमाना धेनवः सायं आ) कूदती हुई गौवें सायंकालके समय आजावें॥ ३॥

(इमां शालां) इस शालाको सविता, वायु, इन्द्र, और बृहस्पति (प्रजानन् नि मिनोति) जानता हुआ निर्माण करे। (मरुतः उद्ना घृतेन उक्षन्तु) मरुत गण जलसे और घीसे सींचें, तथा (भगः राजा नः कृषिं नि तनोतु) भाग्यवान् राजा हमारे लिये कृषिको बढावे॥ ४॥

हे (मानस्य पत्नि) संमानकी रक्षक, (शरणा स्योना देवी) अंदर आश्रय करने योग्य, सुख दायक, दिव्य प्रकाशमान ऐसी (देवेभिः अग्रे निमिता असि) देवोंद्वारा पहले बनायी हुई है। (तृणं वसाना त्वं सुमनाः असः) घासको पहने हुए तू उत्तम मनवाली हो (अथ अस्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः) और हम सबके लिये वीरोंसे युक्त धन दे॥ ५॥

भावार्थ-- इस घरमें धान्यादिका बडा भण्डार हो, उस भंडारमें शुद्ध और पवित्र धान्य भरा रहे। ऐसे घरमें बालक और बछडे घूमते रहें और सायंकालमें आनंदसे नाचती हुई गौवें आजांय॥ ३॥

इस शालाके निर्माणमें सविता वायु इन्द्र और बृहस्पति ये देव सहायता दें। मरुत गण इस घरमें विपुल घी देनेमें सहायक हों तथा राजा भग कृषि बढानेमें सहायता देवे॥ ४॥

घर अंदर निवास करने योग्य, सुख दायक है, यह एक संमानका साधन भी है। पहले यह देवोंद्वारा बनाया गया था। घासके छप्पर से भी यह बनता है। ऐसे घरसे हमारा मन शुभ संकल्प वाला होवे और हमें वीरोंसे युक्त धन प्राप्त हो॥ ५॥

ऋतेन॒ स्थूणा॒मधि॑ रोह वंशो॒ग्रो वि॒राज॒न्नप॑ वृङ्क्ष्व॒ शत्रू॑न् ।
मा ते॑ रिषन्नुपस॒त्तारो॑ गृ॒हाणां॑ शाले श॒तं जी॑वेम श॒रदः॒ सर्व॑वीराः ॥६॥
एमां कु॑मा॒रस्तरु॑ण॒ आ व॒त्सो जग॑ता स॒ह । एमां परि॒स्रुतः॑ कु॒म्भ आ द॒ध्नः क॒लशै॑रगुः ॥७॥
पूर्णं ना॑रि॒ प्र भ॑र कु॒म्भमे॒तं घृ॒तस्य॒ धारा॑म॒मृते॑न॒ संभृ॑ताम् ।
इ॒मां पा॒तॄन॒मृते॑ना॒ सम॑ङ्ग्धी॒ष्टापू॒र्तम॒भि र॑क्षात्येनाम् ॥ ८ ॥

अर्थ- हे (वंश) बांस ! तू (ऋतेन स्थूणां अधिरोह) अपने सीधेपनसे अपने आधारपर चढ और (उग्रः विराजन् शत्रून् अपवृङ्क्ष्व) उग्र बनकर प्रकाशता हुआ शत्रुओंको हटादे। (ते गृहाणां उपसत्तारः मा रिषन्) तेरे घरोंके आश्रयसे रहनेवाले हिंसित न होवें। हे शाले ! हम (सर्ववीराः शतं शरदः जीवेम) सब वीरोंसे युक्त होकर सौवर्ष जीते रहेंगे ॥ ६ ॥

(इमां कुमारः आ) इस शालाके पास बालक आवे, (तरुणः आ) तरुण पुरुष आवे, (जगता सह वत्सः आ) चलने वालोंके साथ बछडा भी आवे। (इमां परिस्रुतः कुम्भः) इसके पास मधुररससे भराहुआ घडा (दध्नः कलशैः आ अगुः) दहीके कलशोंके साथ आजावे ॥ ७ ॥

हे (नारि) स्त्री ! (एतं पूर्णं कुम्भं) इस पूर्ण भरे घडेको तथा (अमृतेन संभृतां घृतस्य धारां) अमृतसे भरी हुई घीकी धाराको (प्रभर) अच्छी प्रकार भर कर ला। (पातॄन् अमृतेन सं अङ्ग्धि) पीनेवालोंको अमृतसे अच्छीप्रकार भर दे। (इष्टापूर्तं एनां अभिरक्षति) यज्ञ और अन्नदान इस शालाकी रक्षा करते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ- सीधे स्तंभ पर सीधे बांस रखे जावें और इस रीतिसे विरोधीयोंको दूर किया जावे। घरोंके आश्रयसे रहने वाले दुःखी, कष्टी या विनष्ट न हों। इसमें रहने वाले सब वीर होकर सौ वर्षतक जीवित रहें ॥ ६ ॥

इस घरके पास बालक, तरुण आदि सब आजावें। बछडे और अन्य घरके पशु पक्षी भी घूमते रहें। इस घरमें शहदके मीठे रससे भरे हुए घडे तथा दहीसे भरे हुए घडे बहुत हों ॥ ७ ॥

स्त्रियां इन घडोंको भर कर लावें और घीके घडेभी बहुत लावें और पीने वालोंको यह दूध, दही, घी आदि सब रस, भरपूर पिलावें। क्यों कि इनका दान ही घरकी रक्षा करता है ॥ ८ ॥

इमा आपः प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः ।
गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना ॥ ९ ॥

अर्थ- (इमाः यक्ष्मनाशिनीः अयक्ष्माः आपः) ये रोगनाशक और स्वयं रोग रहित जल (प्र आभरामि) मैं भर लाता हूं । (अमृतेन अग्निना सह) अमृत अग्निके साथ (गृहान् उप प्र सीदामि) घरोंमें जाकर बैठता हूं॥९॥

भावार्थ- घरमें पीनेके लिये ऐसा जल लाया जावे कि जो रोग नाशक और आरोग्य वर्धक हो । घरमें अगटी भी हो जिसके पास जाकर लोग शीतका निवारण करके आनंद प्राप्त करें ॥ ९ ॥

घरकी बनावट ।

जो गृहस्थी हैं उसको घर बनाकर रहना आवश्यक है, फिर वह घर घाससे बनी हुई (तृणं वसाना । मं० ५) झोपडीके समान हो अथवा बडा सौध हो । घर किसी भी प्रकारका हो, परंतु गृहस्थीके लिये वह अवश्य चाहिये, नहीं तो गृहस्थका "गृह-स्थ-पन" ही नहीं सिद्ध होगा ।

घर बनाने योग्य स्थान ।

घरके लिये स्थान भी योग्य होना चाहिये, रमणीय होना चाहिये और आरोग्य कारक होना चाहिये, इस विषयमें इस सूक्तमें निम्नलिखित निर्देश देखने योग्य हैं -

१ क्षेमे (मं० १)=सुरक्षित, शांति देनेवाला, सुख कारक, आरोग्य दायक, निर्भय, ऐसा स्थान घरके लिये हो ।

२ ध्रुवा (मं० १,२)=स्थिर, सुदृढ, जहां बुनियाद स्थिर और दृढ हो सकती है । इस प्रकारकी भूमिपर घर बनाना चाहिये और वह घर अपनी सामर्थ्यके अनुसार सुदृढ, (ध्रुवा) स्थिर और मजबूत बनाना चाहिये, ताकि वारंवार उसकी मरम्मत करनेका व्यय उठाना न पडे ।

घर कैसा बनाया जावे ?

घरके कमरे जहांतक होसकें वहांतक विस्तीर्ण बनाये जावें । "बृहत्-छंदाः (मं० ३)" अर्थात् बडे बडे छतवाले कमरोंसे युक्त घर हो । घरमें संकुचित स्थान न हो क्योंकि

छोटे छोटे कमरोंमें रहनेवालोंके विचार भी संकुचित बनते जाते हैं। इसलिये अपनी आर्थिक शक्तिके अनुसार जहांतक विस्तीर्ण बनाना संभव हो वहांतक प्रशस्त घर बनाया जावे, जहां बहुत इष्टमित्र अतिथी आदि (शरणा। मं० ५) आजांय और (स्योना। मं० ५) विश्राम ले सकें।

संमान का स्थान।

घर गृहस्थीके लिये बडा संमानका (शाला मानस्य पत्नी। मं० ५) स्थान है, अपना निजका घर होनेसे वह एक प्रतिष्ठाका स्थान होजाता है। इष्टमित्रोंको सुख पहुंचानेका वह एक बडा स्थान होता है। इस लिये पूर्वोक्त प्रकार घर बनाना चाहिये। घर बनते ही घरमें अन्यान्य साधन इकट्ठे करने चाहियें, इस विषयमें निम्न लिखित संकेत विचार करने योग्य हैं —

१ अश्वावती (मं० २) – घरमें घोडे हों, अर्थात् गृहस्थी के पास घोडे, घोडियां हों। यह शौर्यका साधन है।

२ गोमती (मं० २) – घरमें गौएँ हों। यह पुष्टिका साधन है, गौसे दूध मिलता है जिसको पीकर मनुष्य पुष्ट होते हैं। बैलोंसे खेती होती है। धेनवः आस्पन्दमानाः सायं आ (मं०३) – सायंकालके समय गौवें आनंदसे नाचती हुई आजावें।

३ पयस्वती (मं० २) – घरमें बहुत दूध हो।

४ घृतवती (मं० २) –घरमें विपुल घी हो।

५ घृतं उक्षमाणा (मं० १) – घी देनेवाला, अर्थात् अतिथि आदि के लिये विपुल घी देनेवाला घर हो। घरके लोग अन्नदान में कंजूसी न करें।

६ ऊर्जस्वती (मं० २) – घरमें बहुत अन्न हो, खानपान के पदार्थ विपुल हों।

७ धरुणी (मं० ३) = जिसमें धान्यादिका बडा भंडार हो, जिसमें संग्रहस्थान हो, और वहां सब प्रकारके पदार्थ उत्तम अवस्थामें मिलें।

८ पूतिधान्या (मं० ६) = घरमें पवित्र धान्य हो, जो रोगादि उत्पन्न करनेवाला न हो, उत्तम अवस्थामें हरएक प्रकारके पदार्थ हों, जो खानेसे शरीरकी पुष्टि और मनका समाधान हो। घरमें धान्य लानेके समय वह केवल सस्ता मिलता है इस लिये लाया न जाय, परंतु लानेके समय देखा जाय, कि यह पवित्र, शुद्ध, नीरोग और पोषक है वा नहीं।

९ परिस्रुतः कुम्भः (मं० ७) = मधुर शहदसे भरा हुआ घडा अथवा अनेक घडे घरमें सदा रहें।

१० दध्नः कलशैः (मं० ७) = दहीसे परिपूर्ण भरेहुए कलश घरमें हों।

११ घृतस्य कुम्भम् (मं० ८) = उत्तम घीसे भरे हुए घट घरमें हों।

१२ अयक्ष्मा यक्ष्मनाशिनीः आपः (मं० ९) = नीरोग और रोग दूर करनेवाले शुद्ध जल घडोंमें भर कर घरमें रखा जावे।

इत्यादि शब्दों द्वारा इस सूक्तमें घर का वर्णन किया है। इन शब्दोंके मनन से पाठक स्वयं जान सकते हैं कि घरमें कैसी व्यवस्था रखना चाहिये और घर कैसा धन धान्यसंपन्न बनाना चाहिये। तथा—

१ वत्सः आगमेत् (मं० ३,७) = घरमें बछडे खेलते रहें, घरके पास बछडे नाचते रहें।

२ कुमारः आ गमेत् (मं० ३,७)=घरमें और बाहर बाल बच्चे, कुमार और कुमारिकाएं आनंदसे खेल कूद करते रहें।

३ तरुणः आ गमेत् (मं० ७) = युवा, तरुण पुरुष और तरुणियां घरमें और बाहर भ्रमण करें।

प्रसन्नताका स्थान।

अर्थात् घर ऐसा हो कि जिसमें बाल बच्चे खेलते रहें और तरुण तथा अन्यान्य आयुवाले स्त्री पुरुष अपने अपने कार्यमें आनंदसे दत्त चित्त हों। सबके मुखपर आनंद दीखे और घरका प्रत्येक मनुष्य प्रसन्नताकी मूर्ति दिखाई देवे। हरएक मनुष्य ऐसा कहे कि—

गृहान् उप प्रसीदामि। (मं० ९)

"मैं अपनी पराकाष्ठा करके अपने घरको प्रसन्नताका रमणीय स्थान बनाऊंगा।" यदि घरका प्रत्येक मनुष्य अपने घरको "प्रसन्नताका स्थान" बनानेका प्रयत्न करेगा तो सचमुच वह घर प्रसन्नताका केन्द्र अवश्यमेव बन जायगा।

पाठक इस उपदेशका अधिक मनन करें क्योंकि इससे हरएक पाठक पर एक विशेष उत्तरदायित्व आता है। अपने प्रयत्नसे अपने घरको "प्रसन्नताका स्थान" बनाना है, यह कार्य दूसरेपर सोंपा नहीं जा सकता, यह तो हरएकको ही करना चाहिये। यह उपदेश देनेके पश्चात् हरएक पाठकसे वेद पूछेगा कि "क्या इस उपदेशानुसार अपना कर्तव्य तुमने किया ?" पाठक इसका योग्य उत्तर देनेकी तैयारी करें। घरको प्रसन्नताका

स्थान बनानेके लिये ऊपर लिखे हुए साधन इकट्ठे तो करने ही चाहियें परंतु केवल इतनोंसे ही वह प्रसन्नता नहीं आवेगी कि जो वेदको अभीष्ट है, इस लिये वेदने और भी निर्देश दिये हैं, देखिये—

१ सूनृतावती (मं० २) – घरमें सभ्यताका सच्चा भाषण हो, प्रेमपूर्वक वार्तालाप होता हो, सच्ची उन्नतिका सत्य भाषण हो। छल कपट धोखा आदिके भाषण न हों।

२ सुमनाः (मं०५)- उत्तम मनसे उत्तम व्यवहार करनेवाले मनुष्य घरमें कार्य करें।

घरको मंगलमय बनानेके लिये जैसे खानपानके अच्छे पदार्थ घरमें बहुत चाहिये उसी प्रकार घरके स्त्रीपुरुषोंके अंतःकरण भी श्रेष्ठ विचारोंसे युक्त चाहिये। तभी तो घर प्रसन्नताका स्थान बन सकता है। घरमें धन दौलत तो बहुत रही, और घरवालोंके मन छली और कपटी हुए तो उस घर को घर कोई नहीं कहेगा वह तो एक दुःखका स्थान होगा। इस लिये पाठक—जो अपने घरको प्रसन्नताका स्थान बनाना चाहते हैं वे—इन शब्दोंसे उचित बोध प्राप्त करें। शीत कालमें तथा वृष्टिके दिनोंमें सर्दी बहुत होती है, इसलिये शीतके निवारणके लिये घरमें अगटी रखना चाहिये जिससे शीतसे त्रस्त मनुष्य सेक लेकर आनंद प्राप्त कर सकता है, दूसरी बात यह है कि "अमृत अग्नि" (मं० ९) जो परमेश्वर है उसकी उपासनाका एक स्थान घरमें बनना चाहिये, जहां अग्निहोत्र द्वारा अग्न्युपासनासे लेकर ध्यानधारणा द्वारा परमात्मोपासना तक सब प्रकारकी उपासना करके मनुष्य परम आनंदको प्राप्त करे। जिस घरमें ऐसी उपासना होती है वही घर सचमुच " प्रसन्नताका केन्द्र " हो सकता है। इसी प्रकारका घर–

महते सौभगाय उच्छ्रयस्व। (मं० २)

"बडे शुभमंगल की प्राप्ति के लिये यह घर उठकर खडा होवे।" अर्थात् यह घर इस प्रकारसे बडा सौभाग्य प्राप्त करे। जिस घरमें पूर्वोक्त प्रकार अंतर्बाह्य व्यवस्था रहेगी वहां बडा शुभमंगल निवास करेगा इसमें कोई संदेहही नहीं है।

वीरतासे युक्त धन।

सौभाग्य प्राप्तिके अंदर "भग" अर्थात् धन कमाना भी संमिलित है। परंतु धन कमानेके पश्चात् उसकी रक्षा करनेकी शक्ति चाहिये और उसके शत्रुओंको दूर करनेके लिये शौर्य धैर्य वीर्य आदि गुण भी चाहिये। अन्यथा कमाया हुआ धन दूसरे लोग लूट लेंगे। इस लिये इस सूक्तने सावधानी की सूचना दी है —

अस्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः। (मं० ५)

"हमारे लिये वीरतासे युक्त धन दे।" धन प्राप्त हो और साथ साथ उसके संभालनेके लिये आवश्यक वीरताभी प्राप्त हो। हमारा घर वीरताके वायु मंडलसे युक्त हो—

१ सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उप संचरेम॥ (मं० १)

२ शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः॥ (मं० ६)

"हम सब प्रकारसे वीर, उत्तम वीर, नाशको न प्राप्त होने वाले वीर, सौ वर्ष जीवित रहकर धर्मकी रक्षा करनेके लिये तैयार रहनेवाले वीर हो कर अपने अपने घरोंमें संचार करेंगे।" ये मंत्र स्पष्ट शब्दोंद्वारा कह रहे हैं कि घरोंका वायुमंडल "वीरताका वायुमंडल" चाहिये। भीरुताका विचारतक वहां आना नहीं चाहिये। घरोंके पुरुष धर्मवीर हों और स्त्रियां वीरांगनाएं हों, ऐसे स्त्री पुरुषोंसे जो संतान होंगे वे "कुमार-वीर" ही होंगे इसमें क्या संदेह है? इसी लिये वेदमें पुत्रका नाम "वीर" आता है। पाठक इसका विचार करें और अपने घरका वायु मंडल ऐसा बनावें।

अतिथि सत्कार।

ऐसे मंगलमय वीरतासे युक्त घरोंमें रहनेवाले धर्मवीर पुरुष अतिथि सत्कार करेंगे ही। इस विषयमें कहा है —

पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धाराममृतेन संभृताम्।
इमां पातॄनमृतेना समङ्ग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम्॥
(मं० ८)

"गृहपत्नी अतिथियोंको परोसनेके लिये घीका घडा लावे, मधुररस से भरा घडा लावे और पीनेवालोंको जितना चाहिये उतना पिलावे, कंजूसी न करे। इस प्रकारका अन्न दान करना ही घरकी रक्षा करता है।"

अतिथि सत्कारमें अन्नपान अथवा अन्यपदार्थोंका दान खुले हाथ से देना चाहिये, उसमें कंजूसी करना योग्य नहीं है। क्योंकि दानही घरका संरक्षण करता है। जिस घर-में अतिथियोंका सत्कार होता है उस घरका यश बढता जाता है।

यहां अतिथियोंके लिये अन्न परोसनेका कार्य करना स्त्रियोंका कार्य लिखा है। यहां पर्दा नहीं है। पर्देवाले घरोंमें अतिथिको भोजन देनेका कार्य या तो नौकर करता है अथवा घरका मालिक करता है। यह अतिथि सत्कार की अवैदिक प्रथा है। अतिथिके लिये भोजन खान पान आदि गृहपत्नीको देना चाहिये यह वेद का आदेश यहां है, जिसकी ओर घरमें पर्देकी प्रथा रखनेवाले पाठकोंका मन आकर्षित होना आवश्यक है।

देवोंद्वारा निर्मित घर।

घर देवोंने प्रारंभमें बनाया इस विषयमें यह निम्न लिखित मंत्र देखना चाहिये—

शरणा स्योना देवी (शाला) देवेभिर्निमिताग्रे ॥
तृणं वसाना सुमनाः ··· ···॥ (मं० ५)

" अंदर आश्रय करने योग्य, सुखदायक, घासके छपर वाला, परंतु उत्तम विचारोंसे युक्त दिव्य घर प्रारंभमें देवोंने बनाया। " दिव्य वीर पुरुषोंके द्वारा जो पहला घर निर्माण हुआ वह ऐसा था। यद्यपि इसपर घांस का छपर था तथापि उसके अंदर उत्तम विचार होते थे, अंदर जानेसे आराम मिलता था और सुखभी होताथा। इसका तात्पर्य यही है कि घर छप्परका ही क्यों न हो परंतु वह दिव्य विचारोंका दिव्य घर होना चाहिये वह क्रूर विचारोंका " राक्षसभवन " नहीं होना चाहिये। " देवोंका घर " धनसे नहीं होता है प्रत्युत अंदर की शांति और प्रसन्नतासे होता है। पाठक प्रयत्न करके अपना घर ऐसा "देव भवन" ही बनावें और वैदिक धर्मको अपने घरमें प्रकाशित रूपमें प्रकट करें।

देवोंकी सहायता।

घर ऐसे स्थान में बनाया जावे कि जहां सूर्य, चंद्र, वायु, इन्द्र, आदि देवोंसे सहायक शक्ति विपुल प्रमाणमें प्राप्त होती रहे-

इमां शालां सविता वायुरिन्द्रो बृहस्पतिर्नि मिनोतु प्रजानन्।
उक्षन्तूद्ना मरुतो घृतेन भगो नो राजा नि कृषिं तनोतु ॥ (मं० ४)

" सूर्य वायु इन्द्र बृहस्पति जानते हुए इस घरकी सहायता करें। मरुत् नामक बर्सांती वायु जलसे सहायता करें और भग राजा कृषि फैलानेमें सहायक हो। "

घरके लिये सूर्य प्रकाश विपुल मिले, शुद्ध वायु मिले, इन्द्र वृष्टि द्वारा सहायता करे, वृष्टि करनेवाले वायु योग्य वृष्टिसे सहायता करें और कृषिका देव भूमिसे कृषिकी योग्य उत्पत्ति करने द्वारा सहायक हो। घर ऐसे स्थानमें अथवा देशमें बनाना चाहिये कि जहां सूर्यादि देवताओं द्वारा योग्य शक्तियोंकी सहायता अच्छी प्रकार मिल जाय, भूमि उपजाऊ हो, वायु निर्दोष हो, जल आरोग्य दायक और पाचक हो, इस प्रकारके उत्तम देशमें गृहका निर्माण करना चाहिये।

जल ।

[१३]

(ऋषिः-भृगुः । देवता- वरुणः, सिन्धुः)

यददः संप्रयतीरहावनदता हते ।
तस्मादा नद्यो३ नाम स्थ ता वो नामानि सिन्धवः ॥ १ ॥
यत्प्रेषिता वरुणेनाच्छीभं समवल्गत ।
तदाप्नोदिन्द्रो वो यतीस्तस्मादापो अनु ष्ठन ॥ २ ॥

अर्थ— हे (सिन्धवः) नदियो ! (सं-प्र-यतीः) उत्तम प्रकारसे सदा चलनेवाली तुम (अहौ हते) मेघके हनन होनेके पश्चात् (अदः यत् अनदत) यह जो बडा नाद कर रही हो, (तस्माद् आ नद्यः नाम स्थ) उस कारण तुम्हारा नाम "नदी" हुआ है (ताः वः नामानि) वह तुम्हारे ही योग्य नाम हैं ॥ १ ॥

(यत् आत् वरुणेन प्रेषिताः) जब दूसरे वरुण द्वारा प्रेरित हुए तुम (शीभं समवल्गत) शीघ्रही मिलकर चलने लगी, (तत् इन्द्रः यतीः वः आप्नोत्) तब इन्द्रने गमन शील ऐसे तुमको 'प्राप्त' किया, (तस्मात् अनु आपः स्थन) उसके पश्चात् तुम्हारा नाम " आपः" हुआ ॥ २ ॥

भावार्थ— मेघकी वृष्टिसे अथवा बर्फ पिघल जानेसे जब नदियोंको महापूर आजाता है तब जलका बडा नाद होता है, यह 'नाद' होता है इसी लिये जल प्रवाहोंको "नदी" (नाद करनेवाली) कहा जाता है ॥१॥

जब वरुणराजसे प्रेरित हुआ जल शीघ्र गतिसे चलने लगता है, तब इन्द्र उसे प्राप्त करता है, "प्राप्त" होनेके कारण ही जलका नाम "आपः" (प्राप्त होने योग्य) होता है ॥ २ ॥

अपकामं स्यन्दमाना अवीवरत वो हि कम् ।
इन्द्रो वः शक्तिभिर्देवीस्तस्माद् वार्नाम वो हितम् ॥ ३ ॥
एको वो देवोऽप्यतिष्ठत् स्यन्दमाना यथावशम् ।
उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते ॥ ४ ॥
आपो भद्रा घृतमिदाप आसन्नग्नीषोमौ बिभ्रत्याप इत् ताः ।
तीव्रो रसो मधुपृचामरंगम आ मा प्राणेन सह वर्चसा गमेत् ॥ ५ ॥

अर्थ- (स्यन्दमानाः वः) बहनेवाले तुम्हारी गतिका (इन्द्रः हि अप-कामं कं अवीवरत) इन्द्रने विशेष कार्यके लिये सुखपूर्वक नि'वारण' किया (तस्मात् देवीः वः वार् नाम हितं) तबसे देवी जैसे तुम्हारा नाम "वारि" रखा है ॥ ३ ॥

(एकः देवः यथावशं स्यन्दमानाः वः) अकेले एक देवने जैसे चाहे वैसे बहनेवाले तुमको (अपि अतिष्ठत्) अधिकारसे देखा और कहा कि (महीः उदानिषुः) बडी शक्तियां ऊपरको श्वास लेती हैं, (तस्मात् उदकं उच्यते) तबसे तुमको "उदक" [उत्-अक] नाम से बोला जाता है ॥४॥

(आपः भद्राः) जल कल्याण करनेवाला और (आपः इत् घृतं आसन्) जल निः संदेह तेज बढानेवाला है । (ताः इत् आपः अग्नीषोमौ बिभ्रतः) वह जल अग्नि और सोम धारण करते हैं । (मधुपृचां अरंगमः तीव्रः रसः) मधुरतासे परिपूर्ण तृप्ति करनेवाला तीव्र रस (प्राणेन वर्चसा सह) जीवन और तेज के साथ (मा आगमेत्) मुझे प्राप्त होवे ॥५॥

भावार्थ- जब वेगसे बहनेवाले जल प्रवाहोंके मार्गको इन्द्रने विशेष कारण के लिये सुखपूर्वक बहनेके हेतु विशिष्ट मार्गसे चलनेके लिये निवारित किया, तब उस कारण जलका नाम "वार्" (वारि=निवारित किया गया) हुआ ॥३॥

स्वेच्छासे बहते जानेवाले जल प्रवाहोंको जब एक देवने अधिकारमें लाया और उनको ऊर्ध्व गतिसे ऊपरकी ओर चलाया, तब इस जलका नाम "उदक" (उत् अक=ऊपरकी ओर प्राण गति करना) होगया ॥ ४ ॥

यह जल निःसंदेह कल्याण कारक है, यह निश्चय पूर्वक तेज और पुष्टिको बढानेवाला है । अग्नि और सोम इसका धारण करते हैं । यह जल नामक रस ऐसा मधुर रस है कि यह पान करनेसे तृप्ति करता है और जीवनके तेजसे युक्त करता है ॥ ५ ॥

आदित् पश्याम्युत वा शृणोम्या मा घोषो गच्छति वाङ् मासाम् ।
मन्ये भेजानो अमृतस्य तर्हि हिरण्यवर्णा अतृपं यदा वः ॥ ६ ॥
इदं व आपो हृदयमयं वत्स ऋतावरीः ।
इहेत्थमेत शक्करीर्यत्रेदं वेशयामि वः ॥ ७ ॥

अर्थ-(आत् इत पश्यामि) निश्चयसे मैं देखता हूं (उत वा शृणोमि) और सुनता हूं (आसां घोषः वाक् मा आगच्छति) इनका घोष और शब्द मेरे पास आता है । हे (हिरण्यवर्णाः) चमकने वाले वर्णवालो ! (यदा वः अतृपं) जब मैंने तुम्हारे सेवनसे तृप्ति प्राप्त की (तर्हि अमृतस्य भेजानः मन्ये) तब अमृतके भोजन करनेके समान मुझे प्रतीत हुआ ॥ ६ ॥

हे (आपः) जलो ! (इदं वः हृदयं) यह तुम्हारा हृदय है । हे (ऋतावरीः) जलधाराओ ! (अयं वत्सः) यह मैं तुम्हारा बचा हूं । हे (शकरीः) शक्ति देनेवालो ! (इत्थं इह आ इत) इस प्रकार यहां आओ । (यत्र वः इदं वेशयामि) जहां तुम्हारे अंदर यह मैं प्रवेश करता हूं ॥ ७ ॥

भावार्थ- मनुष्य जलको आंखसे देखता है,और जलका शब्द दूरसे सुन-भी सकता है। शुद्ध निर्मल जल स्फटिकके समान चमकता है । जब मनुष्य इसको पीता है तब उसको अमृतपान करनेके समान आनंद होता है ॥६॥

जलका यह आन्तरिक तत्त्व है, मनुष्य जलका ही पुत्र है जल मनुष्य पर आता है और मनुष्य भी जलमें गोता लगाता है ॥ ७ ॥

जलके प्रवाह ।

इस सूक्तमें जलके प्रवाहोंका वर्णन है । जलके अनेक नाम हैं, उनमेंसे कौनसा नाम किस प्रकारके जलका होता है यह बात इस सूक्तके मंत्रों द्वारा बतायी गई है ।

मेघोंसे वृष्टि होती है और नदियोंको महापूर आता है । नदियां भरनेका यह एक कारण है । नदियोंके महापूरका दूसरा भी एक कारण है, वह है बर्फका पिघलना। पत्थर वाचक ग्रावा आदि जो शब्द मेघवाचक करके माने जाते हैं वे वस्तुतः मेघवाचक नहीं हैं, परंतु पहाडोंपर या भूमिपर गिरनेवाले बर्फके तथा ओलोंके वाचक होते हैं। उसी प्रकारका अहिशब्द है । अतः इसका अर्थ पहाडी बर्फ मानना योग्य है और इसके पिघलनेसे नदियोंका भर जाना भी संभव है । इस प्रकार पूर्वोक्त दोनों कारणोंसे महापूर आनेसे जल प्रवाहोंका बडा नाद होता है, इस लिये नाद करनेके हेतु जल प्रवाहका नाम "नदी"

होता है,अर्थात् जिस जल प्रवाहका बडा शब्द न होता हो उसको नदी नहीं कहना चाहिये।

नदीका प्रवाह अत्यंत वेगसे चलता हो और उस वेगमेंसे जल किसी युक्तिसे ऊपर या अन्य स्थानमें खींच कर प्राप्त किया हो तो उस जलको "आप्" कह सकते हैं।

अपनी इच्छासे जैसे चाहे वैसे प्रवाहित होनेवाले जलको नहर आदि कृत्रिम मार्गोंके द्वारा अपनी खेती आदिके विशेष कार्योंको सिद्ध करनेके लिये जो अपनी इच्छानुसार चलाया जाता है उसको "वारि" (वार्, वारं) कहा जाता है।

जो जल-सूर्य किरणों द्वारा बनी भांपसे हो या अग्निद्वारा बनी हुई भांपसे हो-पहले भांप बन कर फिर उस भांपको शीतलता लगाने द्वारा जो फिर उसका जल बनता है उसको "उदक" कहते हैं। (उत्) भांप द्वारा ऊपर जाकर जो (आनिषुः) जो ऊपरले प्राणके साथ मिलकर वापस आता है उसका नाम उदक है। मेघोंकी वृष्टिसे प्राप्त होने वाले उदकका यह नाम मुख्यतया है। कृत्रिम रीतिसे शुंडायंत्र द्वारा बनाये जलको भी यह गौण वृत्तिसे दिया जा सकता है।

विविध प्रकारके जलोंके ये नाम हैं यह स्वयं इस सूक्तने ही कहा है, इस लिये इन शब्दोंके ये अर्थ लेना ही योग्य है। यद्यपि संस्कृत भाषामें ये सब उदक वाचक शब्द पर्याय शब्द माने जाते हैं और पर्याय समझ कर उपयोगमें भी लाये जाते हैं, तथापि संस्कृतभाषामें एक वस्तुके वाचक अनेक शब्द वस्तुतः उस वस्तुके अंतर्गत भेदोंके वाचक होते हैं, यह बात इस सूक्तके इस विवरणसे ज्ञात हो सकती है।

यह जल (भद्राः। मं० ५) कल्याण करनेवाला है, बल पुष्टि और तेज देनेवाला है, तथा जीवनका तेज बढानेवाला है। (मं० ५)

शुद्ध स्फटिक जैसा निर्मल जल पीनेसे ऐसी तृप्ति होती है कि जो तृप्ति अमृत भोजन से मिल सकती है।

प्राणिमात्र जलके कारण जीवित रहते हैं इसलिये जलसे ही इनकी उत्पत्ति मानना योग्य है, अतः ये जलके पुत्र होगये। जल इन सबकी माता है इसी लिये जलको " माता " वेदमें अन्यत्र कहा है। इस माताका आश्रय करनेसे मनुष्य नीरोग पुष्ट और बलवान हो सकते हैं।

मनुष्य जलमें प्रविष्ट होकर नित्य स्नान करें अथवा वैसी तैरने आदिकी संभावना न हो तो अन्यप्रकारसे जल प्राप्त करके स्नान अवश्य करें। यह जलस्नान बडा आरोग्य प्रद होता है। इत्यादि उपदेश पंचम और षष्ठ मंत्रोंके शब्दोंके मननसे प्राप्त हो सकते हैं।

गोशाला ।

[१४]

(ऋषिः-ब्रह्मा । देवता-नाना देवता, गोष्ठदेवता)

सं वो॑ गो॒ष्ठेन॑ सु॒षदा॒ सं र॒य्या सं सुभू॑त्या ।
अह॑र्जातस्य॒ यन्नाम॒ तेना॑ वः॒ सं सृ॑जामसि ॥ १ ॥
सं वः॑ सृजत्वर्य॒मा सं पू॒षा सं बृह॒स्पतिः॑ ।
समिन्द्रो॒ यो ध॑नञ्ज॒यो मयि॑ पुष्यत॒ यद् वसु॑ ॥ २ ॥

अर्थ— हे गौओ ! (वः सुषदा गोष्ठेन सं) तुमको उत्तम बैठने योग्य गोशालासे युक्त करते हैं, (रय्या सं) उत्तम जलसे युक्त करते हैं और (सु-भूत्या सं) उत्तम रहने सहने से अथवा उत्तम प्रजननसे युक्त करते हैं। (यत् अहर्जातस्य नाम) जो दिनमें श्रेष्ठ वस्तु मिल जाय (तेन वः संसृजामसि) उससे तुमको युक्त करते हैं ॥ १ ॥

(अर्यमा वः संसृजतु) अर्यमा तुमको मिलावे, (पूषा सं, बृहस्पतिः सं) पूषा और बृहस्पति भी तुम्हें मिलावे। (यः धनंजयः इन्द्रः सं सृजतु) जो धन प्राप्त करने वाला इन्द्र है वह तुमको धनसे संयुक्त करे । (यत् वसु) जो धन आपके पास है वह (मयि पुष्यत) मुझमें तुम पुष्ट करो ॥ २ ॥

भावार्थ— गौओंके लिये उत्तम प्रशस्त और स्वच्छ गोशाला बनायी जाय । गौओंके लिये उत्तम जल पीनेको दिया जाय, तथा गौओंसे उत्तम गुणयुक्त संतान उत्पन्न करानेकी दक्षता सदा रखी जाय । गौओंसे इतना प्रेम किया जाय कि दिनके समय गौके योग्य उत्तमसे उत्तम पदार्थ प्राप्त कराकर वह उनको अर्पण किया जाय ॥ १ ॥

अर्यमा, पूषा, बृहस्पति तथा धन प्राप्त करनेवाला इन्द्र आदि सब देवतागण गौओंकी पुष्टि करें । तथा पुष्ट गौओंसे जो पोषक रस मिल सकता है वह दूध मेरी पुष्टिके लिये मुझे मिले ॥ २ ॥

सं॒ज॒ग्मा॒ना अबि॑भ्युषीर॒स्मिन् गो॒ष्ठे क॑री॒षिणीः ।
बिभ्र॑तीः सो॒म्यं मध्व॑नमी॒वा उ॒पेत॑न ॥ ३ ॥
इ॒हैव गा॑व॒ एत॑ने॒हो शके॑व पुष्यत ।
इ॒हैवोत प्र जा॑यध्वं॒ मयि॑ सं॒ज्ञान॑मस्तु वः ॥ ४ ॥
शि॒वो वो॑ गो॒ष्ठो भ॑वतु शारि॒शाके॑व पुष्यत ।
इ॒हैवोत प्र जा॑यध्वं॒ मया॑ व॒: सं सृ॒जामसि ॥ ५ ॥

अर्थ-(अस्मिन् गोष्ठे संजग्मानाः अ-बिभ्युषीः) इस गोशालामें मिलकर रहती हुई और निर्भय होकर (करीषिणीः) गोबरका उत्तम खाद उत्पन्न करनेवाली तथा (सोम्यं मधु बिभ्रतीः) शांत मधुररस —दूध—का धारण करती हुई (अन् — अमीवाः उपेतन) नीरोग अवस्थामें हमारे पास आओ ॥ ३ ॥

हे (गावः) गौओ! (इह एव एतन) यहां ही आओ। और (इहो शका इव पुष्यत) यहां साकके समान पुष्ट होओ। (उत इह एव प्रजायध्वं) और यहां ही बच्चे उत्पन्न करके बढो। (वः संज्ञानं मयि अस्तु) आपका लगन —प्रेम— मुझमें होवे ॥ ४ ॥

(वः गोष्ठः शिवः भवतु) तुम्हारी गोशाला तुम्हारे लिये हितकारी होवे। (शारि-शाका इव पुष्यत) शालिकी साकके समान पुष्ट होओ। (इह एव प्रजायध्वं) यहां ही प्रजा उत्पन्न करो और बढो। (मया वः संसृजामसि) मेरे साथ तुमको भ्रमणके लिये लेजाता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ— उत्तम खाद रूपी गोबर उत्पन्न करनेवाली, दूध जैसा मधुर रस देनेवाली, नीरोग और निर्भय स्थानपर विचरनेवाली गौवें इस उत्तम गोशालामें आकर निवास करें ॥ ३ ॥

गौवें इस गोशालामें आवें, यहां बहुत पुष्ट हों, और यहां बहुत उत्तम संतान उत्पन्न करें और गौओंके स्वामिके ऊपर प्रेम करती हुई आनंदसे रहें ॥ ४ ॥

गोशाला गौओंके लिये कल्याण कारिणी होवे। यहां गौवें पुष्ट होवें और संतान उत्पन्न करके बढें। गौओंका स्वामी स्वयं गौओंकी व्यवस्था देखे ॥ ५ ॥

मया॒ गावो॒ गोप॑तिना सचध्वम॒यं वो॑ गो॒ष्ठ इ॒ह पो॑षयि॒ष्णुः ।
रा॒यस्पोषे॑ण बहु॒ला भव॑न्तीर्जी॒वा जीव॑न्ती॒रुप॑ वः सदेम ॥ ६ ॥

अर्थ— हे (गावः) गौओ ! (मया गोपतिना सचध्वं) मुझ गोपतिके साथ मिली रहो। (वः पोषयिष्णुः अयं गोष्ठः इह) तुमको पुष्ट करने वाली यह गोशाला यहां है। (रायः पोषेण बहुलाः भवन्तीः) शोभाकी वृद्धि के साथ बहुत बढती हुई और (जीवन्तीः वः जीवाः उपसदेम) जीवित रहनेवाली तुमको हम सब प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—गौवें स्वामीके साथ आनन्दसे मिलजुल कर रहें। यह गोशाला अत्यन्त उत्तम है इसमें रहकर गौवें पुष्ट हों। अपनी शोभा और पुष्टि बढाती हुई यहां गौवें बहुत बढें। हम सब ऐसे उत्तम गौवोंको प्राप्त करेंगे और पालेंगे ॥ ६ ॥

गो संवर्धन।

यह सूक्त अत्यंत सुगम है, इस लिये इसके अधिक विवरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इसमें जो बातें कहीं हैं उनका सारांश यह है कि "गौओंके लिये उत्तम गोशाला बनाई जावे और वहां उनके रहने सहने, घास, दाना पानी आदिका सब उत्तम प्रबंध किया जावे। स्वामी गौवोंसे प्रेम करे और गौवें स्वामीसे प्रेम करें। गौवें निर्भयतासे रहें उनको अधिक भयभीत न किया जावे, क्योंकि भयभीत गौवोंके दूधपर बुरा परिणाम होता है। संतान उत्पन्न करानेके समय अधिक दूधवाली और अधिक नीरोग संतान उत्पन्न करानेके विषयमें दक्षता रखी जाय। गौवोंकी पुष्टि और नीरोगताके विषयमें विशेष दक्षता रखी जाय अर्थात् गौओंको पुष्ट किया जाय और उनसे नीरोग संतान उत्पन्न हो ऐसा सुप्रबंध किया जाय। गोपालन का उत्तमसे उत्तम प्रबंध हो, किसी प्रकारकी उनमें बीमारी उत्पन्न न हो। उनके गोबर आदिसे उत्तम खाद करके उस खादका उपयोग शाली अर्थात् चावल आदि धान्योंके लिये किया जावे।"

इत्यादि प्रकारका बोध इस सूक्तके पढनेसे मिल सकता है। यह सूक्त अति सुगम है इसलिये पाठक इसका मनन करें और उचित बोध प्राप्त करें।

वाणिज्यसे धनकी प्राप्ति।

[१५]

(ऋषिः— अथर्वा। देवता—विश्वेदेवाः, इन्द्राग्नी)

इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुरएता नो अस्तु।
नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम् ॥ १ ॥
ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ॥ २ ॥

अर्थ— (अहं वणिजं इन्द्रं चोदयामि) मैं वणिक् इन्द्र को प्रेरित करता हूं (सः नः ऐतु) वह हमारे प्रति आवे और (नः पुर-एता अस्तु) हमारा अगुवा होवे। (परिपन्थिनं मृगं अरातिं नुदन्) मार्गपर लूट करनेवाले पाशवीभावसे युक्त शत्रुको अलग करता हुआ (सः ईशानः मह्यं धनदाः अस्तु) वह समर्थ मुझे धन देनेवाला होवे ॥ १ ॥

(ये देवयानाः बहवः पन्थानः) जो देवोंके जाने योग्य बहुतसे मार्ग (द्यावापृथिवी अन्तरा सञ्चरन्ति) द्यावापृथिवीके बीचमें चलते रहते हैं, (ते पयसा घृतेन मा जुषन्तां) वे दूध और घीसे मुझे तृप्त करें (यथा क्रीत्वा धनं आ हरामि) जिससे क्रय विक्रय करके मैं धन प्राप्त करलूं॥२॥

भावार्थ—मैं वाणिज्य करनेवाले इन्द्रकी प्रार्थना करता हूं कि वह हमारे अन्दर आवे और हमारा अग्रगामी बने। वह प्रभु हमें धन देनेवाला होवे, और वह हमारे शत्रुओंको अर्थात् बटमार, लुटेरे और पाशवी शक्तिसे हमें सतानेवालोंको हमारे मार्गसे दूर करे ॥ १ ॥

द्युलोक और पृथ्वीके मध्यमें जाने आनेके जो दिव्यमार्ग हैं वे हमारे लिये दूध और घीसे भरपूर हों, जिन मार्गोंसे जाकर और व्यापार करके हम बहुत लाभ प्राप्त करसकें ॥ २ ॥

इध्मेनाग्न इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्यं तरसे बलाय ।
यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां धियं शतसेयाय देवीम् ॥ ३ ॥
इमामग्ने शरणिं मीमृषो नो यमध्वानमगाम दूरम् ।
शुनं नो अस्तु प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु ।
इदं हव्यं संविदानौ जुषेथां शुनं नो अस्तु चरितमुत्थितं च ॥ ४ ॥

अर्थ-हे अग्ने ! (इच्छमानः इध्मेन घृतेन तरसे बलाय हव्यं जुहोमि) मैं लाभकी इच्छा करनेवाला इन्धन और घीसे संकटसे बचनेके लिये और बल प्राप्तिके लिये हवन करता हूं। (यावत् इमां देवीं धियं ब्रह्मणा वन्दमानः शतसेयाय ईशे) जिससे इस बुद्धिका ज्ञान द्वारा सन्मान करता हुआ मैं सैंकडों सिद्धियोंको प्राप्त करनेके योग्य होऊं ॥ ३ ॥

हे (अग्ने) अग्ने ! (नः इमां शरणिं मीमृषः) इस हमारी अशुद्धिकी क्षमा कर। (यं दूरं अध्वानं अगाम) जिस दूरके मार्गनक हम आगये हैं। (नः प्रपणः विक्रयः च शुनं अस्तु) वहांका हमारा क्रय और विक्रय लाभ कारक हो। (प्रतिपणः फलिनं नः कृणोतु) प्रत्येक व्यवहार मुझको लाभदायक होवे। (इदं हव्यं संविदानौ जुषेथां) इस हविको जानकर सेवन करो। (नः चरितं उत्थितं च शुनं अस्तु) हमारा व्यवहार और हमारा उत्थान लाभदायक होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ-मैं लाभ तथा बल प्राप्त करना और संकटको दूर करना चाहता हूं, इस लिये मैं घी और समिधा से हवन करता हूं। इससे मैं ज्ञान प्राप्ति पूर्वक उत्तम बुद्धिसे प्रशस्त कर्मको करता हुआ अनेक व्यापारोंमें सिद्धियां प्राप्त करके लाभ प्राप्त करूंगा ॥ ३ ॥

हम अपने घरसे बहुत दूर विदेशमें आगये हैं। हे प्रभो ! यहां कोई त्रुटि हमसे होगई तो क्षमा कर। यहां जो व्यापार हम कर रहे हैं उसमें हमें बहुत लाभ प्राप्त हो, हमें क्रयमें भी लाभ हो और विक्रयसे भी हमें धन बहुत मिले, प्रत्येक व्यवहारसे हमें लाभ होता जाय। हमारा आना जाना और हमारा अभ्युत्थान अर्थात् स्पर्धाकी चढाई करना भी हमें लाभकारी होवे। इसके लिये हम यह हवन करते हैं उसका सेवन कर ॥ ४ ॥

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।
तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नो देवान् हविषा नि षेध ॥ ५॥
येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।
तस्मिन् म इन्द्रो रुचिमा दधातु प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः ॥ ६॥
उप त्वा नमसा वयं होतर्वैश्वानर स्तुमः।
स नः प्रजास्वात्मसु गोषु प्राणेषु जागृहि ॥ ७॥

अर्थ- हे देवाः! (धनेन धनं इच्छमानः) मूल धनसे लाभकी प्राप्ति की इच्छा करने वाला मैं (येन धनेन प्रपणं चरामि) जिस धनसे व्यापार करता हूं (तत् मे भूयः भवतु) वह मेरे लिये अधिक होवे और (मा कनीयः) थोडा न होवे। हे अग्ने! (हविषा सातघ्नान् देवान् निषेध) हवनसे युक्त होकर लाभका नाश करनेवाले खिलाडियोंका तू निषेध कर ॥ ५॥

हे देवो! (धनेन धनं इच्छमानः) धनसे धन कमाने की इच्छा करने वाला मैं (येन धनेन प्रपणं चरामि) जिस धनसे व्यापार करता हूं (तस्मिन् मे रुचिं) उसमें मेरी रुचिको (इन्द्रः प्रजापतिः सविता सोमः अग्निः) इन्द्र प्रजापति सविता सोम अग्नि देव (आदधातु) स्थिर कर देवें ॥ ६॥

हे (होतः वैश्वानर) याजक वैश्वानर! (वयं नमसा त्वा उपस्तुमः) हम नमस्कारसे तेरा स्तवन करते हैं। (सः नः आत्मसु प्राणेषु प्रजासु गोषु जागृहि) वह तू हमारे आत्मा, प्राण, प्रजा और गौओंमें रक्षण के लिये जागता रह ॥ ७॥

भावार्थ-मैं मूलधनसे व्यापार करके बहुत लाभ प्राप्त करना चाहता हूं, इसलिये जितने धनसे मैं यह व्यवहार कर रहा हूं वह धन मेरे कार्यके लिये पर्याप्त होवे और कम न होवे। मैं जो यह हवन कर रहा हूं इससे संतुष्ट होकर, हे प्रभो! तू मेरे व्यवहारमें लाभ का नाश करनेवाले जो कोई होंगे उनको दूर कर ॥ ५॥

अपने मूल धनसे व्योपार करके मैं बहुत धन कमाना चाहता हूं, इस के लिये धन लगाकर उससे जो व्यवहार मैं करना चाहता हूं उसमें प्रभु-की कृपासे मेरी रुची लाभ प्राप्त होने तक स्थिर होवे ॥ ६॥

हे प्रभो! मैं तुझे नमस्कार करता हूं और तेरी स्तुति करता हूं, तू संतुष्ट होकर हमारे आत्मा प्राण प्रजा और गौ आदि पशुओंकी रक्षा कर॥ ७॥

विश्वाहा ते सदमिद्भरेमाश्वायेव तिष्ठते जातवेदः ।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥ ८ ॥
(इति तृतीयोऽनुवाकः)

अर्थ- हे (जातवेदः) जातवेद ! (विश्वाहा ते इत् सदं भरेम) प्रतिदिन तेरे ही स्थानको हम भरेंगे (तिष्ठते अश्वाय इव) जैसा स्थानपर बंधे हुए घोडेको अन्न देते हैं। (रायः पोषेण इषा सं मदन्तः) धन पुष्टि और अन्नसे आनंदित होते हुए (ते प्रतिवेशा मा रिषाम) तेरे उपासक हम कभी नष्ट न होवें ॥ ८ ॥

भावार्थ- हे प्रभो ! जिस प्रकार अश्वशालामें एकस्थानपर रखे हुए घोडे को खिलानेका प्रबंध प्रतिदिन किया करते हैं उसी प्रकार हम तेरे उद्देश्यसे प्रतिदिन हवन करते हैं। तेरी कृपासे हम बहुत धन पुष्टि और अन्न प्राप्त करेंगे, बहुत आनंदित होंगे और कभी दुःखसे त्रस्त न होंगे ॥ ८ ॥

वाणिज्य व्यवहार ।

बनिया जो क्रय विक्रयका व्यवहार करता है उसका नाम वाणिज्य व्यवहार है। व्यापारके पदार्थ किसी स्थानसे खरीदना और किसी स्थानपर उसको बेचना और इस क्रय विक्रयमें योग्य लाभ प्राप्त करना इस व्यापार व्यवहारसे होता है। कुशल बनिये इसमें अच्छा लाभ प्राप्त करते हैं।

पुराना बनिया !

इस सूक्तके पहले मंत्रमें सब जगत्के प्रभु (इन्द्र भगवान्) को "वणिजं इन्द्रं" (वणिक् इन्द्र) कहा है, यह बहुत ही काव्यमय वर्णन है और इसमें अद्भुत उपदेश भरा है। परमेश्वर सर्वत्र छिपा है और प्रयत्न करनेपर भी दिखाई नहीं देता, इसलिये उसको एक मंत्रमें (तायु । ऋ. १ । ६५ । १) चोर भी कहा है। जिस प्रकार यह अद्भुत अलंकार है उसी प्रकार प्रभुको बनिया कहना भी अलंकार है।

जिस प्रकार बनिया एक रु० लेकर उतने मूल्यका ही धान्य आदि देता है, न अधिक और न कम, इसी प्रकार यह "पुराना सबसे बडा बनिया" मनुष्योंको

सुखदुःख उसी प्रमाण से देता है कि जितना भला बुरा कर्म मनुष्य करते हैं अथवा जितना अर्पण वे परोपकारार्थ करते हैं उतनाही उनको पुण्य मिलता है। इस प्रकार इस इन्द्र बनियाने जगत् के प्रारंभ से यह अपना व्यापार चलाया है, न यह कभी पक्ष पात करता है और न कभी उधारका व्यवहार करता है। इस प्रकार यह सबसे पुराण पुरुष बनियाका व्यवहार करता है, उसको जितना दिया जाय उतना ही उससे वापस मिलेगा। इस लिये मनुष्यको यज्ञ आदि कर्म करने चाहिये जिनको देकर उससे पुण्य खरीदा जाय, वह उपदेश यहां मिलता है।

व्यापारका व्यवहार बताते हुए भी वेदने उसमें परमात्माके सत्य व्यवहारका उपदेश देकर बताया है कि व्यापार भी सत्यस्वरूप परमेश्वरकी निष्ठासे ही होना चाहिये और छल कपट तथा धोखा उसमें कभी करना नहीं चाहिये।

हवन का निर्देश मं० ३ और ५ इन दो मंत्रोंमें है। हवन का अर्थ है 'अपना समर्पण'। अपने पासके पदार्थ परमार्थके लिये अर्पण करना और स्वार्थका भाव कम करना यही यज्ञ है। ऐसे यज्ञोंसे ही जगत्का उपकार होता है, इसलिये ऐसे सत्कर्म परमात्माके पास पहुंचते हैं और उनका यश कर्ताको मिलता है। इसलिये व्यापार व्यवहारसे धन प्राप्त करनेपर उसका योग्य भाग परोपकारके लिये समर्पण करना चाहिये अर्थात् उसको यज्ञमें लगाना चाहिये। धन कमानेवाले इस आदेशका योग्य विचार करें। जो कमाया हुआ धन स्वयं उपभोग करता है वह पापी होता है। इसलिये कमाये धनमेंसे योग्य भाग परोपकारमें लगाना योग्य है।

व्यापारका स्वरूप।

इस सूक्तमें व्यापार विषयक जो शब्द आगये हैं वे अब देखिये—

१ धनं= मूल धन, सरमाया, जिस मूलधनसे व्यापार किया जाता है। (मं० ५,६)

२ धनं=लाभ, लाभसे प्राप्त होनेवाली रकम। (मं० ५,६)

३ वणिक्=व्योपारी क्रयविक्रय करनेवाला। (मं० १)

४ धनदा= व्यापारके लिये धन देनेवाला धनपति, जिससे धन लेकर अन्य छोटे व्यापारी अपना काम धंदा करते हैं। साहुकार। (मं० १)

५ प्रपणः=सौदा, खरीद फरोक्त। (मं० ५)

६ विक्रयः=खरीदा हुआ माल बेचना। (मं० ४)

७ प्रतिपणः=प्रत्येक सौदा। (मं० ४)

८ फली (फलिन्)= लाभ युक्त होना। (मं० ४)

९ शुनं=कल्याण कारी, लाभकरी, हितकर। (मं० ४)

१० चरितं=व्यवहार करनेके लिये हलचल करना। (मं० ४)

११ उत्थितं=उठाव, चढाई। प्रतिस्पर्धीके साथ स्पर्धाके लिये चढाई करना। (मं० ४)

१२ भूयः (धनं)=व्यापारके लिये पर्याप्त सरमाया होना। (मं० ५)

ये ग्यारह शब्द व्यापार विषयक नीतिकी सूचना देते हैं। इनके मननसे पाठकोंको पता लग सकता है कि बनियाके कार्यमें कौन कौनसे विभाग होते हैं और उन विभागोंमें क्या क्या कार्य करना चाहिये।

प्रथम मूल धन व्यापार व्यवहारमें लगाना चाहिये। यदि अपने पास न हो तो किसी साहुकार (धन-दा) के पाससे लेकर उस धनपरसे अपना व्यवहार चलाना चाहिये। जिस पदार्थका व्यापार करना हो उस पदार्थका "क्रय" कहां करना योग्य है और उसका "विक्रय" कहां करनेसे अधिकसे अधिक लाभ हो सकता है इसका विचार करना चाहिये। किन दिनोंमें किस देशमें खरेदी और किस स्थानपर बिक्री (प्रतिपण) करनेसे अधिक लाभ होना संभव है इसका योग्य अनुसन्धान करनेसे निःसन्देह लाभ हो सकता है। इसीका नाम ऊपर लिखे शब्दोंमें "चरितं" कहा है।

इन सब शब्दोंमें " उत्थित " शब्द बडा महत्त्व रखता है। उठाव, उठना, चढाई करना इत्यादि अर्थ इसके प्रसिद्ध हैं। मालका उठाव करनेका तात्पर्य सब जानते ही हैं। इस उत्थानके दो भेद होते हैं, एक " वैयक्तिक उत्थान " और दूसरा " सामुदायिक संभूय समुत्थान " है। एक व्यक्ति चढाई की नीतिसे व्यापार करती है उसको वैयक्तिक उत्थान कहते हैं और जहां अनेक व्यापारी अपना संघ बनाकर उठाई करते हैं उसको " संभूय समुत्थान " कहते हैं। व्यापारमें केवल ऊपर लिखा " चरित " ही कार्य नहीं करता, परंतु यह दोनों प्रकारका उत्थान भी बडा कार्यकारी होता है। पाठक इसका उत्तम विचार करें।

व्यापारके विरोधी।

१ सातघ्नः- (सात) लाभका (घ्न) नाश करनेवाले। जिनके कारण व्यवहारमें हानि होती है। (मं० ५)

२ सातघ्नः देवः-लाभका नाश करनेवाला जूवेबाज, खिलाडी, (दिव्-'जुवा खेलना') इस धातुसे यह देव शब्द बना है। व्यवहारमें हानि होनेवाली आदतों वाला मनुष्य। (मं० ५)

३ परिपन्थिन् – बटमार, चोर, लुटेरे, मार्गपर ठहरकर आने जाने वालोंको जो लूटते हैं। (मं० १)

४ मृगः = पशु, पशुभाव वाला मनुष्य। (मं० १)

५ अ-रातिः = कंजूस, दान न देनेवाला। (मं० १)

६ कनीयः (धनं) =व्योपारके लिये जितना धन चाहिये उतना न होना, धनकी कमी। (मं० ५)

इनके कारण व्यापार व्यवहारमें हानि होती है, इसलिये इनसे बचनेका उपाय करना चाहिये।

व्यापार व्यवहार करनेमें जो विघ्न होते हैं उनका विचार इन शब्दोंद्वारा इस सूक्तमें किया है। पहले विघ्नकारी " सातघ्न देव " हैं। पाठक देवोंको यहां विघ्नकारी देखकर आश्चर्य चकित हो जांयगे। परंतु वैसा भय करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। " देव" शब्दके अर्थ " जुआडी, खेलमें समय बितानेवाला " ऐसा भी होता है। यह अर्थ " दिव् " धातुका " जूवा खेलना " अर्थ है उस धातुसे सिद्ध होता है। जो व्यापारी अपना समय ऐसे कुकर्मोंमें खर्च करेंगे वे अपना नुकसान करेंगे और अपने साथियोंको भी डुबा देंगे। यह उपलक्षण मानकर जो जो व्यवहार व्यापारमें हानि करनेवाले होंगे उन व्यवहारोंको करनेवाले " सातघ्न देव " समझना यहां उचित है। (सात) लाभका (घ्न) नाश करनेवाले (देव) व्यवहार करनेवाले लोग यह इसका शब्दार्थ है। ' देव ' शब्द ' व्यवहार करनेवाले ' इस अर्थमें प्रचलित है।

'परिपंथि' शब्द का प्रसिद्ध अर्थ ऊपर दिया ही है। इसका दूसरा अर्थ यह होता है कि " जो लोग कुमार्गसे जानेवाले हैं। " सीधे राजमार्गसे न जाते हुए अन्य कुमार्गसे जाना बहुत समय हानिकारक होता है। विशेष कर यह अर्थ यहां अभिप्रेत है ऐसा हमारा विचार है।

व्यापारका मूलधन अथवा सरमाया भी कम नहीं रहना चाहिये अन्यथा अन्य सब बातें ठीक होते हुएभी व्यापारमें लाभ नहीं हो सकता। इसलिये पंचम मंत्रकी सूचना कि (मा कनीयः। मं० ५) अत्यंत ध्यान देने योग्य है। बहुत व्यवहार लाभकारी होते हुए भी आवश्यक धनकी कमी होनेके कारण वे नुकसान करनेवाले होते हैं। जो नुकसान इस प्रकार होगा वह किसी अन्य युक्तिसे या बुद्धिकी कुशलतासे पूर्ण नहीं होता, क्यों कि यह कमी हरएक प्रसंगमें रुकावट उत्पन्न करनेवाली होती है। व्यापार करवाले पाठक इससे योग्य बोध प्राप्त करें।

दो मार्ग ।

व्यापार करनेके लिये देशदेशांतरमें जाना आवश्यक होता है । अन्यथा बडा व्यापार होना अशक्य है । देशदेशांतर और द्वीपद्वीपान्तरमें जानेके लिये उत्तम और सुरक्षित मार्ग चाहियें । देशान्तरमें जानेके कई मार्ग सुरक्षित होते हैं और कई भय दायक होते हैं । जो सुरक्षित मार्ग होते हैं उनको " देवयानाः पन्थानः " (मं० २) कहा है । देवयान मार्ग वे होते हैं कि जिनपर देवता सदृश लोग जाते आते हैं, इस कारण वे मार्ग रक्षित भी होते हैं ऐसे मार्गपर लूटमार नहीं होती, व्योपारी लोग अपना माल सुरक्षित रीतिसे ले जाते हैं और ले आते हैं । जहां आनेजानेके ऐसे सुरक्षित मार्ग हों वहां ही व्यापार करना लाभ दायक होता है ।

दूसरे मार्ग राक्षसों, असुरों और पिशाचोंके होते है जिनपर इन निशाचरोंका आना जाना होता है । ये ही "परिपन्थी" अर्थात् बटमार, चोर लुटेरे बनकर सार्थवाहोंको लूट देते हैं । इन मार्गों परसे जानेसे व्यापार व्यवहार अच्छा लाभदायक नहीं हो सकता । इसलिये जहांके मार्ग सुरक्षित न हों वहांके मार्ग सुरक्षित करने के लिये प्रयत्न होना आवश्यक है । वाणिज्य की वृद्धि करनेके लिये यह अत्यंत आवश्यक कर्तव्य है ।

व्यापार अच्छीप्रकार होनेके लिये दूसरी आवश्यकता इस बातकी है कि मार्गमें जहां जहां मुकाम करना आवश्यक हो वहां खान पान के पदार्थ मनके अनुकूल सुगमतासे मिलने चाहियें । रहने सहने और खान पान आदिका सब प्रबंध बनाबनाया रहना चाहिये । उचित धन देकर रहने सहनेका प्रबंध विना आयास होना चाहिये, इस विषय में द्वितीय मंत्र देखिये—

ते (पन्थानः) मा जुषन्तां पयसा घृतेन ।
तथा क्रीत्वा धनमाहरामि । (मं० २)

"वे देश देशांतरमें जाने आनेके मार्ग मुझे सुखपूर्वक दूध घी आदि उपभोगके पदार्थ देनेवाले हों, जिससे मैं क्रय आदि करके धन कमानेका व्यवहार कर सकूं ।" बात तो साफ है कि यदि देशदेशांतरमें भ्रमण करनेवालेको भोजनादिका सब प्रबंध अपना स्वयंही करना पडे तो उसका समय उसीमें चला जायगा, अनेक कष्ट होंगे, विदेशमें स्थानका परिचय न होनेके कारण सब आवश्यक सामान इकट्ठे करनेमें ही व्यर्थ समय चला जायगा । इसलिये मंत्रके कथनानुसार "मार्गही उपभोगके पदार्थोंसे तैयार रहेंगे" तो अच्छा है । यह उपदेश बडा महत्त्व पूर्ण है और व्यापार वृद्धिके लिये सर्वत्र इस प्रबन्धके होनेकी अत्यंत आवश्यकता है ।

ज्ञानयुक्त कर्म।

हरएक कार्य ज्ञान पूर्वक करना चाहिये। इस विषयमें तृतीय मंत्रका कथन अत्यंत विचारणीय है—

देवीं धियं ब्रह्मणा वन्दमानः शतसेयाय ईशे। (मं० ३)

" दिव्य बुद्धि और कर्मशक्तिका ज्ञानसे सत्कार करता हुआ मैं सेंकडों सिद्धियोंको प्राप्त करनेका अधिकारी बनता हूं।"

यहांका "धी" शब्द "प्रज्ञा बुद्धि और कर्म शक्ति" का वाचक है। ज्ञान पूर्वक हरएक कर्म करना चाहिये। जो काम करना हो, उस विषयमें जितना ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है उतना पहले करना और पश्चात् उस कार्यका आरंभ करना चाहिये। तभी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। यह सिद्धिका सरलमार्ग है। दूसरी बात जो सिद्धिके लिये आवश्यक है वह यह है कि आरंभ किये कार्यमें रुची स्थिर होनी चाहिये,—

तस्मिन् रुचिं आदधातु। (मं० ६)

"उस कार्यमें रुची स्थिर होवे" यह बात अत्यंत आवश्यक है। नही तो कई लोगोंकी ऐसी चंचल वृत्ति होती है कि वे आज एक कार्य करते है, कल तीसरा हाथमें लेते है और परसूं पांचवेंका विचार करते है। ऐसे चंचल लोग कभी सिद्धिको प्राप्त नहीं कर सकते।

परमेश्वर भक्ति।

सब कार्योंकी सिद्धिके लिये परमेश्वरकी भक्ति करनी चाहिये। इसविषयमें सप्तम और अष्टम मंत्रोंका कथन बडा मननीय है। " ईश्वरकी नम्रता पूर्वक स्तुति प्रार्थना उपासना करना चाहिये।" क्योंकि वही शरण जाने योग्य है और उसीकी शक्तिद्वारा सबकी रक्षा होती है। प्रतिदिन नियत समयपर उसकी उपासना करनी चाहिये जिससे वह सब कामधन्देमें यश देगा, और धन पुष्टि सुख आदि प्राप्त होंगे और कभी गिरावट नहीं होगी। ईश्वर उपासना तो सबकी उन्नतिके लिये अत्यंत आवश्यक है। संपूर्ण सिद्धियोंके लिये इसकी बहुत आवश्यकता है।

वैदिक यज्ञ संस्था।

प्रथम भाग मूल्य १) रु. डा. व्य ।)

इस पुस्तक में निम्न लिखित विषयों का विचार हुआ है।

प्राचीन संस्कृत निबंध।

१-३ पिष्ट-पशुमीमांसा। लघु-पुरोडाश-मीमांसा।

भाषाके लेख (ले०-श्री० पं० बुद्धदेवजी)

४ दर्श और पौर्णमास, ५ अद्भुत कुमार संभव। (ले०-श्री० पं० चंद्रमणिजी) ६ बुद्धके यज्ञ विषयक विचार। (संपादकीय) ७ यज्ञका महत्त्व, ८ यज्ञका क्षेत्र ९ यज्ञका गूढ तत्त्व, १० औषधियोंका महायज्ञ, (ले० श्री० पं० धर्मदेवजी) ११ वैदिक यज्ञ और पशुहिंसा। (ले० श्री० पं० पुरुषोत्तम लालजी) १२ क्या वेदोंमें यज्ञों में पशुओंका बलि करना लिखा है?

वैदिक यज्ञ संस्था द्वितीय भाग। मूल्य १) रु डा. व्य।)

इस द्वितीय भागमें निम्न लिखित विषयोंका विचार हुआ है- (ले०-श्री. पं. देवशर्माजी विद्यालंकार)

भारतवर्षमें यज्ञकी कमी, यज्ञकी महिमा, यज्ञसे जो चाहे सो प्राप्त कर लो, यज्ञपुरुष का वर्णन, हवन प्रक्रिया, यज्ञशेष और उच्छिष्ट, राजसूय, विश्वजित्, अश्वमेध, गोमेध, सर्वमेध, वाजपेय, पंचमहायज्ञ, यज्ञ संसारकी नाभि है।

पं. बुद्धदेवजी लिखित-संज्ञपन और अवदान।

संपादकीय-नरमेध का वैदिक तात्पर्य।

इतने विषयोंका विचार इस पुस्तक में हुआ है।

प्रत्येक विषयके प्रतिपादनके लिये वेदके अनेक प्रमाण दिये हैं और विषयका प्रतिपादन अति सुगम है। मूल्य १) डा. व्य. ।)

वैदिक यज्ञ संस्था तृतीय भाग गोमेध

इस पुस्तकमें निम्न लिखित विषयोंका विचार हुआ है—

वेदमें गोमांस, प्रकरणानुकूल अर्थ विचार, ऋषिदयानंद, वेदका महासिद्धान्त, यज्ञकी पूर्व और उत्तरवेदी, मधुपर्क, कलिवर्ज्यप्रकरण, बृहदारण्यक का वचन, गौका वैदिक नाम, गोमेधका विचार, चरक की साक्षी, विवाहमें गोमांस, अतिथिके लिये गौ, यज्ञमें मांस, अमय यज्ञ, वेदमें अहिंसा, अवध्य गौ और बैल, यज्ञका तत्त्व, गौको खाना। गौ दान लेने का अधिकारी, रक्षक और घातक गौका महत्त्व, राष्ट्ररक्षक गौ, गौके लिये सोमरस, सबकी माता गौ।

इत्यादि अनेक विषय इसमें आगये हैं। हरएक विषयका प्रतिपादन करनेके लिये अनेक वेदमंत्रोंके प्रमाण दिये हैं। जो कहते हैं कि "वैदिक समयमें गोमांस भक्षण की प्रथा थी," उनके लिये यह उत्तम उत्तर है। यह पुस्तक पढनेके पश्चात् उक्त विषयमें कोई शंका नहीं रहेगी।

मूल्य १) रु डा. व्य० ।)

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्री० दा० सातवलेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा)

REGISTERED No 1463

ॐ

वैदिक धर्म।

वैदिक तत्त्व ज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

वर्ष ९

अंक ९

क्रमांक

१०५

भाद्रपद

संवत् १९८५

सितंबर

सन १९२८



वार्षिक मूल्य— म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५)

विषयसूची।

१ ईश्वरकी अनंत शक्ति	१	८ हमारे धर्म के आधार ग्रंथ	१६
२ स्वाध्याय वृत्त	२	९ अथर्ववेदका स्वाध्याय	११३—१४२
३ मातृभूमिका वैदिक गीत	३	प्रातः कालमें भगवान की प्रार्थना	११३
४ हिंदुसमाज समर्थ कैसा बनेगा	९	कृषिसे सुख प्राप्ति	१२४
५ अगस्ति ऋषिका प्रचण्ड आन्दोलन	१४	वनस्पति	१२९
६ देशहित का मूल मंत्र	१५	ज्ञान और शौर्यकी तेजस्विता	१३१
७ आदरणीय ग्रंथ, मुस्लिममहात्माओ	,,	तेजस्विताके साथ अभ्युदय	१३८

वर्ष ९
अंक ९
क्रमांक १०५

वैदिक धर्म.

भाद्रपद संवत् १९८५
सितंबर सन १९२८

वैदिक तत्त्वज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।
संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।
स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

ईश्वरकी अनंत शक्ति।

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शतादश॥

ऋ० ६।४७।१८

(रूपं रूपं प्रतिरूपः) प्रत्येक रूप के लिये प्रतिरूप अर्थात आदर्श यही ईश्वर (बभूव) हुआ है। (अस्य तत् रूपं) इसका वह आदर्शरूपं (प्रतिचक्षणाय) प्रत्यक्ष करना चाहिये। (इन्द्रः) यह सर्व सामर्थ्यवान् प्रभु (मायाभिः पुरुरूपः ईयते) अपनी विविध शक्तियोंसे अनेक रूपवाला दिखाई देता है (हि अस्य हरयः) क्यों कि इसकी चालक शक्तियां जो (युक्ताः) चारों ओर नियुक्त हुई हैं (शतादश) हजारों अर्थात् अनंत हैं।

परमेश्वर प्रत्येक पदार्थ में विराजमान है, प्रत्येक पदार्थका रूप उसकी शक्ति और उसीकी कारीगरीका प्रभाव है। यह बात प्रयेक पदार्थ में देखकर उसकी अनंत शक्ति का अनुभव करना उपासक का कार्य है।

स्वाध्याय वृत्त ।

१ यजुर्वेद.

यजुर्वेद छपकर तैयार हुआ है, उसका मूल्य बेनाजिल्द १॥);कागजी जिल्द २); कापडी जिल्द (वर्णाक्षरों वाली २॥); और रेशमी जिल्द ३) हर एक का डाकव्यय ॥) है । इस में प्रत्येक मंत्र पद, शुद्ध और योग्य पद विभागसे विभक्त करके मुद्रित किया है । प्रत्येक मंत्र अलग अलग, खुला और मोटे सुंदर अक्षरों में छापा है। जो वेदों का सुंदर पुस्तक अपने पास रखना चाहते हैं वेमूल्य म. आ. द्वारा भेजकर इस पुस्तक को शीघ्र मंगावें ।

२ यजुर्वेद पादानुक्रमणिका ।

यजुर्वेद के मंत्रोंकी पादानुक्रमणिका छप रही है। जो पाठक इसकी शीघ्रतासे मांग कर रहे हैं उनसे निवेदन है कि यह पुस्तक अभी तक छपकर तैयार नहीं हुई है। तैयार होते ही सूचना दी जायगी। इस की शुद्ध छपाईका विशेष ख्याल किया जा रहा है, इस लिये इसकी छपाई में देरी लगती है। इसमें मंत्र के प्रत्येक चरण का पता दिया है इसलिये यह अन्य सूचियों के पांच गुणा बडा ग्रंथ हुआ है क्यों कि एक एक मंत्र के कमसे कम चार और अधिकसे अधिक दस बारह तक टुकडे लेने पडे हैं। इस के बनाने में भी मेहनत उसी प्रमाणसे अधिक हुई है।

३ यजुर्वेदका सर्वानुक्रम सूत्र ।

यह पुस्तक टिप्पणीके साथ छप रहा है। ऊपर सर्वानुक्रम सूत्र दिया है और उसके नीचे मंत्र, ऋषि देवता और छंद क्रमपूर्वक दिये हैं। संस्कृत न जानने वाले भी इस को देखकर किस मंत्र का कौन ऋषि और कौन देवता और कौन छंद है यह जान सकते हैं, इतना सुगम यह पुस्तक बनाया है। इस ग्रंथ का इस प्रकार का मुद्रण इस समय तक किसी भी स्थानपर नही हुआ है ।

इस का मुद्रण आगामी दो मासोंमें समाप्त होगा। तब सूचना दी जायगी।

४ अथर्ववेदका मुद्रण ।

पाठक अथर्ववेदका पुस्तक मांग रहे हैं। अभी तो हमनें मुद्रण शुरु ही किया है। यह ग्रंथ यजुर्वेद के तीन गुणा बडा है। यजुर्वेदके मुद्रणके लिये हमें एक वर्ष लगा, इस हिसाबसे इसका मुद्रण पूर्णहोने के लियेकमसे कम दो वर्ष लगेंगे। जो पाठक शीघ्रता कर रहे हैं उनसे निवेदन है कि वे शीघ्रता न करें। शीघ्रतासे जो इस समय तक ग्रंथ मुद्रित हुए हैं उन की अशुद्धियां अक्षम्य हुई हैं। हमारी इच्छा है कि यह मुद्रण विशेष सावधानीसे हो और जहांतक हमारा यत्न हो सकता है वहां तक प्रयत्न करके निर्दोष ग्रंथ मुद्रित हो जावे। इसलिये इस का वेग अधिक बढाना असंभव है।

५ वैदिक धर्म

वैदिकधर्म के कई पाठक वारंवार सूचना करते हैं कि वैदिक धर्म में " अथर्ववेदका भाष्य " अधिक दिया जाय। इस विषयमें निवेदन है कि वैदिकधर्म इस समय ४८ पृष्ठोंका प्रकाशित होता है उनमें ३२ पृष्ठ अथर्व वेद स्वाध्याय के लिये दिये जाते हैं और १६ पृष्ठ अन्य लेखोंके लिये रखे जाते हैं। इस प्रकार क्रमपूर्वक यह कार्य चला तो प्रतिवर्ष दो तीन काण्डोंका भाष्य ग्राहकोंके पास पंहुच जायगा। और पांच छः वर्षोंमें सब अथर्व वेदका सुबोध भाष्य समाप्त होगा।

ग्राहक बढाइये ।

पाठक अनुभव करें की यह कितना सस्ता है। इसलिये पाठकोंसे सानुरोध प्रार्थना है कि वे वैदिक धर्मकी ग्राहक संख्या बढाकर इस कार्यकी उचित सहायता करें। यदि प्रत्येक ग्राहक दो नये ग्राहक बनायेंगे तो यह कार्य ठीक प्रकार चल सकता है।

" प्रबंध कर्ता "

मातृभूमिका वैदिक गीत

(द्वितीय लेख)

पहले लेख में मातृभूमि के वैदिक राष्ट्रगीत के संबंध में सामान्य परिचय होने के लिये जितनी बातें आवश्यक हैं उतनी दी हैं। उससे वाचकों को मालूम हो जायगा कि इस राष्ट्रगीतका विचार राष्ट्र-पुष्टि की दृष्टि से कितना महत्वका है। अब हमें यह देखना है कि इस राष्ट्रगीत के मंत्र कौनकौन महत्व पूर्ण बातों का उपदेश करते हैं। इसलिये प्रथम पहला ही मंत्र देखना चाहिये।

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति। सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥ १ ॥ अथर्व १२। १

'सत्य, सीधापन, उग्रता, उदारता, तप, ज्ञान, और यज्ञ आदि सात गुण मातृभूमि को धारण करते हैं। वह हमारे भूत, भविष्यत् और वर्तमान स्थिति का पालन करने वाली हमारी मातृभूमि हमें कार्य करने के लिये विस्तृत स्थान देवे!'

इस मंत्र के पहले आधे भाग में यह साफ तौर से बतलाया है कि मातृभूमि को कौन कौन से लोग धारण कर सकते हैं। वह सब लोगोंके याद रखने लायक बात है। सब मनुष्य अपने राष्ट्र को धारण नहीं कर सकते और न उसका पोषण ही कर सकते हैं। जो लोग विशेष गुणोंसे युक्त है वे ही राष्ट्र की उन्नति कर सकते है। दूसरे लोग सिर्फ संख्या बढाने के लिये कारण मात्र है। यह बात पहले मंत्र से स्पष्ट है और उसे वाचकों को देखना चाहिये।

सर्व प्रथम राष्ट्रीय गुण ' सत्य ' है! जिन मनुष्यों में सत्यप्रियता, सत्य-पालन में आत्मसर्वस्व अर्पण करने की तत्परता है, वे ही राष्ट्र का उद्धार कर सकते हैं। जिनमें सत्याग्रह है अर्थात् जो सत्य का आग्रहसे पालन करते हैं वे ही स्वराष्ट्र का उद्धार कर सकते हैं। सूक्त का आरंभ ही ' सत्य ' शब्दसे हुआ है। सूक्त के आरंभ का शब्द मंगलार्थक और सबसे अधिक महत्व का होता है। इस विचार से भी सिद्ध होता है कि वैदिक राष्ट्रीयता में ' सत्य ' अत्यंत महत्व का गुण है। अब यह बात सब पर प्रकट है कि सत्याग्रहरूपी शस्त्र को निःशस्त्र प्रजा शस्त्र-धारी राजा के विरुद्ध काम में ला सकती है और विजय भी पा सकती है। सत्य के व्यक्तिगत सत्य, सामाजिक सत्य, और राष्ट्रीय सत्य आदि भेद हो सकते हैं। हिंदवासी व्यक्तिगत सत्य का पालन करने में संसार के अन्य लोगों की तुलना में अधिक तत्पर एवं दक्ष है, किन्तु वे सामाजिक और राष्ट्रीय सत्य अर्थात् सामुदायिक सत्य का पालन नहीं कर सकते। सामुदायिक सत्यपालन के अभ्यास ही से सत्याग्रह का मार्ग सफल हो सकता है। यदि भारतवासी जान लें कि सामुदायिक सत्य क्या है और उसका पालन किस प्रकार हो सकता है, साथ ही उचित रीतिसे उसका पालन करें, तो केवल इसी एक गुण से ही उसका बृहत् कल्याण होगा।

उसके आगे का गुण ऋत अर्थात् सीधापन है वह भी सत्य के समान महत्व पूर्ण है और उसका आचरण सत्य के बाद होता है। जो मनुष्य सत्य का पालन नहीं करते और जिनका आचरण सीधा नहीं है, उनकी सच्ची उन्नति होना असम्भव है वे खुद अवनत होंगे इतनाही नहीं बल्कि उनसे जिनका संबंध है वे भी गढे में गिरेंगे।

उग्रता शूर वीरों का गुण है। इस गुण से मंडित जो क्षत्रिय है, वे सत्याग्रह के सीधे मार्ग से अपने राष्ट्रका धन बढा सकते हैं। दक्षता अगला गुण है और वह दाक्षिण्यको बतलाता है जो प्रत्येक कार्य में आवश्यक है। दक्षताके सिवा किसी भी कार्य में यश प्राप्त नहीं हो सकता। यह सब लोग जानते हैं। अतः इसके बारे में अधिक लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है।

तप उसके आगेका गुण है। यह गुण राष्ट्रीय महत्व का है। करने के कार्य में शीत उष्ण, हानि लाभ, सुख दुःख आदि द्वन्द्व आने पर भी उन्हे सह-कर आगे पैर बढाना ही तप का अर्थ है। यदि

किसी को धूप में थोडी देर घूमने से गर्मी होगी, ठंड में काम करने से बधिरता आवे, तो ऐसे कोमल मनुष्य से राष्ट्र का कोई भी काम हो नही सकता। अतः यह बात निर्विवाद है कि ठंड और गर्मी सहना आदि तप राष्ट्रीय सद्गुणोंमें शामिल हैं। आजकल अपने देश में लोग तप के नामपर जिसका आचरण करते है वह वैयक्तिक महत्व का है। राष्ट्रीय महत्व का तप दूसरा ही है और उसे किये बिना राष्ट्रीय दृष्टि से अपनी उन्नति नही होगी।

अगला राष्ट्रीय गुण " ब्रह्म " अर्थात् " ज्ञान " है। " ज्ञानान्मोक्षः "। इस सूत्र को सब लोग जानते है। पर वह राष्ट्रीय दृष्टि से भी सत्य है यह बात बहुत थोडे लोग जानते हैं। ज्ञानसे जिस तरह किसी व्यक्ति की आत्मा बंधन से मुक्त हो जाती है और वह व्यक्ति भी मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान से राष्ट्र भी दूसरों की आधीनता से मुक्त होता है और इस तरह राष्ट्र स्वतंत्र हो सकता है। आजकल की भरतखंडकी पराधीनता का कारण अधिकतर भौतिक विज्ञान शास्त्रों के ज्ञान का अभावहै। वह इस विज्ञान के प्राप्ति के बिना दूर नही हो सकती और यदि दूर हो गई तो भी स्वतंत्रता की रक्षा करना कठिन होगा। यह बात सूर्य प्रकाश के समान सिद्ध है। जागृत राष्ट्र को चाहिये कि वह अपना ज्ञान संसार के ज्ञान के बराबर रखे या संसार के आगे अपने राष्ट्र का ज्ञान जावे। इस के लिये प्रयत्न करना चाहिये। तभी राष्ट्रकी स्वतंत्रता की रक्षा हो सकती है। स्वाधीनतासे ज्ञान का संबंध अनादि सिद्ध है।

इसके आगेका गुण यज्ञ है। " यज्ञ " से आत्मसमर्पण का भाव प्रगट होता है। राष्ट्रोन्नति के लिये आत्मसमर्पण करने की तैयारी लोगोंमें होनी चाहिये तभी राष्ट्रोन्नति होना सम्भव है, उसके अभाव में कदापि नही हो सकती।

वैदिक राष्ट्रगीत के पहले मंत्र ने यह महत्वपूर्ण उपदेश दिया है। अपने राष्ट्रकी उन्नति किन गुणों के बढनेसे होगी और किन गुणों के अभाव से अपने राष्ट्र का अधःपात होगा यह सब इस मंत्र ने स्पष्ट रीतिसे बतलाया है। और उसका उपयोग आज भी होने लायक है।

राष्ट्रीय उन्नति करने वाले गुण " सत्याग्रह, सीधा वर्ताव, उग्रता या शौर्य, दक्षता या तत्परता, सत्कार्य करने के लिये लगने वाले परिश्रम करनेका सामर्थ्य या वह करते समय लगने वाले शीत और उष्णता को सहने का सामर्थ्य, ज्ञान और बडे कार्य के लिये आत्मसमर्पण करने की इच्छा।" यदि ये गुण जनतामें या जनता के मुखियों में हों तो उस राष्ट्र का उद्धार हो सकता है और यदि न हों तो नही।

अब उन अवगुणों को देखिए जो राष्ट्रकी अवनति करते हैं:—

" सत्याग्रह की तैयारी न रहना अथवा सत्य की पर्वाह न कर मनमाना आचरण कर येन केन प्रकारेण जीवन व्यतीत करने की प्रवृत्ति रहना, कपट का आचरण, कायरता वा शौर्य का अभाव, दक्षता का अभाव, परिश्रम करने की शक्ति न रहना, अज्ञान, आत्मसमर्पण के लिये तैयार न रहना।" पाठक गण स्वयं ही विचार करें कि हम लोगों में उपरि उक्त राष्ट्रीय गुणोंकी अधिकता है या अवगुणों की। इस बात का विचार करने ही से उनपर प्रकट होगा कि आज हमें क्या करने की आवश्यकता है।

इस प्रकार मंत्र के प्रथम अर्ध में राष्ट्र को धारण करने के लिये आवश्यक गुणों की वृद्धि करने का उपदेश है। तत् पश्चात् उत्तर अर्ध में एक महत्वपूर्ण आकांक्षा जनता के सन्मुख रखी गई है। वह इस प्रकार है:- " हमारी मातृभूमि हमारे भूत-भविष्य-वर्तमान कालकी परिस्थिति की देवता है। वह हमें अपने देश में विस्तृत कार्य क्षेत्र देवे।

राष्ट्रभक्त मातृभूमि के उपासक हैं। उनके सब काम मातृभूमि के हो अपने उद्देशों का केन्द्र समझकर हो सकते है। अतएव स्पष्ट ही है कि राष्ट्र भक्तों के भूत-भविष्य-वर्तमान काल की नियामक देवता मातृभूमि ही रहेगी। भूतकाल में उन्होंने मातृभूमि की जैसी सेवा की होगी वैसी ही उनकी वर्तमान कालकी स्थिति होगी। वर्तमान काल में वे जैसी उपासना करेंगे उसी के अनुसार भविष्यत् में उनकी स्थिति होगी। अतएव राष्ट्रभक्त सदैव मातृभूमि की उपासना उत्तम रीति से करें। वे कोई भी ऐसा घातक वर्ताव न करें जिस से उनकी अवनती होगी।

प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह ऐसी आकांक्षा करे कि 'मेरे राष्ट्र में मुझे विस्तृत कार्यक्षेत्र प्राप्त हो।' यदि अनुकूल परिस्थिति न हो, तो उसे प्राप्त करने में कठिन परिश्रम की आवश्यकता है। अपने जिन के घर में व्यवहार करने में जैसी पूर्ण स्वतंत्रता रहती है, उसी प्रकार स्वदेश में भी रुकावटें न होनी चाहिये। लोगों को अपने अपने देश में पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिये। दूसरे हस्तक्षेप कदापि न करें और देश वासियों की उन्नति में विघ्न बाधाएं न डालें। अपने अपने घर में हर एक मुख्तियार हो। हमारे देश में हमें विस्तृत कार्यक्षेत्र मिलना ही चाहिये। दूसरों को हमारे देश में विस्तृत कार्यक्षेत्र मिले और हमारा कार्यक्षेत्र प्रतिदिन घटता जाय यह परिस्थिति जितने जल्द हो सके बदलनी चाहिये। उसे बदल देना ही हमारा प्रथम आवश्यक कर्तव्य है।

पाठक गण प्रथम मंत्र के इस आशय को विचारें और वैदिक राष्ट्रगीत के उच्च ध्येय का अनुभव करें।

यदि राष्ट्रकी उन्नति साधना है तो राष्ट्रभक्तों में आवश्यकता है एकता की। बिना ऐक्य के सामुदायिक कार्य का सिद्ध होना असंभव है। सब लोग इस बात को मानते है। किन्तु लोग यही नहीं समझते कि यह राष्ट्रीय एकता अपने देश में किस प्रकार साध्य होगी। लोगों का कथन है कि हमारे देश में भिन्न भिन्न धर्म के लोग हैं, अनेक भाषाएं और विविध जातियां है। रीति-रिवाजों में भी अनेक भेद हैं। ऐसी दशा मे एकता हो ही कैसे सकती है? यह कहकर लोग निराश हो चुप बैठ जाते है। ऐक्य के लिये ज्यों ज्यों प्रयत्न करते हैं, त्यों त्यों फूट ही होती जाती है। एकता के लिए जो प्रयत्न या उपाय किया जाता है, वह अधिकाधिक फूट का ही फल देता है। इसी कारण राष्ट्रभक्त घबडा गये है। ऐसेही समय निम्न लिखित वैदिक राष्ट्रगीत का मंत्र बहुत ही विचारणीय एवं बोधप्रद होगा। देखिए:-

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं
पृथिवी यथौकसम्। सहस्रंधारा द्रविणस्य मे
दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥ अथर्व० १२।१।४५

"(वि- वाचसं) अनेक भाषा बोलनेवाली और (नाना धर्माणं) नाना धर्मों से युक्त जो जनता है उसे (यथा ओकसं) एकही घर के समान धारण करनेवाली मातृभूमि धन के हजारों प्रवाह मुझे दे जिस प्रकार उछलकूद न करनेवाली गाय दूध देती है, उसी प्रकार।"

राष्ट्र की प्रगति तभी हो सकती है जब कि विविध भाषा बोलनेवाले, विविध धर्मों को माननेवाले एवं विविध रीति रस्मों पर चलने वाले लोग एक ही कुटुंब के एकही घर में रहने वाले भाइयों के समान एकही देश में रह सकें। (वि-वाचसं जनं) अनेक भाषा-भाषी लोगों के रहते भी और (नाना धर्माणं जनं) विविध धर्म के अनुयायी होते हुए भी उन सब की एक माता-सब की आदि माता- यही मातृभूमि है, इससे सब को चाहिये कि आपसी भेदभाव भूलकर उसके सन्मुख खडे हों। मातृभूमि की उपासना करने में भाषा का भेद, प्रांत का भेद, धर्म का भेद या जाति का भेद आड न आना चाहिये। सब लोगों को चाहिये कि वे सब मिलकर यही समझें कि वे सब (यथा ओकसं) एकही घर में रहनेवाले एकही कुटुंब के लोग हैं। और सब लोग अन्य किसी भेद को प्रधानता न देकर अपनी अभेद्य एकता बतावे।

एकही घर के लोगों में कुछ बडे, कुछ छोटे, कुछ मध्यम, कुछ गोरे, कुछ सांवले, कुछ न गोरे न सांवले, कुछ बूढे, कुछ युवा, कुछ पुरुष और कुछ स्त्रियां रहती हैं। एकही घरके लोगों में इतने भेद रहते है!!! इन में से प्रत्येक यदि कहे कि मैं अन्य सब से भिन्न हूं, तथा अपनी भिन्नता के कारण उसने कुटुंब के हितकी ओर दृष्टि न दी तो उस घरका उस कुटुंब का नाश होने में देरही क्या? इसके विरुद्ध यदि उस घरके निवासी उस कुटुंब के घटक क्षुद्र भेदों को भूल जावें और अपने मन में यही मुख्य विचार रखें कि सारे कुटुंब का हित हो, तो वही घर नंदनवन के समान आनंद से भरा हुआ दिखेगा। जहां कहीं मनुष्य है वहां भेद अवश्य ही होंगे। किन्तु मनुष्य का धर्म यही है कि क्षुद्र भेदों को गौण समझकर सब मिलकर अपने घरका-अपने देशका-अपने राष्ट्रका हित साधन करे। राष्ट्र-

गीत में यही बात बतलाई गई है। राष्ट्रके घटक जिस समय आपसी क्षुद्र भेदों को प्रधानता देकर आपस में लडते झगडते हैं, उस समय राष्ट्रकी शक्ति क्षीण होती है। परन्तु जब भेद भावों को मिटाकर वे सब मिलकर देशहित का कार्य करने में लग जाते हैं तब उनकी शक्ति बढती है और उनकी उन्नति होती है।

किसी भी देश को या किसी भी राष्ट्रको देखिए। भाषा, जाति, वंश, धंधे, आदि अनेक कारणों से उसमे अनेक भेद होते ही है। आज संसार में एक भी राष्ट्र ऐसा नहीं जिसमें उपर्युक्त भेदोंका नामनिशान न हो। परन्तु विचार शील राष्ट्रके समंजस लोग इन भेद भावों की ओर ध्यान नहीं देते। वे यही समझते हैं कि राष्ट्रहित ही उनका लक्ष्य है। बस अपने लक्ष्यपर दृष्टि रख वे एकता से उसी की प्राप्ति में लग जाते है। आपस में लडाई-झगडा करने वाली जातियां भी जब देखती है कि सारे राष्ट्र पर आपत्ति आगई है, तो वे आपसी झगडे छोड देती है, आपस में मिल जाती है और राष्ट्रीय आपत्ति से मुठभेड करती है। परिणाम यही होता है कि उस आपत्ति से वे बच जाते है। परन्तु इस के विपरीत जो लोग अपने भेद भावों की ओर ही दृष्टी रखते हैं,जो राष्ट्रीय हित की ओर नही देखते, जिन्हें राष्ट्रकी अपेक्षा अपने भेद ही अधिक महत्व के मालूम होते है, वे क्षुद्र भेद भावों में ही फंसे रहते हैं और अपनी उन्नति कभी भी नही कर पाते। भेदों के रहते भी जो उसी में अभेद का अनुभव प्राप्त करने को तैयार रहते हैं वे ही कुछ राष्ट्रहित साधन कर सकते हैं।

हमारे हिंदुस्थान में ही सब मनुष्य भेद-भावों से विभक्त हैं यह नही। किन्तु अन्यान्य देशों का भी यही हाल है। तब क्या इस देश के निवासियों को उचित है कि वेही अपने भेदोंको सदा बढाते रहें और इससे अपने शत्रु को मदद दें? क्या भारतवासी इस महत्वकी बात का विचार न करेंगे? जो लोग सदैव यही चिल्लाते रहते है कि "प्रथम आपसी भेद भावों को मिटा दो" उन्हे स्मरण रखना चाहिये कि ऐसा समाज जिसमें भेद-भावोंका बिलकुल अभाव हो, न कभी इस पृथ्वीतल पर था न अब विद्यमान है और न भविष्यत्‌में भी होनेकी शंका है। किसी भी देश में किसी भी समय जो बात कभी भी न हुई वह इस देश में कैसे हो सकती है? सब देशों में एक बात साध्य हुई है और वह है आपसी भेदों को मर्यादा का उल्लंघन न करने देना। बस वही बात हमारे देश में भी साध्य हो सकती है। अतएव उचित यही है कि लोग असाध्य को साधने के प्रयत्न में न लग साध्य बातों को ही करें और अपनी उन्नति कर लें।

भारतवर्ष में तीन धर्म विद्यमान हैं;(आर्य)हिंदु,मुसलमानी और ईसाई। यह समझ कि जब तक ये तीन धर्म हैं, तब तक स्वराज्य के लिए प्रयत्न न करना, अथवा ये तीन भेद नष्ट होकर जब सबका मिलकर कोई नया धर्म बनेगा तभी स्वराज प्राप्ति का प्रयत्न करना निरा अज्ञान है। इन तीन भिन्न धर्मों के रहते भी सबको मिलकर मातृभूमि की उपासना के लिए तैयार होना चाहिए। यह तो असंभव है कि तीनों धर्म सदा के लिए नष्ट हो जांय। इन भिन्न धर्मों के रहते भी सब को चाहिए कि अपना 'अभिन्न राष्ट्र-धर्म' देखें। जातिभेद, भाषाभेद, वर्णभेद आदि अनेकानेक भेद अवश्य ही रहेंगे। इन भेदों का सदा के लिए नष्ट होना यदि संभव माना जाय, तो उसे इतना अधिक समय लगेगा कि उसके साध्य होते तक स्वराज को दूर रखनेसे हमारी बडी भारी हानि ही होगी। अतएव हरएक मनुष्य को, हरएक व्यक्ति को यही सीखना आवश्यक है कि अनेक भेदों के रहते भी उन्हे भूलकर एक घर के, एक कुटुंब के भाइयों के समान एकता से रहें। इस मंत्र का यही उपदेश है और हर एक राष्ट्रभक्त उसपर ध्यान दे। अब आगे का मंत्र देखिए:—

असंबाधं मध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः
प्रवतः समं बहु। नानावीर्या ओषधीर्या बि-
भर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः ॥ २ ॥

अथर्व १२।१

'जिस मातृभूमि के मनुष्यों में उच्चता, नीचता और समता के संबंध में (बहु अ-संबाधं) बहुत ही निर्वैरता है अर्थात् झगडे नहीं हैं और जो नाना

गुणों से युक्त औषधी उत्पन्न करती है वह हमारी मातृभूमि हमारी (प्रथतां)कीर्ति वा ख्याति बढावे।'

यह मंत्र बताता है विषमता होते हुए भी राष्ट्रीय हित का साधन कैसे करना चाहिए। मनुष्य का भेद भाव पूर्णतया मिटाने की चेष्टा भले ही की जाय, पर शरीर, इंद्रिय, मन, बुद्धि आत्मा के न्यूनाधिक विकास के कारण तथा उनकी व्यवहार कुशलता की न्यूनाधिकता से उनमे ऊंच, नीच, मध्यम आदि भेद रहना स्वाभाविक है। अतएव संभव नही कि सब मनुष्य समान योग्यता के, बिलकुल एकसे बने। ऐसी असमानता रहने पर भी प्रयत्न यह होना चाहिए कि उनके अभेद की ओर ही ध्यान देकर सबका उत्कर्ष हो।

मंत्र में 'अ-सं-बाध' शब्द है। वह अतीव महत्व का है। गौण भेदों को प्रधानता दी जाय तो एक समाज के मनुष्यों का दूसरे समाज से विरोध होने लगेगा। एक समाज दूसरे को प्रतिबंध करने लगेगा। दूसरे को मिटाकर स्वयं ही जीवित रहने का प्रयत्न करने लगेगा। ऐसा होने से जातियों में 'संबाध' उत्पन्न होता है। जाति जातिके झगडे, विरोध आदि बातें इस शब्द से बतलाई जाती हैं। परस्पर बाधा करने ही का नाम 'संबाध' है। संबाध का अर्थ है आपसी युद्ध। जब युद्ध होने लगते हैं, तब राष्ट्रकी शक्ति क्षीण होती है। जब एक समाज दूसरे समाज को बाधा पहुंचाता है, एक जाति जब दूसरी जाति को कष्ट पहुंचाने लगती है, तब राष्ट्र क्षीण होता है। इसीलिए राष्ट्रहित की दृष्टि से जाति-जाति में, समाज समाजमें एकता का होना परम आवश्यक है। यही बात बतलाने के हेतु मंत्र में कहा है: –

'यस्याः मानवानां मध्यतः बहु असंबाधम्।'

'जिस मातृभूमि के मनुष्यों में बहुत निर्वैर भाव रहता है,' वही मातृभूमि अपने सुपुत्रों को उत्तम धन दे सकती है। परंतु जिस भूमि के लोक आपस में वैरभाव रखने हैं, वहां की जनता आधा पेट रहती है। कोई ऊंचा हो, कोई नीचा हो, कोई ज्ञानी हो, कोई अज्ञानी पर शरीर से हृष्टपुष्ट हो, सब को चाहिए कि वे जो कुछ करेंगे मातृभूमि के लिए करें। अपने गुणाधिक्य के घमण्ड से उन्हे गुणहीनों को वा न्यून-गुणवालों को न दबाना चाहिए। कुछ लोग गूंगे हों और कुछ वाचाल हों, तो दोनों मिलकर, आपस में न लडकर अपनी शक्तियों का मेल करना चाहिए और 'उन्हे मातृभूमि की वेदी पर चढा देना चाहिए'। तभी राष्ट्र की उन्नति होगी। मनुष्य में जो(उद्वतः)उच्चता, (समं) समता, और (प्रवतः) नीचता रहती है, वह एकदूसरे का घात करने के लिए नहीं रहती है। एक मनुष्य यदि किसी एक बात में ऊंचा है, तो वह दूसरी बातों में नीचा होगा। बडा विद्वान ज्ञान में ऊंचा होगा, तो शक्ति में उसका दर्जा कम हो सकता है। कोई शक्तिशाली पहलवान हो, तो ज्ञान में उसका हलका होना संभव है। किन्तु मातृभूमिको दोनों प्रकार के मनुष्यों की आवश्यकता है। ज्ञानी मनुष्य ज्ञान के घमण्ड से और बलवान् शक्ति के घमण्ड से एकदूसरे के सिर न फोडें बल्कि दोनोको चाहिए कि वे मिलकर देश के शत्रुओं को दूर करें और अपनी उन्नति करें।

मानवों का कर्तव्य यही है कि अनेक भेदों के रहते भी अभेद-भाव से अपना मार्ग निकाले। जो मनन करने में समर्थ हैं उसीको मानव कहते हैं। मनन करने वाला झगडे उत्पन्न नही करता वह सोच विचार कर झगडे कम करता है और उन्नति के मार्ग से आगे जाता है। जो अपनी परिस्थिति का विचार नही करते, अपनी उन्नति के लिए प्रयत्न नहीं करते, किन्तु आपस के झगडे ही बढाते हें वे दो पैर वाले होने पर भी मानव या मनुष्य नहीं कहे जा सकते।

इस मंत्र का उपदेश हम लोगों की वर्तमान दशा में अच्छी तरह उपयोगी हो सकता है। उपर्युक्त मंत्रों के पढने से ज्ञात होगा कि इस वैदिक राष्ट्रगीत के द्वारा देशवासियों में एकता बढाने के लिए जो कुछ कहा जा सकता है कह दिया गया है। अब हम चाहें तो उसका उपयोग करें चाहें तो न करें। यदि हम उससे लाभ न उठावें तो उसमें धर्मग्रंथ का क्या दोष? दोष है अनुयायियोंका। ऐक्य का उपदेश सुन लेनेपर प्रत्येक को जान लेना चाहिए कि हमारे देशके प्रति-हमारा पुत्रत्वका नाता किस प्रकार है। इस संबंध को जानकर उसे सदैव अपने मनमें जागृत भी रखना होगा। निम्न लिखित मंत्र को अब देखिए.-

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः। तवेमे पृथिवि पंच मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यत्सूर्यो रश्मिभिरातनोति ॥ १५ ॥

"हे मातृभूमि! तेरे से उत्पन्न हुए हम सब मनुष्य तुझपर ही घूम रहे हैं। तूही द्विपाद और चतुष्पाद का पोषण करती है। हम पांचों प्रकारके मनुष्य तेरे ही हे। हम मानवों को प्रतिदिन ऊगनेवाला सूर्य अपने किरणों से तेज और अमृत देता है।'

इस मंत्र में सर्व प्रथम यही बतलाया गया है कि 'हम मनुष्य भूमाता से (त्वत्-जाताः) ही उत्पन्न हुए हैं और तुझपर ही घूमते फिरते हैं।' यह भाव स्पष्ट एवं असंदिग्ध है। प्रत्येक राष्ट्रभक्त अपने मनमें यही भाव रखता है, यदी नहीं रखता तो उसे अवश्य ही रखना चाहिए। तभी वह राष्ट्रकी उन्नति के योग्य कार्य कर सकेगा। मातृभूमि हमारी अलंकारिक वा काल्पनिक माता नहीं वास्तविक माता है। यह अनुभव जितना जीवित होगा, उतनी ही दृढ भावनासे वह मनुष्य मातृभूमि की सेवा करेगा।

यदि वाचक विचार करें तो वे जानेंगे कि हमारे देशमें जो जातीय झगडे होते हैं उनका कारण यह है कि इस देश के निवासी नहीं समझते कि सचमुच हम सब मातृभूमिके पुत्र हैं। लोग अपने अपने पंथ के हित की दृष्टि रखते हैं। सब का मिलकर जो राष्ट्रधर्म है उसका पालन कोई नहीं करता। इस से सब को एक राष्ट्रधर्म का बंधन नहीं रहता। प्रत्येक को अपना पंथ ही अधिक प्रिय होता है। सार्व-राष्ट्रीय धर्म के पालन की कोई फिकर ही नहीं करता। ऐसे घातक विचार किसी भी देश के निवासियों में से किसी भी जाति के लोग न रखें इसी मंत्र में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि 'हम सब मातृभूमि के बालक है।' वाचक यदि इस अनुपम मंत्रपर विचार करें तो उन्हे विदित होगा की आपसी फूट की यह अक्सीर दवा है। मनुष्य किसी भी धर्म के या पंथके रहें, या उनमें जाति और वर्ण के कारण कैसी भी भिन्नता क्यों न आई हो; यदि वे एक राष्ट्रधर्म से बंध जायेंगे तो परस्पर वैरभाव उत्पन्न ही न होगा।

" हमारी मातृभूमि हम द्विपदों का और अन्य चतुष्पादों का उत्तम प्रकार से पोषण करती है। इस स्वार्थी दृष्टि से भी यदि देखें तबभी हरएक मनुष्य के लिए उत्तम बात यही होगी कि वह हृदय में मातृभूमि की भक्ति रखे और उसकी रक्षा के लिए सदैव तैयार रहे। हम अपने मकान की रक्षा करते हैं, अपनी जमीन की रक्षा करते हैं। यह सब हम इसी लिए करते हैं कि उससे हमारा हित होता है। हमारा हित मातृभूमि से भी होता है। क्यों कि वही मातृभूमि मनुष्यों को, पशुपक्षियों को अन्न-उदक आदि देती है और उनकी रक्षा करती है। यदि हम मातृभूमि की रक्षा न करेंगे तो वह किसी दूसरे के अधीन हो जावेगी और तब हमारी ही आफत होगी हमें भूखों मरने की नौबत आवेगी।

इस समय भारतियों का यही हाल है। उन्होंने योग्य समय मातृभूमि की रक्षा न की अतएव अब हमें कष्ट सहने पडते है। इस आपत्ति के समय भी हम आपसी झगडों को नही भूलते, और एकता से मातृभूमि की सेवा करने को तैयार नही होते!' गत काल में हम लोगों ने जो गलतियां की सो तो हो चुकी। उनके बारे मे अब कोई कितनाही क्यों न कहे, वे बदल नहीं सकती। परंतु उन गलतियों का फल भोगते समय भी उनसे उचित शिक्षा न लेकर पुनः पुन वेही भूलें करना और प्रतिदिन आपसी भेदभावों को बढाना भयंकर भावी आपत्तिका चिन्ह है। क्या भारतवासी इसपर विचार न करेंगे?

इस विचार को मन में न रख कि "हे मातृभूमि! हम तेरे बालक है" हम समझते है कि हम अपने भिन्न भिन्न पंथों के हैं। इसके समान दूसरी भयंकर भूल नही है। सर्व प्रथम हम अपने राष्ट्रके है तत्पश्चात अपने पंथ के हैं। यही बाना हरएक मनुष्यको रखना उचित है। यदि मनुष्य यह बाना न रखें तो राष्ट्रहानि होना टाल नही सकते। वाचक देख सकते है कि अथर्ववेद के इस वैदिक राष्ट्र-गीतके प्रत्येक मंत्र में कैसे महत्त्व का उपदेश करा है। हमारी वर्तमान गिरी दशामें ये अनमोल उपदेश-रत्नही हमारा उत्थान कर सकते हैं। इतनाही नहीं वे हमारा यश चारों दिशामें फैला सकते हैं। प्रिय वाचक! आप इसी दृष्टिसे इन मंत्रों का विचार करेंऔर उसके उपदेशों का कार्य में परिणत करें। (क्रमशः)

" हिंदू समाज समर्थ कैसा बनेगा।

प्रथम पुष्प -" कल्पनाओंकी जड "

(लेखक-श्री पं. महादेवशास्त्री दिवेकर, वाई)

गत पांच सात सालकी भारत की स्थितीकी ओर दृष्टीफेरी जाय तो हमें ऐसाही नजर आयगा कि,हिंदूसमाज असहयोग, खिलाफतका प्रश्न,मुसलमानोंकी हलचल, हिंदुसंगठन वालोंकी धैर्य युक्त घोषणा इन सब आंदोलनोंसे आपादमस्तक कंपित होगया है; असह योगके आंदोलनमें महात्मा गांधीजीने अछूतोंको छूत बनानेकी अपूर्व कल्पनाओंको अमल में लानेकी चेष्टा प्रारंभ करनेके कारण हिंदुसमाज के संबंध में दारुण उदासीनता दिखलानेवाले बडे पंडित मान्यवर तथा कतिपय शास्त्री गहरी नींदमेंसे अकस्मात् जागृत होकर महात्माजीको कलंकी अवतारसा समझकर आकाशकी ओर देख दांत किचकिचाने लगे। दूसरी ओर संगठन वालोंने अछूतोंको छूत बनानेके परमपूज्य शुद्धिकार्य को इस प्रकारसे धैर्य से संभाला और उन्नत किया कि,इसी कारण से मुसलमान लोग जगह जगह दंग करनेको उद्यत होते है ऐसा निराधार मन प्रस्थापित करनेको कतिपय डरपोक महाशय खडे हुयेऔर अपना मत निर्भयतासे कई सभाओंमें भाषण द्वारा प्रकाशित करने लगे।

मुसलमानोंके विशेष अत्याचारोंसे और आर्यसमाजके यशस्वी शुद्धीकार्यसे हिंदुसमाज के उपर दीर्घकालतक गुंजनेवाला परिणामकारक असर पहुंचा ऐसा कहने मे कोई संदेह नही।

परकीय राजसत्ता होनेके कारण अखिल विश्वसे आपहि आप होनेवाला संबंध, जीवन कलहकी स्पर्धा मेहगाई और लोकशाहीका तत्व इन कारणों से हिंदुसमाजकी पुनर्घटना होनेका रंग दिखने लगा है। हिंदुसमाज कमकूवत, असंगठित व्यवस्थारहित होनेके कारणसे और उसकी प्रमाणसे अधिक लोक संख्या होनेके कारणसे उसे पुनश्च सुसंगठित करके सामर्थ्यशाली बनाना बिलकुल आवश्य होगया है।

हिंदुसमाजके घटकोंमें जो भिन्नता और विद्रूपता पायी जाती है वह किन उपायोंसे दूर होसकेगी यह सांप्रतमें एक बडाहि महत्वका और त्वरित हल करनेलायक प्रश्न उपस्थित है। हिंदुसमाज सामर्थ्यसंपन्न बलशाली तथा प्रभावशाली बनाने में प्रथमतः समाजकी भिन्नता और विषमता नष्ट करना चाहिये। और समाजरूपी यंत्रके अलग अलग प्रकार पडे हुवे जो घटक, अवयव अथवा पुर्जे है उन्हें एकदूसरे की ओर आकर्षित करके उपकारक बनावे इस प्रकारसे योजना और यत्न करना चाहिये।

हिंदुसमाज समर्थ कैसा बनेगा ? इस प्रश्नका हल करनेके प्रारंभ में कई बातें सिद्धहि समझना चाहिये अन्यथा उनका विचार करनाही कठन है। हिंदुस्थान यह एक खंड है और कई हजार बरसों से उसमें वास्तव्य करनेवाले हिंदुसमाज को हमें उन्नत दशामें लाना है। यह एक बात सिद्ध समझना चाहिये। भूगर्भशास्त्रदृष्टीसे अगर हिंदुस्थानकी ओर देखा जाय तो वह एक स्वतंत्र खंड है। ऐसाही दिखाई देवेगा।

भारतके भिन्न भिन्न विभागोंकी आवहवा और निपज की भिन्नतासे भारतभमि एक खंडसी मालूम पडती है।

हिंदुस्थान के कोई भागमें बहुतही " शीत " है तो कई भागोंमे असह्य गर्मी है, कोई भागोंमें वर्षाऋतुही नही, तो कई भागोंमें गर्मीका अंशभी नही। ऐसी उसकी उष्णतामान की स्थिति है।

हवामानके सादृश्य हिंदुस्थानके भिन्न भिन्न विभागोंमें खानपानके व्यवहारमेंभी विषमता और विचित्रता पायी जाती है।

मद्रासप्रान्त तरफ लाल मिर्च को कूटकर गोला बनाकर खाये सिवाय रोटी कंठगत होतीहि नही। और इमलीके खटाईके सिवाय भोजन स्वादिष्टहि

लगता नही। तो उधर वऱ्हाडप्रान्तमें रात्रीके भोजन समय यदाकदाचित् दूसरे किसीने छांचके पानीका उपयोग किया तो देखनेवाले को जुखाम से उपद्रव होनेका बहुत धोका रहता है। ऐसाभी कोई विनोदसे तथा मजाकसे कहते हैं। तो कोई प्रान्तोंमें मिरची बीचमें टांगकर उसके तरफ देखकर रोटी खाने से वह अन्न कुछ तीखासा मालूम पडता है। इन वार्ताओंमें जोभी कुछ अतिशयोक्तीका अंश सम्बसर नजर में आताहो ताहम् इस प्रकारके परस्पर विरोधी घृणा उत्पन्न करनेवाले तथा विचित्रतात्मक विविध प्रकार हमारे हिंदूभोजनमें पाये जाते हैं। तो विचार करनेकी बात है कि भारतवासियोंके विचार आचार पेहराव और कल्पना ओंमें तो भिन्नत्व और विचित्रता क्यों न होगी? जरूर करके होना चाहिये।

संयुक्तप्रान्त और पंजाब की ओर नजर फेरी जाय तो उन भागोंमें " गुडखाय घोडा और तेलखाय जोडा " ऐसी कहावत बरसोंसे प्रचलित है जोकि घी शक्कर रोटी खानेको उन्हें उत्तेजन देती है, और इसी कहावत के प्रचारसे उनको घी शक्कर के सिवाय रोटी का एक ग्रास भी कंठके नीचे छोडना मुष्किलसा मालूम पडता है।

अच्छा! इसके बिलकुल विरुद्ध स्थिती मध्यप्रान्तमें है। वहां सरबसर तेलके झर्राट बघार सिवाय-चांवल थडोंको मजाही आता नही।

तैलंगण प्रान्तमें भोजन पर विविध प्रकारके अचारके सिवाय बिलकुल व्यर्थ समझा जाता है। तो इधर महाराष्ट्रमें चटनी कुचंबर और सतरा प्रकार के शाकपत्तीयोंसे पत्तल को अलंकारित बनाये सिवाय सिर्फ दाल भातरोटी के भोजन सेहि पेटकी तुंबडीको खूब फुलाया तोभी तृप्तता नही प्राप्त होती। कोंकण प्रान्तमें चांवल यही सिर्फ उदरपोषणका पदार्थ ईश्वर निर्मित है ऐसी समझ है तो उधर पंजाब में वही पदार्थ केवल बीमारोंके लिये ही उत्पन्न किया है ऐसा समझते हैं।

कही तेल,मिरची रोटी, कहीं छाकका पानी और चांवल तथा कढीभात,कही घीशक्करपुरी, तो कही चांवल और मच्छी ऐसे भारत भोजनमें भिन्न भिन्न प्रकार दिखाई देते है।

तात्पर्य,जिन जिन विभागोंमे जो जो अनाज प्रायः प्राधान्यसे उत्पन्न होता है वही पदार्थ भोजनके पाक थालीमें अग्रस्थान मिलाता है और इसी कारणसे ऐसी विचित्रता नजरमें आरही है। यथार्थ में यह स्वाभाविक भी है इसी भिन्नताके कारण हिंदुस्थान एक देशही केवल नही तो वह एक बडा खंड है ऐसा भासमान होता है। हमारे भरत खंडमें प्राचीन समयसे-हजारों बरसोंसे भिन्न भिन्न मानववंश और भिन्न भिन्न मानवसमूह वसाहत कर बस रहे है।

पंजाब और संयुक्तप्रान्तमें शुद्ध आर्यवंश नजर आता है तो मद्रासके दख्खनमें शुद्ध द्रविड वंश है। बंगाली लोग आर्य और मांगोलियन इनका मिश्रण है तो महाराष्ट्रीय लोग आर्य और द्रविड इन्होंका संतान मानी जाती है। वंशमें भिन्नता होनेके कारण उनकी संस्कृतीभी भिन्न भिन्न प्रकारकी है। पंजाब वासी लोगोंकी शुद्धाशुद्धता, पवित्रता,शिष्टाचार और बुजुर्गोंके आचार व्यवहार भी भिन्नता दर्शक है।

अच्छा! अब रिवाज और आचार देखे जाय तो म्हैसूर प्रांतमें कोई गृहस्थ किसीके यहां परग्रामसे मेहमान तौरपर आवे तो घरकी स्त्रियां उसका आदर आतिथ्य-मान सन्मान गायन वादनसे करनेमें आगे बढतीं है, तो इसके बिलकुल विरुद्ध महाराष्ट्रीयोंमें रिवाज है। महाराष्ट्रीय गृहस्थके यहां अगर कोई मेहमान आये तो उसको स्त्रियोंका बोलना चालना भी सहलाईसे नजरमें नही आता।

कोई प्रान्तोंमें आप्तस्वकीय लोगोंका घरपर आना आनंदसे मनाते हैं तो कोई स्थानोंमें आप्त और रिस्तेदारोंके दर्शनसे-नयनोंसे गंगाजमुना बहाते हुवे-रुदन से दृष्टीभी जानेका धोका रहता है और रुदन कोलाहलसे मकान भी ढलक जानेका अधिक संभव रहता है।

महाराष्ट्रके सिवाय भारतके और सर्व विभागोंमें स्त्रियां कच्छविहीन साडियां पेहनतीं है। यदि कोई पुरुष बाजारमेंसे कच्छविहीन धोती पेहनकर निकला तो उसे बाजारके बहुतेरे अबालवृद्ध निंदा व्यंजक बुरा भला कहते हुवे उसका पिच्छा पकडकर उसकी मजाक उडाते हैं। अच्छा! मद्रासकी ओर सिर्फ धोतीही लपेट कर फिर-

न' का आम रिवाज है। महाराष्ट्रमें शिरस्त्राण सिवाय मनुष्य घरसे बाहर निकलना असभ्यतादर्शक और अपशकुन समझा जाता है तो मद्रास और बंगाल तरफ नंगेसिर घूमना यही एक रिवाज है। यह तो कुछभी नहीं लेकिन व्यंकट गिरीपर सौभाग्यवती स्त्रियोंका उनके पतीदेवता जीवित होनेपरभी केशवपन करना धर्मशास्त्रसंमत है तथा धर्माज्ञा है। और ऐसी स्थितीमें वे मर्द सरीखे शीर्ष अच्छादित किये सिवाय ही घूमना पसंत करती हैं। कहीं एकही पत्नीसे विवाह करना शास्त्रमान्य है तो कहीं स्थलोंमें अनेक विवाह करना आवश्यक मानते हैं। कहीं मामा भांजीको विवाह बद्ध होनेमें हरकत नहीं मानते तो कहीं इसके विरुद्ध है।

इस प्रकारकी आचार भिन्नता, कल्पना भिन्नता अहारभिन्नता दृष्ट होनेसे वंश भिन्नता और संस्कृति भिन्नता को पुष्टी मिलती है और इसीकारण "हिंदू' इस शब्दकी छोटीसी व्याख्या बनाना मुष्किलसा मालूम पडता है।

हिंदू यह एक वंशके नहीं। एक पंथके नहीं। एक मानवसमूह नहीं। एक देवता मानने वाले नहीं। एक तत्वज्ञान माननेवाला समाज नहीं। सब हिंदू मात्रकी एक देवता नहीं। और एक धर्मग्रंथभी नहीं। सब हिंदुओंका एक साधू गुरु नहीं। इन बातोंका कारण इतनाही है कि हजारों वर्षोंसे हिंदुस्थानके भारतवासी भिन्न भिन्न संस्कृतीके, रिवाजके,कल्पनाओंके, आचार व्यवहारोंके समाज उपस्थित किये बसते है। तथापि इतना भेद होते हुए वैदिक वङ्मय, रामायण, महाभारत, संस्कृत भाषा, पवित्र तीर्थस्थान इनके संबंधमें काशीसे लगाकर रामेश्वर तक देखा जाय तो एकही मत संमत है।

भारतमें जोभी भिन्न भिन्न वंशके लोक हैं तोभी आर्य लोगोंने भिन्नता में इन बातोंकी अभिन्नता अभी भी कायम रख छोडी है यह बडी ही संतोषदायक और आनंददायक बात है।

वेद, संस्कृत भाषा, रामायण, भारत, गंगा, गाय, इत्यादिओं को जो पूज्य मानता है वही हिंदू ऐसी अभितक सर्वमान्य व्याख्या हिंदुओंकी की जाती है यह समझ धर्म विशिष्ट नहीं है।

हिंदुसमाज समर्थ कैसा बनेगा ? इस प्रश्नका हल करनेके प्रारंभमें अब हमने हिंदुसमाजका समुदाय वाचक स्वभाव कैसा है यह भी देखना चाहिये।

भारतकी आबहवा बढिया और आरोग्यदायक सृष्टिसौंदर्य मनोहारी और अनाजकी पैदाश मनोगिनती होनेसे इन बातोंका भारतवासीयोंके स्वभाव पर खूब गेहरा असर पहुंचता है ऐसा समाजशास्त्रज्ञ अकसर कहा करते हैं। कोईसा भी समाज उत्पात करता है सो केवल अन्नके ही कारण ! खब सुग्रास अन्न प्राप्त करनेके वास्ते धन प्राप्त करना पडता है ! धन प्राप्तीके वास्ते उसे 'जयिष्णु' अथवा हमलेवाला बनना भाग होता है। और अनाजोत्पत्ती विपुल और मनमुराद हुयी याने पेटकी तुंबडी पूरेपूर भरी हुवी हो तो वह समाज स्वाभाविकही आलसी बनकर 'सहिष्णु' याने भविष्यत् कालमें आपत्तीयोंको सहनेवाला बन बैठता है। हिंदुसमाजका स्वभाव सहिष्णु बनानेमें भारतभूमीकी आबहवा, अनाजकी मनमुराद पैदाश और सृष्टी सौंदर्य इन बातोंका निलमात्रभी वास्ता नहीं है' ऐसा कोई भी समझवार शक्स स्पष्ट नहीं कह सका। हम आलस्य प्रिय अलाल बन गये हैं और उनकी जूटकी फूट न होनेसे हमारी और आलस्य की टूट होती नहीं किंतु हम आर्यपुत्रों की विदेशीओसें सरबसर लूट हो रही है—क्योंकि पाश्चात्य प्रभाव का मदोन्मत्त घोडा हमारे पिछे निर्दयतासे बेछूट दौड लगा रहा है और वेदकालीन हरप्रकारकी उन्नति हमसे रुठ गयी है। उसे हमने उद्योग प्रियतासे मनाकर, संतोषित किये विना जलका एक घूंट भी न लेंगे ऐसी भीष्म प्रतिज्ञा किये सिवाय अब कार्य चल नहीं सकता।

हमारे आलस्यको जगत् का मिथ्यापन और अहिंसा परमोधर्मः यह बुद्ध धर्मीय वेदान्त अधिकांश उत्तेजन दे रहा है। यही केवल नहीं तो ऐसे सेंकडों 'अदनासी शानवाले क्षुलुक कारण हमें पाये जा सकते हैं कि जिनके प्रभावसे हमारी कल्पनायें-नादान अपरिपक्व, तथा विचित्रतापूर्ण होगयी हैं। और इसी कारण हम जयिष्णु के सहिष्णु बन चुके हैं। लेकिन ऐसी अवनत दशा के चक्कर में हमने पुनश्च पूर्व कालीन आर्यवंशीय स्थितीको प्राप्त करनेका बीडा

उठाना चाहिये याने हमने अब जयिष्णु बननेका जो- शीला यत्न करना चाहिये।

आर्योंका वेदकालीन इतिहासभी देखाजाय तो उसमे भी वे जयिष्णुही पायेजाते हैं। आर्योंका मूल- स्थान उत्तर ध्रुवकी ओर था, ऐसा माना गया तो भी आर्यलोग अखिल पृथ्वीपर बिखरे हुवे हैं और उन्होंने आलम दुनियापर अपना साम्राज्य प्रस्थापित किया हुवा है ऐसा सिद्ध किया गया है। हिंदुस्थानके आर्य लोग जो उत्तर दिशाकी ओर हिंदुस्थानसे बाहर निकल चले वह खास करके कोई मुलूख काबीज करनेके उद्देशसेहि निकले थे ऐसा सिद्ध होता है।

इतिहास संशोधनाचार्य श्रीयुत् ' राजवाडे ' सा हेब कहते है कि 'पामीर' पठार परसेही आर्य लोगों ने आलम दुनियाका राज्य काबीज करनेके कारण आठों दिशाओंको अपना अपना रास्ता सिधारा! इसपरसे सिद्ध होता है कि जो भी सांप्रत में हिंदू समाज सहिष्णु बना हुवा दिखाई देता है तोभी प्रा- चीन समय में वह जयिष्णु जरूरहि था।

हिंदूसमाज समर्थ बनाने में अखिल भारतवासी- योंमें आर्यपुत्रोंका अनुकरण करना चाहिये और हिंदस्वभावरूपी मंदाग्नी पर जो रखोडी छागयी है उसे उद्यमरूपी जादूकी फूंकसे शीघ्र उडाकर भीतरी देशप्रेमरूपी असली अग्नीको चेतना देकर पूर्व स्थितीके नाई प्रज्वलित करना चाहिये।

हिंदूसमाज के स्वभाव के ज्ञान के साथहि साथ उसके पडोसमें जो खिश्चन और मुसलमान समाज हैं उनकी संस्कृतीके स्वभाव का ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक बात है। मकान मोल लेनेके प्रारंभमें पडोसी कैसा है यह जैसा देखा जाता है वैसेही नीजी समाज समर्थ बनानेके प्रारंभमें हमारे समाज के जो पडोसी है उनका धर्म, स्वभाव, संस्कृतीयां इनका ज्ञान प्राप्त करना जरूर है।

महंमद कासीमने सिंधदेशके दाहीर राजापर हमला किया उस दुर्दिनसे हिंदूमुसलमानों की पर- स्पर जान पिछान होना शुरू हुयी। इ. स. ७१० से लगाकर १९२७ सालतक उनका इतिहास देखा जाय तो ' मुसलमानोंका स्वभाव क्रूरता, विश्वासघात, बेईमानी इत्यादि अलंकारोंसे अलंकृत है ' ऐसा सिद्ध होता है। ये शब्द खास इतिहासकार श्री. स- रदेसाईजी के हैं, याने एक प्रसिद्ध इतिहाससंशोधक केतेजस्वी कलम से निकले हुवे हैं। हिंदुओंको पल- पलपर मुसलमानों के स्वभाव का, स्पष्ट ज्ञान होही रहा है और इसी कारण उसकी अधिक चर्चा करनेकी कोई आवश्यकता बाकी रही नहीं।

मुसलमानी धर्म सब धर्मोंमें श्रेष्ठ है, अन्य धर्मीय लोग तो काफर अर्थात् मोक्षप्राप्ती के लिये काफरोंको उनके धर्मसे पददलित करना, उनकी स्त्रियोंकी इज्जत आबू जन्नतके प्राप्तीके लिये करना और दानधर्म खैरात के लिये उनकी जानमाल धनदौलत की लूट करना यह जिनका फर्ज समझा जाता है और यह जिनका तत्वज्ञान है और इसी तत्वज्ञानके नियमोंके अनुसार जिनका क्रूर आचरण जारी है उनके स्व- भावका वर्णन करनेका अधिक पाप सुविचारी हिंदू कभी भी भूलकरभी न करेंगे।

हिंदूसमाजका दूसरा पडोसी इसाई समाज है। वह जो भी दिखनेमें भोलाभाला हिंदूके सादृश दिखता हो तो भी वह हिंदूके समान सच्चा भोलाभाला न होकर ' उपरकी तो टाम्टीम अंदर की जाने राम ' इसी कहावत के अनुसार दिखने में तो भोला- भाला लेकिन स्वभावसे बडाहि काला ऐसा है। इस खिश्चन समाजरूपी वृक्षको सचेतन करनेवाली उसकी अदृश्य जड ऐसी मजबूत और गेहरी है कि उसको खोजके साथ खोदकर देखते ही हिंदू- समाज को एकदम मूर्छा आनेका संभव है। यह शक्ति उसे पाश्चात्य संस्कृतीसे मिली है। पाश्चात्य संस्कृति यह अन्य संस्कृतिओंको हमेशा गुलाम बनाया करती है— (Enslaving Culture) यातो निर्मूल नष्ट करती है ऐसा संशोधनाचार्य राजवाडे कहते हैं।

बंगाल हायकोर्टके माजी जज्ज जॉन वुड्रॉफ कहते हैं कि पाश्चात्य संस्कृति यह एक असुरी संस्कृति है, राक्षसी संस्कृति है, बडी भुक्कड संस्कृति है। अर्था- त् उसका अवतार आलम् दुनिया को कंठगत करके साफ निगल जानेके लिये ही केवल है। साहेब बहा- दूरके खास शब्द इंग्लिश भाषामें "Great Eater" ऐसे ही हैं।

पेरुदेश, मेक्सिकोदेश, अमेरिकाके खास रेड-इंडियन्स, दक्षिण आफ्रिका और हिंदुस्थान इन सब राष्ट्रोंसे पाश्चात्य संस्कृतीका जो कुछ संबंध परिचय हुआ उसपर दृष्टी फेरी जाय तो किसी भी विचार-वान् मनुष्य को उपरी संबोधन सत्यतापूर्ण मालूम पडेगा! इन बातोंका तात्पर्य केवल इतनाही ख्याल में लेना चाहिये कि, हमारे पडोसीओंके विचित्रता-पूर्ण स्वभाव अच्छी तौरसे समझकर हिंदूसमाजके सामर्थ्यका विचार अवश्य करना चाहिये।

हिंदूसमाज यह बहुत पुराना समाज है और उस के घटक सब वृद्ध शरीरके समान ढिलेढस और गलित बन रहे हैं उसको हमने आज पुनरुज्जीवित करके बलशाली प्रभावशाली और सत्ताशाली बना-कर छोडना चाहिये। हिंदूसमाजको निजघरपर अधिकार नहीं और घरके बाहर कोई दयालू त्राता, संरक्षक तथा-(Body guard) बॉडी गार्डभी नही।

अन्य अहिंदू समाज सुसंगठित हैं, वे सत्ताशाली बने हुवे हैं। दुनियामें उन समाजोंके चालक तथा पुरस्कर्ते उनके सौभाग्यसे तरवार बहादूर हैं और इसी मुख्य कारण से अखिल हिंदूसमाज पर एक भीषण आपत्ती आयी हुई है ऐसा कहना हमारे दुर्भा-ग्य से प्राप्त हुआ है। इस आपत्तीसे उसने सिर उंचा करनेका सामर्थ्य दिखाया तो एक अपूर्व कार्यसिद्धी हुई ऐसा समझना चाहिये।

मनुष्य प्राणी जब मृत्यु शय्यापर मृत्युसे झगडता है तब जीवकी रक्षा कैसी होगी इसी मुख्य हेतू की ओर उसकी कोशिश चालू रहती है नको उसके बंडी धोती तथा ओढनेके वस्त्र दुशाले तरफ। ऐसी हाल-तमें उसने " पीछे से चली आयी " इस हट्टीले हट योग को त्यजना चाहिये और इस समय प्राण की रक्षा कैसी होगी इसी मुख्य हेतूकी पूर्णताके तरफ उसको झटपट लगना चाहिये। वैसेही हिंदू समाजने करना चाहिये। दुनियाके जो परधर्मीय मानव समूह हैं उनकी संख्याबल और सत्ताबल विचारमें लेने लायक है। अगर हिंदूसमाजके पास इनमेंसे एकभी साधन न हुवा तो हिंदूसमाज मृत्युसे फजूल झगड रहा है ऐसा ही कहना योग्य है।

७२ कोट सत्ताशाली ख्रिश्चन समाज, पचास कोट सत्ता सामर्थ्यवान् पूर्वदिशाका बुद्धसमाज, हिंदुस्थानके बाहरके स्वतंत्र सत्तावान् ६कोट मुसल-मान समाज, और इन्हींके उत्तेजनसे खास हिंदुस्थान में रहनेवाले ७ कोट समाज चाहे जिस समय, बेध-डक चाहे जिसले, चाहे जैसा व्यवहार करते हुवे देखकर हिंदूसमाजके गलेको किस प्रकार दारुण फाँसी लगी हुई है इसकी स्पष्ट कल्पना हरेक भारत-पुत्र को हो सक्ती है।

हिंदूसमाज समर्थ बनाने में सांप्रतकी हिंदकी स्थिति के तरफ सूक्ष्मतासे गोर करनेकी खास आवश्यकता है।

"हमारे बाप जादे करते आये इसलिये हम शाहा-जादोंनेभी उन्हींका अन्धानुकरण करना चाहिये।" ऐसी मूर्खतादर्शक विचारसागरों में डूब मरनेके दिनों का हमने सुदिनोंमें रूपांतर करना चाहिये। इन विचारोंको हिमालय पहाड में भगाये बिना हम हिंदुस्थान समर्थ बनाने में बिलकुल असमर्थ और नालायक सिद्ध होंगे इसमें कोई शंका नही।

हिंदूसमाजरूपी पुराने मकानको अगर उन्नत करना हो तो पुराना मसालाभी इस्तेमालमें लाना आवश्य है। मकान का पाया अगर मजबूत हो वह कायम रखना चाहिये। सिर्फ मट्टी, इटें, पत्थर मुख्य खंबे इनकी रचना ही केवल नूतन पद्धतीके अनुसार कराना चाहिये। एकादी पुरानी मयाल सडगयी हो यातो पुराना मुख्य खंब जीर्ण होगया हो तो उनकी जगह दूसरे नये और मजबूत उपयोगमें लाना चा-हिये। मकान वास्तुशांतिके लिये जैसे पुराने मका-नका एकादा खण पुरानाही(कायम) मोजूद रखकर जैसे बाकीका सारा मकान नया बनाते, बिलकूल लगभग वैसीही स्थिति हिंदू समाजकी होते चली है।

हिंदूसमाज समर्थ बनानेका विचार करने वालों की इस पद्धतीकी मनोभूमि यथार्थ मे चाहिये. इतना दर्शित करके यह प्रथम पुष्प समाप्त करता हूं।

अगस्ति ऋषि का प्रचण्ड आन्दोलन।

अगस्ति ऋषि काशी (बनारस) के निवासी थे। वे भारी विद्वान् और तपस्वी थे। एक बार उनके मनमें आया कि वैदिक-धर्म का प्रसार करें। अतएव उन्होंने दक्षिण की ओर प्रस्थान किया। उस समय विंध्याचल को लांघना बहुत कठिन था। कारण यह था कि वहां घना जंगल था। पर अगस्ति ऋषि ऐसी कठिनाइयों से काहेको डरते थे? उन्होंने सब अडचनों को दूर कर दक्षिण में प्रवेश किया। वहां के जंगल कटवाए और उस भूमि को रहने योग्य बनाया। वाल्मिकी रामायण में लिखा है कि जब अगस्ति ऋषि दण्डक अरण्य को मनुष्य—वसती के योग्य बना रहे थे, तब राक्षसों ने उन्हे बहुत कष्ट पहुंचाया। परंतु अगस्ति ऋषिने उन सब को हराया और वहां गांव तथा नगर बसाए। उस समय इराबल और वातापी नाम के दैत्य बहुत प्रबल थे। उन्हे भी अगस्ति ऋषि के सन्मुख हार माननी पडी। वर्तमान 'ऐवोल' और 'बदामी' नगर इन राक्षसों की स्मृति अब भी कराते है।

दक्षिण हिंदुस्थान में अगस्ति ऋषिने केवल मत-प्रसार ही नही किया वरन् लोगों को कला-कौशल की भी शिक्षा दी। आयुर्वेद का प्रचार कर रोग-निवारण की विद्या दक्षिण के लोगों को सर्व प्रथम अगस्ति ऋषि ने ही सिखलाई। कहा जाता है कि इन्ही ने तामील भाषा का सुधार किया तथा द्रविड देश की वर्णमाला का संशोधन किया। मूर्ति-निर्माण और गृह निर्माण की कलाके विषय में उनका लिखा 'अगस्ति—संहिता नामका ग्रंथ प्रसिद्ध ही है। उन्होने कई राजाओं को वैदिक-धर्म की दीक्षा दी। सारांश, दक्षिण में निवास कर उन्होंने लोगों को धर्म, विद्या और कला की शिक्षा दी।

परंतु इतने पर भी उँन्हे, संतोष न हुआ। धर्म के प्रचारके लिए उन्होंने समुद्र लांघकर दूर के देशों मे यात्रा की। दक्षिण हिंदुस्थान के निकटस्थ पूर्वीय द्वीपों में भी वे गये थे। शिलालेखों से पता चलता है कि वे कंबोडिया में भी गये थे। कंबोडिया देश में अंकोखट नामका एक स्थान है। वहां एक शिला लेख है। उस शिला लेख में इस प्रकार लिखा है: -

'ब्राह्मण अगस्त्य आर्य देश के निवासी थे। वे शैव मत के अनुयायी थे। उनमें अलौकिक शक्ति थी। उसीके प्रभाव से वे इतने दूर पहुंचे।' वायुपुराण में लिखा है कि वे बर्हिद्विप (बोर्नियो), कुशद्वीप वराहद्वीप और शांख्यद्वीप तक गये थे। ये सब द्वीप संभवतः बोर्नियो के पास के ही द्वीप हैं। जावा और सुमात्रा में तो वे पहले ही गये थे। इस से स्पष्ट है कि अगस्ति ऋषिने समुद्री यात्रा की और आर्य धर्म तथा आर्यकला प्रसारित करने का प्रयत्न किया। अगस्ति ऋषि के गोत्रके आज भी कई लोग हैं। परंतु वे क्या कर रहे हैं?

'अगस्ति ऋषि के समुद्र—प्राशन का भेद अब खुलेगा। जिसे ऐसे भारी समुद्र का तनिक भी भय न हुआ, जिसने उसकी पर्वाह न की, जिसने अनेक सागरों और महासागरों से यात्रा की। उसके इन कामों का यदि अलंकारिक वर्णन यों किया जाय की उसने वह समुद्र एक आचमन में प्राशन किया, या अंजली में ले लिया, तो उसमें आश्चर्य ही क्या? आतापी वातापी आदि राक्षसों की कथाएं भी इसी प्रकार अलंकारिक हैं। ऊपर लिखे अनुसार उसमेंजो इतिहास है अर्थात् उन राक्षसों को हराने का इतिहास, वह सत्य है।

हमारे पुराण ग्रंथों में और प्राचीन काल के अन्य ग्रंथों में ऐसी अनेक अजीब कथाएं हैं। यदि कोई चिकित्सक उनकी गूढ बातों को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे तो लोगों का बडा भारी भ्रम दूर होगा।

'अगस्ति' का नाम 'कुंभज, कुंभयोनि' है। इन शब्दोंका संबंध 'कंबोज, कँबोडिया' आदि ग्रामनामोंके साथ स्पष्ट दिखाई देता है। इस नाम के द्वीप प्रदेश दक्षिण समुद्रमें हैं। इन शब्दोंका विचार किया जाय तो अगस्ति ऋषिके वैदिकधर्म प्रचार का बडा भारी इतिहास उपलब्ध हो सकता है। यदि कोई पुराणी कथाओंकी खोज करना चाहें तो इस रीतिसे करना चाहिये।

देश-हित का मूल मन्त्र।

[ते शतं हि वयं पञ्च परस्परविवादने। परैस्तु विग्रहे प्राप्ते वयं पञ्चाऽधिकं शतम् ॥]

इस श्लोक के सम्बन्ध में एक किस्सा है। किसी समय एक मनुष्यने पाण्डवों के ज्येष्ठ भ्राता धर्मराज युधिष्ठिर से प्रश्न किया कि 'शत्रु से लडने का मौका आने पर कौरवों के प्रति आपका बर्ताव किस प्रकार का होगा?' तब धर्मराजने कहा 'जब कौरवों से लडने का प्रसंग हो तब वे सौ हैं और हम पांच, किन्तु जब किसी अन्य शत्रु से मुकाबला हो तो (हम और वे मिलकर) एकसौ पांच है।' इस छोटी सी कथा में धर्मराजजी ने जो सिद्धान्त बतलाया है, वह राजनैतिक क्षेत्र में तथा सामाजिक क्षेत्र में अत्यन्त उपयोगी प्रतीत होगा। यह सिद्धान्त अतीव महत्व का है। राजनैतिक क्षेत्र में इस सिद्धान्त की महत्ता ऐसी भारी है कि इसे यदि राजनीति शास्त्र का मूल सिद्धान्त कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। भारतवर्ष की वर्तमान दशा का कारण है इस सिद्धान्त का विस्मरण। भारतवर्ष का इतिहास यही कहता है कि यदि भारतवासी इस सिद्धान्त को न भूलते तो वे अपनी स्वतन्त्रता कभी न खो बैठते। जयचन्द राठोर का शहाबुद्दीन गोरी को अपने सम्बन्धी पृथ्वीराज के विरुद्ध लडने को बुलाना क्या सिद्ध करता है?

भारतवर्ष का ही यह हाल है, संसार के अन्यान्य देशोंका हाल कुछ और ही है यह नहीं। संसार का इतिहास यही कहता है कि जो जो देश पराधीनता की बेडियों से जकडे हुए नजर आते हैं, वे सब इस सिद्धान्त को भूलकर ही ऐसी आफत में पडे है। यह एक रोग है। स्वतन्त्र राष्ट्र इस रोग से चार हात दूर ही रहने की कोशिश करते हैं। जो देश पराधीन है और स्वाधीन होना चाहते हैं वे इस रोगकी जड नष्ट करनेकी चेष्टा करते हैं। यही कारण है कि दूर-दृष्टि रखनेवाले विद्वान नेता कहते हैं, यदि असहयोग का आन्दोलन देशमें जारी रखना हो, तो आपसमें सहयोग करो। क्या हमारे भारतवासी भाई नेताओं के इस उपदेश की ओर ध्यान देवेंगे?

आदरणीय ग्रंथ—"मुस्लिम महात्माओ"

अमदावाद के "सस्तुं साहित्य वर्धक कार्यालय" की ओरसे "मुस्लिम महात्माओ" नामक अत्यंत प्रशंसा योग्य पुस्तक गुजराती भाषामें प्रकाशित हुआ है, जिसकी विशेष प्रशंसा कियेविना हम रह नहीं सकते। इस संस्थाके संशोधक और प्रचारक श्री० भिक्षु अखंडानंदजी महाराज निःसंदेह ऐसे प्रशंसायोग्य कार्य करनेके लिये अभिनंदन करने योग्य है। "मुस्लिम महात्माओ" इस ग्रंथके अनुवादक श्री. पाठक जगजीवन कालिदासजी भी उक्त कारण सन्मानके योग्य हैं।

आज कल "मस्जिदके सामनेका बाजा" और "गौकी कुर्बानी" के विषयोंपर नयी रीतिसे मुसलमान चारों ओर अटक गये हैं और विशेष कारणके विनाही झगडा छेड बैठते हैं; इस लिये चारों ओर इनके विरुद्ध लोकमत प्रक्षुब्ध हुआ है। यह विचित्र सामयिक अवस्था मुसलमानोंने बनायी है, तथापि सनातन वैदिकधर्मकी दृष्टि ऐसी सामयिक अवस्था ओंसे दूषित नहीं हो सकती और सामयिक कारणों के कारण दूसरी जातीके महात्माओं और संतों का सन्मान करनेका भाव वैदिक धर्मीके अंतःकरण से दूर नहीं हो सकता। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण पाठकइस ग्रंथमें देख सकते है। दूसरोंके उपासना मंदीर गिराना, दूसरोंके धर्मग्रंथ जलाना और दूसरोंके सन्तोंका निरादर करना ये घृणित कार्य इस समयतक सनातन वैदिक धर्मीयोंने किये नहीं हैं। इसका कारण वैदिकधर्मीयोंकी परम सहिष्णुता ही है। इस पुस्तकमें ९२ मुस्लिम महात्माओं के चरित्र और १३०० उनके वचनामृत संगृहित किये हैं। पुस्तक निःसंदेह उत्तम है और विवेचन पद्धति अत्यंत अनुकरणीय है। पृष्ठ संख्या ५५० और मूल्य १॥) है।

हमारे धर्म के आधार ग्रन्थ।

जितने धर्म प्रचलित हैं, उन सबको अपने अपने आधार ग्रन्थ हैं। मुसलमानी धर्म का पवित्र ग्रन्थ 'कुरान' है, ईसाई धर्म का पवित्र ग्रन्थ 'बाइबिल' है और पारसी धर्म का आधार ग्रन्थ 'जेन्दावेस्ता' है। अन्य धर्मों के भी अलग अलग ग्रन्थ है। इसी तरह सनातन वैदिक धर्म का आधार ग्रन्थ 'वेद' है। इसी लिए इस धर्म को 'वैदिक' धर्म कहते हैं। वेदों में बताया हुआ यह धर्म है इसी लिए इसका नाम वैदिक धर्म है।

'वेद' ग्रन्थ के सम्बन्ध में नए और पुराने विद्वानों में बहुत मत भिन्नता है। इस लेख में क्रम से इसी का विचार कर्तव्य है।

पुराने लोग मानते हैं कि वेद परमेश्वर का बतलाया हुआ ज्ञान है। इसी लिए वे वेद का गौरव करते हैं, आधुनिक विद्वान उसे जंगली लोगों का गीत समझते हैं। विचार करने लायक बात है कि एक ही ग्रन्थ के सम्बन्ध में ऐसे विरोधी मत किस प्रकार बनते हैं। इन मतों में से सत्य कौन है और असत्य कौन है इसका विचार इस छोटे से लेख में नहीं कर सकते। इस लिए इस विषय को किसी अन्य समय के लिए रख छोडें और यहाँ यह देखें कि वेद का रूप कैसा है—

एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्ववाङ्मयः॥
देवो नारायणो नाऽन्य एकोऽग्निर्वर्ण एव च॥
श्री. भागवत ९। १४। ४८

भागवतकार का यह वचन कि 'प्रथम वेद एक ही था' विचार करने योग्य है। प्रथम वेद एकही था किन्तु अब तो चार वेद हैं। देखना होगा कि क्या यह विरोध है। साधारणतः यह विरोध स्पष्ट है। पहले के एक वेद के चार वेद बने हैं और हर एक को अपने अपने वेद का अभिमान है। किन्तु वर्तमान समय में हाल यह है कि चार वेदों से मिलकर जो 'एक वेद' है उसका किसी को पता भी नहीं है।

शास्त्रोंने त्रैवर्णिकों को वेद का अधिकार दिया है। किन्तु वर्तमान समय में थोडे से ब्राह्मणों के आधार से ही वेद जीवित है। इस स्थिति के लिए कारण कोई भी हुआ हो, इसमें संदेह नहीं कि वर्तमान स्थिति ऐसी है।

वर्तमान समय में जो वेदपाठ करनेवाले हैं उनसे पुछा जाय तो कोई कहते है हम ऋग्वेदी हैं इससे ऋग्वेद का अध्ययन करते हैं. दूसरे कहते हैं हम यजुर्वेदी हैं इस लिए यजुर्वेद रटते हैं। इसी तरह सामवेद तथा अथर्व वेद का हाल है। सम्पूर्ण वेद का अभिमान रखकर उसका अध्ययन कोई भी नहीं करता। हर एक अपने हिस्से में आये हुए वेद के भाग का अभिमान करते हैं।

उत्तरहिंदुस्थान में 'दुबे चौबे' आदि नाम हैं। चौबे शब्द 'चतुर्वेदी' शब्द का अपभ्रंश है जिनका नाम चौबे है उनके कुल में प्राचीन कालमें चार वेदों का अध्ययन होता था। इसी तरह 'तिवारी' के कुल में तीन वेदों का अध्ययन होता था। इसी लिए उन्हे उस समय 'त्रिवेदी' कहते थे। 'दुबे' के कुल में दो वेदों का अध्ययन होता था इससे वे 'द्विवेदी' कहलाते थे। किन्तु अब ऐसी हीन दशा आगई है कि वेदों की बात तो दूर ही रही 'चतुर्वेदी, त्रिवेदी, द्विवेदी' आदि नाम भी मिट गए हैं और उनके बदले 'चौबे, तिवे, दुबे' आदि नामों में ही उन्हें भूषण सा मालूम होता है।

सब मिलकर पहले एक वेद था। उसका अध्ययन करने वालों को 'वेदी' कहते थे। 'वेदी' नाम के कुटुम्ब युक्त प्रान्त और पंजाब में बहुत हैं। इस से स्पष्ट है कि उनके कुल में प्राचीन काल में पूर्ण वेद का अध्ययन होता था।

वेद के अध्ययन की हालत आज क्या है सौ छिपी नहीं है, इससे इस संबंध में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। कहना यही है कि पहले चारों वेदों का अध्ययन करनेवाले ब्राह्मण थे। वर्तमान समय के सदृश एक एक वेद पर अभिमान करने वाले न थे।

प्रातःकालमें भगवान्‌की प्रार्थना।

[१६]

(ऋषिः— अथर्वा । देवता—बृहस्पतिः, बहुदेवत्यम्)

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना ।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हवामहे ॥ १ ॥
प्रातर्जितं भगमुग्रं हवामहे वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता ।
आध्रश्चिद् यं मन्यमानस्तुरश्चिद् राजा चिद् यं भगं भक्षीत्याह ॥२॥

अर्थ— (प्रातः अग्निं) प्रातः काल अग्निकी, (प्रातः इन्द्रं) प्रातः काल में इन्द्रकी, (प्रातः मित्रावरुणौ) प्रातः कालके समय मित्र और वरुणकी, तथा (प्रातः अश्विनौ) प्रातः काल अश्विनी देवोंकी (हवामहे) हम स्तुति करते हैं। (प्रातः पूषणं ब्रह्मणस्पतिं भगं) प्रातः काल पूषा और ब्रह्मणस्पति नामक भगवान् की (प्रातः सोमं उत रुद्रं हवामहे) प्रातः काल सोम और रुद्र की हम प्रार्थना करते हैं ॥ १ ॥

(वयं प्रातर्जितं अदितेः उग्रं पुत्रं भगं हवामहे) हम प्रातः कालके समय अदितिके विजयी शूर पुत्र भग की प्रार्थना करते हैं, (यः विधर्ता) जो विशेष प्रकार धारण करनेवाला है। (आध्रः चित्) अशक्त भी और (तुरः चित् यं) बलवान् भी जिसको तथा (राजा चित्) राजाभी (यं मन्यमानः) जिसका सन्मान करता हुआ (' भगं भक्षि ' इति आह) ' धनका भाग मुझे दे ' ऐसा कहता है ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रातः कालमें हम अग्नि, इन्द्र, मित्रावरुणौ, अश्विनौ, पूषा, ब्रह्मणस्पति, सोम और रुद्र नामक भगवान् की प्रार्थना करते हैं ॥ १ ॥

हम इस प्रातःकालके समय अदीनताके वीर भगवान् की प्रार्थना करते हैं, जो भगवान् सबका विशेष प्रकारसे धारण करनेवाला है और जिसको अशक्त और सशक्त, रंक और राजा, सभी एक प्रकारसे परम पूज्य मानते हुए, ' अपनेको भाग्यवान् ' करनेकी इच्छासे प्रार्थना करते हैं।२॥

भग॒ प्रणे॑त॒र्भग॒ सत्य॑राधो॒ भगे॒मां धिय॒मुद॑वा॒ दद॑न्नः ।
भग॒ प्र णो॑ जनय॒ गोभि॒रश्वै॒र्भग॒ प्र नृभि॑र्नृ॒वन्तः॑ स्याम ॥ ३ ॥
उ॒तेदानीं॒ भग॑वन्तः स्यामो॒त प्र॑पि॒त्व उ॒त मध्ये॒ अह्ना॑म् ।
उ॒तोदि॑तौ मघव॒न्त्सूर्य॑स्य व॒यं दे॒वानां॑ सुम॒तौ स्या॑म ॥ ४ ॥
भग॑ ए॒व भग॑वाँ अस्तु दे॒वस्तेना॑ व॒यं भग॑वन्तः स्याम ।
तं त्वा॑ भग॒ सर्व॒ इज्जो॑हवीमि॒ स नो॑ भग पुरए॒ता भ॑वे॒ह ॥ ५ ॥

अर्थ- हे (भग) भगवन्! हे (प्र-नेतः) बडे नेता! हे (सत्यराधः भग) सत्य सिद्धिदेनेवाले प्रभो! (इमां धियं ददत् नः उत् अव) इस बुद्धिको देता हुआ तू हमारी रक्षा कर। हे (भग) भगवन्! (गोभिः अश्वैः नः प्रजनय) गोओं और घोडोंके साथ संतानवृद्धि कर। हे (भग) भगवन्! हम (नृभिः नृवन्तः स्याम) अच्छे मनुष्योंके साथ रहकर मनुष्योंसे युक्त होवें॥ ३॥

(उत इदानीं भगवन्तः स्याम) हमें इस समय भाग्यवान होवें (उत प्रपित्वे उत मध्ये अह्नाम्) और सायंकालमें भी और दोपहरमें भी। हे (मघवन्) भगवन्! (उत सूर्यस्य उदितौ) और सूर्यके उदयके समय (वयं देवानां सुमतौ स्याम) हम देवोंकी सुमतिमें रहें॥ ४॥

(भगवान् भगः देवः अस्तु) भगवान् भगदेव मेरे साथ होवे (तेन वयं भगवन्तः स्याम) उसकी सहायतासे हम भाग्यवान् होवें। (हे भग) भगवन्! (तं त्वा सर्वः इत् जोहवीमि) उस तुझको मैं सब रीतिसे भजता हूं (भग) भगवन्! (सः नः पुरएता इह भव) वह तू हमारा अगुवा यहां हो॥ ५॥

भावार्थ—हे हम सबके बडे नेता! हे सत्य सिद्धि देनेवाले प्रभो! हे भगवन्! हमारी इस शुद्ध बुद्धिकी वृद्धि करता हुआ तू हमारी रक्षा कर। गौओं और घोडोंकी वृद्धिके साथ साथ हमारी संतान वृद्धि होने दें। तथा हमारे साथ सदा श्रेष्ठ मनुष्य रहें, ऐसा कर॥ ३॥

हम प्रातः काल, दोपहरके समय और सायंकालके समय ऐसे शुभकर्म करें कि जिससे हम भाग्य शाली बनते जांय। हम सूर्यके उदयके समय देवोंकी उत्तम मतिके साथ युक्त हों॥ ४॥

भगवान् परमेश्वर हमें भाग्य देनेवाला होवे, उसकी कृपासे हम भाग्यशाली बनें। हे भगवन्! हम सब तेरा भजन करते हैं, इससे तू प्रसन्न हो और हम सबको योग्य मार्गपर चलानेवाला हमारा मुखिया बन॥ ५॥

समध्वरायोषसौ नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय ।
अर्वाचीनं वसुविदं भगं मे रथमिवाश्वा वाजिन आ वहन्तु ॥ ६ ॥
अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः ।
घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ७ ॥

अर्थ —(उषसः अध्वराय संनमन्त) उषायें यज्ञके लिये उत्तम प्रकार झुकती रहें । (शुचये पदाय दधिक्रावा इव) जिसप्रकार शुद्ध स्थानपर पद रखनेके लिये घोडा चाहता है । (वाजिनः अर्वाचीनं वसुविदं भगं मे आ-वहन्तु) घोडे इस ओर धनवाले भगवानको मेरे पास ले आवें (अश्वाः रथं इव) जैसे घोडे रथको लाते हैं ॥ ६ ॥

(अश्वावतीः गोमतीः वीरवतीः भद्राः उषासः) घोडे गौएं और वीरों-से युक्त कल्याणमयी उषायें (नः सदं उच्छन्तु) हमारे घरोंको प्रकाशित करें । (घृतं दुहानाः) घीको प्राप्त करते हुए (विश्वतः प्रपीताः) सब प्रकार हृष्टपुष्ट होकर (यूयं स्वस्तिभिः सदा नः पात) तुम सब अनेक कल्याणोंके साथ सदा हमारी रक्षा कर ॥ ७ ॥

भावार्थ-उषःकालका समय अहिंसामय अकुटिल सत्कर्मकी दिशाकी ओर झुक जाय और उन कर्मोंसे धनवान् भगवान् हमारे अधिक सन्निध होते जांय ॥ ६ ॥

जिन उषाओंके समय घोडे गौएं और वीरपुरुष उत्साहसे कार्योंमें लगे होते हैं ऐसी उषाएं हमारे घरोंको प्रकाशित करें । और ऐसी ही उषायें घृतको प्राप्त करती हुई और सबको दुग्ध पान कराती हुई अनेक कल्याणोंके साथ हम सबकी रक्षा करें ॥ ७ ॥

प्रातःकालमें भगवान्‌की प्रार्थना ।

प्रातःकाल उठकर प्रभुकी प्रार्थना करना चाहिये । अपना मन शुद्ध और पवित्र बनाकर एकाग्रताके साथ यह प्रार्थना होनी चाहिये । इस समय मनमें कोई विरोधका विचार न उठे और परमेश्वर की भक्तिका विचार ही मनमें जागता रहे । ऐसे शुद्ध भावसे उषाके पवित्र समयमें की हुई प्रार्थना परमेश्वर देव सुनते हैं । इसी लिये —

सबका उपास्य देव।

आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह ॥ (मं० २)

इस समय " निर्बल और बलवान्, प्रजाजन और राजा समान भावसे प्रभुका आदर करते हुए उसकी प्रार्थना करते हैं और उसके पास अपने भाग्यका भाग मांगते हैं।" क्योंकि निर्बल और बलवान्, शासित और शासक ये उसके सन्मुख समान भावसेही रहते हैं। इस मंत्रके शब्द अधिक विचारकी दृष्टिसे देखने योग्य हैं इस लिये उन शब्दोंके अर्थ अब देखिये—

१ आध्रः— आधार देने योग्य, जिसको दूसरेके सहारे की आवश्यकता होती है, निर्बल, अशक्त, निर्धन।

२ तुरः— त्वरायुक्त, शीघ्रतासे कार्य करनेवाला, वेगवान्, आगे बढनेवाला, बलवान्, सामर्थ्यवान्, धनवान्, अपनी शक्तिसे आगे बढनेवाला।

३ राजा— शासन करनेवाला, हुकुमत करनेवाला, दूसरोंपर अधिकार करनेवाला।

इस राजा शब्दके अनुसंधानसे यहां शासित होनेवाली प्रजाका भी बोध होता है। निर्बल, अशक्त, निर्धन, शासित, आदि लोग तथा बलशाली, समर्थ, धनी और शासन करने वाले लोग ये सब यद्यपि जगत्में साधारण दृष्टिसे नीच और उच्च समझे जाते हैं तथापि जगन्नियन्ता प्रभुके सन्मुख ये समान भावसे ही रहते हैं, उसके सामने न कोई उच्च है और न कोई नीच है, इसलिये उस प्रभुकी प्रार्थना जैसा दीन मनुष्य करता है उसी प्रकार राजा भी करता है, और दोनों उसकी कृपासे अपने भाग्यकी वृद्धि होगी ऐसाही समझते हैं। इस प्रकार यह भगवान् परमपिता सब का एक जैसा पालक है। यह—

यः विधर्ता। (मं० २)

" सबका विशेष रीतिसे धारण करनेवाला है " अन्य साधारण धारणकर्ता बहुत हैं, परंतु यह प्रभु तो धारकोंका भी आधार है, इसी लिये इसको विशेष धारक कहते हैं। यह—

प्रातर्जितं अदितेः पुत्रं भगं। (मं० २)

" (प्रातः जितं) प्रातःकालमें ही विजयी है, अर्थात् अन्य वीर तो युद्ध करेंगे और पश्चात् विजयी होंगे, इस कार्यके लिये उनको विजय कमानेके लिये कुछ समय अवश्य लगेगा, वैसा इसके लिये नहीं है। यह तो सदा विजयी ही है, काल शुरू होनेका प्रारंभ उषःकालसे होता है, उस उषःकालके प्रारंभ में ही यह विजयी होता है अर्थात् पश्चात् तो इसका विजय होगाही, परंतु इसका प्रारंभसेही विजय हुआ है, यह बात यहां बतायी है।

अदीनताका रक्षक ।

" दिति " नाम पराधीनता या दीनताका है और " अ-दिति" का अर्थ है स्वतंत्रता, स्वाधीनता या अदीनता। इस स्वाधीनताका यह (पु-त्र = पुनाति च त्रायते च इति पुत्रः) पवित्रता युक्त तारण करनेवाला है। इसी लिये यह भाग्यवान् होनेसे "भग" कहलाता है। जो कोई इस पवित्रताके साथ स्वाधीनताकी रक्षा करेगा वह भी भाग्यवान् होगा और ऐश्वर्यवान् भी होगा। " अ-दितिका पुत्र " होना बडे पुरुषार्थका कार्य है, यह साधारण बात नहीं है। परमात्मा तो स्वयंसिद्ध स्वाधीनताका रक्षक है, इस लिये उसको यह सिद्धि स्वभावसे ही सिद्ध है अर्थात् विना प्रयत्न प्राप्त है। पुरुषार्थी मनुष्य अपने पुरुषार्थसे स्वाधीनताका रक्षक होता है, इसको यह सिद्धि परमात्मोपासनासे ही प्राप्त हो सकती है। इसकी उपासना कौन किस रूपमें करते हैं इसका वर्णन प्रथम मंत्रमें दिया है—

उपासनाकी रीति ।

" अग्नि इन्द्र, मित्र, वरुण, अश्विनौ, पूषा, ब्रह्मणस्पति, सोम, रुद्ररूप भग की हम उपासना करते हैं। (मं० १) " यह इस मंत्रका कथन है। एक ही परमात्म देवके ये गुण बोधक विशेषण है। इस सूक्तमें " भग " अर्थात् ऐश्वर्य की प्रधानता होनेसे इस सूक्तमें " भग " शब्द मुख्य और अन्य शब्द उसके विशेषण हैं। परंतु यदि किसीको अन्य गुणोंकी उपासना करनी हो तो उस गुणका वाचक शब्द मुख्य मान कर अन्य शब्दों को उसके विशेषण माना जा सकता है। जैसा- (१) भाग्यप्राप्ति की इच्छा करनेवाला " भग " नामको मुख्य मान कर उपासना करे। (२) ज्ञान प्राप्तिकी इच्छा करनेवाला " ब्रह्मणस्पति " नामको मुख्य मानकर उपासना करे। (३) प्रभुत्वका सामर्थ्य चाहनेवाला " इन्द्र " नामको मुख्य मान कर उसीकी उपा[illegible] । (४) पुष्टि चाहने वाला " पूषा " नामको मुख्य मान [illegible]ता देकर [illegible] करे। (५) शांति चाहनेवाला " सोम " नामको मुख्य मान[illegible] और [illegible]ोंको उसके विशेषण माने और उपासना करे। (६) उग्रताकी इच्छा करने[illegible] " रुद्र " नामको मुख्य मानकर उपासना करे, इसी प्रकार अन्यान्य नामोंको मुख्य या गौण अपनी कामना के अनुसार माने और उसी प्रभुकी उपासना कर अपनेमें उस गुणकी वृद्धि करे। उसी एक प्रभुके ये नाम हैं, क्यों कि "एक ही प्रभुके अग्नि आदि अनेक नाम होते हैं, एकही सद्वस्तुका कवि लोग भिन्न भिन्न नामोंसे वर्णन करते हैं" इस वैदिक शैलिके अनुसार इस प्रथम

मंत्रमें आये सब शब्द एकही परमात्माके वाचक हैं। इस कारण किसी गुणको प्रधान मान कर प्रभुकी उपासना की जाय तो उसीकी उपासना होती है और जिस गुणका चिन्तन किया जाय उसीकी वृद्धि होती जाती है। मन जिसका ध्यास लेता है वह गुण मनमें बढता है, इस नियमके अनुसार यह उपासना होती है। इन गुणोंका चिंतन करनेकी सुविधा होने के लिये यहां इन शब्दोंके विशेष अर्थ देते है—

१ अग्निः— तेज, प्रकाश, उष्णता, और गति करनेवाला।

२ इन्द्रः— शत्रुओंको दूर करनेवाला, ऐश्वर्यवान्, नियामक, शासन करनेवाला, राजा।

३ मित्रः— मित्र दृष्टिसे सबोंपर प्रेम करनेवाला सबका हित करनेवाला।

४ वरुणः— श्रेष्ठ, निष्पक्षपाततासे सत्यासत्यका निरीक्षण करनेवाला, वरिष्ठ।

५ अश्विनौ—धन और ऋण शक्तिसे युक्त, वेगवान्। सर्व व्यापक, सर्वत्र उपस्थित।

६ भगः— भाग्यवान्, ऐश्वर्य युक्त, धनवान्।

७ पूषा— पोषक, पुष्टि करनेवाला।

८ ब्रह्मणस्पतिः—ज्ञानका स्वामी, ज्ञानी।

९ सोमः— शांत, आल्हाद दायक, कलानिधि, कलावान्, मधुर, प्रसन्नता करनेवाला।

१० रुद्रः— उग्र, प्रचण्ड, भयानक, गर्जना करनेवाला, वीर, शूर, वीरभद्र, शत्रु-विध्वंसक वीर, शत्रुको रुलानेवाला।

प्रथम मंत्रोक्त दस शब्दोंके ये अर्थ हैं। पाठक इन शब्दों के मननसे प्रभुकी उपासना कर सकते हैं। जिस गुणको अपनेमें बढानेकी इच्छा हो उस गुण वाचक शब्दसे प्रभुका ध्यान करना और अन्य शब्द उसीके गुणबोधक विशेषण मानना यह उपासनाकी रीति है। इस प्रकार मनन और निदिध्यासन करनेसे मनका वायुमंडल ही उस प्रकार का बनता है आ[illegible] गुण मनमें विकसित होने लगता है। यहां पाठक स्मरण रखें कि, अपनी उन्नतिके लिये [illegible] कि अंदरका वायु मंडल वैसा बनानेकी आवश्यकता है, इसी लिये तृतीय मंत्रमें कहा है—

धारणा।

इमां धियं ददद्भः उदव। (मं० ३)

"इस बुद्धिको बढाते हुए हमारी उन्नत अवस्था करके हमारी रक्षा कर" यहां प्रार्थनामें धन नहीं मांगा है, परंतु "बुद्धि" मांगी है, यह "धारणावती बुद्धि" जो

कर्म शक्तिसे युक्त रहती है वह है, यह बात विशेष रीतिसे ध्यानमें धरना आवश्यक है। भाग्य प्राप्त करना हो, धन ऐश्वर्य बढाना हो अथवा प्रभुत्व संपादन करना हो, तो इस सबके लिये पुरुषार्थ करनेमें समर्थ धारणावती बुद्धिकी आवश्यकता है, इसके विना उन्नति असंभव है। धी शब्दमें जैसा बुद्धिमत्ता का भाव है उसी प्रकार पुरुषार्थमयी कर्म शक्तिका भी भाव है यह भूलना नहीं चाहिये। यह धी जितनी बढेगी उतनी मनुष्यकी योग्यता बढ जाती है। जिस बुद्धिमें ज्ञान शक्ति पुरुषार्थ शक्तिके साथ संमिलित रहती है वह बुद्धि हमें चाहिये यह इच्छा "इमां धियं" शब्दोंमें है। प्रथम और द्वितीय मंत्रोंमें जो बुद्धि और कर्म शक्ति विकसित करनेका उपदेश किया गया है वह बुद्धि यहां तृतीय मंत्रमें (इमां धियं ददन्) 'इस बुद्धिको दो' इन शब्दोंमें मांगी है। यहां प्रश्न होता है कि कौनसी बुद्धि प्रथम द्वितीय मंत्रोंमें कही है? इसका उत्तर उक्त मंत्रोंके मनन से मिल सकता है। मनन करनेके लिये इससे पूर्व शब्दार्थ दिये ही हैं, परंतु विशेष स्पष्टता के लिये यहां थोडासा स्पष्टी करण करते हैं—

उपासना -(और उससे सिद्ध होनेवाली)- धारणा।

मंत्रका शब्दार्थ -(और उससे उद्दीपित होनेवाला)- बुद्धिका भाव।

प्रथम मंत्र।	(१)
(अग्निं) तेजस्वी, परंतु (सोमं) शांत मीठे स्वभाववाले (मित्रा-वरुणौ) मित्र दृष्टिसे सबको देखनेवाले और निष्पक्षपाती होकर सत्यासत्य देखनेवाले (पूषणं) पोषण कर्ता (ब्रह्मणस्पतिं) ब्रह्म ज्ञानी देव की प्रार्थना मैं प्रातःकाल में करता हूं।	(१) मैं तेजस्वी बनूंगा, परंतु (२) शांत और मीठा स्वभाव धारण करके(३) मित्र दृष्टिसे सब भूतमात्रको देखूंगा, (४) निष्पक्षतासे सत्यासत्यकी परीक्षा करूंगा, (५) अन्योंको यथाशक्ति सहायता देकर उनका पोषण करूंगा और (६) अपने अंदर ज्ञान बढाऊंगा।
(अश्विनौ) वेगवान् धनऋण शक्तिवाले और (रुद्रं) शत्रुको रुलानेवाले (भगं) भाग्य युक्त (इन्द्रं) शत्रुओं को दूर करनेवाले शासन कर्ता प्रभुकी मैं प्रातःकालके समय प्रार्थना करता हूं।	(१) मैं अपना वेग बढाकर (२) शत्रुको रुलाने योग्य पराक्रम युद्ध भूमिपर करूंगा और (३) भाग्यवान् बनकर अपने सब शत्रुओंको दूर करके उत्तम व्यवस्थासे शासन करूंगा।

द्वितीय मंत्र।

(प्रातर्जितं) नित्य विजयी (उग्रं) उग्र शूरवीर प्रभुकी मैं प्रातःकाल प्रार्थना करता हूं। इसी प्रभुकी भक्ति अशक्त और सशक्त, रंक और राजा सभी करते हैं और अपने भाग्य का भाग उससे मांगते हैं, क्योंकि वह (विधर्ता) सबका धारक और (अदितेः) बंधन रहित अवस्थाका (पुत्रः) पावन कर्ता और तारण कर्ता है।

(२)

मैं प्रातः कालमें अपने विजय साधन का विचार करता हूं, उसके लिये आवश्यक उग्रता धारण करूंगा और परमेश्वर भक्ति पूर्वक अपनी अदीनता और स्वाधीनता की रक्षा के लिये अहर्निश यत्न करूंगा तथा अपने अंदर सब प्रकारकी पवित्रता बढाता हुआ अपने अंदर रक्षक शक्ति भी बढाऊंगा।

उपासनाके मंत्रोंसे धारणा किस प्रकार होती है यह रीति यहां दी है। पुत्र पिताके समान बनता है, पिता करता है वह पुत्र करने लगता है, यही बात परम पिताके गुणगानके संबंधसे होती है। क्यों कि इस जीवात्मरूप "अमृत पुत्र" ने परमात्माके समान सच्चिदानन्द स्वरूपको प्राप्त करना ही है, उसी मार्गपर यह चल रहा है और इसी लिये वह उपासना करता है।

(१) " परमेश्वर ज्ञानी है " इतना वाक्य कहतेही मनमें भावना उठती है कि " मैं भी ज्ञानी बनूंगा और अधिक ज्ञान प्राप्त करूंगा। " (२) " परमेश्वर शत्रुनिवारक है " इतना कहते ही मनमें भावना उठती है कि "मैं भी शत्रुओंका निवारण करके शत्रुरहित हो जाऊं। ' (३) इसी प्रकार "परमेश्वर ऐश्वर्यमय है" इतना कहते ही मनमें भावना उठती है कि " मैं भी ऐश्वर्य कमानेका पुरुषार्थ करूं। " (४) इसी रीतिसे "परमेश्वर इस सब विश्वका कर्ता है " इतना कहते ही मनमें यह भावना खडी होती है कि " मैं भी कुछ हुनर बनाऊं। " इसी प्रकार अन्यान्य उपासनाका धारणासे संबंध है। यह जो बुद्धिमें स्थिररूपसे विशिष्ट विचार की भावना जम जाती है उसका नाम "धी" है। पाठक अब समझ गये होंगे कि प्रथम और द्वितीय मंत्रकी उपासनासे जो धारणावती बुद्धि बनती है वह कर्ममयी ज्ञान शक्ति कैसी है और वह मनुष्य मात्रका उद्धार करने के लिये किस प्रकार सहायक हो सकती है। (इमां धियं दृदत् नः उत अव ॥मं० ३ ॥) "इस धारणावती बुद्धिको देकर हमारी उन्नती करते हुए हमारी रक्षा कर ' इस तृतीय मंत्रके उपदेशमें कितना महत्त्व पूर्ण भाग है, इसका विचार पाठक करें और

इस ढंगसे मंत्रोंकी उपासनामय वाणीसे अपने उद्धारका मार्ग जान कर पाठक अपने अभ्युदय और निःश्रेयसका साधन करें ।

सत्यका मार्ग ।

तृतीय मंत्रमें " प्रणेतः " और " सत्यराधः " ये दो शब्द विशेष महत्त्व के हैं । " प्र-नेता " का अर्थ " उत्कर्ष की ओर ले जानेवाला नेता " तथा " सत्य-राधः " का अर्थ " सत्यके मार्गसे सिद्धि प्राप्त करनेवाला " है । ये दोनों शब्द परमात्माके गुण बता रहे हैं । परमात्मा सबको उन्नतिके मार्गकी ओर ले जा रहा है और सत्य मार्गसे ही सबको सिद्धि देता है, इसलिये ये दो शब्द परमात्मामें सार्थ होते हैं । ये दो शब्द मनुष्योंके वाचक भी होते हैं, उस समय इनका अर्थ बडा बोधप्रद है । मनुष्य तथा मनुष्योंके नेता इन शब्दोंको अपने आचरणसे अपनेमें चरितार्थ करें । मनुष्योंके नेता अपने अनुयायियोंको उत्कर्षके मार्गमें ले जावें और सिद्धिके लिये सत्यके सीधे मार्गसे ही अपना कार्य करें और यश प्राप्त करें । ऐसे सत्य मार्गसे सिद्धि प्राप्त करनेवाले मनुष्योंको ही " नृ अथवा नर " कहते हैं और ऐसे श्रेष्ठ सत्य नेताओंके साथ रहनेसे ही मनुष्यको मनुष्योंके साथ रहनेका सुख प्राप्त हो सकता है, इस लिये कहा है --

नृभिः नृवन्तः स्याम । (मं० ३)

" श्रेष्ठ मनुष्योंके साथ होनेसे हम मनुष्य युक्त बनेंगे । यहांका " नृवान् " शब्द " मातृमान्, पितृमान् " शब्दके समान अर्थवाला है, जैसा-(मातृमान्) प्रशंसनीय गुणवाली मातासे युक्त, (पितृमान्) प्रशंसनीय गुणवाले पितासे युक्त, इसी प्रकार (नृमान्, नृवान्) प्रशंसनीय श्रेष्ठ मनुष्योंसे युक्त । नहीं तो हरएक मनुष्यके साथ कैसे भी मनुष्य रहते ही हैं । चोरोंके साथ भी उनके साथी रहते ही हैं,तथापि उस चोर को " नृमान् " नहीं कहा जा सकता । अच्छे मनुष्योंके साथ रहनेसे ही मनुष्यका अभ्युदय होना संभव है, इसलिये " अपने साथ अच्छे मनुष्य रहें " ऐसी इच्छा यहां प्रकट की गई है । इस प्रकार अच्छे मनुष्यों की साथ मिलनेसे निःसंदेह मनुष्योंका कल्याण हो सकता है ।

देवोंकी सुमति ।

"हम प्रातःकाल, दोपहरके समय और सायंकाल ऐसे कर्म करें,कि जिससे हम (भगवन्तः) भाग्यवान बनते जांय । तथा हम देवोंकी उत्तम मतिमें रहें । (मं० ४)" यह चतुर्थ मंत्रका कथन है । यहां दिन भर पुरुषार्थ प्रयत्न करनेकी सूचना है । प्रातःकाल

क्या, दोपहरके समय क्या और सायंकालके समय क्या अपना ऐश्वर्य बढानेका पुरुषार्थ करना चाहिये। सत्य मार्गसे चलते हुए ऐसे कर्म करना चाहिये कि जिससे भाग्य प्राप्त हो।

जहां भाग्य प्राप्त होना है, वहां मनुष्यमें स्वार्थ उत्पन्न हो सकता है और सत्य तथा असत्य मार्गका विचार भाग्यकी धुंदसे रह नहीं सकता, इस लिये भाग्य प्राप्तिका उद्यम करनेका उपदेश करनेवाले इस मंत्रमें कहा है कि—

वयं देवानां सुमतौ स्याम। (मं० ४)

" हम देवोंकी सुमतिमें रहें। " अर्थात् भाग्य प्राप्त करनेके समय हमसे ऐसा आचरण हो कि जिससे देव असंतुष्ट न हों, हमारे ऊपर अप्रसन्न न हों, प्रत्युत हमारे विषयमें उत्तम भाव ही उनके मनमें सदा रहे। हमसे ऐसे कर्म हों कि जिनसे वे सदा संतुष्ट रहें। इस मंत्रमें यह सावधानीकी सूचना अत्यंत महत्त्व रखती है, क्योंकि भाग्य और ऐश्वर्य ऐसे पदार्थ हैं कि जो प्राप्त होनेसे अथवा जिनकी प्राप्तिकी इच्छासे मनुष्य सुमार्गपर रहना कठिन है। परंतु वेदको सुमार्ग परसे मनुष्योंको चलाते हुए ही उनको भाग्य देना अभीष्ट है, इस लिये जहां गिरनेकी संभावना होती है वहां ही इस प्रकार की सावधानीकी सूचना दी होती है। ताकि मनुष्य न गिरें और भाग्य भी प्राप्त करें।

पंचम मंत्रमें (स नो भगः पुरएता भवेह। मं० ५) 'वह भगवान् ही हमारा अगुवा बने ' यह उपदेश कहा है वह भी इसी उद्देश्य मे है, कि मनुष्य परमात्माको ही अपना अग्रगामी समझें और अपने आपको उसके अनुयायी समझें और उसीके प्रकाशमें कार्य करते हुए अपनी उन्नतिके कार्य करें। गिरावटसे बचानेके हेतुसे यह उपदेश है। सर्वज्ञ परमेश्वर अपना निरीक्षक है यह विश्वास मनुष्योंको गिरावटसे बहुत प्रकारसे बचा सकता है।

अहिंसा का मार्ग।

षष्ठ मंत्रमें अध्वरके मार्गसे जानेका उपदेश है, यह अध्वरका मार्ग देखनेके लिये अध्वर शब्दका अर्थ ही देखना चाहिये—

अध्वर— (अ-ध्वरा) अकुटिलता, जहां तेढापन नहीं है, जहां सीधा भाव है, जहां हिंसा नहीं है, जहां दूसरोंका घात पात करनेका भाव नहीं है, जहां दूसरोंको कष्ट देकर अपना स्वार्थ साधन करनेका विचार नहीं है।

ये " अ-ध्वर " शब्दके अर्थ इस मार्गका स्वरूप बता रहे हैं। इस अहिंसाके मार्गसे जाना और पंचम मंत्रका " परमेश्वरको अपना अगुवा बनाना "; चतुर्थ मंत्रोक्त " देवोंकी सुमतिमें रहना; " और तृतीय मंत्रोक्त " सत्य मार्गसे सिद्धि प्राप्त करना " एक ही बात है। इस दृष्टिसे ये चारों मंत्र भिन्न भिन्न उपदेशमें एक ही आशय बता रहे हैं पाठक यहां देखें कि इस सूक्तने यह एक ही बात कितने विविध प्रकारोंसे कही है, इससे स्पष्ट पता लग सकता है कि वेदका कटाक्ष अहिंसामय सत्यमार्गसे लोगोंको चलानेके विषयमें कितना अधिक है।

गौवें और घोडे।

इस सूक्तके तृतीय मंत्रमें " गौओं और घोडोंके साथ हमें युक्त कर " ऐसा कहा है। सप्तम मंत्रमें भी वही बात फिर दुहराई है। इससे घरमें गौवें और घोडे रहना वेदकी दृष्टिसे घरका भूषण है, यह बात सिद्ध होती है।

सप्तम मंत्रमें (घृतं दुहानाः) 'घीका दोहन करनेवाली' और (विश्वतः प्रपीताः) 'सब प्रकार दुग्धपान करानेवाली' यह उषा का वर्णन सवेरके समय दूधका दोहन करना, दोहन होते ही ताजा दूध पीना, मक्खनसे घी तैयार करना इत्यादि बातोंका सूचक है। घरमें गौवोंको इसी लिये रखना होता है कि उनका ताजा दूध पीनेके लिये मिले और कलके दूधके दहीसे आज निकाला हुआ मक्खन लेकर उसका आजही घी बनाकर सेवन किया जाय। ऐसे घी को " हैयंगवीन घृत" कहते हैं। यह घृत खाने या पीनेसे शरीरकी पुष्टि होती है और इसके हवनसे हवा नीरोग भी होती है।

भ्रमण।

इस प्रकार दुग्धपान करनेके पश्चात् घोडोंपर सवार होकर भ्रमण के लिये बाहर जाना चाहिये और घण्टा दो घण्टे घोडेकी सवारी करके पश्चात् घर आकर अपने कार्यको लगना चाहिये। बहुत थोडे पाठक ऐसे होंगे जिनको सवेरे घरकी गौका ताजा दूध पीनेके लिये मिलता हो और अपने उत्तम घोडेपर सवार होकर सवेरके प्राणप्रद वायुमें भ्रमण करनेका सौभाग्य प्राप्त होता हो। आजका समय विपरीत है। ऐसे समयमें ऐसी वैदिक रीतियां केवल स्मरणमें ही रखना चाहिये।

कृषिसे सुख प्राप्ति।

[१७]

(ऋषिः- विश्वामित्रः । देवता-सीता)

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक् ।
धीरा देवेषु सुम्नयौ ॥ १ ॥
युनक्त सीरा वि युगा तनोत कृते योनौ वपतेह बीजम् ।
विराजः श्नुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत् सृण्यः पक्कमा यवन् ॥ २ ॥

अर्थ— (देवेषु धीराः कवयः) देवोंमें बुद्धि रखनेवाले कवि लोग (सुम्नयौ सीरा युञ्जन्ति) सुख प्राप्त करनेके लिये हलोंको जोतते हैं और (युगा पृथक् वितन्वते) जुओंको अलग अलग करते हैं ॥ १ ॥

(सीराः युनक्त) हलोंको जोडो, (युगा वितनोत) जूओंको फैलाओ, (कृते योनौ इह बीजं वपत) बने हुए खेतमें यहांपर बीज बोओ । (विराजः श्नुष्टिः नः सभराः असत्) अन्नकी उपज हमारे लिये भरपूर होवे। (सृण्यः इत् पक्वं नेदीयः आयवन्) हंसुये भी परिपक्व धान्यको हमारे निकट लावें ॥ २ ॥

भावार्थ— पृथिव्यादि देवताओंकी शक्तियोंपर विश्वास रखनेवाले कवि लोग विशेष सुख प्राप्त करनेके लिये हलोंको जोतते हैं अर्थात् कृषि करते हैं और जुओंको यथा स्थानपर बांध देते हैं ॥ १ ॥

हे लोगो ! तुम हल जोतो, जूओंको फैलाओ, अच्छीप्रकार भूमि तैयार करनेके बाद उसमें बीज बोओ । इससे अन्नकी उत्तम उपज होगी, बहुत धान्य उपजेगा और परिपक्व होनेके बाद बहुत धान्य प्राप्त होगा ॥ २ ॥

लाङ्गलं पवीरवत् सुशीमं सोमसत्सरु ।
उदिद् वपतु गामविं प्रस्थावद् रथवाहनं पीवरीं च प्रफर्व्यम् ॥ ३ ॥
इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषाभि रक्षतु ।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ ४ ॥
शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अनु यन्तु वाहान् ।
शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तमस्मै ॥ ५ ॥

अर्थ-(पवीरवत् सुशीमं सोमसत्सरु लांगलं) वज्रके समान कठिन, चलाने के लिये सुख कारक, लकडीके मूठ वाला हल (गां अविं) गौ और बकरी, (प्रस्थावत् रथवाहनं) शीघ्रगामी रथके घोडे या बैल, (पीवरीं च प्रफर्व्यम्) पुष्ट स्त्री (इत उद्वपतु) निश्चयसे देवे ॥ ३ ॥

(इन्द्रः सीतां निगृह्णातु) इन्द्र हलकी रेषाको पकडे, (पूषा तां अभिरक्षतु) पूषा उसकी रक्षा करे। (सा पयस्वती नः उत्तरां उत्तरां समां दुहां) वह हलकी रेषा रस युक्त होकर हमें आगे आनेवाले वर्षोंमें रसोंका प्रदान करे ॥ ४ ॥

(सु-फालाः भूमिं शुनं वितुदन्तु) सुन्दर हलके फाल भूमिको सुख पूर्वक खोदें । (कीनाशाः शुनं वाहान् अनुयन्तु) किसान सुखपूर्वक बैलों-के पीछे चलें । (शुनासीरौ) हे वायु और हे सूर्य ! तुम दोनों (हविषा तोशमानौ) हमारे हवनसे तुष्ट होकर (अस्मै सुपिप्पलाः ओषधीः कर्त-म्) इस किसान के लिये उत्तम फल युक्त धान्य उत्पन्न करो ॥ ५ ॥

भावार्थ-हलको लोहेका कठिन फार लगाया जावे और लकडीकी मूठ पकडनेके लिये कीजावे, यह हल चलानेके समय सुख देवे। यह हलही गौ बैल, मेड बकरी, घोडा घोडी, स्त्रीपुरुष आदिको उत्तम घास और धान्यादि देकर पुष्ट करता है ॥ ३ ॥

इन्द्र अपनी वृष्टिद्वारा हलसे खुदी हुई रेषाको पकडे और धान्य पोषक सूर्य उस की उत्तम रक्षा करे। यह भूमि हमें प्रतिवर्ष उत्तम रस युक्त धान्य देती रहे ॥ ४ ॥

हलके सुन्दर फार भूमिकी खुदाई करें, किसान बैलोंके पीछे चलें। हमारे हवनसे प्रसन्न हुए वायु और सूर्य इस कृषिसे उत्तम फलवाली रस युक्त औषधियां देवें ॥ ५ ॥

शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम्। शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय ॥ ६ ॥
शुनासीरेह स्म मे जुषेथाम्। यद्दिवि चक्रथुः पयस्तेनेमामुप सिञ्चतम् ॥ ७ ॥
सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव। यथा नः सुमना असो यथा नः सुफला भुवः ॥ ८ ॥
घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः।
सा नः सीते पयसाभ्याववृत्स्वोर्जस्वती घृतवत् पिन्वमाना ॥ ९ ॥

अर्थ—(वाहाः शुनं) बैल सुखी हों, (नरः शुनं) मनुष्य सुखी हों (लांगलं शुनं कृषतु) हल सुखसे कृषि करे। (वरत्रा शुनं बध्यन्तां) रस्सियां सुखसे बांधी जांय, (अष्ट्रां शुनं उदिंगय) चाबूक सुखसे ऊपर चला ॥६॥

हे (शुनासीरौ) वायु और सूर्य ! (इह स्म मे जुषेथां) यहां मेरे हवनका स्वीकार करें। (यत् पयः दिवि चक्रथुः) जो जल आकाशमें तुमने बनाया है (तेन इमां भूमिं उप सिञ्चतं) उससे इस भूमिको सींचते रहो ॥ ७ ॥

हे (सीते) जुती हुई भूमि ! (त्वा वन्दामहे) तेरा वन्दन करते हैं। हे (सुभगे) ऐश्वर्यवाली भूमि ! (अर्वाची भव) हमारे सन्मुख हो। (यथा नः सुमनाः असः) जिससे तू हमारे लिये उत्तम मनवाली होवे और (यथा नः सुफला भुवः) जिससे हमें उत्तम फल देने वाली होवे ॥ ८ ॥

(घृतेन मधुना समक्ता सीता) घी और शहदसे उत्तम प्रकार सिंचित की हुई जुती भूमि (विश्वैः देवैः मरुद्भिः अनुमता) सब देवों और मरुतों द्वारा अनुमोदित हुई, हे (सीते) जुती भूमि ! (सा घृतवत् पिन्वमाना) वह घीसे सिंचित हुई तू(नः पयसा अभ्याववृत्स्व) हमें दूधसे चारों ओरसे युक्त कर॥९॥

भावार्थ-बैल सुखी रहें, सब मनुष्य आनंदित हों, उत्तम हल चलाकर आनंदसे कृषि की जाय। रस्सियां जहां जैसी बांधना चाहिये वैसी बांधी जांय और आवश्यकता होनेपर चाबूक ऊपर उठाया जाय॥ ६ ॥

वायु और सूर्य मेरे हवन का स्वीकार करें और जो जल आकाशमंडलमें है उसकी वृष्टिसे इस पृथ्वीको सिंचित करें ॥ ७ ॥

भूमि भाग्य देनेवाली है, इस लिये हम इसका आदर करते हैं। यह भूमि हमें उत्तम धान्य देती रहे ॥ ८ ॥

जब भूमि घी और शहदसे योग्य रीतिसे सिंचित होती है और जलवायु आदि देवोंकी अनुकूलता उसको मिलती है, तब वह हमें उत्तम मधुर रस युक्त धान्य और फल देती रहे ॥ ९ ॥

कृषिसे भाग्यकी वृद्धि।

कृषिसे भाग्यकी वृद्धि होती है। भूमिकी अवस्था, वायु और वृष्टिकी परिस्थिति, ऋतुमान की अनुकूलता जो जानते हैं, वे कृषि करके लाभ उठा सकते हैं और सुखी हो सकते हैं।

सबसे पहले किसान हल जोतें, हलसे भूमी अच्छी प्रकार उखाडी जाय, हलकी लकीरें ठीक की जांय और उन लकीरोंके अंदर बीज बोया जाय, ऐसा करनेसे उत्तम धान्य पैदा होसकता है।

जब हलसे उत्तम कृषि की जाती है तब धान्यभी उत्तम उत्पन्न होता है, घास भी विपुल मिलता है और सब पशु तथा मनुष्य बहुत पुष्ट हो जाते हैं।

हलसे खुदी हुई भूमिको (इन्द्रः सीतां निगृह्णातु) वृष्टि करनेवाला इन्द्र देव अपने जलसे पकडे, पश्चात् उसकी उत्तम रक्षा (पूषा) सूर्य अपनी किरणोंसे करे। इस प्रकार वृष्टि और सूर्य प्रकाश योग्य प्रमाणमें मिलते रहे तो उत्तम कृषि होगी और धान्यादि बहुत प्रमाणमें प्राप्त होगा।

धान्य बोनेके पूर्व हवन।

पञ्चम मंत्रमें उत्तम कृषि होनेके लिये प्रारंभमें खेतमें हवन करनेका उल्लेख है। जो धान्य बोना है उसका हवन करना चाहिये और हवन के लिये घृतादि अन्य पदार्थ तो अवश्य चाहिये ही। इस प्रकारके हवनसे जलवायु शुद्ध होता है और शुद्ध कृषिसे शुद्ध धान्य उत्पन्न होता है। इस हवनसे दूसरी एक बात स्वयं हो जाती है, वह यह है कि जिसका हवन करना होता है वही बोना होता है, इस नियमसे हवनमें निषिद्ध तमाकू आदि घातक पदार्थ बोनेकी संभावना ही कम हो जाती है। इससे स्पष्ट है, कि यदि बोनेके पूर्व हवन की वैदिक प्रथा जारी की जाय तो तमाकू जैसे हानिकारक पदार्थ जगत् में जनता का इतना घात करने के लिये उत्पन्न ही नहीं होंगे और उत्तम धान्यादि की विपुल उत्पत्ति होकर लोगोंका अधिक कल्याण होगा।

खादके लिये घी और शहद !!

नवम मंत्रमें (घृतेन मधुना पयसा समक्ता सीता) घी शहद और दूध का खाद वनस्पतीयोंको डालनेका उपदेश है। आजकल तो ये पदार्थ मनुष्योंको खानेके लिये

भी नहीं मिलते तो खाद के लिये, अल्प प्रमाणमें ही क्यों न सही, कहां मिलेंगे ? परंतु शुद्ध पौष्टिक फल उत्पन्न करनेके लिये दूध घी और शहदका खाद अत्यंत आवश्यक है, यह बात सत्य है ।

इतिहासिक उदाहरण ।

पूनाके पेशवाओंके समयमें कई आम इस पंचामृत का खाद देकर तैयार किये थे, उनमेंसे एक आमका वृक्ष इस समय तक जीवित है और ऐसे मधुर और स्वादु फल दे रहा है कि उसका वर्णन शब्दोंसे हो नहीं सकता !!! पंचामृत (दूध, दही, घी, शहद और मिश्री) के खादसे जो आम पुष्ट होता हो उस के फल भी वैसे ही अद्भुत अमृत रूप अवश्य होंगे इस में संदेह ही क्या है, यह प्रत्यक्ष उदाहरण है, तथा वाईके एक पण्डितने आर्य कृषि शास्त्रके अनुसार दूधका खाद देकर एक वर्ष ज्वारीकी कृषि की थी, उससे इतना परिपुष्ट और स्वादु धान्य उत्पन्न हुआ कि उसकी साधारण धान्यसे तुलनाही नहीं हो सकती ।

यह वैदिक कृषि शास्त्रका अत्यंत महत्त्वका विषय है, जो धनी पाठक इस के प्रयोग कर सकते हैं अवश्य करके देखें । साधारण जनोंके लिये ये प्रयोग करना अशक्य ही है क्यों कि जिन लोगों को पीनेके लिये दूध नहीं मिल सकता वे खादके लिये दूध दही घी शहद और मिश्री कहांसे ले आयंगे ।

पाठक ये वर्णन पढें और वैदिक कालकी कृषिकी मनसेहि कल्पना करें और मनही मनमें उसका आस्वाद लेनेका यत्न करें !!

गौरक्षा का समय ।

वैदिक काल गौकी रक्षा का काल था, इस लिये गौवें विपुल थीं और उस कारण खादके लिये भी दूध मिलता था । परंतु आज अनार्योंके भक्षण के लिये लाखोंकी संख्यामें गौवें कटती हैं, इस लिये पीनेके लिये भी दूध नहीं मिलता । यह कालका परिवर्तन है । यहां अब देखना है कि वैदिक धर्मीयोंके प्रयत्नसे भविष्य काल कैसा आता है।

वनस्पति ।

[१८]

(ऋषिः— अथर्वा । देवता-वनस्पतिः)

इमां खनाम्योषधिं वीरुधां बलवत्तमाम् ।
यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम् ॥ १ ॥
उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति ।
सपत्नीं मे परा णुद पतिं मे केवलं कृधि ॥ २ ॥
नहि ते नाम जग्राह नो अस्मिन्रमसे पतौ ।
परामेव परावतं सपत्नीं गमयामसि ॥ ३ ॥
उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्यः ।
अधः सपत्नी या ममाधरा साधराभ्यः ॥ ४ ॥

अर्थ— (इमां बलवत्तमां वीरुधां औषधिं खनामि) इस बलवाली औषधि वनस्पतिको मैं खोदता हूं । (यया सपत्नीं बाधते) जिससे सपत्नी को हटाया जाता है और (यया पतिं विन्दते) जिससे पतिको प्राप्त किया जाता है ॥ १ ॥

हे (उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति) विस्तृत पानवाली भाग्यवती. देवों द्वारा सेवित बलवती औषधि ! (मे सपत्नीं पराणुद) मेरी सपत्नी को दूर कर और (मे केवलं पतिं कृधि) मुझे केवल पति कर दे ॥ २ ॥

हे सापत्न स्त्री ! (ते नाम नहि जग्राह) तेरा नाम भी मैंने लिया नहीं है अब तू (अस्मिन् पतौ नो रमसे) इस पतिमें रममाण नहीं होगी । अब मैं (परां सपत्नीं परावतं गमयामसि) अन्य सपत्नी को दूर करती हूं ॥३॥

हे (उत्तरे) श्रेष्ठ गुणवाली औषधि ! (अहं उत्तरा) मैं अधिक श्रेष्ठ हूं (उत्तराभ्यः इत् उत्तरा) श्रेष्ठोंमें भी श्रेष्ठ हूं । (मम या अधरा सपत्नी) मेरी जो नीच सपत्नी है (सा अधराभ्यः अधरा) वह नीचसे नीच है॥४॥

अ॒हमस्मि॒ सह॑मा॒नाथो॒ त्वम॑सि सास॒हिः।
उ॒भे सह॑स्वती भू॒त्वा स॒पत्नीं॑ मे सहावहै ॥ ५ ॥
अ॒भि ते॑ऽधां॒ सह॑माना॒मुप॒ ते॑ऽधां॒ सही॑यसीम्।
माम॑नु॒ प्र ते॒ मनो॑ व॒त्सं गौरि॑व धावतु प॒था वारि॑व धावतु ॥ ६ ॥

(अहं सहमाना अस्मि) मैं विजयी हूं और हे औषधि (अथो त्वं सासहिः असि) तू भी विजयी है। (उभे सहस्वती भूत्वा) हम दोनों जय शाली बनकर (मे सपत्नीं सहावहै) मेरी सपत्नीको जीत लेवें ॥ ५ ॥

(ते अभि सहमानां अधां) तेरे चारों ओर मैंने इस विजयिनी वनस्पतिको रखा है (ते उप सहीयसीं अधां) तेरे नीचे इस जय शालिनी वनस्पति को रखा है। अब (ते मनः मां अनु प्रधावतु) तेरा मन मेरे पीछे दौडे। (गौः वत्सं इव धावतु) जैसी गौ बछडेकी ओर दौडती है और (वाः इव पथा) जैसा जल अपने मार्गसे दौडता है ॥ ६ ॥

सापत्नभाव का भयंकर परिणाम।

इसका भावार्थ सुबोध है इसलिये देनेकी आवश्यकता नहीं है।

अनेक स्त्रियां करनेसे घरमें कलह होते हैं, सापत्नभाव उत्पन्न होनेसे स्त्रियोंमें परस्पर द्वेष बढते हैं, संतानोंमें भी वही कलहाग्नि बढता है, इसलिये ऐसे परिवारमें सुख नहीं मिलता है। यह बात इस सूक्तमें कही है। इस सूक्तका मुख्य तात्पर्य यही है कि कोई पुरुष एकसे अधिक विवाह करके अपने घरमें सापत्न भाव का बीज न बोवे।

जिस घरका पुरुष एकसे अधिक विवाह करता है वहां द्वेषाग्नि भडकने लगता है और उसको कोई बुझा नहीं सकता। वहां स्त्रियोंमें कलह, संतानोंमें कलह और अंतमें पुरुषों में भी कलह होते हैं और अंतमें उस कुटुंबका नाश होता है।

सपत्नीका नाश करनेका यत्न स्त्रियां करती हैं और उससे अकीर्ति फैलती है। इस सब आपत्तिको मिटानेके लिये एकपत्नीव्रतका आचरण करना ही एकमात्र उपाय है।

ज्ञान और शौर्यकी तेजस्विता।

[१९]

(ऋषिः- वसिष्ठः । देवता—विश्वेदेवाः, चन्द्रमाः, इन्द्रः)

संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं१ बलम् ।
संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः ॥ १ ॥
समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं१ बलम् ।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेनं हविषाहम् ॥ २ ॥

अर्थ— (मे इदं ब्रह्म संशितं) मेरा यह ज्ञान तेजस्वि हुआ है, और मेरा यह (वीर्य बलं संशितं) वीर्य और बल तेजस्वी बना है। (संशितं क्षत्रं अजरं अस्तु) इनका तेजस्वी बना हुआ क्षात्रबल कभी क्षीण न होनेवाला होवे, (येषां जिष्णुः पुरोहितः अस्मि) जिनका मैं विजयी पुरोहित हूं ॥ १ ॥

(अहं एषां राष्ट्रं संस्यामि) मैं इनका राष्ट्र तेजस्वी करता हूं, इनका (ओजः वीर्यं बलं संस्यामि) बल, वीर्य और सैन्य तेजस्वी बनाता हूं। और (अनेन हविषा) इस हवनसे (शत्रूणां बाहून् वृश्चामि) शत्रुओंके बाहुओंको काटता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ— मैं जिस राष्ट्रका पुरोहित हूं उस राष्ट्रका ज्ञान मैंने तेजस्वी किया है और शौर्य वीर्यभी अधिक तीक्ष्ण किया है, जिससे इस राष्ट्रका क्षात्रतेज कभी क्षीण नहीं होगा ॥ १ ॥

मैं इस राष्ट्रका तेज बढाता हूं और इसका शारीरिक बल, पराक्रम और उत्साह भी वृद्धिंगत करता हूं। इससे मैं शत्रुओंके बाहुओंको काटता हूं ॥ २ ॥

नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान् ।
क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम् ॥ ३ ॥
तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत ।
इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः ॥ ४ ॥
एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि ।
एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वे३षां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः ॥ ५ ॥

अर्थ- वे शत्रु (नीचैः पद्यन्ताम्) नीचे गिरें, (अधरे भवन्तु) अवनत हों, (ये नः मघवानं सूरिं पृतन्यात्) जो हमारे धनवान् और विद्वान् पर सेनासे चढाई करें। (अहं ब्रह्मणा अमित्रान् क्षिणामि) मैं ज्ञानसे शत्रुओंका क्षय करता हूं, और (स्वान् उन्नयामि) अपने लोगोंको उठाता हूं ॥ ३ ॥

(परशोः तीक्ष्णीयांसः) परशुसे अधिक तीक्ष्ण, (उत अग्नेः तीक्ष्णतराः) और अग्निसेभी अधिक तीक्ष्ण, (इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसः) इन्द्रके वज्रसे भी अधिक तीक्ष्ण इनके अस्त्र हों (येषां पुरोहितः अस्मि) जिनका पुरोहित मैं हूं ॥ ४ ॥

(अहं एषां आयुधा संस्यामि) मैं इनके आयुधोंको उत्तम तीक्ष्ण बनाता हूं, (एषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि) इनका राष्ट्र उत्तम वीरतासे युक्त करके बढाता हूं, (एषां क्षत्रं अजरं जिष्णु अस्तु) इनका क्षात्रतेज अक्षय तथा जयशाली होवे, (विश्वेदेवाः एषां चित्तं अवन्तु) सब देव इनके चित्तको उत्साहयुक्त करें ॥ ५ ॥

भावार्थ- जो शत्रु हमारे धनिकोंपर तथा हमारे ज्ञानियों पर सैन्यके साथ हमला करते हैं वे अधोगतिको प्राप्त होंगे। क्योंकि मैं अपने ज्ञानसे शत्रुओंका नाश करता हूं और उसीसे अपने लोगोंको उन्नत करता हूं ॥ ३ ॥

जिस राष्ट्रका मैं पुरोहित हूं उस राष्ट्रके शस्त्रास्त्र परशुसे अधिक तीक्ष्ण, अग्निसे भी अधिक दाहक, और इन्द्रके वज्रसे भी अधिक संहारक मैंने किये हैं ॥ ४ ॥

मैं इनके शस्त्रास्त्रोंको अधिक तीक्ष्ण बनाता हूं, इनके राष्ट्रको उसमें उत्तम वीर उत्पन्न करके, बढाता हूं, इनके शौर्यको कभी क्षीण न होनेवाला और सदा विजयी बनाता हूं। सब देवता इनके चित्तोंको उत्साह युक्त करें ॥ ५ ॥

उद्धर्षन्तां मघवन् वाजिनान्युद् वीराणां जयतामेतु घोषः।
पृथग् घोषा उलुलयः केतुमन्त उदीरताम्।
देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया ॥ ६ ॥
प्रेता जयता नर उग्रा वः सन्तु बाहवः।
तीक्ष्णेषवोऽबलधन्वनो हतोग्रायुधा अबलानुग्रबाहवः ॥ ७ ॥

अर्थ-हे (मघवन्) धनवान् ! उनके (वाजिनानि उद्धर्षन्तां) बल उत्तेजित हों, (जयतां वीराणां घोषः उत् एतु) विजय करने वाले वीरोंका शब्द ऊपर उठे। (केतुमन्तः उलुलयः घोषाः) झंडे लेकर हमला करनेवाले वीरोंके संघशब्दका घोष (पृथक् उत् ईरताम्) अलग अलग ऊपर उठे। (इन्द्रज्येष्ठा मरुतः देवाः) इन्द्रकी प्रमुखतामें मरुत् देव (सेनया यन्तु) अपनी सेनाके साथ चलें ॥ ६ ॥

हे (नरः) लोगो ! (प्र इत) चलो, (जयत) जीतो, (वः बाहवः उग्राः सन्तु) तुम्हारे बाहु शौर्यसे युक्त हों। हे (तीक्ष्णेषवः) तीक्ष्ण बाणवाले वीरो ! हे (उग्रायुधाः उग्रबाहवः) उग्र आयुध वालो और बलयुक्त भुजावालो ! (अ-बल- धन्वनः अबलान् हत) निर्बल धनुष्य वाले निर्बल शत्रुओंको मारो ॥ ७ ॥

भावार्थ- हे प्रभो ! इनके बल उत्साहसे पूर्ण हों, इनके विजयी वीरोंका जयजयकार का शब्द आकाशमें भरजावे। झंडे उठाकर विजय पानेवाले इनके वीरोंके शब्द अलग अलग सुनाई दें। जिस प्रकार इन्द्रकी प्रमुखतामें मरुतों की सेना विजय प्राप्त करती है, उसी प्रकार इनकी सेनाभी विजय कमावे ॥ ६ ॥

हे वीरो ! आगे बढो, विजय प्राप्त करो, अपने बाहु प्रतापसे युक्त करो, तीक्ष्ण बाणों, प्रतापी शस्त्रास्त्रों और समर्थ बाहुओंको धारण करके अपने शत्रुओंको निर्बल बनाकर उनको काट डालो ॥ ७ ॥

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते ।
जयामित्रान् प्र पद्यस्व जह्येषां वरंवरं मामीषां मोचि कश्चन ॥८॥

अर्थ- हे (ब्रह्म- संशिते शरव्ये) ज्ञानद्वारा तेजस्वी बने शस्त्र ! तू (अवसृष्टा परापत) छोडा हुआ दूर जा और (अमित्रान् जय) शत्रुओंको जीतलो, (प्र पद्यस्व) आगे बढ, (एषां वरं वरं जहि) इन शत्रुओंके मुख्य मुख्य वीरोंको मार डाल, (अमीषां कश्चन मा मोचि) इनमेंसे कोईभी न बच जाय ॥ ८ ॥

भावार्थ-ज्ञानसे तेजस्वी बना हुआ शस्त्र जब वीरोंकी प्रेरणासे छोडा जाता है तब वह दूर जाकर शत्रुपर गिरता है और शत्रुका नाश करता है। हे वीरो ! शत्रुपर चढाई करो और शत्रुके मुख्य मुख्य वीरोंको चुन चुनकर मार डालो, उनकी ऐसी कतल करो कि उनमेंसे कोई न बचे ॥ ८॥

राष्ट्रीय उन्नतिमें पुरोहितका कर्तव्य।

राष्ट्रमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद ये पांच वर्ण होते हैं। उनमें ब्राह्मणोंका कर्तव्य पुरोहित का कार्य करना होता है। पूर्णहित करनेका नाम पुरोहित का कार्य करना है। यजमान का पूर्णहित करनेवाला पुरोहित होना चाहिये। जब संपूर्ण राष्ट्रका विचार करना होता है उस समय सब राष्ट्रही यजमान है और सब ब्राह्मण जाती उस राष्ट्रके पुरोहित के स्थानपर होती है। इससे संपूर्ण राष्ट्रका पूर्णहित करनेका भार सब पुरोहित वर्गपर आ जाता है। ज्ञानकी ज्योति सब राष्ट्रमें प्रज्वलित करके उस ज्ञानके द्वारा राष्ट्रका अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्ध करना पुरोहितका कर्तव्य है; यह कर्तव्य इस सूक्तमें स्पष्ट शब्दोंमे वर्णन किया है, राष्ट्रके ब्राह्मण इस सूक्तका मनन करें और अपना कर्तव्य जान कर उसको निभायें।

इस सूक्तका ऋषि वसिष्ठ है, और वसिष्ठ नाम ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणका सुप्रसिद्ध है। इस दृष्टिसे भी इस सूक्त का मनन ब्राह्मणोंको करना चाहिये। अब सूक्तका आशय देखिये-

ब्राह्मतेजकी ज्योति।

राष्ट्रमें ब्राह्मतेजकी ज्योति बढाना और उस ज्योतिके द्वारा राष्ट्रकी उन्नति करनेका कार्य सबसे महत्त्वका और अत्यंत आवश्यक है। इस विषयमें इस सूक्तमें यह कथन है -

मे इदं ब्रह्म संशितम्। (मं० १)
ब्रह्मणा अमित्रान् क्षिणामि। (मं० ३)
उन्नयामि स्वान् अहम्। (मं० ३)
अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते। (मं० ८)
जय अमित्रान्० ॥ (मं० ८)

"मेरे प्रयत्नसे इस राष्ट्रका यह ज्ञानतेज चमकता है। ज्ञानके प्रतापसे शत्रुओंका नाश करता हूं। और उसी ज्ञानसे मैं अपने राष्ट्रके लोगोंकी उन्नति करता हूं। ज्ञानके द्वारा उत्तेजित हुआ शस्त्र दूरतक परिणाम करता है, उससे शत्रुको जीत लो ॥"

ये मंत्र भाग राष्ट्रमें ब्राह्मतेजके कार्यका स्वरूप बताते हैं। ज्ञान राष्ट्रीय उन्नतिमें बडा भारी कार्य करता है। जगत्‌में अनेक राष्ट्र हैं उनमें वे ही राष्ट्र अग्रभागमें हैं कि जो ज्ञानसे विशेष संपन्न हैं। ज्ञान न होते हुए अभ्युदय होना अशक्य है। यदि उन्नतिका विरोधक कोई कारण होगा तो वह एकमात्र अज्ञान ही है। अज्ञानसे बंधन होता है और ज्ञानसे उस बंधन का नाश होता है। इसलिये राष्ट्रमें जो ब्राह्मण होंगे उनका कर्तव्य है कि वे स्वयं ज्ञानी बनें और अपने राष्ट्रके सब लोगोंको ज्ञान संपन्न करें। क्षत्रियों वैश्यों और शूद्रों को भी ज्ञान आवश्यक ही है। उनके व्यवसायोंको उत्तमतासे निभानेके लिये ज्ञानकी परम आवश्यकता है।

ज्ञानसे शत्रु कौन है और अपना हितकारी मित्र कौन है इस का निश्चय होता है। अपने ज्ञानसे राष्ट्रके शत्रुको जानना और उसको दूर करनेके लिये ज्ञानसे ही उपायकी योजना करना चाहिये। यह उपाय योजना का कार्य करना ब्राह्मणोंका परम कर्तव्य है। शत्रुपर हमला किस समय करना, शत्रुके शस्त्रास्त्र कैसे हैं, उनसे अपने शस्त्रास्त्र अधिक प्रभाव शाली किस रीतिसे करना, शत्रुके शस्त्रास्त्र जितनी दूरीपर प्रभाव कर सकते हैं उससे अधिक दूरीपर प्रभाव करनेवाले शस्त्रास्त्र कैसे निर्माण करना, इत्यादि बातें ज्ञानसे ही सिद्ध हो सकती हैं, अपने राष्ट्रमें इनकी सिद्धता करना ब्राह्मणोंका कर्तव्य है। अर्थात् ब्राह्मण अपने ज्ञानसे इसका विचार करें और अपने राष्ट्रमें ऐसी प्रेरणा करें कि जिससे राष्ट्रके अंदर उक्त परिवर्तन आ जावे। यही भाव निम्न लिखित मंत्रमें कहा है-

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते। (मं० ८)

"ज्ञानसे तीक्ष्ण बने शस्त्रास्त्र शत्रुपर गिरें।" इसमें ज्ञानसे उत्तेजित प्रेरित और तीक्ष्ण बने शस्त्र अधिक प्रभाव शाली होनेका वर्णन है। अन्य देशोंके शस्त्रास्त्र देखकर, उनका वेग जान कर, और उनका परिणाम अनुभव करके जब उनसे अधिक वेगवान्

और अधिक प्रभाव शाली शस्त्रास्त्र अपने देशके वीरोंके पास दिये जांयगे, तब अन्य परिस्थिति समान होनेपर अपना जय निश्चयसे होगा इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

पुरोहितकी प्रतिज्ञा।

"जिस राष्ट्रका मैं पुरोहित हूं उस राष्ट्रका ज्ञान, वीर्य, बल, पराक्रम, शौर्य, वीर्य, धैर्य, विजयी उत्साह कभी क्षीण न हो।" (मं० १)

"जिस राष्ट्रका मैं पुरोहित हूं उस राष्ट्रका पराक्रम, उत्साह, वीर्य और बल मैं बढाता हूं और शत्रुओंका बल घटाता हूं॥ (मं० २)

"जो शत्रु हमारे धनी वैश्यों और ज्ञानी ब्राह्मणोंके ऊपर, अर्थात् हमारे देशके युद्ध न करनेवाले लोगोंपर, सैन्यके साथ हमला करेगा उसका नाश मैं अपने ज्ञानसे करता हूं और अपने राष्ट्रके लोगोंको मैं अपने ज्ञानके बलसे उठाता हूं।" (मं० ३)

" जिनका मैं पुरोहित हूं उनके शस्त्रास्त्र मैं अधिक तेज बनाता हूं। " (मं० ४)

"इनके शस्त्रास्त्र मैं अधिक तीक्ष्ण करता हूं। उत्तम वीरोंकी संख्या इस राष्ट्रमें बढाकर इस राष्ट्रकी उन्नति करता हूं। और इनका शौर्य बढाता हूं।" (मं० ५)

ये मंत्र भाग पुरोहितके राष्ट्रीय कर्तव्य का ज्ञान असंदिग्ध शब्दों द्वारा दे रहे हैं। पुरोहितके ये कर्तव्य हैं। पुरोहित क्षत्रियोंको क्षात्रविद्या सिखावे, वैश्योंको व्यापार व्यवहार करनेका ज्ञान देवे और शूद्रादिकोंको कारीगरीकी शिक्षा देवे, और ब्राह्मणोंको इस प्रकारके विशेष ज्ञानसे युक्त करे। इस रीतिसे चारों वर्णोंको तेजस्वी बनाकर संपूर्ण राष्ट्रका उद्धार अपने ज्ञानकी शक्तिसे करे। जो पुरोहित ये कर्तव्य करेंगे वेही वेदकी दृष्टिसे सच्चे पुरोहित हैं। जो पंडित पुरोहितका कार्य कर रहे हैं वे इस सूक्तका विचार करें और अपने कर्तव्योंका ज्ञान प्राप्त करें।

युद्धकी नीति।

षष्ठ सप्तम और अष्टम इन तीन मंत्रोंमें युद्धनीतिका उपदेश इसप्रकार किया है—

" वीरोंके पथक अपने अपने झंडे उठाकर युद्धगीत गाते हुए और

आनंदसे विजय सूचक शब्दोंका घोष करते हुए शत्रुसेनापर हमला करें और विजय प्राप्त करें। जिस प्रकार इन्द्रकी प्रमुखतामें मरुतोंके गण शत्रुपर हमला करते और विजय प्राप्त करते हैं, इसी प्रकार अपने राजाके तथा अपने सेनापतिके आधिपत्यमें रहकर हमारे वीर शत्रुपर हमला करें और अपना विजय प्राप्त करें। " (मं० ६)

" वीरो ! आगे बढो, तुम्हारे बाहू प्रभाव शाली हों, तुम्हारे शस्त्र शत्रुकी अपेक्षा अधिक तीक्ष्ण हों, तुम्हारी शक्ति शत्रुकी शक्तिसे अधिक पराक्रम प्रकाशित करनेवाली हो। इस प्रकार युद्ध करते हुए तुम अपने निर्बल शत्रुको मारडालो। " (मं० ७)

" ज्ञानसे उत्तेजित हुए तुम्हारे शस्त्र शत्रुका नाश करें, ऐसे तीक्ष्ण शस्त्रोंसे शत्रुका तू पराभव कर। " (मं० ८)

इन तीन मन्त्रोंमें इतना उपदेश देकर पश्चात् इस अष्टम मंत्रके अन्तमें अत्यंत महत्त्वकी युद्धनीति कही है वे शब्द देखने योग्य हैं—

(१) जह्येषां वरं वरं,
(२) माऽमीषां मोचि कश्चन ॥ (मं० ८)

"इन शत्रुओंके मुख्य मुख्य प्रमुख वीरोंको मार दो और इनमेंसे कोई भी न बचे।" ये दो उपदेश युद्धके संबंधमें अत्यंत महत्त्वके हैं। शत्रुसेनाके पथक के जो संचालक और प्रमुख वीर हों उनका वध करना चाहिये। प्रमुख संचालकोंमेंसे कोई भी न बचे। ऐसी अवस्था होनेके बाद शत्रुकी सेना बडी आसानीसे परास्त होगी। यह युद्ध नीति अत्यंत मनन करनेयोग्य है।

अपनी सेनामें ऐसे वीर रखने चाहिये कि जो शत्रुके वीरोंको चुन चुन कर मारनेमें तत्पर हों। जब इन वीरोंके वधसे शत्रुसेनाके मुखिया वीरोंका वध हो जावे, तब अन्य सेनापर हमला करनेसे उस शत्रुसैन्यका पराभव होनेमें देरी नहीं लगेगी।

जो पाठक राष्ट्रहितकी दृष्टिसे अपने कर्तव्यका विचार करते हैं वे इस सूक्तका मनन अधिक करें और राष्ट्रविषयक अपने कर्तव्य जानें और उनका अनुष्ठान करके अपने राष्ट्रका अभ्युदय करें।

तेजस्विताके साथ अभ्युदय।

[२०]

(ऋषिः— वसिष्ठः । देवता-अग्निः, मन्त्रोक्तदेवताः)

अ॒यं ते॒ योनि॑र्ऋ॒त्वियो॒ यतो॑ जा॒तो अरो॑चथाः ।
तं जा॒नन्न॑ग्न॒ आ रो॒हाधा॑ नो वर्धया र॒यिम् ॥ १ ॥
अग्ने॒ अच्छा॑ वदे॒ह नः॑ प्र॒त्यङ् नः॑ सु॒मना॑ भव । प्र णो॑ यच्छ विशां पते धन॒दा असि॑ न॒स्त्वम् ॥२
प्र णो॑ यच्छत्वर्य॒मा प्र भगः॒ प्र बृह॒स्पतिः॑ । प्र दे॒वीः प्रोत सू॒नृता॑ र॒यिं दे॒वी द॑धातु मे॥३॥

अर्थ— हे अग्ने ! (अयं ते ऋत्वियः योनिः) यह तेरा ऋतु से संबंधित उत्पत्ति स्थान है (यतः जातः अरोचथाः) जिससे प्रकट होकर तू प्रकाशित हुआ है । (तं जानन् आरोह) उसको जानकर ऊपर चढ (अध नः रयिं वर्धय) और हमारे लिये धन बढा ॥ १ ॥

हे अग्ने ! (इह नः अच्छ वद) यहां हमसे अच्छे प्रकार बोल और (प्रत्यङ् नः सुमनाः भव) हमारे सन्मुख होकर हमारे लिये उत्तम मनवाला हो । हे (विशांपते) प्रजाओंके स्वामिन् ! (नः प्रयच्छ) हमें दान दे क्यों कि (त्वं नः धनदाः असि) तू हमारा धनदाता है ॥ २ ॥

(अर्यमा नः प्रयच्छतु) अर्यमा हमें देवे, (भगः बृहस्पतिः प्र प्रयच्छतु) भग और बृहस्पति भी हमें देवे । (देवीः प्र) देवियां हमें धन देवें । (उत सूनृता देवी मे रयिं प्र दधातु) और सरल स्वभाववाली देवी मुझे धन देवे ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे अग्ने ! ऋतुओंसे संबंध रखनेवाला यह तेरा उत्पत्तिस्थान है, जिससे जन्मते ही तू प्रकाशित हो रहा है । अपने उत्पत्तिस्थान को जानता हुआ तू उन्नत हो और हमारे धनकी वृद्धि कर ॥ १ ॥

हे अग्ने ! यहां स्पष्ट वाणीसे बोल, हमारे सन्मुख उपस्थित होकर हमारे लिये उत्तम मन वाला हो । हे प्रजाओंके पालक ! तू हमें धन देनेवाला है, इस लिये तू हमें धन दे ॥ २ ॥

अर्यमा, भग, बृहस्पति, देवीयां तथा वाग्देवी ये सब हमें धन देवें ॥ ३ ॥

सोमं राजानमवसेऽग्निं गीर्भिर्हवामहे । आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥४॥

त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्धय ।
त्वं नो देव दातवे रयिं दानाय चोदय ॥ ५ ॥

इन्द्रवायू उभाविह सुहवेह हवामहे ।
यथा नः सर्व इज्जनः संगत्यां सुमना असद् दानकामश्च नो भुवत् ॥६॥

अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय ।
वातं विष्णुं सरस्वतीं सवितारं च वाजिनम् ॥ ७ ॥

अर्थ-राजा सोम, अग्नि, आदित्य, विष्णु, सूर्य, ब्रह्मा और बृहस्पति को (अवसे गीर्भिः हवामहे) हमारी रक्षाके लिये बुलाते हैं ॥ ४ ॥

हे अग्ने! (त्वं अग्निभिः) तू अग्नियोंके साथ (नः ब्रह्म यज्ञं च वर्धय) हमारा ज्ञान और यज्ञ बढा । हे देव ! (त्वं नः दातवे दानाय रयिं चोदय) तू हमारे दानी पुरुषको दान देनेके लिये धन भेज ॥ ५ ॥

(उभौ इन्द्रवायू) दोनों इन्द्र और वायु(सु-हवौ) उत्तम बुलाने योग्य हैं इस लिये (इह हवामहे) यहां बुलाते हैं । (यथा नः सर्वः इत् जनः) जिस से हमारे संपूर्ण लोग (संगत्यां सुमनाः असत्) संगतिमें उत्तम मनवाले होवें (च नः) और हमारे लोग (दानकामः भुवत्) दान देनेकी इच्छा करनेवाले होवें ॥ ६ ॥

अर्यमा, बृहस्पति, इन्द्र, वायु, विष्णु, सरस्वती और (वाजिनं सवितारं) वेगवान् सविताको (दानाय चोदय) हमें दान देनेके लिये प्रेरित कर ॥ ७ ॥

भावार्थ-राजा सोम, अग्नि, आदित्य, विष्णु, सूर्य, ब्रह्मा और बृहस्पति की हम प्रार्थना करते हैं कि वे हमारी योग्य रीतिसे रक्षा करें ॥ ४ ॥

हे अग्ने ! तू अनेक अग्नियोंके साथ हमारा ज्ञान और हमारी कर्मशक्ति बढाओ। हे देव ! दान देनेवाले मनुष्यको दान देने के लिये पर्याप्त धन दे ॥५॥

हम इन्द्र वायु इन दोनों की प्रार्थना करते हैं जिससे हमारे सब लोग संगठन से संगठित होते हुए उत्तम मनवाले बनें और दान देनेकी इच्छा वाले होवें ॥ ६ ॥

अर्यमा, बृहस्पति, इन्द्र, वायु, विष्णु, सरस्वती और बलवान् सविता ये सब हमें दान करनेके लिये ऐश्वर्य देवें ॥ ७ ॥

वाजस्य नु प्रसवे सं बभूविमेमा च विश्वा भुवनान्यन्तः।
उतादित्सन्तं दापयतु प्रजानन् रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छ ॥ ८ ॥
दुह्रां मे पञ्च प्रदिशो दुह्रामुर्वीर्यथाबलम्।
प्रापेयं सर्वा आकूतीर्मनसा हृदयेन च ॥ ९ ॥
गोसनिं वाचमुदेयं वर्चसा माभ्युदिहि।
आ रुन्धां सर्वतो वायुस्त्वष्टा पोषं दधातु मे ॥ १० ॥

अर्थ-(वाजस्य प्रसवे सं बभूविम) बलकी उत्पत्तिमें ही हम संगठित हुए हैं। (च इमा विश्वा भुवनानि अन्तः) और ये सब भुवन उसके बीचमें हैं।(प्रजानन्) जाननेवाला (अदित्सन्तं उत दापयतु) दान न देनेवाले को निश्चय पूर्वक दान देनेकेलिये प्रेरणा करे। (च नः सर्ववीरं रयिं नियच्छ) और हमें सब प्रकारके वीर भावसे युक्त धन देवे ॥ ८ ॥

(उर्वीः पञ्च प्रदिशः) ये बडी पांचों दिशाएं (यथाबलं मे दुह्रां) यथा शक्ति मुझे रस देवें। (मनसा हृदयेन च) मनसे और हृदयसे (सर्वाः आकूतीः प्रापयेयम्) सब संकल्पों को पूर्ण कर सकूं ॥ ९ ॥

(गोसनिं वाचं उदेयं) इन्द्रियोंको प्रसन्नता करनेवाली वाणी मैं बोलूं। (वर्चसा मां अभ्युदिहि) तेजके साथ मुझे प्रकाशित कर। (वायुः सर्वतः आ रुन्धाम्) प्राण मुझे सब ओरसे घेरे रहे। (त्वष्टा मे पोषं दधातु) त्वष्टा मेरी पुष्टिको देता रहे ॥ १० ॥

भावार्थ-बल उत्पन्न करनेके लिये हम संघ बनाते हैं,जैसे ये सब भुवन अंदरसे संघटित हुए हैं। यह जाननेवाला कंजूसको दान करनेकी प्रेरणा करे और हमें संपूर्ण वीर भावोंसे युक्त धन देवे ॥ ८ ॥

ये बडी विस्तीर्ण पांचही दिशाएं हमें यथाशक्ति पोषक रस देवें,जिससे हम मनसे और हृदयसे बलवान् बनते हुए अपने संपूर्ण संकल्पोंको पूर्ण करेंगें ॥ ९ ॥

प्रसन्नता को बढानेवाली वाणी मैं बोलूंगा। तेजके साथ मुझे अभ्युदयको प्राप्त कर। चारों ओरसे मुझे प्राण उत्साहित करे और जगद्रचयिता देव मुझे सब प्रकार पुष्ट करे ॥ १० ॥

अग्निका आदर्श ।

इस सूक्तमें अग्निके आदर्शसे मनुष्यके अभ्युदय साधन करनेके मार्गका उत्तम उपदेश किया है । इस सूक्त का ध्येय वाक्य यह है—

वर्चसा मा अभ्युदिहि । (मं० १०)

" तेजके साथ मेरा सब प्रकारसे उदय कर " यह हरएक मनुष्यकी इच्छा होनी चाहिये । यह साध्य सिद्ध होनेके लिये साधनके आवश्यक मार्ग इस सूक्तमें उत्तम प्रकार कहे हैं । उनका विचार करनेके पूर्व हम अग्निके आदर्शसे जो बात बताई है वह देखते हैं—

" यज्ञमें जो अग्नि लेते हैं, वह लकडियोंसे उत्पन्न करते हैं, लकडियां स्वयं प्रकाशित नहीं हैं परंतु उनसे उत्पन्न होने वाला अग्नि (जातः अरोचथाः। मं०१) उत्पन्न होते ही प्रकाशित होता है । पश्चात् वह हवन कुण्डमें रखते हैं, वहां वह (रोह । मं० १) स्वयं बढता है और दूसरोंको भी प्रकाशित करता है । इस समय उसके चारों ओर ऋत्विज लोग (गीर्भिः हवामहे। मं०४) मंत्र पाठ करते हैं और हवन करते हैं । इस समय इस अग्निके साथ (अग्निः अग्निभिः । मं०५) अनेक हवन कुण्डोंमें अनेक अग्नि प्रज्वलित होते हैं और इससे (ब्रह्म यज्ञं च वर्धय । मं०५) ज्ञान और यज्ञकी वृद्धि होती है । यज्ञमें सब लोग (जनः संगत्यां सुमनाः। मं०६) मिलकर उत्तम विचारसे कार्य करते हैं । तथा (प्रसवे संबभूविम । मं० ८) ऐश्वर्य प्राप्तिके लिये एक होकर कार्य करते हैं और इसप्रकारके यज्ञसे तेजस्वी होकर अपना अभ्युदय सिद्ध करते हैं । "

सारांशसे यह यज्ञ प्रक्रिया है, इसमें लकडियोंमें उत्पन्न हुई छोटीसी अग्निकी चिनगारीका कितना यश बढता है और यह अग्नि अनेक मनुष्योंकी उन्नति करनेमें कैसा समर्थ होता है, यह बात पाठक देखें । यदि अग्निकी छोटीसी चिनगारीके तेजके साथ बढ जानेसे इतना अभ्युदय हो सकता है, तो मनुष्यमें रहनेवाली चैतन्यकी चिनगारी इसी प्रकार प्रकाशके मार्गसे चलेगी तो कितना अभ्युदय प्राप्त करेगी, इसका विचार पाठक स्वयं जान सकते हैं, इसीका उपदेश पूर्वोक्त अग्निके दृष्टान्तसे इस सूक्तमें बताया है ।

उत्पत्तिस्थानका स्मरण ।

सबसे प्रथम अपने उत्पत्तिस्थान का स्मरण करनेका उपदेश प्रथम मंत्रमें दिया है । " यह तेरा उत्पत्तिस्थान है, जहां उत्पन्न होते ही तू प्रकाशता है, यह जानकर स्वयं

बढनेका यत्न कर और हमारी भी शोभा बढा। " (मं० १) यह उपदेश मनन करने योग्य है। उत्पत्ति स्थान कई प्रकारका होता है; अपना कुल, अपनी जाति, अपना देश यह तो स्थूल दृष्टिसे उत्पत्तिस्थान है। इस उत्पत्तिस्थानका स्मरण करके अपनी उन्नति करना चाहिये। दूसरा उत्पत्तिस्थान आध्यात्मिक है जो प्रकृतिमाता और परमपितासे संबंध रखता है, यह भी आध्यात्मिक उन्नति के लिये मनन करने योग्य है। उत्पत्तिस्थानका विचार करनेसे "मैं कहांसे आया हूं और मुझे कहां पहुंचना है" इसका विचार करना सुगम होजाता है। जहां कहां भी उत्पत्ति हुई हो वहांसे अपनी शक्तिसे प्रकाशना, बढना और दूसरोंको प्रकाशित करना चाहिये।

(इह अच्छा वद) यहां सबके साथ सरल भाषण कर, (प्रत्यङ् सुमनाः भव) प्रत्येकके साथ उत्तम मनोभावनासे वर्ताव कर, अपने पास जो हो, वह दूसरोंकी भलाईके लिये (प्रयच्छ) दानकर, यह द्वितीय मंत्रके तीन उपदेश वाक्शुद्धि, मनःशुद्धि और आत्मशुद्धि के लिये अत्यंत उत्तम हैं। इसी मार्गसे इनकी पवित्रता हो सकती है।

आगेके दो मंत्रोंमें हमें किन किन शक्तियोंसे सहायता मिलती है इसका उल्लेख है। सबसे प्रथम (देवीः) देवियों अथवा माताओंकी सहायता मिलती है, जिनकी कृपाके विना मनुष्यका उद्धार होना अशक्य है, तत्पश्चात (सूनृता देवी) सरल वाणीसे सहायता प्राप्त होती है। मनुष्य के पास सीधे भावसे बोलनेकी शक्ति न हो तो उसकी उन्नति असंभव है। इसके नंतर (अर्य+मन्=आर्य+मन्) श्रेष्ठ मनके भावसे जो सहायता होती है वह अपूर्व ही है। इसके पश्चात् (बृहस्पतिः) ज्ञानी और (ब्रह्मा) ब्रह्मज्ञानी सहायता देते हैं, इनमें ब्रह्मा तो अंतिम मंजिल तक पहुंचा देता है। ये सब उन्नतिके उपाय योग्य (राजा अवसे) राजाकी रक्षामें ही सहायक हो सकते हैं, सुराज्य हो अर्थात् राज्यका सुप्रबंध हो, तो ही सब प्रकारकी उन्नति संभवनीय है अन्यथा अशक्य है। इसके साथ साथ (सोमः आदित्यः सूर्यः) वनस्पतियां, और सबका आदान करनेवाला सूर्य प्रकाश ये बल और आरोग्य वर्धक होनेसे सहायक हैं और अंतमें विशेष महत्त्वकी सहायता (विष्णुः) सर्व व्यापक देवताकी है, जो सर्वोपरि होनेसे सबका परिपालक और सबका चालक है और इसकी सहायता सभीके लिये अत्यंत आवश्यक है। जन्मसे लेकर मुक्तितक इस प्रकार सहायताएं मिलती हैं और इनकी सहायतायें लेता हुआ मनुष्य अपने परम उत्पत्तिस्थानसे यहां आकर फिर वहां ही पहुंचता है। इन शब्दोंसे सूचित होनेवाले अन्यान्य अर्थोंका विचार करके पाठक अधिक बोध प्राप्त कर सकते हैं।

सम्भूय समुत्थान।

इस सूक्तमें एकताका पाठ स्पष्ट शब्दों द्वारा दिया है। (वाजस्य नु प्रसवे संबभूविम। मं० ८) "बलकी उत्पत्तिके लिये हम अपनी संघटना करते हैं।" संभूय-समुत्थान के विना शक्ति नहीं होती इसलिये अपनी सहकारिता करके शक्ति बढानेका उपदेश यहां किया है। (सर्वः जनः संगत्यां सुमनाः असत्। मं० ६) "सब मनुष्य सहकारिता करने लगेंगे उस समय परस्पर उत्तम मनके साथ व्यवहार करें।" ऐसा न करेंगे तो संघ शक्ति बढ नहीं सकती। यह उत्तम सौमनस्यका व्यवहार सिद्ध होने के लिये (ब्रह्म यज्ञं च वर्धय। मं ५) ज्ञान और आत्मसमर्पण का भाव बढाओ। संघशक्ति के लिये इनकी अत्यंत आवश्यकता है। मनुष्यकी उन्नति तो व्यक्तिशः और संघशः होनी है, इस लिये पहले वैयक्तिक उन्नति के उपदेश देकर पश्चात् सांघिक उन्नतिके निर्देश किये हैं। इस प्रकार दोनों मार्गोंसे उन्नति हुई तो ही पूर्ण उन्नति हो सकती है।

" वाजस्य प्रसवे संबभूविम " (मं० ८) यह मन्त्र बहुत दृष्टिसे मनन करने योग्य है। यहां " वाजः " शब्दके अर्थ देखिये–" युद्धमें जय, अन्न, जल, शक्ति, बल, धन, गति, वाणीका बल " ये अर्थ ध्यानमें धारण करनेसे इस मन्त्रभाग का अर्थ इस प्रकार होता है– " हम युद्धमें विजय प्राप्त करनेके लिये संगटन करते हैं; अन्न जल खाद्य पेय और धनादि ऐश्वर्योपभोगके पदार्थ प्राप्त करनेके लिये आपसकी एकता करते हैं; अपनी वाणी का बल बढानेके लिये अर्थात् हमारे मतका प्रभाव बढानेके लिये अपनी संघटना करते हैं, हमारे एक मतसे जो शब्द हम बोलेंगे वे निःसन्देह अधिक प्रभावशाली बनेंगे; तथा हमारी प्रगति और उन्नतिका वेग बढाने के लिये भी हम अपनी सहकारिता बढाते हैं। " पाठक इस मन्त्रका विचार करनेके प्रसङ्ग में इस अर्थ का अवश्य मनन करें।

उन्नतिके लिये कंजूसीका भाव घातक है इसलिये कहा है कि (अ-दित्सन्तं दापयतु। मं० ८)" कंजूसको भी, दान न देनेवालेको भी दान देनेकी ओर झुकाओ, " क्यों कि उदारतासे ही संघटना होती है और अनुदारतासे बिगडती है। अपने पास धन तो चाहिये परंतु वह (सर्ववीरं रयिं नियच्छ। मं०८) "संपूर्ण वीरत्वके गुणोंके साथ धन चाहिये।" अन्यथा कमाया हुआ धन कोई उठाकर ले जायगा इस लिये वीरताके साथ रहनेवाला धन कमानेका उपदेश यहां किया है।

इस रीतिसे उन्नत हुआ मनुष्यही कह सकता है कि "मुझे पांचों दिशाएं यथाशक्ति

बल प्रदान करें और मनसे तथा हृदयसे जो संकल्प मैं करूं वे पूर्ण होजांय। (मं० ९)" इसके ये संकल्प निःसंदेह पूर्ण होजाते हैं।

हरएकके मनमें अनेक संकल्प उठते है, परंतु किसके संकल्प सफल होते हैं? संकल्प तब सफल होंगे जब उन संकल्पोंके पीछे प्रबल शक्ति होगी, अन्यथा संकल्पोंकी सिद्धता होना असंभव है। इस सूक्तमें संकल्पोंके पीछे शक्ति उत्पन्न करनेके विषयका बडा आन्दोलन किया है इसका विचार पाठक अवश्य करें। सूक्तके प्रारंभसे यही विषय है-

"अपनी उत्पत्तिस्थानका विचार कर अपनी उन्नति करनेके लिये कमर कसके उठना, (मं०१); सीधा सरल भाषण करना, मनके भाव उत्तम करना (मं. २); ज्ञान और त्याग भाव बढाना। (मं. ५); प्राप्त धन परोपकारमें लगाना (मं. ५); सब मनुष्योंको उत्तम विचार धारण करने, एकता बढाने और परोपकार करने की ओर प्रवृत्त करना। (मं. ६); सामर्थ्य बढानेके लिये अपनी आपसकी संघटना करना (मं.८); अपने अंदर जो संकुचित विचारके होंगे उनको भी उदार बनाना (मं. ८); इस पूर्व तैयारीके पश्चात् सब मानसिक संकल्पोंकी सफलता होनेका संभव है।" संकल्पोंके पूर्व इतनी सहायकशक्ति उत्पन्न होनी चाहिये। तब संकल्प सिद्ध होंगे। इसका विचार करके पाठक इस शक्तिको उत्पन्न करनेके कार्यमें लग जांय। इसके नंतर—" सब स्थानमें उसको प्राणशक्ति साक्षात् होती है, सब स्थानसे उसकी पुष्टि होती है, वह सदा प्रसन्नता बढानेवाली ही भाषा बोलता है इस लिये वह तेजस्विताके साथ अभ्युदयको प्राप्त होता है। (मं० १०)"

इस दशम मंत्रमें "गोसनिं वाचं उदेयं" यह वाक्य है। 'गो' का अर्थ है-"इंद्रिय, गौ, भूमि, प्रकाश, स्वर्गसुख, वाणी।" इस अर्थको लेकर-"इंद्रियोंकी प्रसन्नता, वाणीकी प्रसन्नता, प्रकाशका विस्तार, मातृभूमिका सुख आदिकी सिद्धता होने योग्य मैं भाषण बोलता हूं" यह अर्थ इससे व्यक्त होता है। आगे "तेजस्विताके साथ अभ्युदय" प्राप्त करनेका विषय कहा है, उसके साथ यह "प्रसन्नता बढाने वाली वाणीसे बोलना" कितना आवश्यक है, यह पाठक यहां अवश्य देखें। इस प्रकार इस सूक्तके वाक्योंका पूर्वापर संबंध देखकर यदि पाठक मनन करेंगे तो उनको विशेष बोध प्राप्त हो सकता है।

इस सूक्तका संक्षेपसे यह विवरण है। पाठक जितना अधिक विचार करेंगे उतना अधिक बोध वे प्राप्त कर सकते हैं। अधिक विचार करनेके लिये आवश्यक संकेत इस स्थानपर दिये ही हैं, इसलिये यहां अधिक लेख बढानेकी आवश्यकता नहीं है। अग्निका वर्णन करनेके मिषसे किये हुए सामान्य निर्देश मनुष्यकी उन्नतिके निदर्शक कैसे होते हैं, इसका अनुभव पाठक यहां करें। वेदकी यह एक अपूर्व शैली है।

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा)

REGIST[illegible]ED No 1463

ओ३म्

वैदिक धर्म ।

वैदिक तत्त्व ज्ञान प्रचारक मासिक पत्र ।

सपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

वर्ष ९

अंक १०

क्रमांक १०६



आश्विन

सवत १९८५

अक्तबर

सन१९२८

छपकर तैयार हैं।

महाभारत की समालोचना

प्रथम भाग और द्वितीय भाग ।

प्रति भागका मूल्य ॥) डाकव्यय =) वी पी से॥।=)

मंत्री— स्वाध्याय मडल, औंध (जि सातारा)

[illegible]— म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५)

विषयसूची।

१ मृत्युसे निर्भयता	१७	७ अथर्व वेदका स्वाध्याय	१४५ १७६
२ वैदिक धर्म	१८	२१ कामाग्निका शमन	१४५
३ मातृभूमिका वैदिक गीत	१९	२२ वर्चः प्राप्तिसूक्त	१५८
४ हिंदु समाज समर्थ कैसा बनेगा ?	२५	२३ वीर पुत्रकी उत्पत्ति	१६१
५ पवित्र दृष्टि	२८	२४ समृद्धिकी प्राप्ति	१६४
६ स्वराज की योग्यता	३१	२५ काम का बाण	१६९

वर्ष ९
अंक १०
क्रमांक १०६

आश्विन
संवत् १९८५
अक्तूबर
सन १९२८

वैदिक धर्म.

वैदिक तत्त्वज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।
संपादक- श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।
स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

मृत्युसे निर्भयता।

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान्न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥
अथर्व० १०।८।४४

(अ-कामः) कामनारहित, (धीरः) धैर्यवान्, (अमृतः) अमर, (स्वयं-भुः) स्वयं प्रकट होनेवाला, (रसेन तृप्तः) रससे तृप्त, (न कुतश्चन ऊनः) कहींसे भी न्यून नही अर्थात् सब प्रकारसे परिपूर्ण परमेश्वर है (तं) उस (धीरं) धैर्यवान, (अ-जरं) जरा रहित, (युवानं) युवा (आत्मानं विद्वान् एव) आत्मा को जान कर ही (मृत्योः न बिभाय) मृत्युसे नहीं डरता है।

मृत्युका भय दूर करनेके लिये परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। परमात्मा कामनारहित, निर्भय, अमर, अजर, स्वयंभु, सदा तृप्त, और सर्वत्र परिपूर्ण है। इसकी भक्ति करनेसे मृत्युका भय दूर हो जाता है और मनुष्य परम आनंद को प्राप्त कर सकता है।

वैदिक धर्म।

जब से " वैदिक धर्म " मासिक में अथर्ववेद का सुबोध भाष्य " मुद्रित होने लगा है, तब से ग्राहक पिछले अंक मंगवाने लगे हैं। परंतु अब गत वर्षके पिछले अंक जहांसे अथर्वभाष्य प्रारंभसे शुरू हुआ है, मिलना असंभव हैं, क्यों कि प्रायः सभी अंक समाप्त हो चुके हैं।

अथर्व-सुबोध-भाष्य।

इसलिये अलग मुद्रित किये " अथर्ववेद सुबोध भाष्यके पहले दो काण्ड " ही पाठक मंगावें, और तृतीय काण्ड से वैदिक धर्म के अंक मंगावें। प्रत्येक काण्डका मूल्य २) और डा० व्य० ॥) है, अर्थात् प्रथम दो काण्डोंके लिये म० आ० द्वारा ५ रु.) भेज दें। म० आ० आते ही हम उक्त दो पुस्तक रजिस्ट्री द्वारा भेज देंगे। दोनों पुस्तक सजिल्द हैं। और जिल्द भी सुंदर बनाई है।

जो पाठक एक वार यह " सुबोध भाष्य " पढेंगे, उनको इस की सुबोधताका पता लगजायगा। यह इतना सुबोध है कि केवल भाषा जाननेवाले भी इस का पाठ करके लाभ उठा सकते हैं। जो पाठक पढते हैं वे इसकी सुबोधता का स्वयं अनुभव करते हैं।

आजकल वैदिक धर्म में ३२ पृष्ठ इस " सुबोध भाष्य " के दिये जाते हैं और १६ पृष्ठ अन्य लेखोंके होते हैं। पाठक इस की छपाई, कागज आदिकी सुंदरताभी देखेंगे और विचार करेंगे, तो उनको स्वयं पता लग जायगा कि केवल ४) रु० में यह, मासिक देना असंभव है। वार्षिक व्यय भुगतने के लिये या तो ग्राहक संख्या बढनी चाहिये अथवा मूल्य बढाना चाहिये। प्रतिवर्ष नुकसान सह कर ऐसा मासिक चलाना कठिन हो रहा है। इस लिये ग्राहकोंसे सानुरोध प्रार्थना है कि वे इस मासमें एक या दो नये ग्राहक बना कर हमारी सहायता करें।

वैदिक धर्म प्रचार।

ग्राहक महाशयो ! आपके जितने इष्ट मित्र है, उनके घर में इस अथर्ववेद के सुबोध भाष्य का पाठ होने लगा तो कितना वैदिक धर्म का प्रचार होगा, इसका आप विचार कीजिये। वैदिक धर्म का स्थिर प्रचार करनेका प्रयत्न आप करेंगे, तो निःसंदेह अल्प समयमें आपके सब इष्टमित्र वैदिक धर्म मासिक के ग्राहक बन जांयगे।

ग्राहक बढाइये।

आप अपने इष्टमित्रों को इस वैदिक धर्मका एक अंक बतायेंगे और उनको ग्राहक होनेकी प्रेरणा करेंगे तो एक मासमें आप निःसन्देह चार पांच ग्राहक बढा सकते है। आपके इस थोडेसे प्रयत्नसे आपके इष्ट मित्रों के घरोंमें " अथर्व वेदका पाठ " होने लगेगा। देखिये इस विषयमें आप क्या कर सकते है।

क्या " वैदिक धर्म" मासिक को इतनी सहायता आप नही कर सकेंगे ?

केवल " वेद " के धर्मका विचार और प्रचार करने वाला यह " वैदिक धर्म " एकमात्र मासिक पत्र है, दूसरे फालतू लेख इसमें मुद्रित नहीं होते। विज्ञापनोंसे इसके पृष्ठ भरे नही होते। वैदिक मंत्रों के विषय का प्रतिपादन करनेवाले ही लेख इसमें होते हैं, ऐसे मासिक का चलना प्रतिवर्षकी हानिके कारण मुश्किल हो रहा है। तो क्या ऐसी अवस्थामें इस मासिक को उचित सहायता करना आप योग्य नहीं समझते हैं ?

इस लिये आपसे निवेदन है आप इस मासमें अपने इष्ट मित्रों में प्रयत्न करके इस " वैदिक धर्म" मासिक की ग्राहक संख्या बढाकर हमारी सहायता कीजिये।

" प्रबंध कर्ता "

मातृभूमिका वैदिक गीत।

(३) तृतीय लेख

पिछले दो लेखों में बतलाया गया कि मातृभूमि के वैदिक गीत की साधारण बातें क्या हैं तथा यह भी दिखाया गया कि जनता में भिन्नता रहते हुए भी एकता का साधन कैसे करना चाहिए और मातृभूमि की सेवा के लिए सब मिलकर किस प्रकार तैयारी करें। पिछले लेखों से वाचकों को निश्चय हुआ होगा कि इस वैदिक राष्ट्रगीत में राष्ट्र की उन्नति के जैसे उच्च तत्वों का समावेश हुआ है वैसे तत्व अन्य किसी देश के राष्ट्रगीत में नहीं हैं। तथापि आवश्यक यह है कि इस राष्ट्रगीत पर औरभी कई दृष्टि से विचार किया जाय।

जनता में मातृभूमि के लिए प्रेम उत्पन्न होना चाहिए। यह प्रेम तभी हो सकता है जब कि देश के नगरों, पहाडों एवं अन्यान्य स्थानों के प्रति आदर हो। आदर किसी विशेष महत्व के कारण से ही हो सकता है। यदि हम कहें कि इसका आदर करो, तो हमारे कहने से कोई आदर न करेगा। किसी स्थान के प्रति आदर तभी हो सकता है जब उसका किसी महत्व की पुण्यमयी घटना से संबंध हो, या उसका किसी महात्मा से संबंध हो या अन्य किसी विशेष घटना से उसका संबंध हो। अतएव हमे यह देखना है कि वैदिक राष्ट्रगीत इसकी सूचना किस प्रकार देता है।

देवों द्वारा बसाए हुए स्थान।

यस्याः पुरो देवकृतः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः कृणोतु॥४३॥ अथर्व. १२।१

"हमारी जिस मातृभूमि के नगर देवों द्वारा बनाए गए है और जिसके खेतों में सब मनुष्य विविध काम करते हैं, उन सब पदार्थों को अपने गर्भ में धारण करनेवाली मातृभूमि को परमेश्वर सब दिशाओं में हमारे लिए रमणीय बनावे।"

अब इसके (यस्याः देवकृतः पुरः) 'जिसके नगर देवों द्वारा बनाये गए हैं' वाला भाग देखिए जनता को विश्वास होना चाहिए हमारी मातृभूमि के नगर देवों ने बसाए हैं, हमारे नगरों से देवों का संबंध है, देवों का देवत्व हमारे नगरों ने देखा है इस प्रकार का जीवित विश्वास यदि जनता के मन में स्थान बना ले, तो निश्चय ही है कि अपने देशके बारेमें मनमें जागृति होगी।

इतिहास में उल्लेख है कि हमारी हिंद भूमि के विविध नगरों का संबंध देवों से हुआ है। भगवान श्रीरामचंद्रजी का संबंध अयोध्यासे और रामेश्वर से है। श्रीकृष्णजी का संबंध गोकुल, वृंदावन, तथा द्वारका से है। इंद्र का संबंध इंद्रप्रस्थ से है। हमारे देश के आबालवृद्ध जानते है कि इस प्रकार अनेक नगरों से देवों का संबंध है। नदियां, तालाब, सरोवर, पर्वत-श्रृंग, गुफाएं आदि स्थानों से देवदेवताओंका वा पुण्य पुरुषों का संबंध रहा है। इसका हाल ग्रंथों में भी पाया जाता है और सब स्त्री पुरुषों को भी कथा पुराण आदि सुनने से मालूम हुआ है। गौरीशंकर और कैलास के पर्वत - शिखरों का संबंध साक्षात् भगवान् शंकर के साथ है। बद्रीकेदार के आश्रमका संबंध नर नारायण ऋषि मुनियों से है। मातृभूमि की दृढ भक्ति के लिए परम आवश्यक है कि यह संबंध देशके सब स्त्री पुरुषों को विदित होवे।

कुछ अधिक शिक्षित लोग कहेंगे कि यह अंधविश्वास किस लिए? बिलकुल व्यावहारिक हित की दृष्टि से भी मातृभूमि के प्रति भक्ति हो सकती है।

बात बिलकुल ठीक है। पर व्यावहारिक लाभ के साथ ही यदि लोगों के हृदय में ऊपर लिखे संबंधों का भी विचार आवे तो भी नुकसान कुछ न होगा। बालक अपनी माता पर प्रेम करता है। पर इस लिए नहीं कि माता सुंदर है या माता दूध देती है। वह प्रेम करता है क्यों कि 'मातृदेवो भव' के अनुसार माता एक देवता है। बालक का माता के प्रति प्रेम इसी दिव्य भावना के कारण रहता है। बालक का माता के प्रति और माताका बालक के प्रति अकृत्रिम प्रेम रहता है। बदले की आशा न कर जो प्रेम किया जाता है वही दिव्य प्रेम है। वही निरपेक्ष अकृत्रिम प्रेम है। इसी लिए मातृप्रेम व्यावहारिक प्रेम नहीं है। मातृभूमि का प्रेम भी इसी प्रकार अकृत्रिम निःसीम आत्यंतिक और दिव्य होना चाहिए। अकृत्रिम प्रेम उत्पन्न होने के हेतु उपर्युक्त मंत्र में लिखा है कि अपने देश नगरों का संबंध देवोंसे है यह बात सब लोगों को मालूम रहना चाहिए और सब लोग यही सोचें कि हमारे नगर देवों ने बसाए हैं।

जो ज्ञानी लोग आर्थिक वा व्यावहारिक हित की दृष्टि से मातृभूमि की भक्ति करते हों वे भले ही वैसा करें। उसमें किसी की रुकावट नहीं। परंतु सब जनता उस कोटि की ज्ञानी नहीं हो सकती। अतएव साधारण लोगों मे विशेषप्रेम उत्पन्न होवे इसी गरज से सब को मालूम होना आवश्यक है कि हमारे देश के स्थानों का संबंध देवों से वा ऋषियों से है।

प्रतापगढ से तथा सिंहगढ से शिवाजी महाराज का संबंध, उदयपुर से महाराणा प्रतापसिंह का संबंध, झांसी से रानी लक्ष्मीबाई का संबंध, गढा मंडला से रानी दुर्गावती का संबंध, परली से स्वामी रामदास का संबंध और इसी प्रकार भिन्न भिन्न इतिहासप्रसिद्ध स्थानोंसे ऐतिहासिक व्यक्तियों का संबंध मालूम होना परम आवश्यक है। सिंहगडका या अन्य किसी स्थान के उस स्थान का जिससे शिवाजी महाराज का संबंध रहा है, यदि कोई भंग करे या अन्य इतिहास प्रसिद्ध व्यक्ति के स्थान का कोई अपमान करे तो उस दुष्ट कार्य से संपूर्ण भारत के हृदय में चोट पहुंचती है। संपूर्ण भारत उस दुष्टकृत्य का जबाब पूछने को तैयार हो जाता है। इसीमें राष्ट्रीय उन्नति का बीज है।

इसीलिए जब विदेशी सरकार दूसरे देशपर अपना अधिकार जमाती है, तब उस देश के ऐसे इतिहास प्रसिद्ध स्थानों को भुलाने में दक्ष रहती है। वह तत्पर रहती है कि ऐसे स्थानों का लोगों को पता भी न रहे। इसका भी मर्म यही है। मुसलमानोंने प्रयाग का नाम अलाहाबाद रखा, सहस्रतीर्थ का नाम इस्लामाबाद रखा, मार्तण्ड को मटन कहा, बाबा महर्षि का बाप मोइद्दिनर्सि कर डाला, श्री शंकराचार्य के स्थान को तख्त-इ-सुलेमान कहा और इसी प्रकार हजारों शहरों के और स्थानों के नाम बदल दिये। इसका रहस्य हम ऊपर बतला चुके हैं।

जब अंग्रेजों का राज हुआ तब उन्होंने धवलगिरी के गौरीशंकरशिखर का नाम मौंट एवरेस्ट, रख दिया। और सिमला, महाबलेश्वर आदि पर्वतराजों के शिकर के अंग्रेजी नाम बनादिये। इसी प्रकार अन्य कई स्थानों का अंग्रेजीकरण हुआ।

मुसलमानों ने मंदिरों और मुर्तियों का विध्वंस किया और बलात्कार से लोगों को अपने धर्म में मिलाया। अब ईसाई लोग धर्मांतर करा रहे हैं। वे प्राय प्रत्येक देवस्थान और तीर्थस्थान में खडे रहकर उसकी निंदा करते है। इसका भी कारण यही है जिससे कि हमारा हमारे देश के स्थानों का अभिमान मिट जाय।

जेते मुसलमान रहें, अंग्रेज रहें या जापानी रहें, उनका सबका स्वभाव एक हीसा होता है। जित लोगों के हृदय से मातृभूमि की भक्ति नष्ट करने के लिए वे जो कुछ कर सकते हैं वह करने में चूकते नहीं। मातृभूमि के विषय में प्रेम और भक्ति उत्पन्न होने के लिए अपने देश के तीर्थस्थानों का प्रेमपूर्ण इतिहास जनता के हृदय में सदैव जागृत रहना चाहिये। जब तक जनता में मातृभूमि का प्रेम जागृत रहेगा तब तक विदेशी जेताओं के पैर जम नहीं सकते। यही सार्वत्रिक नियम होनेसे सब जेते जीती हुई पादाक्रांत जनता के मातृभूमि के प्रेम के सब चिन्ह जलदी मिटाने का प्रयत्न करते हैं। सं-

सार के इतिहास से वाचक इसकी पुष्टि के उदाहरण स्पष्टतया देख सकते है। पुष्टि देखनेपर ही उन्हे ऊपर के मंत्र के उपदेश का रहस्य विदित होगा।

यह तो स्वाभाविक ही है कि लोगों को मालूम हो कि हमारे देश के नगर देवोंके बनाए है, हमारे पूर्वजों का उनसे जो संबंध है वह स्मरण रहे, बडे बडे महात्माओं के चरणरज का स्पर्श होने से वे स्थान तारक हो गये हैं। वेद मंत्र ने ऊपर के राष्ट्र गीत के इन भावों का खासा परिचय करा दिया है। अतएव पाठक इस मंत्र का जितना अधिक विचार करेंगे उतनाही उनके लिए अच्छा होगा।

ऊपर के मंत्र में और दो बातें ध्यान देने योग्य है। (१) लोग अपने अपने क्षेत्र में ध्यान से काम करें। और (२) देश के निवासी को चारों दिशाएं रमणीय मालूम हों। अपने ही देश की चारों दिशाएं हमको रमणीय नही मालूम होती, इसका कारण हमारी पराधीनता है। स्वतंत्र लोगों को सब दिशाएं रमणीय मालूम होती है। यह कहना कि 'सब दिशाएं हमें रमणीय दिखे' 'हम स्वतंत्र रहें' कहने के बराबर है। वर्तमान पराधीनता के ही कारण यदि हम पश्चिम में आफ्रिका में, दक्षिण में आस्ट्रेलियामें, पूर्व में अमेरिकामें जाते है तो हमे रहने को भी स्थान नही मिलता। तब फिर वे देश हमारे लिए रमणीय कैसे हो सकते है। इसका कारण यही कि हम पराधीन हैं। स्वतंत्र देश के लोगों का यह हाल नही है। स्वतंत्र देश के लोग जहां जावेंगे वहीं उनके लिए रमणीय स्थान तैयार रहते हैं। स्वातंत्र्य और पारतंत्र्य का यह भेद ध्यान में रखना चाहिए।

देश के नगरों के प्रति अपनेपन का भाव मालूम होने का महत्व जो ऊपर के मंत्र में बतलाया गया है वह कैसे भारी महत्व का है सो अपने देश की जनस्थिति से सहज ही समझ सकते हैं। आज जो सात करोड भारतीय मुसलमान हैं वे नब्बे प्रतिशत हिंदू ही हैं। पर धर्मांतर के कारण वे हिंदुओं के बाहर हैं। इसी लिए बनारस रामेश्वर आदि पवित्र तीर्थ स्थानों के प्रति उनमें अपनेपनका भाव नही है और विदेश के मक्का, मदीना से उन्होंने नाता जोड लिया है। इससे उन्हे भारत देश अपनी मातृभूमि नही मालूम होती। वाचक देख सकते है कि राष्ट्र की उन्नति की दृष्टि से इस देश का कैसा भारी नुकसान हुआ है। धर्मांतर के बारे में यदि प्राचीन आर्य हिंदुओंने अपनी नीति उचित रखी होती तो आज यह दशा न होती। हमारी इस वर्तमान दशा को ध्यान में रखें और उक्त मंत्र पर विचार करना चाहिए, तब उस मंत्र की महत्ता और उसके अमोल उपदेश का रहस्य मालूम होगा।

ऋषि ऋण।

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः।
सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह॥ ३९॥

"जिस मातृभूमि में पूर्वके ज्ञानी देश का भतकाल बनाने वाले ऋषियों ने सत्र और यज्ञ कर के और तप करके सप्त (गाः) भूमियों का उद्धार किया" वह हमारी श्रेष्ठ मातृभूमि है।

(भूतकृतः ऋषयः) हमारे देश का भूतकाल का इतिहास बनानेवाले तपस्वी ऋषि थे। देशवासी यदि इस बात का विश्वास करें तो उन्हे प्राचीन काल के दिव्य समय का निश्चय होगा। पूर्वकाल के दिव्यत्व का एवं उत्तमता का निश्चय हो जाने पर उन्हे इच्छा होगी कि भविष्यकाल भी ऐसा ही उज्वल होवे। और इस इच्छा से प्रयत्न भी करेंगे। जिनका भूतकाल तेजस्वी है उनका भविष्य काल भी तेजस्वी होने का निश्चय जानो।

हमारे प्राचीन पूर्वज जिन्होने हमारे प्राचीन इतिहास में बडे बडे बहुत कार्य किये, अत्यंत तपस्वी और बडे थे। हमारा इतिहास जंगली लोगों की कार्यवाही से मलिन नही है किंतु महान् तपस्वी ऋषिमुनियों के प्रशस्ततम कार्यों से उज्वल हुआ है। यह विचार कैसी भारी उत्तेजना देनेवाला है? हमारी राष्ट्रभूमि के सब लोगों का एक मत होकर वे सब राष्ट्रभूमि के प्रति प्रेम दर्शाने लगें ऐसा होने के लिए आवश्यक है कि ऊपर की भावना मनमें स्थिर हो जावे। हमारे विचार से इस में दो मत हो नही सकते।

जिन्होने धर्मांतर किया वे लोग भी अपने ही हैं। वे उन्हो प्राचीन ऋषियों के वंशज होते हुए भी धर्मांतर के कारण उन्हें अपने प्राचीन दैदीप्यमान इतिहास के विषय का अभिमान नष्ट हो गया। इस से इनकी बात छोड दें तब ऊपर के सिद्धान्त का कोई इन्कार नही कर सकता।

ऊपर के विवेचन से विदित होता है कि यह मातृभूमि का वैदिक राष्ट्रगीत कितनी अनेकानेक दृष्टि से वाचकों के मन मेंअपनी मातृभूमि के प्रति आदर बढाता है। इस अति प्राचीन राष्ट्रगीत के प्रति वाचकों के मन में निःसंदेह आदर उत्पन्न होगा।

ऋषि लोग सत्र और यज्ञ से राष्ट्र की उन्नति और राष्ट्र की जागृति करते थे। वर्तमान संक्षिप्त यज्ञ पद्धति से कोईभी प्राचीन सत्र और यज्ञ की कल्पना नहीं कर सकता। इस पद्धति का स्वरूप हम स्वतंत्र लेख मालिका में दिखावेंगे अतएव यहां उसके बारे में विशेष न लिखेंगे। पहले के वैदिक काल के यज्ञ और सत्र आजकल के समान छोटे से मंडपों में नहीं हो सकते थे। उनके मंडपों का विस्तार कई कोसों तक रहा करता था। यह एक ही बात बतला देगी कि प्राचीन काल के यज्ञोंका स्वरूप बिलकुल भिन्न था। राष्ट्रीयता का विचार ऋषियों के अथक परिश्रम से जनता में जारी हुआ। इसी लिए ऊपर के मंत्रों में " भूतकाल बनाने वाले ऋषि ' कहकर उनका सन्मान किया है। इसी के संबंध का निम्न लिखित अथर्ववेद का मंत्र देखिए-

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपोदीक्षामुपसे-
दुरग्रे। ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै
देवा उपसंनमन्तु ॥

अथर्ववेद १९। ४१। १॥

" लोगों का कल्याण करने की इच्छा करनेवाले आत्मज्ञानी ऋषियों ने प्रारंभ में तप किया उससे राष्ट्र बल और ओज हुआ। अतएव देवों को चाहिए इसे नमन करें।"

इसमें बतलाया है राष्ट्रीयता की कल्पना ऋषियों के प्रयत्न से कैसे उत्पन्न हुई। वाचक देख लें कि ऋषि ' भूतकाल बनाने वाले ' किस प्रकार थे। राष्ट्रीय भाव ऋषि-ऋण है। उसे चुकाने का प्रयत्न हर एक को करना चाहिए। ऋषियों ने राष्ट्रनिर्माण में जैसे प्रयत्न किये वैसे ही अन्य पूर्वजों ने भी किये। उसका स्मरण करना भी आवश्यक है। आगे के मंत्र में उन पूर्वजों का स्मरण हैः—

देव ऋण।

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा
असुरानभ्य वर्तयन्। गवामश्वानां वयसश्च
विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥५॥

" हमारी जिस मातृभूमि में हमारे प्राचीन पूर्वजों ने पराक्रम किया और जिसमें देवों ने असुरों को भगा दिया, जो गाय, घोडे, और पक्षियों को अच्छा स्थान देती है वह हमारी मातृभूमि हमें ऐश्वर्य और तेज देवे।"

हमारे प्राचीन काल के पूर्वजों ने इस भूमि में बडे बडे प्रयत्न किये, अनेक लडाइयां की, अनेक चढाइयां की, गनीमी नीति के युद्ध किये और खुले मैदान में लडाइयां की,इतना सब काम करके अपनी मातृभूमि का यश उज्वल किया। वह हमारी मातृभूमि आज हमने कैसी रखी है ? हमारे पूर्वजों का प्राचीन इतिहास हमारी दृष्टि के सामने है। क्या हम लोगों का बर्ताव उस इतिहास के योग्य है? उन समरविजयी पूर्वजों के वंशज होने का हमें कुछ तो अभिमान चाहिए। उनकी कीर्ति को शोभा देने योग्य हमें कुछ भी तो काम करना चाहिए। पाठक गण, विचार करिये! हमारा वैदिक राष्ट्रगीत क्या कहता है जरा देखिये तो।

जिस देश मेंप्राचीन समय में देवोंने असुरों को युद्ध में पराजित कर भगा दिया और हमी लोगों के लिए यह देश स्वतंत्र रखा, उसी देश में हम लोगोंने पराधीनता की कालिमा लगादी। कैसे शोक की कथा है!! वाचक ही विचार करें कि राष्ट्रगीत हमे किन बातोंका स्मरण दिलाता है। प्राचीन पूर्वजोंने यों किया और त्यों किया। ये बातें केवल रुखे अभिमान और गर्व के लिए नहीं कही जातीं। उनके कहने का उद्देश यह होता है कि उन पूर्वजों के उज्वल कार्यों से हमें स्फूर्ति मिले और हम भी कुछ

वैसा ही कार्य करें। हम लोगों को चाहिए कि उस उद्देश की पूर्ति हम लोगों से कहां तक हो सकी है और न्यूनता को पूरा करने का निश्चय करें।

हमारा यह वैदिक राष्ट्रगीत हमारे धर्मग्रंथोंमे लिखा हुआ है। इसके जैसा राष्ट्रगीत दूसरे देशों के धर्म-ग्रंथों में तो है ही नहीं, पर उन लोगों के अन्य किसी ग्रंथ में भी नहीं है। ऐसा होते हुए भी हमारे देश के लोग राष्ट्रकी उन्नति के विषय में लापरवाह हैं और अन्य बहुत से देशों के लोग राष्ट्रके हित के लिए तत्पर हैं। इस दशा को देख कर कैसा भारी आश्चर्य होता है!! हमारा राष्ट्रगीत इतना विस्तृत है, उसमें उदात्त विचारों के,अप्रतिम विचारों से लबा-लब भरे हुए दिव्य मंत्र हैं। ऐसा होते हुए भी हमारे साहित्य मे राष्ट्रीयता का भाव ही नहीं और यह भाव हमारे लिए परकीय हैं इस प्रकार को समझ रखनेवाले हरी के लाल हम में हैं! अस्तु, वस्तु-स्थिति जैसी है वैसी हमने जनता के सन्मुख रख दी है। जहां पजना है वहां बिकता नहीं और जहां बिकता है वहां पजता नहीं '' की कहावत यहां चरि-तार्थ होती है। और देखिये--

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽ नमित्रां शचीपतिः॥
सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः॥१०॥

" जिस भूमि की नाप अश्विनीकुमारों ने की, जिस भूमि में भगवान् विष्णुने पराक्रम किया, शक्तिशाली इन्द्रने जिसे अपने लिए शत्रु रहित किया वही हमारी मातृभूमि, जैसे अपने बालक को दूध देती है वैसे ही, मुझे उपभोग के पदार्थ देवे।"

इस मंत्र में स्पष्ट शब्दों में बतला या है कि देवोंने इस मातृभूमि के लिए क्या क्या किया। अश्विनी कुमारों ने देश देशांतरों के क्षेत्रों की नाप की, देशों की सीमाएं निश्चित की, जमीन नापली और इस प्रकार मातृभूमि की सेवा की। भगवान् विष्णु ने जो पराक्रम किये वे सब को विदित ही हैं। इन्द्रने हजारों युद्ध किये और इस मातृभूमि को शत्रु के कष्टों से छुडाया। इस प्रकार अन्यान्य देवताओं ने भी इस मातृभूमि के लिए जो कुछ बन सकता है किया। उसमें कुछ कसर न रखी। देव और असु-रों के युद्ध में हजारों देववीरों ने इस मातृभूमि के उद्धार के लिए युद्धक्षेत्र में अपना बलि-दान किया और इस भूमि को स्वतंत्रता का सौभाग्य प्रदान किया। वही देवों का व्रत हमें भी चलाना चाहिए। देवोंने निश्चित किए हुए मार्ग का ही निश्चय हम लोग भी करें। यह जानकर कि हम लोगों के लिए देवोंने तथा उस समय के पुरुषोंने क्या क्या किया, हमे उनके ऋण से छुटकार पाने का प्रयत्न करना चाहिए।

ऋषिऋण कौनसा है सो बतला दिया गया, देव-ऋण कौनसा है सो भी बतला दिया गया। इन ऋणों से मुक्त होने के लिए हमें प्रयत्नशील बनना चाहिए। प्रत्येक को सोचना चाहिए कि हम ऋण-मुक्त होने की चेष्टा कर रहे है या नहीं। इस देवऋण के बारे में एक और मंत्र देखने योग्य है-

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथि-वीमप्रमादम्। सा नो मधुप्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा॥७॥

" देव जिस मातृभूमिकी रक्षा गलती न करके और आलस न करके करते आए हैं वह मातृभूमि हमलोगों को तेज और मीठा शहद आदि खाने के पदार्थ देवे। "

(अ-स्वप्नाः देवाः) आलस न करते हुए देव इस भूमिकी रक्षा करते आए है। उन आलस न कर सदैव काम करने वाले देवों के सन्मुख खडे होने में आलसी लोगोंको शरम आनी चाहिए। न थकते हुए, विश्रांति न लेते हुए हमलोगों के लिए जिन देवों ने ऐसे भारी परिश्रम किए, उनके उस पवित्र कार्य के बदले में हमलोगों ने क्या किया? उनका स्वातंत्र्य रक्षा का कार्य क्या हम लोगोंने चलाया है? और कुछ नहीं तो क्या हम लोगों ने राष्ट्रोन्नति का कार्य सदैव जारी रखने का भी निश्चय किया है? वाचक न भूलें कि इन बातोंपर विचार करने का समय आगया है।

ऊपर के मंत्र में यह भी कहा है कि (देवाः अप्रमादं रक्षन्ति) देव गलती न करके रक्षा करते हैं। गलती न करके रक्षण किया इसीसे तो देव बंधन से छुटकारा पा सके। असुरोंने

अनेक बार देवोंको चिरकाल की पराधीनताकी बेडी में जकड देना चाहा । रावण, बलि और इनके सदृश अन्य राक्षसों ने इस प्रयत्न में कुछ भी कसर न रखी। किंतु ऐसे सब अवसरों पर देवोंने पुरुषार्थ की पराकाष्ठा की; अपनी स्वाधीनता बनाए रखी और असुरों को भगा दिया । गलती न कर दक्षता से कर्तव्य करने की जो दीक्षा देवों ने हमे दी क्या हमें उसका अभ्यास सावधानी से न करना चाहिए ? स्वदेश के कार्य में हमलोगों की दक्षता क्या वैसी है जैसी होनी चाहिए? हम लोक निरे हठके कारण पग पग पर क्या भारी भूलें नही कर रहे ? वास्तव में राष्ट्रकार्य के लिए आत्मसमर्पण करने को हमे सदैव तैयार रहना चाहिए। किन्तु आत्मसमर्पण का समय आने पर उसकी ओर ध्यान न देनेवाले कितने ही लोग हममें हैं। यदि वाचक स्वयं ही इस बात को सोचेंगे तो उन्हे विदित हो जावेगा कि हमें क्या करने की आवश्यकता है ।

विद्वानों का ऋण ।

ऋषियों का राष्ट्रकार्य हम देख चुके। देवों ने क्या किया सो भी देख लिया। हमें अब देखना है की जो ऋषि नहीं और देव भी नहीं उन मननशील बुद्धिमान् पुरुषों ने कौनसा कार्य करके राष्ट्र की सेवा की —

यार्ऽर्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद्यां मायाभि
रन्वचरन्मनीषिणः। सा नो भूमिस्त्विषिं बलं
राष्ट्रे दधातूत्तमे ॥ ८ ॥

"हमारी जो मातृभूमि प्रथमारंभमें समुद्रके नीचे थी और जिसकी सेवा मननशील विद्वानोंने अनेक प्रकार के कौशल के काम करके की, वह हमारी मातृभूमि हमारे उत्तम राष्ट्र में तेज और बल धारण करे।"

इस मंत्र का 'यां मायाभिःअन्वचरन् मनीषिणः।' प्रस्तुत लेख के प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि के अतिशय महत्त्व रखता है। इसका 'माया' शब्द अतीव महत्त्व का है। इस माया शब्दका अर्थ अद्वैत-मत का मायावाद नहीं है। माया शब्द के कई अर्थ हैं। "(१) कुशलता, काम की कुशलता, कौशल से किया हुआ कारीगरी का काम, चातुर्य (२) कपट, दांवपेंच जिनकी आवश्यकता राजनीति में है, शत्रु-को चकमा देने की विद्या" ये सब अर्थ माया शब्द के ही हैं। इन दोनों अर्थों से माया शब्द मंत्रमें आया है। (मनीषी) मननशील लोग समय को देखकर कुशलता से, चतुराई से, कपट से, वा राजनीति के नियमों से मातृभूमि की सेवा करते हैं। यही इस मंत्र का आशय है।

इस प्रकार देव, ऋषि, और अन्य विद्वानोंने हमारी मातृभूमि की सेवा की है। जो मार्ग ऋषि, देव और अन्य बडे बडे ज्ञानी लोगोंने दिखा दिया उसीसे हमें आक्रमण करना चाहिए, उसी रास्ते से हमें जाना चाहिए । तभी हमारी भलाई होगी। हम पर तीन ऋण हैं;ऋषि ऋण, देव ऋण और अन्य ज्ञानियोंका ऋण। हमें इन ऋणों को देखना चाहिये और उनसे मुक्त होनेकी चेष्टा करनी चाहिए ।

इस लेख के वैदिक राष्ट्रगीतके मंत्र हमारे राष्ट्रीय कर्तव्योंका संबंध ऋषि-काल की बडी विभूतियों से भिडाते हैं। हमारा अखण्ड राष्ट्रीय कर्तव्य ऋषियोंने आरंभ किया, देवोंने उसकी पुष्टि की और अन्य विद्वानों ने उसे बढाया। इस त्रिवेणी संगम में से वह हमारे पास आया है। इसी से हमें उसे आगे चलाना चाहिए। उसे चलाना हमारा आवश्यक कर्तव्य ही है। यदि हम उस कार्य को नहीं चलाते तो ऋषि और देव हमें जबाब पूछेंगे। हर एक को यह बात अच्छी तरह स्मरण रखनी चाहिए।

वाचक विचार करें इस मंत्रके उपदेश पर अच्छी तरह ध्यान दें और देखें कि हमारा धर्म कैसे विलक्षण और उच्च राष्ट्रीय धर्म का उपदेश करता है; और वे उसके अनुसार आचरण के लिए तत्पर हों। हमारे राष्ट्र को संसारके राष्ट्रोंमें उच्चसे उच्च स्थान पर पहुंचाने की जबाबदेही हमपर ही है। उसे निभानेके लिए हमें सदैव तैयार रहना चाहिए। (क्रमशः)

हिंदू समाज समर्थ कैसा बनेगा ?

(ले० श्री. पं. महादेव शास्त्री दिवेकर वाई जि. सातारा)

प्रकरण दूसरा.

शरीर बल विचार.

किसी भी समाज को समर्थ बनाने के लिये उसके शरीरबल, मनोबल, समाज बल व द्रव्य बल की आवश्यकता होती है। इस प्रकरणमें हम शरीर बल पर विचार करेंगे।

देश का लक्ष्य आजकल शरीर बल की तरफ से कम हो गया है। जब से स्वदेशी आंदोलन प्रारम्भ हुआ तभी से जनता का ध्यान अखाडों की ओर आकर्षित हुआ है। इस आंदोलन से प्रथम, व्यायाम संस्थाए बिलकुल शिथिल पड गई थी परंतु हर्ष की बात है कि हिन्दू संगठनके कारण शनैः शनैः उनका पुनर्जन्म हो रहा है। मुसलमानों का प्रतिकार, प्रतिकारियों का सामना तथा स्वराज्य संचालन करने के लिये हिंदुसमाज को शरीरबल का ही मुख्य साधन प्राप्त करना चाहिये। इसको छोड कर दूसरा उपाय नही हो सकता। शरीर सब साधनों में मुख्य साधन है इसीलिये " शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् " ऐसा कहा जाता है। शरीर बल ही एक ऐसी वस्तु है जो धर्म, समाज, राजकारण अथवा इसके व्यतिरिक्त,अन्य कार्योंमें सफलीभूत बना सकती है। यदि शरीर सुदृढ, नीरोग व बलयुक्त न हो तो कोई भी कर्तव्य भली भांति पूर्ण नहीं हो सकता। सब संपत्तियों में शरीर संपत्ति ही मुख्य है । इस संपत्तिके नाश होने पर कोई भी समाज या राष्ट्र जीवित नही रह सकता। स्वराज्य प्राप्त होने पर राज्यकार्य सम्हालने के लिये तथा नवीन राज्यप्राप्ति के लिये शरीर बलको ही प्रधानता देनी पडती है। सेना में हृष्ट पुष्ट तथा पानीदार सैनिक ही रखे जाते हैं हिंदूसमाज का स्वराज्य चला गया और उसी के संग उसका शरीर बल भी नष्ट होगया। शरीर बल को गई हुई संपत्ति को पुनः प्राप्त कर लेना चाहिये। निर्बल अजागल तथा क्लीब समाज का आदर इस संसार में कहीं भी नही है। मनुष्य कितना ही चतुर, बुद्धिमान तथा नियमपालक क्यों न हो तो भी उसे किसी विशेष प्रसंगपर सामना करने को सन्मुख आना ही पडता है। किसी मनुष्य से मुठभेड हो जाने पर सब बल एकही ओर रह जाते हैं केवल शरीर बल ही एक ऐसा बल है जो उस समय काम देता है। श्री. समर्थ रामदासस्वामी जी का कहना है कि " शक्ति से ही राज्य की प्राप्ति होती है और युक्ति से यत्न होता है। " जहाँ शक्ति और युक्ति का सम्मिलन होता है वहाँ राज्य की प्राप्ति होती है। शक्ति से राज्य की प्राप्ति और युक्ति से उसकी रक्षा होती है। बुद्धि, बल, शक्ति, युक्ति, शस्त्र, शास्त्र इन सबका एक ही प्रकार का महत्व है। इन सब बातों को सामने रखते हुए हिंदूसमाज को शरीर बल प्राप्त करने का उपाय करना चाहिये।

प्रत्येक हिंदूपालक को ऐसा प्रण करना चाहिये कि " मैं देवताओं, देश, तथा व्यायाम को कभी नही भूलूंगा। " केवल शपथ ही नहीं परन्तु उसे पूर्णरीति से पालन करने की प्रतिज्ञा करनी चाहिये। जिस प्रकार देवताओं के प्रति नित्यस्मरण, तथा देश के प्रति कर्तव्याचरण आवश्यक है उसी प्रकार व्यायाम की भी नित्य उपासना करनी चाहिये। प्रातःकाल में सूर्यनमस्कार, प्राणायाम, आसन,दौडना,घूमना तथा संध्यासमय में कुश्ती लडना, लाठी चलाना मलखम इत्यादि का व्यायाम प्रत्येक हिंदूको शास्त्र पद्धतिके अनुसार करना अवश्यक है। शरीर में फुर्ती, मस्ती व मन में धैर्य का विकास हो इस प्रकार का

व्यायाम करके प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिवादी तथा, आरोपी होने की तय्यारी करनी चाहिये। हिंदू पालक का कोई भी बालक यदि रोता हुआ आता है, किसी का उलहना लेकर आवे तो महान दुःख होने की बात है इसके विरुद्ध यदि वह किसी को मार कर आरोपी तथा प्रतिवादी बनकर आवे तो महान आनंद होना चाहिये।

जब प्रत्येक हिंदू पालक प्रतिदिवस नियम से व्यायाम करेंगे तभी उनके बालबच्चे भी उनका अनुकरण करेंगे यदि अपने बालकों को बलिष्ठ बनाना है तो प्रत्येक हिंदू पालक को स्वयं भी व्यायाम करना चाहिये। प्रायः ऐसा दृष्टिगोचर होता है कि हम लोग जितनी चिंता अपने बच्चों के परीक्षा में पास होने, उनके शीघ्र नोकरी मिलने की तथा उनके विवाह की करते हैं उतनी उनके बल व पुरुषार्थ की नही करते। जिस प्रकार माता पिता अपने बालकों के अध्ययन के विषय में सचेत रहते हैं उसी प्रकार यदि वे उनकी शक्ति तथा आरोग्यता के विषय में भी ध्यान रखें तो बालक अधिक चिरंजीवी हों। पिता अपने पुत्र को पत्र में 'चिरंजीव' इस शब्द से सम्बोधन करके आशीर्वाद देता है परंतु उसे चिरंजीवी बनाने के लिये जिन उपायों की आवश्यकता है उसपर कभी भी ध्यान नही देता। बच्चे की भलाई के लिये अनेक कष्टों को सहकर माँ बाप धन एकत्रित करते हैं परंतु बालक जो स्वयं ही राष्ट्र के धन हैं उनके विषय में जैसी चिंता उन्हें रखनी आवश्यक है नही रखते। " राष्ट्र की संपत्ति भविष्य की तरुण पीढी ही है तथा देश की तिजोरी उज्वल रत्न देश के बालक और बालिकाएँ ही हैं।" इनके खाने पीने आरोग्यता तथा व्यायाम की चिंता यदि हिंदू पालक यथाशास्त्र करेंगे तो समाज का बल बात की बात में बढ जायेगा। लडकों से प्रातः व सायं विविध प्रकार व्यायाम कराना, व " ऐसी व्यवस्था कर देना जिससे वे स्वेच्छासे व्यायाम करने लगें, बालकों का उसी प्रकार का स्वभाव निर्माण करने के लिये स्वयं भी व्यायाम करना यह सब माता पिता का मुख्य धर्म है। आजकल नाजुकीपन की तो हद होगई है। थोडी धूप लगने से ही गर्मी लगने लगती है और थोडा जाडा लगने से बहुत से लोग बीमार ही हो जाते हैं। इलायची से जाडा व लवंग से गर्मी अनुभव करने वाली प्रजा संसार के भयंकर धकाधकी के क्षेत्र में कैसे ठहर सकती है। द्रव्य, गृह, सम्मान, स्वाभिमान तथा स्त्री के रक्षणार्थ जनता को अपने लडकों को बलवान बनाना चाहिये। हिंदुओं की भावी तरुण संतान यदि मर्द बनगई तो संसार में कठिन कार्य संपादन करके अपना नाम उज्वल करेंगे। यदि नामर्द ही बनी रही तो वह समय दूर नहीं है जब कि संसार से उसका नाम उठ जायगा। नौ पीढी में जो दुर्बलता, भीरुता तथा कातरता आई हुई है उसे नष्ट करने को जनता को अब बद्धपरिकर होना चाहिये और स्वतः का उदाहरण अपने बालकों के सामने रखकर उनको बलिष्ठ बनाना चाहिये। "हमारे पीछे हमारे बाल बच्चों की क्या स्थिति होगी' इसका विचार करने की अपेक्षा मँबापको यह देखना उचित है कि " हमारे सामने ही वह किस प्रकार समर्थवान बन सकते हैं "। दूध घी, फल व पौष्टिक अन्न खिलाकर लडकों को बलवान तथा उत्तम वीर्यवान बनाना ही उनका धर्म है। पौष्टिक अन्न खाकर प्रत्येक हिंदुमात्र को यह समझ लेना अत्यावश्यक है कि व्यायाम कर लेना ही आधुनिक युगका धर्म कृत्य है। प्रत्येक हिंदू पालक को लडकों की भांति लडकियों की भी चिंता करनी चाहिये और उन्हे प्रतिकारक्षम बनाना चाहिये। स्त्रियों के व्यायाम की ओर हिन्दुसमाज का लक्ष बिलकुल ही नहीं है। इसी कारणदिन प्रति दिन स्त्रीजाति निःसत्व होती जा रही है। स्त्रियाँ पालतू जानवर के सदृश हैं अथवा वे देवियें हैं ऐसी परस्पर विरुद्ध दो प्रकार की कल्पनाएं हिंदूसमाज में उठ रही हैं। इन दोनों कल्पनाओंको पृथक रखकर स्त्रियें मनुष्य हैं, गृहिणियें हैं, माता हैं ऐसा विचार करके जनता को इनके शरीर बलके प्रति भी लडकों की अपेक्षा विशेष ही ध्यान रखने की जरुरत है। हिंदू संस्कृति दृष्टि से लडकियें दूसरे घर की धन है परंतु योग्य पद्धति से कन्यादान होनेपर्यंत पिता ही उसका ट्रस्टी है। इस कारण से उसे इस दूसरे की संपत्ति

. को अत्यंत सुरक्षित रखना चाहिये। पूर्व परंपरा के अनुसार अब घर का काम काज नहीं रह गया है और अंग्रेजी पद्धति के अनुसार भी व्यायाम नहीं होता। इस कारण ऐसा दिखलाई पडता है की हिंदू स्त्रियों में कोई भी व्यायाम नहीं है। दलना काढना कपडे धोना, पानी भरना इत्यादि कार्य जहाँ स्त्रियों को स्वयं करने पडते हैं उस घरकी स्त्रियें सदैव आरोग्य रहती हैं। इसके विपरीत नवीन यांत्रिक सुधार के अनुसार जहाँ स्त्रियें यह सब कार्य नहीं करती वहाँ की स्त्रियें फैशनेबिल व दुर्बल ही बनी रहती हैं। लडकों की तरह लडकियों को भी अनेक प्रकार के खेल, व्यायाम, कवायत, तरवार तथा अन्य शस्त्रों की भी शिक्षा, देना आवश्यक है। लडकियों को इन विषयों का ज्ञान होने पर ही वे अपने युवावस्था में समय पडने पर उनका उपयोग कर सकेंगी। मनुष्यत्व का हक, सम्मान, स्वाभिमान इत्यादि बातों में स्त्रियों को प्रतिदिवस संशयास्पद स्थिति में रहना पडता है। इसी कारण बौद्धिक शिक्षण के साथ ही साथ उन्हें शरीर बल शिक्षण भी देना चाहिये। हिंदुसमाज के पडोसी जो अन्य समाज हैं और जबतक "दूसरों की स्त्रियों को भ्रष्ट करने में स्वर्ग की प्राप्ति होती है" ऐसी जिनकी भावनाएं हैं तबतक उनके साथ कौनसा कैसा समय कब आजायेगा कह नहीं सकते। ऐसी स्थिति में स्त्रियों को पहले से ही सशस्त्र रखना उचित है। कभी घरके पुरुषवर्ग घर पर नहीं रहते। आपत्ति पहले से ही डंका बजाके नहीं आती। ऐसी अवस्था में स्त्रियों को असहाय न होना पडे ऐसा ही उपाय हिंदू समाज को करना उचित है। विशेष क्या। पुरुषों को सहायता देनेके लिये स्त्रियों को भी मर्द बनना चाहिये।

गांव गांव में छोटे बडे जितने भी अखाडे स्थापित होंगे उन सब की आज महान आवश्यकता है। बनेठी, लाठी, पटा के शिक्षण के साथ ही साथ मर्दाने खेलों स्पर्धा का भी प्रबन्ध होना चाहिये। पंद्रह वर्षसे बीस वर्ष तकके विद्यार्थियोंको प्रतिदिवस एकवार इन सबका अभ्यास अवश्य करना चाहिये तथा प्रत्येक मनुष्य को अपने बालकों को इन खेलों में भाग लेनेके लिये बाध्य करना चाहिये। बालकपन में लाड प्यार व अंधी माया, और प्रौढावस्थामें तरुणोंकी औदासीनता व गदहापचीसी की विशेषता से समाज के शारीरबल की हीन स्थिति होगई है। पाठशालाओं में अध्यापकों को घर में गृहपति व अन्य स्थानों में सद्गृहस्थों को नवयुवकों पर लक्ष्य रखकर ऐसा कार्य कराना चाहिये जिससे वे मर्द व जवान बने। प्रत्येक हिन्दू को "लडका पाठशाले जाता है कि नहीं, व्यायाम में भाग लेता है कि नहीं, मर्दपन का कुछ खेल खेलता है कि नहीं" इत्यादि बातों का ध्यान अवश्य रखना चाहिये। इतनाही नहीं कमसे कम घर पर ६० बार सूर्य को नमस्कार ही करवा लेना अत्यावश्यक है। यह एक घरेलू उत्तम व्यायाम है। इसको करने का प्रत्येक हिंदू को अधिकार है। क्यों कि सूर्य भगवान हिंदू मात्र के पूज्य देव हैं इसमें कुछ भी विवाद नहीं है। किसी उपाय किसी साधन द्वारा भारतवर्षकी भावी संतान का बल बढाना ही चाहिये। अनेक प्रकार के कष्टमय कार्य, बल बढाने की स्पर्धा विविध संस्थाएं, अनेक स्वयंसेवकदल, कवायत की पलटनें व सेवासमितियों की स्थापना तथा उन के बढाने की योजना करके हिन्दुसमाज की भावी पीढी जितनी बलवान हो सकती है उतनी बलिष्ठ बनानी चाहिये। "व्यायाम के लिये खूब भोजन तथा मांस भक्षण की ही अवश्यकता होती है" ऐसा कहना ठीक नहीं जान पडता। हिन्दूलोग जो तृणधान्य, द्विदल धान्य, शाक भाजी दूध दही, घी इत्यादि सब पुष्टिकारक पदार्थ खाते हैं, इस लिये इनमें बहुत पौष्टिक भाग है जोरदार बननेको मांसाहारकी आवश्यकता है ऐसा नहीं कह सकते। क्रूरता का भाव लाने के लिये मांस खानेकी आवश्यकता होती है इससे जो हिंदूजाति मांसाहारी है उन्हें मांसाहार करना जरुरी है। हिंदुसमाज शारीरिक बल की अपेक्षा मानसिक दुर्बलही में भी बढा चढा है इस कारण दूसरे प्रकरण में हम मानसिक दुर्बलता का विचार करेंगे।

पवित्र दृष्टि।

(ले० श्री. त्र्यं. ग. जावडेकर, धुळें)

स्त्रीणां प्रेक्षणालम्भम्।

ब्रह्मचारी का मतलब ही यह है वह स्त्रियों के प्रति आंख उठाकर भी न देखे। उसे अपनी दृष्टि पवित्र करनी चाहिए। इस पर आक्षेपक कहेंगे कि यह तो शास्त्रकारों का जुलम है। हम मानते हैं कि यह बात दिखने में जुलम जैसी दिखती है। परंतु यह दिखावट का जुलम अन्तर्याममें अत्यन्त कल्याण कारी है। प्रत्येक आनेजानेवाली या पास ही काम करनेवाली स्त्री के मुख की ओर हमेशा देखने की आदत हो जाय तो ऐसी आदत का परिणाम क्या होगा सो क्या विशेष स्पष्ट रीति से बिना बतलाए नही समझ में आ सकता? यदि सदैव स्त्रीमुख की ओर टकटकी लगाकर देखने की आदत पडजाय तो उसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि धीरे धीरे स्त्रीविषयक काम विचार मन में आने लगेंगे। यदि अनिष्ट विषय चिंतन आरंभ हो जाय तो उसी से अनर्थ की परंपरा शुरू हो जाती है। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बहुत ही अच्छी तरह बतला दिया है कि यह अनर्थ-परंपरा कैसे होती है।

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

" विषयों का चिंतन करनेवाले पुरुषका उस विषय का परिचय बढते जाता है। इस संग से आगे चलकर काम अर्थात् उस विषय को प्राप्त करने की वासना उत्पन्न होती है। (यह काम तृप्त होने में अडचन होते ही) इस काम से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से संमोह अर्थात् अविवेक होता है। संमोह से स्मृतिभ्रम, स्मृतिभ्रंशसे बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से पुरुष का सर्वस्व नष्ट हो जाता है।"

प्राचीन पद्धति के अनुसार अब विद्यार्थीयों का निवास अरण्य में गुरुगृह में नहीं होता परंतु वे शहरमें और कुटुंबमें रहते हैं। कोई कहेगा कि शहर में निवास है तो परस्त्री मुख अवश्य ही दिखेगा। पर शहरमें रहते भी जबतक हटात् स्त्री के मुख की ओर देखा न जाय उसका अवलोकन कैसे हो सकता है? प्रथम तो कारण न रहते अपन स्त्री की ओर देखना और फिर ऊपर जैसा आक्षेप करना। यह बात निरी धूर्तता है। आवश्यकता पडने पर यदि स्त्री के मुख की ओर देखा भी जाय तो उसी भावसे देखा जाय, जैसे अपन माता या बहन को देखते हैं। इस भाव से देखें तो देखने का दोष नहीं लगता। परस्त्री के प्रति विद्यार्थियों के भाव वैसे ही हों जैसे साधुवर्य तुकाराम के थे।

" परकिया नारी रखुमाई समान।
हें तों गेलें नेमून ठांईचेंची॥ "

"अर्थात् परस्त्री केवल मा या बहन के समान ही नही है वह साक्षात् श्री विष्णुकी पत्नी श्रीलक्ष्मी है।"

लोकमान्य तिलक गृहस्थ-धर्म का पालन करते हुए कई स्त्रियों की सहायता करते थे। उनका चाहे जो काम वे कर देते थे पर वे कभी भी उन स्त्रियों के मुख की ओर नही देखते थे। संकट के समय लोकमान्य तिलक से सलाह लेने के हेतु कई स्त्रियां उनके पास जाती थीं। वे घंटों तक उनसे बातचीत करते बैठती थीं। पर लोकमान्य एकबार भी सिर ऊंचा कर उन स्त्रियों के मुख की ओर न देखते थे। संपूर्ण श्रवण सिर झुकाए हुए करना, जो कुछ स-

लाइ देना है वह भी वैसे ही सिर झुकाए देना। इतना हो चुकने पर अधोवदन से ही वे उनसे पूछ ते कि काम हो गया या नहीं और काम की बातचीत खतम होने पर वे उन स्त्रियों को जाने को कहते। राजनैनिक विचारों के कारण लोकमान्य तिलक के कई शत्रु थे, किन्तु उनके चरित्र पर कोई दोष नहीं लगा सका। उन्होंने स्वयं अपना आचरण इतना शुद्ध और पवित्र रखा कि उसमें दोषों के लिए स्थान ही नथा। ऐसा निष्कलंक आचरण रखकर श्रेष्ठ पदवी को प्राप्त करना चाहिए। नेता कई हैं परंतु उनकी नीति की रीड Moral Back-bone टूटी रहती है। जिसे नीति की रीड नहीं वह कितना भी भारी विद्वान क्यों न हो उसका भारी प्रभाव नहीं पड सकता। विचार करने योग्य बात है लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी की ही धाक उन्हीं का प्रभाव सबसे अधिक रहा सो क्यों ? लोकमान्य और महात्माजी दोनों का आचरण और नीतिमत्ता अत्यंत अशंकनीय थी और है भी इसीसे वे अत्यंत प्रभावशाली हुए।

' बलशाली लक्ष्मण '

स्त्री की ओर देखने के बारे में श्रीरामचंद्रजी के भाई लक्ष्मण का नियम अत्यंत कडा था। जब रावण सीताजी को हरण कर ले गया तब राम और लक्ष्मण उसकी खोज करने चले। चलते चलते दोनों भाई सुग्रीव के पास पहुंचे। सुग्रीव कुछ गहने पाया था। वे उसने रामचंद्रजीको बतलाए और कहा कि देखिए क्या आप इन्हे पहचान सकते हैं ? क्या ये गहने सीताजी के ही हैं ? स्त्रीहरण हो जाने से रामचन्द्रजी दिमूढ से हो गये थे। अतएव उन्होंने लक्ष्मण से कहा कि इन गहनों को देखो और बतलाओ कि वे सीताजी के हैं वा नहीं। तब लक्ष्मण ने कहा—

भूषणे नैव जानामि नैव जानामि कुंडले।
नूपुराण्येव जानामि नित्यं पादाभिवंदनात्॥

" भाई साहब ! इनमें बाहु भूषण दिखते हैं उन्हे तो मैं नहीं पहिचान सकता, कर्ण कुंडल दिखते हैं उन्हे भी नही पहिचानता। परंतु नूपुरों को मैं अवश्य पहचानता हूं क्यों कि मैं प्रतिदिन माता सीताजी के पद वंदन करता था। इससे वे नूपुर मुझे रोज दिखाई देते थे। मैं यदि उनके मुखको ओर किसी भी समय देखता होता तभी तो मुझे अन्य आभूषण दिखाई देते। पर मै उनके मुख की ओर कभी भी नहीं देखता था। "

ऐसे कठिन व्रत से लक्ष्मण रहता था। इसीसे उसमें ब्रह्मचर्य का तेज झलकता था। रावण का पुत्र इंद्रजित् उर्फ मेघनाद भी बडा पराक्रमी था। उसने स्वर्ग में पहुंच कर साक्षात् इंद्र को कैद किया था। तब ब्रह्मदेव ने मेघनाद को समझा बुझाकर इंद्र को जैसेतैसे छुडाया था। रावण के पुत्र का सच्चा नाम मेघनाद था। पर इंद्र को जीत लेने के कारण उसे ' इंद्रजित्' नाम मिला था। ऐसे पराक्रमी को कौन जीत सकता था ? रामचंद्रजी से जब मेघनाद का हाल बतलाकर पूछा गया कि उसे कौन जीत सकेगा ? तब उन्होंने कहा " जिसने बारा वर्ष तक कठिन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन उचित रीति से किया है और इस समय जिसके मन में अपवित्र विचार तक नहीं आया वही इस काम को कर सकता है; अन्य कोई इसे नहीं कर सकता।" लक्ष्मण ऐसा ही था इसीसे वह मेघनाद से लड सका। तिसपर भी मेघनाद का वध करने में लक्ष्मण को भी एक नया उपाय ढूंडना पडा। विद्यार्थियों को इस कथा के पढने एवं मनन करने पर एक और बात पर ध्यान देना होगा। देव और दैत्यों की लडायां त्रिकाल से होती रही हैं। इनका बीज क्या है? इसका बीज यही है कि ब्रह्मचर्य का पालन करनेमें दैत्य देवों से भी बढकर थे। यही कारण है कि देवों की हारबार बार होती थी। और दैत्यों की जीत होती थी। तब देव दौड दौडकर शिवजी और श्रीविष्णुके पास जाते और रो रो कर अपना काम निकालते। उन्हे अपने पराक्रम से कोई भी कार्य में सफलता न हुई और न वे महान् संकटसे छुटकारा पा सके। जरा जरासी बात में भी दूसरों के मुंह की ओर दीनता से देखने की तथा दूसरों से सहायता की भिक्षांदेहि की नौबत देवों को ही क्यों आती थी? ऐसी दीन दशा दैत्यों की क्यों न होती थी? कारण यही था कि देव

जब देखो तब देवांगनाओं से क्रीडा करते रहते थे। उनका अधिकांश समय ऐष-आराम में बीतता था। तब उन में ब्रह्मचर्य का सच्चा तेज कहां से झलके? अब राक्षसों का हाल देखिए। उनका बर्ताव इसके विपरीत रहता था। वे ब्रह्मचर्य की महत्ता को पूर्णरीति से जानते थे। जब देखो तब रतिक्रीडा में लगे रह कर वे अपना वीर्यनाश न करते थे। वीर्यरक्षा से कैसा भारी लाभ है, दैत्योंने जैसे समझ लिया देवों ने वैसे न समझा था।

अब आलम्भ का विचार करें। शास्त्रकारों की केवल प्रेक्षण पर ही ऐसी कडी नजर है तब आलम्भ के बारे में क्या न होगा? आलम्भ का अर्थ है अंगस्पर्श। केवल बार बार देखने का परिणाम क्या होता है सो ऊपर बतलाया गया है। तब वारंवार स्त्रीहस्तस्पर्श अथवा अन्य-अंग-स्पर्श होता रहेगा तो वह मनमें कैसी भयानक खलबली मचा देगा? एकबार यदि मन में खलबली मचना आरंभ हो जाय तो भला कभी संभव हो सकता है कि विद्यार्थी का ब्रह्मचर्य यथार्थ रीति से निश्चल रहे? बिलकुल असंभव है। यःकश्चित वा क्षुद्र मालूम होने वाली बातों पर शास्त्रकारों की ऐसी कडी नजर क्यों रहती है और कैसी दूर तक का विचार करने से होती है अब पता चलेगा। हमारे शास्त्रकारोंने स्त्री विषयक ध्यान, स्पर्श, कथा, क्रीडा, दर्शन, आलिंगन, एकान्तवास और संग आदि सब मैथुन में शामिल किये हैं और उन्हे " अष्टांग मैथुन ' नाम दिया है। जैसे भगवान् ने बतलाया है कि मेरी प्रकृति अष्टधा है उसी प्रकार शास्त्रकारोंने मैथुन भी अष्टधा बतलाया है।

उपघातं परस्य च।

अब केवल " परोपघात " का ही विचार करना बाकी है। 'परोपघात' का अर्थ है दूसरों को दी हुई किसी भी प्रकार की पीडा है। यदि कोई व्यक्ति अपने को पोडा दे, दुःख दे, या कष्ट पहुंचावे, तो क्या अपने को अच्छा लगेगा? कदापि नहीं। तो फिर हम दूसरों को क्यों पीडा दें? यह सिद्धान्त विद्यार्थी दशा में पूर्णरीति से मन में जमजाना चाहिए। जिस बातसे, दूसरे हमारे संबंध में करने से हमें क्रोध आता है, कष्ट होता है या दुःख होता है, वही बात हम दूसरों के लिए क्यों करें? इसी को अंग्रेजी में Realization by Parallelism कहते हैं इसी को संस्कृत भाषा में " आत्मौपम्य तत्त्व " कहते है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुखं स योगी परमो मतः॥

"हे अर्जुन, जो मनुष्य सुख में वा दुःखमें सबको अपने समान समझता है वही बडा योगी है।"

आर्य चाणक्य ने अपने " राजनीति शास्त्र " में निम्न लिखित श्लोक दिया है, उस पर ध्यान देना आवश्यक है।

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवोपधारयेत्।
आत्मनः प्रतिकूलानि न परेषां समाचरेत्॥

" अपने लिये जो प्रतिकूल होता है वह दूसरे के लिये कभी करना नही चाहिये।"

आत्मौपम्य का उदात्त तत्त्व जितना बर्ताव में लाया जाय उतना कल्याण ही होगा। यह तत्त्व भिन्न भिन्न प्रकार से हृदय में जम जाय इस लिए निम्न लिखित वचन हम उधृत करते हैं:—

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥
यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः।
न तत्परेषु कुर्वीत जानन्न प्रियमात्मनः॥
यदन्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्म पौरुषम्।
अपत्रपेत वा येन न तत्कुर्यात् कथंचन॥

शांतिपर्व

" अठारह पुराणों का सार श्रीव्यासजी के दो वचन हैं, अर्थात् परोपकार ही पुण्य है और परपीडा ही पाप है।

दूसरे का किया हुआ जो काम हम पसंद नहीं करते वैसा ही काम हम दूसरे के लिए न करना चाहिए।

जिसके दूसरे की भलाई नहीं होती वह काम मत करो।

यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत्॥
रसज्ञः सर्वदुःखस्य यथात्मनि तथा परे ॥
अतो यदात्मनोऽपथ्यं परेषां न तदाचरेत् ॥

(याज्ञवल्क्य स्मृति)

मनुष्य जैसा अपने लिए सोचता है वैसे ही दूसरे के लिए भी सोचे क्यों कि जैसे सब दुःखोंको जाननेवाला हमारे हृदय में है वैसा ही दूसरे के हृदय में भी है। अतएव जो अपने लिए अहितकारी है वह काम दूसरे के लिए न करना चाहिए।

स्वराज की योग्यता

निम्न लिखित मन्त्र बतलाता है कि स्वराज मिलानेके लिए योग्य कौन हैं और अयोग्य कौन हैं-

आ यद्वामीयचक्षसा मित्र वयं च सूरयः।
व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये ॥

ऋग्वेद ५ । ६६ । ६

[हे ईयचक्षसौ! हे मित्र! यत् वां च सूरयः (सर्वे) वयं (मिलित्वा) व्यचिष्ठे बहुपाय्ये स्वराज्ये आयतेमहि।]

हे व्यापक दृष्टिसे युक्त, हे मित्र, आप और हम, जो कि विद्वान हैं, वे सब मिलकर विस्तृत एवं बहुतों ने मिलकर पालन किए हुए स्वराज्य में प्रयत्न करें।

इस मन्त्र में ' स्वराज ' शब्द के दो विशेषण हैं (१) व्यचिष्ट तथा (२) बहुपाय्य।

(१) व्यचिष्ट— इस शब्द का अर्थ है विस्तृत, व्यापक, फैला हुआ, विस्तीर्ण, विशाल।

(२) बहुपाय्य— इस शब्द का अर्थ है बहुतों द्वारा पालन किया हुआ। अर्थात् जिस राज का पालन बहुत लोग मिलकर करते हैं, जिसमें एक के ही मत को प्रधानता नहीं है किन्तु जिसका शासन अनेकों की सम्मति से होता है वही बहुपाय्य स्वराज है।

उपरोक्त मन्त्र का भाव यह है कि 'जिस स्वराज का पालन अनेकों की सम्मति से होता है और जो विस्तृत है उस में (वयं आयतेमहि) हम लोग अपनी उन्नति के लिए प्रयत्नों की पराकाष्ठा करें।'

उपरोक्त मन्त्र के ' बहुपाय्य ' शब्द से ही और भी एक प्रकारके राज का बोध होता है। वह है ' एक पाय्य ' राज। यद्यपि चारों वेदों में कहीं भी ' एक पाय्य ' शब्द नहीं है, तब भी ' बहु-पाय्य ' शब्द से ही अर्थापत्तीसे एकपाय्य राज की कल्पना होती है। एकपाय्य राज वह है जिसमें एक की-अकेले राजा की ही-मर्जी के अनुसार राज काज हो और ' बहुपाय्य स्वराज ' वह है जिसमें अनेकों की सम्मति से राज काज चलता हो।

वाचक एकपाय्य राज और बहुपाय्य स्वराजके अन्तर को समझ लें।

वेद में " राज्य ' शब्द कई बार आया है। किन्तु उसे कहीं भी ' बहुपाय्य ' विशेषण नहीं लगा। केवल'स्वराज्य' शब्द को ही उपरोक्त मन्त्र में 'बहुपाय्य'विशेषण लगा है। इससे यह स्पष्ट है कि वेदमें "राज्य" और ' स्वराज्य ' शब्दोंके अर्थ बिलकुल भिन्न हैं। यह भिन्न अर्थ दर्शाने के लिए ही विशेषण लगाकर" बहुपाय्य स्वराज्य " इस प्रकारका शब्द वेदमें आया है।

वेद की दृष्टी से शासन के दो प्रकार हैं-

(१) (एक-पाय्य) राज्य=जिसमें अकेलेके मत से राजकाज चले वह शासन।

(२) बहुपाय्य स्वराज्य = जिस में अनेकों की सम्मति से राजकाज चलता है वह शासन।

इन दो राज्यों का भेद पाठकों की समझ में आगया

होगा अब इसका विवरण अधिक करना आवश्यक नहीं; अब देखें राजकाज करनेवाले लोगोंके गुण कौन से और अवगुण कौन हैं। उपरोक्त मन्त्र में शासकों के लिए तीन शब्द आए हैं- (१) ईय-चक्षस्, (२) मित्र और (३) सूरि। इन तीन शब्दों का अर्थ मालूम हो जाने से हमें बहूपाय्य स्वराज के शासकों के गुण विदित होंगे।

(१) ईय-चक्षस्—व्यापक दृष्टि वाले, जिनकी दृष्टि व्यापक, विस्तृत हो, संकुचित न हो।

(२) मित्र-जो मित्र के समान व्यवहार करते हैं;हित करने वाले;सब की भलाई करनेवाले।

(३) सूरि-विद्वान; ज्ञानी; सुज्ञ।

बहूपाय्य स्वराज्यमें उन्हीं लोगोंको काम करना है जिनमें उपरोक्त तीन गुण हों। तब हम कह सकते हैं कि—

"व्यापक दृष्टिवाले, मित्रवत् लोगों की भलाई करने वाले तथा ज्ञानी लोगों को चाहिए कि वे अनेकों द्वारा पालन होनेवाले स्वराज्य में सम्पूर्ण जनता की उन्नति के लिए प्रयत्न करें।"

"हम लोगों को जो कि व्यापक दृष्टि से काम करनेवाले, सब लोगों से मित्रवत् बर्ताव करनेवाले तथा विद्वान हैं, बहुपाय्य स्वराज्य में उन्नति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।"

उपरोक्त मन्त्र के इस भावार्थ से हम सहज ही में अनुमान कर सकते हैं कि—

"संकुचित दृष्टिवाले, आपस में लडनेवाले तथा अज्ञानी लोग बहुपाय्य स्वराज में काम करही नहीं सकते।"

विशालदृष्टि कौनसी और संकुचित दृष्टि कौनसी? किसे मित्रवृत्ति कहेंगे और किसे शत्रुवृत्ति कहेंगे? ज्ञानी कौन है और अज्ञानी कौन? इन बातों का भी विचार करना होगा।

केवल अपनी ही भलाई सोचना, अपने सुख के लिए दूसरेका नाश करना, इसे संकुचित दृष्टि कहेंगे। इसके विरुद्ध जो दृष्टि सब लोगों के हितकी है, वह व्यापक या विशाल दृष्टि है।

किसी का भी द्वेष न कर सब से समबुद्धिसे तथा स्नेह भाव से बर्ताव करना ही मित्रवृत्ति है। इसके विपरीत दूसरों का द्वेष करना, आपस में लडना शत्रुवृत्ति है।

जिन्हे अपनी उन्नति का सच्चा मार्ग दिखता है वह ज्ञानी है और जिसे नहीं दिखता वह अज्ञानी है।

इससे पता चलेगा कि कौन स्वराजके लिए लायक है, कौन उसे प्राप्त कर सकता है और कौन प्राप्त स्वराज की रक्षा कर सकता है। इसी तरह यह भी विदित हो सकता है कि किस वृत्ति के लोग स्वराज के लिए नालायक हैं, किन लोगों को वह न मिलेगा और मिलने पर भी कौन उसकी रक्षा न कर सकेंगे।

देखने योग्य है कि स्वराजके लिए सनातन वैदिक धर्म क्या शिक्षा देता है।

जो लोग स्वराज के लिए तडप रहे है उन्हे (१) अपनी दृष्टि व्यापक करनी चाहिए, (२) मित्रवृत्ति बढानी चाहिए, और (३) इतना ज्ञान प्राप्त करना चाहिए जिससे अपनी उन्नति के मार्ग निश्चय से मालूम हो सकें। इतना होने से वे स्वराज प्राप्त कर सकेंगे और मिले हुए स्वराज की रक्षा कर सकेंगे तथा उसकी वृद्धि कर सकेंगे।

जब तक अपनी दृष्टि स्वजाति से आगे नहीं जाती, हम आपस में शत्रु वृत्ति से रहते हैं, स्वावलम्बन के सच्चे मार्ग बतलाए जाने पर भी समझ में नहीं आते और स्वीकृत नहीं किए जाते, तब तक स्वराज प्राप्ति का दिन निःसंदेह दूरही रहेगा।

यदि सचमुच स्वराज प्राप्ति की आतुरता हो,तो उसके लिए जो गुण आवश्यक हैं उनकी वृद्धि करने का प्रयत्न जोर से होना चाहिए।

कामाग्नि का शमन।

[२१]

(ऋषिः- वसिष्ठः । देवता-अग्निः)

ये अ॒ग्नयो॑ अ॒प्स्व१॒॑न्तर्ये वृ॒त्रे ये पुरु॑षे॒ ये अश्म॑सु ।
य आ॑वि॒वेशौष॑धी॒र्यो वन॒स्पतीं॒स्तेभ्यो॑ अ॒ग्निभ्यो॑ हु॒तम॑स्त्वे॒तत् ॥ १ ॥
यः सोमे॑ अ॒न्तर्यो गोष्व॒न्तर्य आवि॑ष्टो॒ वयः॑सु॒ यो मृ॒गेषु॑ ।
य आ॑वि॒वेश॑ द्वि॒पदो॒ यश्चतु॑ष्पद॒स्तेभ्यो॑ अ॒ग्निभ्यो॑ हु॒तम॑स्त्वे॒तत् ॥ २ ॥

अर्थ— (ये अग्नयः अप्सु अन्तः) जो अग्नियां जलके अन्दर हैं, (ये वृत्रे) जो मेघमें, और (ये पुरुषे) जो पुरुषमें हैं, तथा (ये अश्मसु) शिलाओंमें हैं,(यः ओषधीः यः च वनस्पतीन् आविवेश) जो औषधियोंमें और जो वनस्पतियोंमें प्रविष्ट हैं (तेभ्यः अग्निभ्यः एतत् हुतं अस्तु) उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥ १ ॥

(यः सोमे अन्तः, यः गोषु अन्तः) जो सोमके अन्दर, जो गौओंके अंदर, (यः वयःसु, यः मृगेषु आविष्टः) जो पक्षियोंमें और जो मृगोंमे प्रविष्ट है, (यः द्विपदः यः चतुष्पदः आविवेश) जो द्विपाद् और चतुष्पादोंमें प्रविष्ट हुआ है, (तेभ्यः अग्निभ्यः एतत् हुतं अस्तु) उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥ २ ॥

भावार्थ— जो अग्नि जल,मेघ, प्राणियों अथवा मनुष्यों, शिलाओं और औषधिवनस्पतियोंमें हैं उनकी प्रसन्नताके लिये यह हवन है ॥ १ ॥

जो अग्नि सोम, गौवों, पक्षियों,मृगादि पशुओं तथा द्विपाद चतुष्पादोंमें प्रविष्ट हुआ है उसके लिये यह हवन है ॥ २ ॥

य इन्द्रेण सरथं याति देवो वैश्वानर उत विश्वदाव्यः ।
यं जोहवीमि पृतनासु सासहिं तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ३ ॥
यो देवो विश्वाद् यमु काममाहुर्यं दातारं प्रतिगृह्णन्तमाहुः ।
यो धीरः शक्रः परिभूरदाभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ४ ॥
यं त्वा होतारं मनसाभि संविदुस्त्रयोदश भौवनाः पञ्च मानवाः ।
वर्चोधसे यशसे सूनृतावते तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ५ ॥

अर्थः—(विश्वदाव्यः उत वैश्वानरः) सबको जलानेवाला परंतु सबका चालक अथवा हितकारी (यः देवः इन्द्रेण सरथं याति) जो देव इन्द्रके साथ एक रथपर बैठकर चलता है (यं पृतनासु सासहिं जोहवीमि) जो युद्धमें विजय देनेवाला है इसलिये जिसकी मैं प्रार्थना करता हूं (तेभ्यः०) उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥ ३ ॥

(यः विश्वाद् देवः) जो विश्वका भक्षक देव है, (यं उ कामं आहुः) जिसको " काम " नामसे पुकारते हैं, (यं दातारं प्रतिगृह्णन्तं आहुः) जिसको देनेवाला और लेनेवाला भी कहा जाता है, (यः धीरः शक्रः परिभूः अदाभ्यः) जो बुद्धिमान, शक्तिमान, भ्रमण करनेवाला और न दबनेवाला कहते हैं (तेभ्यः०) उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥ ४ ॥

(त्रयोदश भौवनाः पञ्च मानवाः) त्रयोदश भुवन और पांच मनुष्य-जातियां (यं त्वा मनसा होतारं अभि संविदुः) जिस तुझको मनसे होता अर्थात् दाता मानते हैं, (वर्चोधसे) तेजस्वी (सूनृतावते) सत्य भाषी और (यशसे) यशस्वी तुझे और (तेभ्यः०) उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे॥५॥

भावार्थ- सबको जलाकर भस्म करनेवाला परंतु सबका संचालक जो यह देव इन्द्रके साथ रथपर बैठकर भ्रमण करता है, जो युद्धमें विजय प्राप्त करानेवाला है उस अग्निके लिये यह हवन है ॥ ३ ॥

जो अग्नि विश्वका भक्षक है और जिसको " काम " कहते हैं, जो देने-वाला और स्वीकारनेवाला है, और जो बुद्धिमान, समर्थ, सर्वत्र जानेवाला और न दबनेवाला है, उस अग्निके लिये यह हवन है ॥ ४ ॥

तेरह भुवनोंका प्रदेश और मनुष्यकी ब्राह्मण क्षत्रियादि पांच जातियां इसी अग्निको मनसे दाता मानती हैं, तेजस्वी, सत्यवाणीके प्रेरक, यशस्वी उस अग्निके लिये यह अर्पण है ॥ ५ ॥

उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे ।
वैश्वानरज्येष्ठेभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ६ ॥
दिवं पृथिवीमन्वन्तरिक्षं ये विद्युतमनुसंचरन्ति ।
ये दिक्ष्व१न्तर्ये वाते अन्तस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ७ ॥
हिरण्यपाणिं सवितारमिन्द्रं बृहस्पतिं वरुणं मित्रमग्निम् ।
विश्वान् देवानङ्गिरसो हवामह इमं क्रव्यादं शमयन्त्वग्निम् ॥ ८ ॥

अर्थ—(उक्षान्नाय वशान्नाय) जो बैलके लिये और गौके लिये अन्न होता है और (सोमपृष्ठाय) औषधियोंको पीठपर लेता है उस (वेधसे) ज्ञानीके लिये और (वैश्वानरज्येष्ठेभ्यः तेभ्यः०) सब मनुष्योंके हितकारी श्रेष्ठ उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥ ६ ॥

(ये दिवं अन्तरिक्षं अनु, विद्युतं अनु संचरन्ति) जो द्युलोक और अंतरिक्षके अन्दर और विद्युतके अंदरभी अनुकूलतासे संचार करते हैं, (ये दिक्षु अन्तः, ये वाते अन्तः) जो दिशाओंके अंदर और वायुके अंदर हैं तेभ्यः अग्निभ्यः) उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥ ७ ॥

(हिरण्यपाणिं सवितारं) सुवर्णभूषण हाथमें धारण करनेवाले सविता, इन्द्र, बृहस्पति, वरुण, मित्र, अग्नि, विश्वेदेव और आंगिरसोंकी (हवामहे) प्रार्थना करते हैं कि वे (इमं क्रव्यादं अग्निं शमयन्तु) इस मांसभोजी अग्निको शान्त करें ॥ ८ ॥

भावार्थ-जो बैलको और गौको अन्न देता है, जो पीठकर औषधियोंको लेता है, जो सबका धारक या उत्पादक है, उस सब मानवोंमें श्रेष्ठरूप अग्निके लिये यह अर्पण है ॥ ६ ॥

द्युलोक, अन्तरिक्ष, विद्युत, दिशाएं, वायु आदिमें जो रहता है उस अग्निके लिये यह अर्पण है ॥ ७ ॥

सविता, इन्द्र, बृहस्पति, वरुण, मित्र, अग्नि, और आंगिरस आदि सब देवोंकी हम प्रार्थना करते हैं कि वे सब देव इस मांसभक्षक अग्निको शान्त करें ॥ ८ ॥

शान्तो अग्निः क्रव्याच्छान्तः पुरुषरेषणः ।
अथो यो विश्वदाव्य१स्तं क्रव्यादमशीशमम् ॥ ९ ॥
ये पर्वताः सोमपृष्ठा आप उत्तानशीवरीः ।
वातः पर्जन्य आदग्निस्ते क्रव्यादमशीशमन् ॥ १० ॥

अर्थ- (क्रव्याद् अग्निः शान्तः) मांसभक्षक अग्नि शान्त हुआ,(पुरुषरेषणः शान्तः) मनुष्य हिंसक अग्नि शान्त हुआ (अथ यः विश्वदाव्यः) और जो सबको जलानेवाला अग्नि है (तं क्रव्यादं अशीशमम) उस मांसभक्षक अग्निको मैंने शान्त किया है ॥ ९ ॥

(ये सोमपृष्ठाः पर्वताः) जो वनस्पतियोंको पीठपर धारण करनेवाले पर्वत हैं, (उत्तानशीवरीः आपः) ऊपरको जानेवाले जो जल हैं, (वातः पर्जन्यः) वायु और पर्जन्य (आत् अग्निः) तथा जो अग्नि है (ते) वे सब (क्रव्यादं अशीशमम्) मांसभोजी अग्निको शान्त करते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ-यह मांसभोजी पुरुषनाशक और सब जगत् को जलानेवाला अग्नि शान्त हुआ है, मैंने इसको शान्त किया है ॥ ९ ॥

जहां सोमादि वनस्पतियां हैं ऐसे पर्वत, ऊपरकी गतिसे चलनेवाले जल प्रवाह, वायु और पर्जन्य तथा अग्नि ये सब देव मांस भक्षक अग्निको शांत करनेमें सहायता देते हैं ॥ १० ॥

कामाग्निका स्वरूप।

इस सूक्तमें कामाग्निको शान्त करनेका विधान है। कामको अग्निकी उपमा देकर अथवा अग्निके वर्णनके मिषसे कामको शान्त करनेका वर्णन इस सूक्तमें बडा ही मनोरंजक है। यह सूक्त "बृहच्छान्तिगण" में गिना है, सच मुच कामका शमन करना ही "बृहच्छान्ति" स्थापित करना है। यह सबसे बडा कठिन और कष्ट साध्य कार्य है। इस सूक्तमें जो अग्नि है वह 'क्रव्याद' अर्थात् कच्चा मांस खानेवाला है, साधारण लोग समझते हैं कि इस सूक्तमें मुर्दे जलानेवाले अग्निका वर्णन है, परंतु यह मत ठीक नहीं है। काम रूप अग्निका वर्णन इस सूक्तमें है और यही कामरूप अग्नि बडा मनुष्यभक्षक है। जितना अग्नि जलाता है उससे सहस्रगुणा यह काम जलाता है, यह बात पाठक विचारकी दृष्टिसे

देखेंगे तो जान सकते है। इसलिये इस सूक्तके अग्निका स्वरूप पहले हम निश्चित करते हैं। इसका स्वरूप बतानेवाले जो अनेक शब्द इस सूक्तमें हैं उनका विचार अब करते हैं-

१ यो देवो विश्वाद् यं उ कामं आहुः। (मं० ४)=जो अग्निदेव सब जगत्को जलानेवाला है और जिसको 'काम' कहते हैं।

इस मंत्र भागमें स्पष्ट कहा है कि इस सूक्तमें जो अग्नि है वह "काम" ही है। नाम निर्देश करनेके कारण इस विषयमें किसीको शंका करना भी अब उचित नहीं है। तथापि निश्चय की दृढता के लिये इस सूक्तके अन्य मंत्र भाग अब देखिये—

२ क्रव्याद् अग्निः। (मं० ९)=मांस भक्षक अग्नि।

३ पुरुषरेषणः अग्निः। (मं० ९)=पुरुषका नाशक (काम) अग्नि।

कामकी प्रबलतासे मनुष्यका शरीर सूख जाता है और इस कामके प्रकोपसे कितने मनुष्य सह परिवार नष्ट भ्रष्ट होगये हैं यह पाठक यहां विचारकी दृष्टिसे मनन करें, तो इन मंत्र भागों का गंभीर अर्थ ध्यानमें आसकता है। इस दृष्टीसे—

४ विश्वाद् अग्निः। (मं ४, ९)=विश्वका भक्षक (काम) अग्नि।

यह बिलकुल सत्य है। भगवद्गीतामें कामको "काम एष क्रोध एष रजोगुण-समुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्॥" (भ० गी० ३। ३७) यह काम बडा (महाशनः) खानेवाला है। "महाशन (महा-अशनः) और विश्वाद (विश्व-अद्)" ये दोनों एक ही भाव बतानेवाले शब्द हैं। सच मुच काम बडा खानेवाला है, इसकी कभी तृप्ति होती ही नहीं, कितना ही खानेको मिले यह सदा अतृप्त ही रहता है, इसका पेट सब जगत्को खाजानेसे भी भरता नहीं, इसी अर्थको बतानेवाला यह शब्द है-

५ विश्व-दाव्यः (मं० ३, ९) = सबको जलानेवाला (काम अग्नि)

यह काम सचमुच सबको जलानेवाला है, जब यह काम मनमें प्रबल होता है, तब यह अंदरसे जलाने लगता है। ब्रह्मचर्य धारण करनेवाला मनुष्य अंदरसे बढने लगता है और कामाग्निको अपने अंदर बढानेवाला मनुष्य अंदरसे जलने लगता है!! जिसका अंतःकरण ही जलता रहता है, उसके लिये मानो सब जगत् ही जलने लगता है। जिसके मनमें कामाग्निकी ज्वालाएं भडक उठती हैं, उसको न जल शांति दे सकता है, न चंद्रमाकी अमृत पूर्ण किरणें शांति दे सकती हैं, वह तो सदा अशांत और संतप्त होता जाता है ऐसी इस कामाग्निकी दाहकता है!! इसके सामने यह अग्नि क्या जला सकता है? कामाग्निकी दाहकता इतनी अधिक है, कि उसके सामने यह भौतिक अग्नि मानो

शान्त ही है और इसीलिये मंत्र आठमें " इस अग्निको कामाग्निकी शान्ति करनेको कहा है ! " यदि यह अग्नि कामाग्निसे शान्त न हो तो कामाग्निको शान्त कैसे कर सकता है ?

इस प्रकार इसका गुणवर्णन करनेवाले जो विशेषण इस सूक्तमें आये हैं, वे इसका स्वरूप निश्चित करनेमें बडे सहायक हैं। इनके मननसे निश्चय होता है, कि इस सूक्तमें वर्णित हुआ अग्नि साधारण भौतिक अग्नि नहीं है, प्रत्युत यह कामाग्नि है। भौतिक अग्निका वाचक अग्नि शब्द स्वतंत्र रीतिसे अष्टम मन्त्रमें आया है, इसका विचार करनेसे भी इस सूक्तमें वर्णित अग्निका स्वरूप निश्चित होजाता है।

काम और इच्छा।

" काम " शब्द जैसा काम विकार का वाचक है उसीप्रकार इच्छा, कामनाका भी वाचक है। वस्तुतः देखा जाय तो ये काम, कामना और इच्छा मूलतः एक ही शक्तिके वाचक हैं। भिन्न भिन्न इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध हो जानेसे एकही इच्छा शक्तिका रूप जैसा कामविकारमें प्रगट होता है और वैसाही अन्य इंद्रियोंके साथ सम्बन्ध होनेसे कामना के रूपमेंभी प्रगट होता है। परन्तु इनके अन्दर घुसकर देखा जाय तो " मुझे चाहिये" इस एक इच्छाके सिवाय दूसरा इसमें कुछभी नहीं है, अपने अन्दर कुछ न्यूनता है, उसकी पूर्ती के लिये बाहरसे किसी पदार्थकी प्राप्ति करना चाहिये, वह बाह्य पदार्थ प्राप्त होनेसे मैं पूर्ण हो जाऊंगा। इत्यादि प्रकार की इच्छाही " काम अथवा कामना " है। यही इच्छा सबको चला रही है, इस लिये इसको विश्वकी चालक शक्ति कहा है देखिये—

वैश्वानरः (विश्व—नेता)। (मं० ६)

" यह (विश्व-नर) विश्वका नेता अर्थात् विश्वका चालक (काम) है। विश्वको चलानेवाली यह इच्छाशक्ति है। यह कामशक्ति न हो तो संसारका चलना असम्भव है। पदार्थ मात्रमें--कमसे कम चेतन और अर्ध चेतन जगत्में- यह स्पष्ट दिखाई देती है। इस विषयमें प्रथम और द्वितीय मंत्र का कथन स्पष्ट है।

" **इस कामरूप अग्निके अनेक रूप हैं और वे जल, मेघ, पत्थर, औषधि वनस्पति, सोम, गौ, पक्षी, पशु, द्विपाद चतुष्पाद, मनुष्य आदि सबमें हैं।** " (मं. १, २) तथा " **पृथिवी, अन्तरिक्ष, विद्युत्, द्युलोक, दिशा, वायु, आदिमें भी हैं।** " (मं. ७)

इस मंत्रसे स्पष्ट होजाता है कि यह कामाग्नि पत्थर जल औषधियोंसे लेकर मनुष्यों

तक सब सृष्टिमें विद्यमान है। औषधियां बढनेकी इच्छा करती हैं, वृक्ष फलना चाहते हैं, पक्षी उडना चाहते हैं, मनुष्य जगत् को जीतना चाहता है इस प्रकार हरएक पदार्थ अपनी शक्तिको और अपने अधिकार क्षेत्रको फैलाना चाहता है। यही इच्छा है और यही काम है। यही जब जननेन्द्रियके साथ अपना संबंध जोडता है तब उसको कामविकार कहा जाता है, परंतु मूलतः यह शक्ति वही है, जो पहले इच्छाके नामसे प्रसिद्ध थी। यही स्वार्थकी कामना "गाय और बैलोंको पालती है और उनको खिलाती पिलाती है, औषधियोंकी पालना करती है।" (मं. ६)

कामकी दाहकता।

वस्तुतः भौतिक अग्नि जलाती है, ऐसा अनुभव हरएकको आता है, और काम या इच्छाकी वैसी दाहकता नहीं है ऐसा भी सब मानते हैं, परंतु साधारण इच्छा क्या, कामना क्या और कामविकार क्या इतने अधिक दाहक हैं, कि उनकी दाहकताके साथ अग्निकी दाहकता कुछभी नहीं है!!

राज्य बढानेकी इच्छा कई राज्यचालकोंमें बढ जानेके कारण पृथ्वीके ऊपरके कई राष्ट्रोंको पारतंत्र्यकी अग्नि जला रही है, इस स्वार्थकी इच्छाके कारण इतने भयंकर युद्ध हुए हैं और उनमें मनुष्य इतने अधिक मर चुके हैं कि उतने अग्निकी दाहकतासे निःसंदेह मरे नहीं हैं। इसीलिये इसको तृतीय मंत्रमें (पृतनासु सासहिं) अर्थात् युद्धमें विजयी कहा है। किसी भी पक्षकी जीत हुई तो इसीकी वह जीत होती है!!!

एक समाज दूसरी समाजको अपने स्वार्थके कारण दबा रहा है, ऊपर उठने नहीं देता है, दबी जातियोंसे जितना चाहे स्वार्थसाधन किया जा रहा है, यह एकही स्वार्थकी कामना का ही प्रताप है। धनी लोग निर्धनोंको दबा रहे हैं, अधिकारी वर्ग प्रजाको दबा रहा है, एक समर्थ राष्ट्र दूसरे निर्बल राष्ट्रको दबा देता है, इसी प्रकार एक भाई दूसरे भाईकी चीज छीनता है, ये सर्व कामके ही रूप हैं, जो मनुष्योंको अंदरही अंदरसे जला रहे हैं।

आंख सुंदर रूपकी कामना करता है, कान मधुरस्वरकी अभिलाषा करता है, जिव्हा मधुर रसोंकी इच्छुक है, इसी प्रकार अन्यान्य इंद्रियां अन्यान्य विषयोंको चाहती हैं। इनके कारण जगत्में जो विध्वंस और नाश हो रहे हैं, वे किसीसे छिपे नहीं है। इतनी विनाशक शक्ति इस भौतिक अग्निमें कहां है?

काम क्रोध लोभ मोह मद और मत्सर ये मनुष्यके छः शत्रु हैं, इन शत्रुओंमें सबसे

मुख्य शत्रु " काम " है, सबसे बढकर इसके अंदर विनाशकता है। यह प्रेमसे पास आता है, सुख देनेका प्रलोभन देता है और कुछ सुख पहुंचता भी है। परंतु अंदर अंदरसे ऐसा काटता है, कि कट जानेवालेको अपने कट जानेका पता तक नहीं लगता!!! इस कामविकाररूपी शत्रुकी विनाशकता सब शास्त्रोंमें प्रतिपादन की है। हरएक धर्म पुस्तक इससे बचनेका उपदेश कर रहा है।

जिस समय काम विकार की ज्वाला मनमें भडक उठती है, उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि खून उबल रहा है। खूनके उबलनेका भान स्पष्ट होता है, शरीर गर्म होजाता है, मस्तिष्क तपता है, अवयव शिथिल होजाते हैं, मस्तककी विचार शक्ति हट जाती है और एक ही काम मनमें राज करने लगता है। खूनको पीसता है, शक्तीको नष्ट करता है, वीर्यका नाश करता है और आयुका क्षय करता है। ये सब लक्षण इसकी दाहकताके हैं। इसकी यह विध्वंसक शक्ति देखकर पाठक ही विचार कर सकते हैं कि इसकी विनाशकता की अग्निके साथ क्या तुलना हो सकती है। इस लिये मंत्रमें कहा हुआ विशेषण (विश्व-दाव्यः) जगत् को जलानेवाला इसके अंदर बिलकुल सार्थ होजाता है !!

इस सबका विचार करके पाठक " कामकी दाहकता " जानें और इसकी दाहकतासे अपने आपको बचानेका उपाय करें।

न दबनेवाला।

चतुर्थ मंत्रमें इसके विशेषण " विश्वाद्, दाता, प्रतिगृह्णन्, धीरः, शक्रः, परिभूः, अदाभ्यः " आये हैं और इसीमें इसका नाम (यं कामं आहुः) " काम " करके कहा है। अर्थात् इसी कामाग्निके ये गुणबोधक विशेषण हैं। इसलिये इनके अर्थ देखिये—

" यह काम (विश्वाद्) जगत्को खानेवाला, (दाता) दान देनेवाला, (प्रतिगृह्णन्) आयुष्यादि लेनेवाला, (धीरः) धैर्य देनेवाला, (शक्रः) शक्तिशाली, (परिभूः) सबसे बढकर होनेवाला, (अदाभ्यः) न दबनेवाला है। (मं० ४) "

विचार करनेपर ये विशेषण काम के विषयमें बडे सार्थ हैं ऐसाही प्रतीत होगा। जिस समय मनमें काम उत्पन्न होता है उस समय बुद्धीको मलिन करता है, अपनी इच्छा तृप्त करनेके लिये आवश्यक धैर्य अथवा साहस उत्पन्न करता है, अन्य समय भीरु दिखाई देनेवाला मनुष्य भी कामविकार की लहरमें बडे साहसके कर्म करने लगता है,

जब यह मनमें बढता है तब सब अन्य भावनाओं को दबाकर अपना अधिकार सबपर जमादेता है, दबानेका यत्न करनेपर भी यह उछल कर अपना प्रभाव दिखाई देता है ! इस प्रकार पूर्वोक्त विशेषणोंका आशय यहां विचार करनेसे स्पष्ट हो सकेगा। इसके दाता और प्रतिग्रहीता (अथर्व ३।२९।७ में भी " कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता" कहा है) ये दो विशेषण भी विशेष मनन करने योग्य हैं। यह किंचित् सा सुख देता है और बहुत सा वीर्य हरण करता है, ये अर्थ पूर्वापर संगतिसे यहां अन्वर्थक दिखाई देते हैं। साधारण कामना के अर्थमें देने और लेनेवाला कामनासे ही प्रवृत्त होता है, इसलिये यह काम ही देनेवालेको दानमें और लेनेवालेको लेनेमें प्रवृत्त करता है, यह इस मंत्रका आशय भी स्पष्ट ही है।

पंचम मंत्रमें "त्रयोदश भुवनोंमें रहनेवाले पंचजन इसको मनसे मानते है, दाता करके पूजते हैं" ऐसा कहा है। संपूर्ण जनता काम की ही उपासना करती है यह बात इस मंत्रमें कही है। कई विरक्त संत महन्त इस कामको अपने आधीन करके परमात्मोपासक होते हैं, अन्य संसारी जन तो कामको ही अपने सर्वस्वका दाता मानते हैं। इस प्रकार इस काम ने ही सब जगत् पर अपना अधिकार जमाया है। जनता समझती है कि (वर्चः) तेज (यशः) यश और (सूनृतं) सत्य आदि सब कामके प्रभावसे ही सफल और सुफल होता है। सब लोग जो संसार में मग्न हैं, इसीकी प्रेरणासे चले हैं मानो इसीके वेगसे घूम रहे हैं। जो सत्पुरुष इसके वेगसे मुक्त होकर इस कामको जीत लेता है वही श्रेष्ठ होता हुआ मुक्तिका अधिकारी होता है, मानो इसके वेगसे छूट जाना ही मुक्ति है। परंतु कितने थोडे लोग इसके वेगसे अपने आपको मुक्त करते हैं? यही इस सूक्तके मननके समय विचार करने योग्य बात है।

इन्द्रका रथ।

तृतीय मंत्रमें कहा है कि "यह काम इन्द्रके रथपर बैठकर (इन्द्रेण सरथं याति) जाता है।" (मं.३) यह देखना चाहिये कि इन्द्रका रथ कौनसा है? "इन्द्र" नाम जीवात्माका है और उसका रथ यह शरीरही है। इस विषयमें उपनिषद्का वचन देखिये —

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ॥ कठ उ० ३।४

" आत्मा रथमें बैठनेवाला है, उसका रथ यह शरीर है और इंद्रियां उस रथके घोडे हैं, जो विषयोंमें घूमते हैं। " इस वर्णनसे इन्द्रके रथका पता लग सकता है। इस उपनिषद्वचनके " इन्द्रिय " पदका अर्थ " इन्द्रकी शक्ति " है। हमारे इन्द्रिय इन्द्रकी

शक्तियां ही हैं, यह देखनेसे आत्माही इन्द्र है इस विषयमें निश्चय हो सकता है।

इस इन्द्र अर्थात् आत्माके शरीर रूपी रथमें यह " काम " बैठता है यह विधान तृतीय मंत्रका है-

यः इन्द्रेण सरथं याति। (मं० ३)

" जो काम रूप अग्नि इन्द्रके रथपर बैठकर जाता है" इस वाक्यका अर्थ अब स्पष्ट हुआ ही होगा। पाठक जान सकते हैं कि इस शरीरमें जैसा जीवात्मा है अथवा इन्द्र है, उसी प्रकार काम भी है, दोनों इसको चलानेवाले हैं। स्थूल दृष्टिसे देखा जाय तो काम अर्थात् इच्छाही इसको चला रही है। इस प्रकार इस शरीरमें कामकी स्थिति है।

काम रूपी यह अग्नि प्राणियोंके शरीरमें जल रही है इसको अधिक प्रज्वलित करना उचित नहीं, प्रत्युत इसको जहांतक प्रयत्न हो सकता है, उतना प्रयत्न करके शांत करने काही उपाय करना चाहिये। इसको शांत करनेका उपाय अब देखिये-

काम शान्तिका उपाय।

नवम मंत्रमें इस कामाग्निके शान्त हो जानेका विधान है। देखिये वह मंत्र-

शान्तो अग्निः क्रव्याच्छान्तः पुरुषरेषणः।

अथो यो विश्वदाव्यस्तं क्रव्यादमशीशमम् ॥ (मं० ९)

" यह मांस भक्षक कामरूपी अग्नि शान्त हुआ, यह मनुष्यका नाशक कामरूपी अग्नि शान्त हुआ, जो यह सबको जलानेवाला कामाग्नि है उसको मैंने शान्त किया है। " इस मन्त्रमें इस कामाग्निको मैंने शांत किया ऐसा कहा है, इस विधानसे शान्त करनेका कुछ उपाय है यह निःसन्देह सिद्ध होता है। यदि एक मनुष्य इसको शान्त कर सकता है तो अन्य मनुष्यभी उसी मार्गसे जाकर अपने शरीरमें जलते रहनेवाले इस कामाग्निको शान्त कर सकते हैं। हरएकके शरीरमें यह कामाग्नि जलता है इस लिये हरएकको चाहिये कि यह प्रयत्न करके इसको शान्त करनेका पुरुषार्थ करें और आत्मिक शान्ति प्राप्त करें। इसको शान्त करनेका उपाय शेष रहे अष्टम मंत्रके भागमें और नवम मन्त्रमें कहा है-

" हिरण्यपाणि सविता, इन्द्र, बृहस्पति, वरुण, मित्र, अग्नि, विश्वेदेव, आङ्गिरस, इनका हम यजन करते हैं, ये इस मांस भक्षक कामाग्निको शांत करें " ॥ (मं० ८)

" सोमवल्ली जिनपर उगती है वे पर्वत, ऊपर गमन करनेवाले जल, वायु, पर्जन्य और अग्नि ये इस मांस भक्षक कामाग्निको शान्त करें॥ (मं०१०)"

इन दो मंत्रोंमें जो मार्ग कहा है वह कामाग्नि शान्त करने वाला है। ये मन्त्र उपाय-कथन करनेके कारण अत्यन्त महत्त्वके हैं और इनका इसी कारण अधिक मनन करना चाहिये । इन दो मन्त्रोंमें जो उपाय कहे हैं, उनका क्रम पूर्वक चिन्तन अब कहते हैं-

१ **सोमपृष्ठाः पर्वताः**— जिन पर्वतोंपर सोमवल्ली अथवा अन्यान्य औषधियां उगती हैं वे पर्वत कामाग्नि शान्त करनेमें सहायक होते हैं । इसमें पहली बात तो उन पर्वतोंका शान्त जलवायु कामको भडकने नहीं देता है । शीत प्रदेशकी अपेक्षा उष्ण प्रदेशमें कामाग्निकी ज्वाला शीघ्र और अधिक भडक उठती है । उष्ण देशके लोग भी इसी कारण छोटी आयुमें कामाग्निसे उद्दीपित होते हैं । इस विषयमें दूसरी बात यह है कि सोम आदि शीतवीर्यवाली औषधियां सेवन करनेसे भी कामाग्निकी ज्वाला शान्त होती है । सोमवल्ली उगने वाले पर्वतशिखर हिमालयमे हैं, वहां ही दिव्य औष-धियां होती हैं । योगी लोग उनका सेवन करके स्थिरवीर्य और दीर्घजीवी होते हैं । तीसरी बात इसमें यह है कि ऐसी पहाडियोंमें प्रलोभन कम होते हैं, शहरों जैसे अत्य-धिक नहीं होते, इस लिये भी कामकी उत्तेजना शहरों जैसी यहां नहीं होती है । इत्यादि अनेक उपाय इन पहाडोंके साथ सम्बन्ध रखते हैं । (मं० १०)

२ **उत्तानशीवरीः आपः**— जल भी कामाग्निका शमन करनेवाला है। शीत जलका स्नान, जलाशयोंमें तैरनेसे शरीरमें समशीतोष्णता होती है जिससे कामकी उष्णता दूर होती है, शीत जलसे मध्य शरीरका स्नान करना, जिसको कटिस्नान कहते हैं, ब्रह्मचर्य साधनके लिये बडा लाभ दायक है। गुप्त इन्द्रियके आसपासका प्रदेश रात्रीके समय, या जिस समय कामका उद्रेक होजावे उस समय धो देनेसे ब्रह्मचर्य सा-धनमें बडी सहायता होती है । इस प्रकार विविध रीतिसे जलकी सहायता कामाग्निकी शान्ति करनेके कार्य में होती है । (मं० १०)

३ **पर्जन्यः**— मेघ अर्थात् वृष्टिका जल इस विषयमें लाभकारी है। वृष्टि होते समय उसमें खडा होकर उस आकाश गंगाके जलसे स्नान करनाभी बडा उत्तम है। इससे शरीरकी उष्णता सम होजाती है । इसके अतिरिक्त वृष्टिजल पीनेसे भी शरीरके अंदर के दोष हट जाते हैं। और कामकी शान्ति होनेमें सहायता होती है। (मं० १०)

४ **अग्निः**- आग, अग्नि यह वस्तुतः शरीरको अधिक उष्ण बनानेवाला है। जो कोमल प्रकृतिके मनुष्य होते हैं यदि उनको अग्निके साथ कार्य करनेका अवसर हुआ तो उनके शरीरकी उष्णता बढनेसे उनका शरीर अधिक गर्म होजाता है और उसके कारण उनको वीर्यदोषकी बाधा हो जाती है। इसलिये इस प्रकारकी अत्यधिक कोमलता

शरीरसे हटानी चाहिये। अग्नि प्रयोगसे ही यह हट सकती है। होम हवन करते समय शरीरको अग्निका उत्ताप लगता है, अन्य प्रकारसे भी शरीरको अग्निकी उष्णता से परिचित रखना चाहिये, जिससे किसी समय आगके साथ काम करना पड़े, तो उस उष्णताको शरीर सह सकेगा। अग्निकी उष्णताका हानिकारक परिणाम शरीरपर न होनेके लिये इस प्रकार शरीरको सहनशक्तिसे युक्त बनाना चाहिये। (मं० १०)

५ वातः— वायु भी इस विषयमें लाभ दायक है। शुद्ध वायु सेवन, तथा शुद्ध वायुमें भ्रमण करनेसे बडे लाभ हैं। प्राणायाम करना भी वायुसेवनकी एक लाभप्रद रीति है। प्राणायाम करनेसे वीर्यदोष दूर होते हैं। प्राणायामके अभ्याससे मनुष्य स्थिर वीर्य हो जाता है। इसकारण वायुको कामाग्निका शान्त करनेवाला कहा है। जो जगत् में वायु है वही शरीरमें प्राण है। (मं० १०)

६ सविता— सूर्यभी इस विषयमें बडा सहायक है। जो बात अग्निके विषयमें कही है, वही सूर्यके विषयमें भी सत्य है। कोमल प्रकृतिवाले मनुष्य सूर्य प्रकाशमें घूमने फिरनेसे वीर्यदोषी होजाते हैं,यह इस कारण होता है कि सूर्य प्रकाश सहन करनेकी शक्ति उनमें नहीं होती। वस्तुतः सूर्यका प्रकाश शरीर स्वास्थ्यके लिये बडा लाभकारी है। सूर्य प्रकाशमें बडा जीवन है। थोडा थोडा सूर्य प्रकाशसे अपने शरीरको तपाते जानेसे शरीरकी सहन शक्ति बढती है और शरीरमें अद्भुत जीवन रस संचारने लगता है,आरोग्य बढ जाता है और थोडीसी उष्णतासे कामकी उत्तेजना शरीरमें होनेकी संभावना कम होती है। इस प्रकारकी सहनशक्ति बढानेका प्रयत्न करना हो तो प्रथम प्रातःकालके कोमल सूर्यप्रकाशमें भ्रमण करना चाहिये और पश्चात् कठोर प्रकाशमें करना चाहिये। यह सूर्यातपस्नान बडाही लाभदायक है। मंत्रमें "हिरण्यपाणिः सविता" ये शब्द नऊ बजेतकके सूर्यकेही वाचक हैं, सोनेके रंगके समान रंगवाले किरणोंवाला सूर्य प्रातः और सायंही होता है। (मं० ८)

७ वरुणः— वरुणका स्थान समुद्र है। इसलिये समुद्रस्नान इस विषयमें लाभ कारी है ऐसा हम यहां समझ सकते हैं। इस में जल प्रयोग भी आसकता है। (मं० ८)

८ मित्रः— सूर्य, इस विषयमें पूर्व स्थलमें कहा ही है। यदि "हिरण्यपाणि सविता" पूर्वाह्नका है तो उसके बादके सूर्यका नाम मित्र है। पूर्वोक्त प्रकार यह भी लाभ दायक है। मित्रकी प्रेम दृष्टिका उदय होनेसे भी अर्थात् जगत् की ओर प्रेम पूर्ण मित्र दृष्टिसे देखनेसे भी बडा लाभ होना संभव है। (मं० ८)

९ विश्वे देवाः— अन्यान्य देवताओंके विषयमें भी इसी प्रकार विचार करके जानना चाहिये और उनसे अपना लाभ करना चाहिये। इस विषयमें बडा विचार करना योग्य है।

१० बृहस्पतिः- यह ज्ञानकी देवता है। ज्ञानसे भी कामाग्निकी शांति साधन करनेमें सहायता हो सकती है। बृहस्पति नाम " गुरु " का है। गुरुसे ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञानके बलसे अपनेको बचाना चाहिये अर्थात् कामाग्निका संयम करना चाहिये। यहां जो ज्ञान आवश्यक है वह शरीर शास्त्र, मानस शास्त्र, अध्यात्म शास्त्र इत्यादिका ज्ञान है। साथ ही साथ भक्तिमार्ग ज्ञानमार्ग आदिका भी ज्ञान होना चाहिये। (मं० ८)

११ अङ्गिरसः- अंगरसकी विद्या जाननेवाले ऋषि। शरीरमें सर्वत्र संचार करनेवाला एक प्रकारका जीवन रस है, उसकी विद्या जो जानते हैं, उनसे यह विद्या प्राप्त करके उस विद्या द्वारा कामाग्निका शमन करना चाहिये। योग साधनमें इस विषयके अनेक उपाय कहे हैं, उनका भी यहां अनुसंधान करना चाहिये। (मं० ८)

१२ इन्द्रः—इन्द्र नाम जीवात्मा, राजा और परमात्माका है। इन तीनोंका कामाग्निकी शान्ति करनेमें बडा संबंध है। जीवात्माका आत्मिक बल बढाकर शुभसं-कल्पोंके द्वारा अपने अंदरके काम विकार का संयम करना चाहिये। राजा को चाहिये कि वह अपने राज्यमें ब्रह्मचर्य और संयमका वायुमंडल बढाकर कामाग्निकी शान्ति करनेकी सबके लिये सुगमता करे। राष्ट्रमें अध्यापकवर्ग और संरक्षक अधिकारी वर्ग ब्रह्मचारी रखकर राज्य चलानेका उपदेश अथर्ववेदके ब्रह्मचर्य सूक्त [अथर्व १०।५ (७) १६] में कहा है। वह यहां अवश्य देखने योग्य है। इससे राजाके कर्तव्यका पता लग सकता है। यदि राज्यमें अध्यापक गण पूर्ण ब्रह्मचारी हों और राज्य शासनके अन्य ओहदेदार भी उत्तम ब्रह्मचारी हों तो उस राज्यका वायुमंडल ही ब्रह्मचर्यके लिये अनुकूल होगा और ऐसे राज्यमें रहने वाले लोगोंका ब्रह्मचर्य रहना, संयम होना अथवा कामाग्निका शमन होना निःसन्देह सुसाध्य होगा। धन्य है ऐसे वैदिक राज्यकी कि जहां सब अधिकारी वर्ग और अध्यापक वर्ग ब्रह्मचारी होते हों॥ वैदिक धर्मियोंको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि ऐसे राज्य इस भूगोलपर स्थापित हों और सर्वत्र ब्रह्मचर्यका वायुमंडल फैले। इसके नंतर इन्द्र शब्दका तीसरा अर्थ परमात्मा है। यह परमात्मा तो पूर्णब्रह्मचर्यका परम आदर्श है, इसकी भक्ति और उपासनासे कामाग्निका शमन होता ही है। सब ऋषिमुनि और योगी इसी परमात्म भक्तिकी साधनासे मनः संयम द्वारा कामाग्निका शमन करके अमर होगये।

इस प्रकार उपायका वर्णन इस सूक्तमें किया है। यह सूक्त अत्यन्त महत्त्वका है। इसका पाठ "बृहच्छान्तिगण" में किया है। सचमुच यह सूक्त बृहती शांति करनेवाला ही है। जो पाठक इसके अनुष्ठानमें इस शांतिकी साधना करेंगे वेही धन्य होंगे।

वर्चःप्राप्ति सूक्त।

[२२]

(ऋषिः वसिष्ठः । देवता--वर्चः, बृहस्पतिः, विश्वेदेवाः)

हस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद् यशो अदित्या यत् तन्वः संबभूव ।
तत् सर्वे समदुर्मह्यमेतद् विश्वे देवा अदितिः सजोषाः ॥ १ ॥
मित्रश्च वरुणश्चेन्द्रो रुद्रश्च चेततु । देवासो विश्वधायसस्ते माञ्जन्तु वर्चसा ॥२॥
येन हस्ती वर्चसा संबभूव येन राजा मनुष्येष्वप्स्वन्तः ।
येन देवा देवतामग्र आयन् तेन मामद्य वर्चसाग्ने वर्चस्विनं कृणु ॥ ३ ॥

अर्थ— (यत् अदित्याः तन्वः) जो अदितिके शरीरसे (संबभूव) उत्पन्न हुआ है वह (हस्तिवर्चसं बृहत् यशः) हाथीके बलके समान बडा यश (प्रथतां) फैले। (तत् एतत्) वह यह यश (सर्वे सजोषाः विश्वे देवाः अदितिः) सब एक मनवाले देव और अदिति (मह्यं सं अदुः) मुझे देते हैं ॥ १ ॥

(मित्रः च वरुणः च इन्द्रः च रुद्रः च) मित्र, वरुण, इन्द्र और रुद्र (चेततु) उत्साह देवें। (ते विश्वधायसः देवाः) वे विश्वके धारक देव (वर्चसा मा अञ्जन्तु) तेजसे मुझे युक्त करें ॥ २ ॥

(येन वर्चसा हस्ती संबभूव) जिस तेजसे हाथी उत्पन्न हुआ है, और (येन मनुष्येषु अप्सु च अन्तः राजा सं बभूव) जिस तेजसे मनुष्योंमें और जलोंके अन्दर राजा हुआ है, और (येन देवाः अग्रे देवतां आयन्) जिस तेजसे, देवोंने पहले देवत्व प्राप्त किया, (तेन वर्चसा) उस तेजसे, हे अग्ने ! (मां अद्य वर्चस्विनं कृणु) मुझे आज तेजस्वी कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— जो मूल प्रकृतिके अंदर बल है, जो हाथी आदि पशुओंमें आता है, वह बल मुझमें आवे, सब देव एक मतसे मुझे बल देवें ॥ १ ॥

मित्र वरुण इन्द्र और रुद्र ये विश्वके धारक देव मुझे उत्साह देवें,ज्ञान देवें और मुझे तेजसे युक्त करें ॥ २ ॥

जिस बलसे हाथी सब पशुओंमें बलवान् हुआ है, जिस बलसे मनुष्यों-के अंदर राजा बलवान् होता है और भूमि तथा जल पर भी अपना शासन करता है, जिस बलसे पहले देवोंने देवत्व प्राप्त कियाथा, हे तेजके देव ! वह बल आज मुझे प्राप्त होवे ॥ ३ ॥

यत् ते वर्चो जातवेदो बृहद् भवत्याहुतेः ।
यावत् सूर्यस्य वर्च आसुरस्य च हस्तिनः ।
तावन्मे अश्विना वर्च आ धत्तां पुष्करस्रजा ॥ ४ ॥
यावच्चतस्रः प्रदिशश्चक्षुर्यावत् समश्नुते ।
तावत् समैत्विन्द्रियं मयि तद्धस्तिवर्चसम् ॥ ५ ॥
हस्ती मृगाणां सुषदामतिष्ठावान् बभूव हि ।
तस्य भगेन वर्चसाभि षिञ्चामि मामहम् ॥ ६ ॥

अर्थ- हे (जातवेदः) जातवेद ! (ते यत् वर्चः आहुतेः बृहत् भवति) तेरा जो तेज आहुतियोंसे बडा होता है (यावत् सूर्यस्य, आसुरस्य हस्तिनः च वर्चः) और जितना सूर्यका और आसुरी हाथी[मेघ]का बल और तेज होता है, हे (पुष्करस्रजौ अश्विनौ) पुष्पमाला धारण करनेवाले अश्वि देवो ! (तावत् वर्चः मे आधत्तां) उतना तेज मेरे लिये धारण कीजिये ॥ ४ ॥

यावत्(चतस्रः प्रदिशः)जितनी दूर चारों दिशायें हैं,(यावत् चक्षुः समश्नुते) जितनी दूर दृष्टि फैलती है, (तावत् मयि तत् हस्तिवर्चसं इन्द्रियं) उतना मुझमें वह हाथीके समान इंद्रियोंका बल (सं एतु) इकट्ठा होकर मिले ॥ ५ ॥

(हि सुषदां मृगाणां) जैसा अच्छे बैठनेवाले पशुओंमें (हस्ती अतिष्ठावान् बभूव) हाथी बडा प्रतिष्ठावान् हुआ है, (तस्य भगेन वर्चसा) उसके ऐश्वर्य और तेजके साथ (अहं मां अभिषिञ्चामि) मैं अपने आपको अभिषिक्त करता हूं ॥ ६ ॥

भावार्थ- हे बने हुएको जाननेवाले देव! जो तेज अग्निमें आहुतियां देनेसे बढता है, जो तेज सूर्यमें है, जो असुरोंमें तथा हाथीमें या मेघोंमें है, हे अश्विदेवो ! वह तेज मुझे दीजिये ॥ ४ ॥

चार दिशाएं जितनी दूर फैली हैं, जितनी दूर मेरी दृष्टि जाती है, उतनी दूरतक मेरे सामर्थ्यका प्रभाव फैले ॥ ५ ॥

जैसा हाथी पशुओंमें बडा बलवान् है, वैसा बल और ऐश्वर्य मैं प्राप्त करता हूं ॥ ६ ॥

शाकभोजनसे बल बढाना।

शरीरका बल, तेज, आरोग्य, वीर्य आदि बढानेके संबंधका उपदेश करनेवाला यह सूक्त है। प्राणियोंमें हाथीका शरीर (हस्तिवर्चसं। मं० १) बडा मोटा और बलवान् भी होता है। हाथी शाकाहारी प्राणी है, इसीका आदर्श वेदने यहां लिया है; सिंह और व्याघ्रका आदर्श लिया नहीं। इससे सूचित होता है कि मनुष्य शाक भोजी रहता हुआ अपना बल बढावे और बलवान् बने। वेदकी शाकाहार करनेके विषयकी आज्ञा इस सूक्त द्वारा अप्रत्यक्षतासे व्यक्त हो रही है, यह बात पाठक यहां स्मरण रखें।

बल प्राप्तिकी रीति।

" अदिति " प्रकृतिका नाम है, उस मूल प्रकृतिमें बहुत बल है, इस बलके कारण ही प्रकृतिको " अदिति " अर्थात् " अ-दीन " कहते हैं। इस प्रकृतिके ही पुत्र सूर्य चंद्रादि देव हैं, इसी लिये इस प्रकृतिको देव माता, सूर्यादि देवोंकी माता, कहा जाता है। मूल प्रकृतिका ही बल विविध देवोंमें विविध रीतिसे प्रकट हुआ है, सूर्यमें तेज, वायुमें जीवन, जलमें शीतता आदि गुण इस देवोंकी अदिति मातासे इनमें आगये हैं। इस लिये प्रथम मंत्रमें कहा है कि " इन सब देवोंसे प्रकृतिका अमर्याद बल मुझे प्राप्त हो। (मं० १)" सच मुच मनुष्यको जो बल प्राप्त होता है वह पृथ्वी आप तेज वायु आदि देवोंकी सहायतासे ही प्राप्त होता है, किसी अन्य रीतिसे नहीं होता है। यह बल प्राप्त करनेकी रीति है। इन देवोंके साथ अपना संबंध करनेसे अपने शरीरका बल बढने लगता है। जलमें तैरने, वायुमें भ्रमण करने अथवा खेलकूद करने, धूपसे शरीरको तपाने अर्थात् शरीरकी चमडीके साथ इन देवोंका सम्बन्ध करनेसे शरीरका बल बढता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि तंग मकान में अपने आपको बन्द रखनेसे बल घटता है।

द्वितीय मंत्र कहता है कि " (मित्र) सूर्य, (वरुणः) जलदेव (इन्द्रः) विद्युत् (रुद्रः) अग्नि अथवा वायु ये विश्वधारक देव मेरी शक्ति बढावें। " (मं० २) यदि इनके जीवन रसपूर्ण अमृत प्रवाहोंसे अपना संबंधही टूट गया तो ये देव हमारी शक्ति कैसी बढावेंगे? इस लिये बल बढानेवालोंको उचित है कि वे अपने शरीरकी चमडीका संबंध इन देवोंके अमृत प्रवाहोंके साथ योग्य प्रमाणसे होने दें। ऐसा करनेसे इनके अंदरका अमृत रस शरीरमें प्रविष्ट होगा और बल बढेगा।

अन्य मंत्रोंका आशय स्पष्टही है। मरियल और बलवान होनेका मुख्य कारण यहां इस सूक्तने स्पष्ट कर दिया है। जो पाठक इस सूक्तके उपदेशके अनुसार आचरण करेंगे वे निःसंदेह बल, वीर्य, दीर्घायु और आरोग्य प्राप्त करेंगे।

वीर पुत्रकी उत्पत्ति ।

[२३]

(ऋषिः— ब्रह्मा । देवता—चन्द्रमाः, योनिः)

येनं वेहद् बभूविंथ नाशयांमसि तत्त्वत् ।
इदं तदन्यत्र त्वदप दूरे नि दध्मसि ॥ १ ॥
आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान् बाणं इवेषुधिम् ।
आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दर्शमास्यः ॥ २ ॥
पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम् ।
भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयांश्च यान् ॥ ३ ॥

अर्थ- (येन वेहत् बभूविथ) जिस कारणसे तू वन्ध्या हुई है, (तत् त्वत् नाशयामसि) वह कारण तुझसे हम दूर करते हैं। (तत् इदं) वह यह वंध्यापन (अन्यत्र त्वत् दूरे) दूसरी जगह तेरेसे दूर (अप नि दध्मसि) हम लेजाते हैं ॥ १ ॥

(पुमान् गर्भः ते योनिं आ एतु) पुरुष गर्भ तेरे गर्भाशयमें आजावे, (बाणः इषुधिं इव) जैसा बाण तूणीरमें होता है। (अत्र ते) यहां तेरा (दशमास्यः वीरः पुत्रः आजायतां) दस महिने गर्भमें रहकर वीर पुत्र उत्पन्न हो ॥ २ ॥

(पुमांसं पुत्रं जनय) पुरुष संतान उत्पन्न कर, (तं अनु पुमान् जायतां) उसके पीछे भी पुत्रही उत्पन्न होवे। इस प्रकार तू (पुत्राणां माता भवासि) पुत्रोंकी माता हो, (जातानां यान् च जनयाः) जो पुत्र जनमे हैं और जिनको तू इसके बाद उत्पन्न करेगी ॥ ३ ॥

भावार्थ- हे स्त्री ! जिस दोषके कारण तुम्हारे गर्भाशयमें गर्भधारणा नहीं होती है और तू वन्ध्या बनी है, वह दोष मैं तेरे गर्भसे दूर करता हूं और पूर्ण रीतिसे वह दोष तुझसे दूर करता हूं ॥ १ ॥

तेरे गर्भाशयमें पुरुष गर्भ उत्पन्न हो, वह गर्भ वहां दस मास तक अच्छी प्रकार पुष्ट होता हुआ उससे उत्तम वीर पुत्र तुझे उत्पन्न होवे॥२॥

पुरुष संतान उत्पन्न कर। उसके पीछे दूसरा भी पुत्र ही होवे। इस प्रकार तू अनेक पुत्रोंकी माता हो ॥ ३ ॥

यानि भद्राणि बीजान्यृषभा जनयन्ति च ।
तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसूर्धेनुका भव ॥ ४ ॥
कृणोमि ते प्राजापत्यमा योनिं गर्भ एतु ते ।
विन्दस्व त्वं पुत्रं नारि यस्तुभ्यं शमसच्छमु तस्मै त्वं भव ॥ ५ ॥
यासां द्यौः पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव ।
तास्त्वा पुत्रविद्याय दैवीः प्रावन्त्वोषधयः ॥ ६ ॥

अर्थ— (यानि च भद्राणि बीजानि) जो कल्याण कारक बीज हैं जिनको (ऋषभाः जनयन्ति) ऋषभक वनस्पतियां उत्पन्न करती हैं, (तैः त्वं पुत्रं विन्दस्व) उनसे तू पुत्रको प्राप्त कर। (सा प्रसूः) वैसी प्रसूत होनेवाली तू (धेनुका भव) गौके समान उत्तम माता हो ॥ ४ ॥

(ते प्राजापत्यं कृणोमि) तेरे लिये प्रजा होनेका संस्कार मैं करता हूं। (गर्भः ते योनिं एतु) गर्भ तेरी योनिमें आवे। हे (नारि) स्त्री! (त्वं पुत्रं विन्दस्व) तू पुत्रको प्राप्त कर। (यः तुभ्यं शं असत्) जो तेरे लिये कल्याणकारी होवे और (च त्वं उ तस्मै शं भव) तूं निश्चयसे उसके लिये कल्याणकारिणी हो ॥ ५ ॥

(यासां वीरुधां) जिन औषधियोंकी (द्यौः पिता) द्युलोक पिता है, (पृथिवी माता) पृथ्वी माता है, और (समुद्रः मूलं) समुद्र मूल (बभूव) हुआ है। (ताः दैवीः ओषधयः) वे दिव्य औषधियां (त्वा पुत्रविद्याय) तुझे पुत्र प्राप्त करनेके लिये (प्र अवन्तु) विशेष रक्षण करें ॥ ६ ॥

भावार्थ—ऋषभक आदि औषधियोंके जो उत्तम बीज होते हैं, उनका सेवन पुत्र प्राप्तिके लिये तू कर। और उत्तम वीर पुत्रोंको उत्पन्न कर ॥ ४ ॥

प्रजा उत्पन्न होनेका प्राजापत्य संस्कार मैं तुझपर करता हूं, उससे तेरे गर्भाशयमें पुरुष गर्भ उत्पन्न होवे और तू पुत्र संतानको उत्पन्न कर। वह पुत्र तेरा कल्याण करे और तू उसका कल्याण कर ॥ ५ ॥

जो औषधियां पृथ्वीपर उत्पन्न होती हैं, जिनका पालन दिव्य शक्तिसे होता है और जो समुद्रसे उत्पन्न हुई हैं, उन दिव्य औषधियोंका सेवन पुत्र प्राप्तिके लिये तू कर, उससे तुम्हारे गर्भाशयका दोष दूर होगा और तुझे उत्तम संतान उत्पन्न होगा ॥ ६ ॥

वीर पुत्रका प्रसव।

वंध्या स्त्रीका वंध्यात्व दूर करके उसको उत्तम वीर पुत्र उत्पन्न होने योग्य "जननी" बनाना इस सूक्तका साध्य है। पहले तीन मंत्रोंमें मंगल विचारोंकी सूचना द्वारा आंतरिक परिवर्तन करनेका उपाय कहा है। यदि किसी स्त्रीको यौवनमें मनसे पूरा पूरा निश्चय हो जायगा कि अपना वंध्यापन दूर हुआ है, तो अंदर वैसाही अनुकूल परिवर्तन हो जाना संभव है। यदि गात्र विषयक कोई वैसा बडा दोष न हो, तो इस मानसिक विचार परिवर्तनसे भी आवश्यक सिद्धि मिलना संभव है।

इस कार्यके लिये "प्राजापत्य इष्टि" का प्रयोग पंचम मंत्रमें कहा है। ऋषभक आदि दिव्य औषधियोंका हवन और उनके बीजोंका विधिपूर्वक भक्षण करनेका विधान चतुर्थ मंत्रमें है। ऋषभक औषधियोंका एक गण ही है, ये औषधियां वीर्य बढानेवाली, शरीरको पुष्ट करनेवाली और गर्भाशयके दोष दूर करके वहांका आरोग्य बढानेवाली हैं। इन औषधियोंका हवन करना, इनका सेवन करना और आरोग्य पूर्ण विचार मनमें धारण करना ये तीन उपाय वंध्यात्व दूर करनेके लिये इस सूक्तमें कहे हैं।

याजक धर्मभावसे यह प्राजापत्य यज्ञ करे, यज्ञशेष आहुतिरस स्त्रीको पिलावे और प्रथम तीन मंत्रोक्त आरोग्यके विचार आशीर्वाद रूपसे कहे— " हे स्त्री ! तेरे अंदर जो वंध्यात्वका दोष था, वह इस प्राजापत्य इष्टिसे दूर हो गया है; अब तुम्हारे गर्भाशयमें पुरुष गर्भ उत्पन्न होगा, वहां वह वीर बालक दस मासतक पुष्ट होता रहेगा और पश्चात् योग्य समयमें उत्पन्न होगा। अब तू अनेक पुत्रोंकी माता बनेगी। (मं० १–३)"

इस प्रकारके मनःपूर्वक दिये हुए आशीर्वादसे तथा उस आशीर्वादको अचल निश्चयसे स्वीकार करनेसे शरीरके अन्दर आवश्यक परिवर्तन हो जाता है। " शिव संकल्प से चिकित्सा " करनेकी रीति यह है। इस विषयके सूक्त अथर्ववेदमें अनेक हैं।

इस सूक्तमें " ओषधयः " शब्द बहुवचनान्त है, इससे अनुमान होता है कि इस सेवन विधिमें अनेक औषधियां आती हैं। सुविज्ञ वैद्योंको इस विषयकी खोज करना चाहिये।

समृद्धिकी प्राप्ति।

[२४]

(ऋषिः—भृगुः । देवता-वनस्पतिः, प्रजापतिः)

पर्यस्वतीरोषधयः पर्यस्वन्मामकं वचः ।
अथो पर्यस्वतीनामा भरेऽहं सहस्रशः ॥ १ ॥
वेदाहं पर्यस्वन्तं चकार धान्यं बहु ।
सम्भृत्वा नाम यो देवस्तं वयं हवामहे यो-यो अयज्वनो गृहे ॥ २ ॥
इमा याःपञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः। वृष्टे शापं नदीरिवेह स्फातिं समावहान् ॥३॥

अर्थ— (ओषधयः पयस्वतीः) औषधियां रसवाली हैं, और (मामकं वचः पयस्वत्) मेरा वचन भी सारवाला है। (अथो) इसलिये (पयस्वतीनां सहस्रशः) रसवाली औषधीयोंका हजारहां प्रकारसे (अहं आभरे) मैं भरण पोषण करता हूं ॥ १ ॥

(पयस्वन्तं बहुधान्यं चकार) रसवाला बहुत धान्य उत्पन्न किया है उसकी रीति (अहं वेद) मैं जानता हूं। (यः यः अयज्वनः गृहे) जो कुछ अयाजक के घरमें है उसको (संभृत्वा नाम यः देवः) संग्रह करके लानेवाला इस नामका जो देव है, (तं वयं हवामहे) उसका हम यजन करते हैं ॥ २ ॥

(इमाः याः पञ्च प्रदिशः) ये जो पांचों दिशाओंमें रहनेवाली (मानवीः पञ्च कृष्टयः) मनुष्योंकी पांच जातियां हैं वे (इह स्फातिं समावहन्) यहां वृद्धिको प्राप्त करें (इव) जिस प्रकार वृष्टे नदीः शापं) वृष्टि होनेके कारण नदियां सब कुछ भर लातीं हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ- मेरा भाषण मीठा होता है वैसी ही औषधियां उत्तम रसवाली होती हैं, इस लिये मैं विशेष प्रकारसे औषधियोंका पोषण करता हूं ॥ १ ॥

रसवाला उत्तम धान्य उत्पन्न करनेकी विधि मैं जानता हूं। इस लिये उस दयावान ईश्वर का मैं यजन करता हूं, जो अयाजक लोगोंके घरमें भी समृद्धि करता है ॥ २ ॥

ये पांचों दिशाओंमें रहनेवाली मानवोंकी पांच जातियां उत्तम समृद्धि प्राप्त करें जैसी नदियां वृष्टि होने पर भर जाती हैं ॥ ३ ॥

उदुत्सं शतधारं सहस्रधारमक्षितम् । एवास्माकेदं धान्यं सहस्रधारमक्षितम् ॥ ४ ॥
शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर । कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह ॥५॥
तिस्रो मात्रा गन्धर्वाणां चतस्रो गृहपत्न्याः ।
तासां या स्फातिमत्तमा तया त्वाभि मृशामसि ॥ ६ ॥
उपोहश्च समूहश्च क्षत्तारौ ते प्रजापते । ताविहा वहतां स्फातिं बहुं भूमानमक्षितम् ॥७॥

अर्थ—(शतधारं सहस्रधारं अक्षितं उत्सं उत्) सेकडों और हजारों धाराओं वाले अक्षय झरने या तडागादिक जैसे वृष्टिसे भर जाते हैं, (एव अस्माक इदं धान्यं) इसी प्रकार हमारा यह धान्य (सहस्रधारं अक्षितं) हजारों धाराओंको देता हुआ अक्षय होवे ॥ ४ ॥

हे (शत-हस्त) सौं हाथोंवाले मनुष्य ! (समाहर) इकट्ठा करके ले आओ। हे (सहस्र-हस्त) हजारों हाथों वाले मनुष्य ! (सं किर) उसको फैलादे, दान कर। और (कृतस्य कार्यस्य च) किये हुये कार्य की (इह स्फातिं समावह) यहां वृद्धि कर ॥ ५ ॥

(गंधर्वाणां तिस्रः मात्राः) भूमिका धारण करनेवालों की तीन मात्राएं और (गृहपत्न्याः चतस्रः) गृहपत्नियों की चार होती हैं। (तासां या स्फाति-मत्-तमा) उनमें जो अत्यंत समृद्धिवाली है (तया त्वा अभि मृशामसि) उससे तुझको हम संयुक्त करते हैं ॥ ६ ॥

हे (प्रजापते) प्रजाके पालक ! (उपोहः च) उठाकर लानेवाला और (समूहः च) इकट्ठा करनेवाला ये दोनों (ते क्षत्तारौ) तेरे सहकार्य करनेवाले हैं। (तौ इह स्फातिं) वे दोनों यहां वृद्धिको लावें और (बहु अक्षितं भूमानं आवहतां) बहुत अक्षय भरपूरताको लावें ॥ ७ ॥

भावार्थ-वृष्टि होनेसे तालाव आदि जलाशय जैसे भरपूर भर जाते हैं उसीप्रकार हमारे घरोंमें अनेक प्रकारके धान्य भरपूर और अक्षय होजावें॥४॥

हे मनुष्य ! तू सौं हाथोंवाला होकर धन प्राप्त कर और हजार हाथोंवाला बनकर उसका दान कर। इस प्रकार अपने कर्तव्यकर्मकी उन्नति कर ॥५॥

ऐसा करनेसेही अधिकसे अधिक समृद्धि हम तुमको देते हैं ॥ ६ ॥

लानेवाला और संग्रहकर्ता ये दोनों प्रजापालन करनेवालेके सहकारी हैं। अतः ये दोनों इस स्थानपर समृद्ध हों और अक्षय समृद्धि प्राप्त करें ॥७॥

समृद्धिकी प्राप्तिके उपाय।

समृद्धि हरएक चाहता है परंतु उसकी प्राप्तिका उपाय बहुत थोडे जानते हैं। समृद्धिकी प्राप्तिके कुछ उपाय इस सूक्तमें कहे हैं। जो लोक समृद्धि प्राप्त करना चाहते हैं वे इस सूक्तका अच्छी प्रकार मनन करें। समृद्धि की प्राप्तिके लिये पहिला नियम " मीठी वाणी " है—

पयस्वान् मामकं वचः। (मं० १)

" दूध जैसा मधुर मेरा वचन हो, " भाषणमें मधुरता, रसमयता, मीठास, सुननेवालोंकी तृप्ति करनेका गुण रहे। समृद्धि प्राप्त करनेके लिये मीठे भाषण करनेके गुण की अत्यंत आवश्यकता है। आत्मशुद्धिका यह पहला और आवश्यक नियम है। इसके पश्चात् समृद्धि बढानेका दूसरा नियम है, " दक्षतासे कृषिकी वृद्धि करना "—

पयस्वतीनां आभरेऽहं सहस्रशः। (मं १)
वेदाहं पयस्वन्तं चकार धान्यं बहु॥ (मं० २)

" रसवाली औषधियोंका मैं हजारों प्रकारोंसे पोषण करता हूं, बहुत धान्य कैसा उत्पन्न किया करते हैं, यह विद्या मैं जानता हूं। " अर्थात् उत्तम कृषि करनेकी विद्या जानना और उसके अनुसार कृषि करके अपना धान्य संग्रह बढाना समृद्धि होनेके लिये अत्यन्त आवश्यक है। रसदार धान्य अपने पास न हुआ तो अन्य समृद्धि होनेसे कोई विशेष लाभ नहीं है। मीठा भाषण करनेवाला मनुष्य हुआ तो उसके पास बहुत मनुष्य इकठ्ठे हो सकते हैं, और उसके पास रसवाला धान्य हुआ तो वे आनंदसे तृप्त हो सकते हैं। इसके पश्चात् "सामुदायिक उपासना करना" समृद्धिके लिये आवश्यक होता है-

सम्भृत्वा नाम यो देवस्तं वयं हवामहे
यो-यो अयज्वनो गृहे॥ (मं० २)

"जो यज्ञ न करनेवालोंके भी घरमें (उनके पोषणके सामान रखता है वह दयामय) संभारकर्ता नामक देव है उसकी उपासना हम करते हैं।" परमेश्वर सबका पालने हारा है, उसकी कृपा दृष्टि सबोंपर रहती है, ऐसा जो दयामय ईश्वर है, उसकी उपासना करनेसे समृद्धि बढ जाती है। जो देव अयाजकोंको भी पुष्टिके साधन देता है वह तो याजकोंका पोषण करेगा ही, इसलिये ईश्वर भक्ति करना समृद्धि प्राप्त करनेका मुख्य साधन है। इस मंत्रमें "हवामहे" यह बहुवचनमें पद है, इसलिये बहुतों द्वारा मिल कर उपासना करनेका-यज्ञ करनेका-भाव इससे स्पष्ट होता है।

मिलकर उपासना करनेसे और पूर्वोक्त दोनों नियमोंका पालन करनेसे 'पांचों मनुष्योंकी अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र निषादोंकी मिलकर उन्नति हो सकती है।" (मं० ३) उन्नतिका यह नियम है। जिस प्रकार वृष्टि हुई तो नदी बढती है अन्यथा नहीं, इसी प्रकार पूर्वोक्त तीनों नियमोंका पालन हुआ तो मनुष्योंकी उन्नति निःसंदेह होगी। पाठक इन नियमोंका अवश्य स्मरण रखें।

समृद्धि होने के लिये रसदार धान्यकी विपुलता अपने पास अवश्य होनी चाहिये, यह भाव विशेष दृढ करनेके लिये चतुर्थ मंत्रमें "हजारों प्रकारकी मधुर रसधाराओंसे युक्त अक्षय धान्यका संग्रह" अपने पास रखनेका उपदेश किया है। यह विशेषही महत्त्वका उपदेश है। इस प्रकार धनधान्यकी विपुलता होनेपर स्वार्थ उत्पन्न होगा और उस स्वार्थके कारण आत्मोन्नति होना सर्वथा असंभव है। इस लिये पंचम मंत्रमें दान देनेके समय विशेष उदारता रखनेका भी उपदेश किया है—

शतहस्त समाहर, सहस्रहस्त सं किर। (मं० ५)

"सौ हाथोंवाला होकर कमाई करो, और हजार हाथोंवाला बनकर उसका दान करो।" यह उपदेश हरएक मनुष्य को अपने हृदयमें स्थिर करना अत्यंत आवश्यक है। इस उदार भावके विना मनुष्यकी उन्नति असंभव है। इसके पश्चात् वेद कहता है कि—

कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह। (मं० ५)

"इस प्रकार अपने कर्तव्य कर्मकी यहां उन्नति करो।" जो पूर्वोक्त स्थानमें उन्नतिके नियम कहे हैं, उन नियमोंका पालन करने द्वारा अपने कर्तव्यके क्षेत्रका विस्तार करो, यह उपदेश अत्यंत मनन करने योग्य है। "(कार्यस्य स्फातिं समावह)" ये शब्द हरएक मनुष्यके कार्य क्षेत्रके विषयमें कहे हैं, ब्राह्मण अपना ज्ञान विषयक कार्य क्षेत्र बढावे, क्षत्रिय अपना प्रजारक्षण रूप कार्य क्षेत्र बढावे, वैश्य कृषि गौरक्ष्य वाणिज्य आदि में अपने कार्य क्षेत्रकी वृद्धि करे, शूद्र अपने कारीगरी के कार्य बढावे और निषाद अपने जो वन रक्षा विषयक कर्तव्य हैं उनकी वृद्धि करे। इस प्रकार सबकी उन्नति हुई, तो संपूर्ण पंचजनोंका अर्थात् सब राष्ट्रका सुख बढ सकता है और सबकी सामुदायिक उन्नति हो सकती है। हरएकको अपनी (स्फाति) बढती, उन्नति, वृद्धि, समृद्धि करनेके लिये अवश्यही कटिबद्ध होना चाहिये। अपनी संपूर्ण शक्तियोंका विकास अवश्य करना चाहिये।

मुख्य दो साधन।

समृद्धि प्राप्त करनेके दो मुख्य साधन हैं। " उपोहः " और " समूहः " इनके विशेष अर्थ देखिये—

१ उपोहः- (उप-ऊहः) इकट्ठा करना, संग्रह करना, एक स्थानपर लाकर रखना।

२ समूहः- समुदायोंमें बांटकर वर्गीकरण करना।

पहली बात है संग्रह करना और दूसरी बात है उन संगृहित द्रव्योंको वर्गीकरणद्वारा समुचित रीतिसे व्यवस्थित रखना। इसीसे शास्त्र बनता और बढता है। वृक्ष वनस्पतियोंका संग्रह करने और उनका वर्गीकरण करनेसे वनस्पतिशास्त्रकी उत्पत्ति हुई है। वस्तुसंग्रहालयमें देखिये, वहां पदार्थोंका संग्रह किया जाता है और उनको वर्गोंमें सुव्यवस्थित रखा जाता है। यदि ऐसा न किया जाय, तो वस्तुसंग्रहालयोंसे बिलकुल लाभ नहीं होगा। इसी प्रकार अपने घरमें वस्तुओंका संग्रह करना चाहिये और उनको वर्गोंमें अपने अपने सुयोग्य क्रमपूर्वक सुव्यवस्थासे रखना चाहिये। तभी उन्नति या समृद्धि हो सकती है।

सप्तम मंत्रमें " उपोहः (संग्रह) और समूहः (समूहोंमें वर्गीकरण करना)" ये दो बातें समृद्धिकी साधक करके कही है। यह बहुत ही महत्त्वका विषय है, इस लिये पाठक इसका मनन करें और अपने जीवन भर लाभ देनेवाला यह उत्तम उपदेश है यह जानकर इससे बहुत लाभ उठावें।

संग्रह और वर्गीकरण उन्नतिके साधक हैं इस विषयमें सप्तम मंत्रका कथन स्पष्ट ही है—

> तौ इह स्फातिं आ वहताम्
> अक्षितं बहुं भूमानम् ॥ (मं० ७ ॥

" वे [अर्थात् संग्रह और वर्गीकरण ये) दोनों इस संसारमें (स्फातिं) समृद्धिको देते हैं और (भूमानं) विपुल धन अथवा विशेष महत्त्व देते हैं।"

जिसको समृद्धि और धन चाहिये वे इन गुणोंको अपनावें और इनसे अपना लाभ सिद्ध करें। जो लोग अभ्युदय प्राप्त करनेके इच्छुक हैं उनको इस सूक्तका बहुत मनन करना चाहिये। कमसे कम इस सूक्तमें कथित जो महत्त्वपूर्ण उपदेश है, उनको कभी भूलना उचित नहीं है। जो पाठक इस सूक्तका मनन करेंगे वे अपने अभ्युदयका मार्ग इस सूक्तके विचारसे निःसंदेह जान सकते हैं।

काम का बाण ।

[२५]

(ऋषिः- भृगुः । देवता-मित्रावरुणौ, कामेषुदेवते)

उत्तुदस्त्वोत्तुदतु मा धृथाः शयने स्वे ।

इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥ १ ॥

आधीपर्णां कामशल्यामिषुं सङ्कल्पकुल्मलाम् ।

तां सुसंनतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि ॥ २ ॥

अर्थ— (उत्तुदः त्वा उत्तुदतु) हिलानेवाला काम तुझे हिला देवे। (स्वे शयने मा धृथाः) अपने शयनमें मत ठहर। (कामस्य या भीमा इषुः) कामका जो भयानक बाण है (तया त्वा हृदि विध्यामि) उससे तुझको हृदयमें वेधता हूं ॥ १ ॥

(आधी-पर्णा) जिसपर मानसिक पीडा रूपी पंख लगे हैं, (काम-शल्यां) कामेच्छा रूपी बाणका अग्र भाग जहां लगाया है, (संकल्प-कुल्मलां) संकल्प रूपी दण्डा जहां लगा है, (तां) उस (इषुं बाणको (सुसन्नतां कृत्वा) ठीक प्रकार लक्ष्यपर धरके (कामः हृदि त्वा विध्यतु) काम हृदयमें तुझको वेध करे ॥ २ ॥

भावार्थ — हे स्त्री ! सबको हिलानेवाला काम तेरे अन्तःकरण को भी हिला देवे। काम का बाण तेरे हृदयका वेध करे जिससे विद्ध हुई तू सुखसे निद्रा लेनेमें भी असमर्थ हो ॥ १ ॥

इस कामके बाणको मानसिक पीडारूपी पंख लगे हैं, इसके आगे कामविकार रूपी लोहेका तीक्ष्ण शल्य लगाया है, उसके पीछे मनका संकल्प रूपी दण्डा जोड दिया है, इस प्रकारके बाणको अति तीक्ष्ण बनाकर काम तेरे हृदयका वेध करे ॥ २ ॥

या प्लीहानं शोषयति कामस्येषुः सुसंनता ।
प्राचीनपक्षा व्योषा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥ ३ ॥
शुचा विद्धा व्योषया शुष्कास्याभि सर्प मा ।
मृदुर्निमन्युः केवली प्रियवादिन्यनुव्रता ॥ ४ ॥
आजामि त्वाजन्या परि मातुरथो पितुः ।
यथा मम क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ ५ ॥

अर्थ-(कामस्य सुसन्नता) कामका ठीक लक्ष्यपर चलाया हुआ (प्राचीन-पक्षा वि-ओषा) सीधे पङ्खवाला और विशेष जलाने वाला (या इषुः प्लीहानं शोषयति) जो बाण तिल्लीको सुखा देता है, (तया त्वा हृदि विध्यामि) उससे तुझको हृदयमें वेधता हूं ॥ ३ ॥

(व्योषया) विशेष दाह करनेवाले (शुचा) शोक बढानेवाले बाणके द्वारा (विद्धा) विधी हुई तू (शुष्कास्या) मुखको सुखानेवाली (मा अभिसर्प) मेरी ओर चली आ। और (मृदुः) कोमल, (निमन्युः) क्रोध रहित, (प्रियवादिनी) मीठा भाषण करनेवाली, (अनुव्रता) अनुकूल कर्म करने वाली, (केवली) केवल मेरी ही इच्छा करनेवाली हो ॥ ४ ॥

(त्वा आ-अजन्या) तुझको वेगसे (परि मातुः अथो पितुः) माता और पिताके पाससे (आ अजामि) लाता हूं। (यथा मम क्रतौ असः) जिस-से मेरे अनुकूल कर्ममें तू रह और (मम चित्तं उपायसि) मेरे चित्तके अनुकूल चल ॥ ५ ॥

भावार्थ-यह कामका बाण अचूक लगता है, क्यों कि इसपर मान-सिक व्यथाके पर लगे हैं,और साथही यह विशेष रीतिसे जलानेवालाभी है और यह तिल्लीको बिलकुल सुखा देता है, इससे मैं तुझे वेधता हूं ॥३॥

यह कामका बाण विशेष जलानेवाला, शोक बढानेवाला और मुखको सुखानेवाला है, हे स्त्री! इससे विधी हुई तू मेरे पास आ और कोमल, क्रोधरहित, मधुर भाषिणी, अनुकूल आचरण करनेवाली और केवल मुझमें ही अनुरक्त होकर मेरे साथ रह ॥ ४ ॥

हे स्त्री! माता और पितासे अलग करके मैंने तुझे यहां लाया है, इसलिये तू मेरे अनुकूल कर्म करनेवाली और मेरे विचारोंके अनुकूल विचार करनेवाली बन कर यहां रह ॥ ५ ॥

व्यु॑स्यै मित्रावरुणौ हृदश्चित्तान्य॑स्यतम् ।
अथैनामक्रतुं कृत्वा ममैव कृणुतं वशे ॥ ६ ॥
[इति पञ्चमोऽनुवाकः]

अर्थ —हे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण ! (अस्यै) इसके लिये हृदः चित्तानि व्यस्यतं) हृदयके विचारोंको विशेष प्रकार प्रेरित करो। (अथ एनां अक्रतुं कृत्वा) और इसको कर्महीन बनाकर (मम एव वशे कृणुतं) मेरे ही वशमें करो ॥ ६ ॥

भावार्थ—हे मित्र और हे वरुण ! इस स्त्रीके हृदयके विचारोंमें विशेष प्रेरणा करो, जिससे यह मेरे अनुकूल कर्मके सिवाय दूसरे किसी कर्ममें इसको प्रेम न रहे, तथा यह धर्मपत्नी मेरे ही वशमें रहे । ॥ ६ ॥

विरुद्धपरिणामी अलंकार।

"विरुद्धपरिणामी अलंकार" का उत्तम उदाहरण यह सूक्त है। "विरुद्ध परिणाम" जिसका होता है, जो बोला जाता है उसके उलटा परिणाम जिससे निकलता है, बोले जानेवाले शब्दोंका स्पष्टार्थ जो हो उसके विरुद्ध आशयका भाव जिसके अंदर हो, उसको "विरुद्ध परिणामी अलंकार" कहते हैं। इसके एक दो उदाहरण देखिये—

(१) "हृदयको जलानेवाली, धनका नाश करनेवाली, कुटुंबमें कलह उत्पन्न करनेवाली और शरीरको सुखानेवाली शराब पिओ।" इस वाक्यमें यद्यपि शराब पिओ करके कहा है तथापि शराब का दुर्गुण वर्णन इतने स्पष्ट शब्दोंसे किया है कि उससे सुननेवालेकी प्रवृत्ति न पीनेकी ओर ही होती है।

(२) "जिससे शरीर पुष्ट होता है और ब्रह्मचर्य पालन होनेके कारण आरोग्य बल और दीर्घ जीवन निःसंदेह प्राप्त होता है, इस प्रकारका आसन प्राणायामादिका योगसाधन कभी भूलकरभी मत करो।" इसमें यद्यपि योगसाधन करनेका स्पष्ट निषेध है, तथापि सुनने वालेके मनपर योगसाधन अवश्य करना चाहिये यह भाव स्थिर हो जाता है।

ये भाषाके काव्यालंकार हैं, योग्य समयमें ये प्रयुक्त किये जांय तो इनका सुपरिणाम ही होता है। अब इस सूक्तका कथन देखिये—

"हे स्त्री ! कामके बाणसे मैं तेरे हृदयको वेधता हूं, इस कामके बाणको

"मानसिक व्यथा" के सुंदर पंख लगे हैं, इसमें जो लोहेका अग्रभाग है वह "मानसिक विकार" का शल्य ही है, मनके "कुसंकल्पों" की लकडीसे इस बाणको बनाया है, यह बडा "जलानेवाला" है, यह लगनेसे मुख सूख जाता है, प्लीहा सूख जाती है, हृदय जल जाता है, इस प्रकारके कामके विध्वंसक बाणसे मैं तेरा वेध करता हूं, इससे तू विद्ध होजाओ।"

इसमें यद्यपि "कामके बाणसे विद्ध हो जाओ" ऐसा कहा है, तथापि इस कामके बाणका स्वरूप इतना भयंकर वर्णन किया है, कि जिसका परिणाम सुननेवाले के ऊपर "इस कामके बाणसे अपना बचाव करने" की ओर ही होगा। इस सूक्तमें जो "कामके बाण" का वर्णन किया है वे शब्द देखिये—

कामका बाण।

१ उत्तुदः = व्यथा देनेवाला, शरीरको काट काट कर पीडा देनेवाला। (मं० १)

२ भीमा इषुः = जिसका भयंकर परिणाम होता है ऐसा भयानक बाण। (मं० १)

३ आधी-पर्णा = इस बाणको मानसिक व्यथा के पंख लगे हैं। (मं० २)

४ काम-शल्या = स्वार्थकी प्रबल इच्छा रूपी, अथवा कामविकार रूपी शल्य जिसमें लगा है। बाणका जो अग्रभागमें लोहेका शस्त्र होता है वह यहां कामविकार है। (मं० २)

५ सङ्कल्प-कुल्मला= मनके कामविषयक संकल्प रूपी लकडीसे यह बाण बनाया गया है। (मं० २)

६ प्राचीन-पक्षा= इसको जो मानसिक व्यथाके पंख लगे हैं वे ऐसे लगे हैं कि जिनके कारण यह बाण सीधी गतिसे और अतिवेगसे जाता है। (मं०३)

७ शुचा (शुक्) = शोक उत्पन्न करनेवाला। (मं० ४)

८ व्योषा (वि-ओषा) = विशेष रीतिसे जलानेवाला। (मं० ३,४)

९ शुष्कास्या (शुष्क-आस्या) = मुखको सुखानेवाला, मुखको म्लान करने वाला। (मं ४)

१० प्लीहानं शोषयति = प्लीहाको सुखा देता है। शरीरमें प्लीहा रक्त की वृद्धि करने द्वारा शरीर स्वास्थ्य रखती है, ऐसे महत्त्व पूर्ण अवयव का नाश कामके बाणसे हो जाता है। इतनी मारकता इस मदनके बाणमें है। (मं०३)

११ हृदि विध्यति = इसका वेध हृदयमें होता है, इससे हृदय विदीर्ण होता जाता है, हृद्रोग की उत्पत्ति कामके बढनेसे होती है। (मं०१--३)

कामके बाणका यह भयंकर वर्णन इन शब्दोंद्वारा इस सूक्तमें किया है। "हे स्त्रि! ऐसे भयंकर बाणसे मैं तेरा वेध करता हूं।" ऐसा एक पुरुष अपनी धर्मपत्नीसे कहता है। पति भी जानता है कि जिस शरसे वेध करना है वह कामका शर इतना भयंकर विघातक है। इस बाणसे न केवल विद्ध होनेवाला ही कट जाता है अपि तु वेध करनेवाला भी कट जाता है, अर्थात् यदि पतिने यह कामका शर अपनी धर्मपत्नीपर चलाया तो वह जैसा धर्मपत्नीको काटता है उसी प्रकार पतिको भी काटता है और पूर्वोक्त ग्यारह दुष्परिणाम करता है। यह बात स्वयं पति जानता है तथापि पति कहता है कि "हे स्त्री! ऐसे बाणसे मैं तेरा वेध करता हूं।"

यह पतिका भाषण उसकी धर्मपत्नी सुनती है, अर्थात् धर्मपत्नी भी इस काम बाण की विध्वंसक शक्तिको अच्छी प्रकार जानती है, और यदि कोई स्त्री न जानती हो तो इन शब्दोंद्वारा जान जायगी कि यह काम व्यवहार कितना घातक है। इतना ज्ञान होनेके पश्चात् वह धर्मपत्नी स्वयं अपने पतिसे कहेगी, कि "हे प्राणनाथ! आप ऐसे घातक कर्ममें प्रवृत्त न हूजिये।" जो कर्म करना है उसकी भयानक घातकता का अनुभव करनेके पश्चात् वह कर्म अधिक नहीं हो सकता, जितना आवश्यक है उतनाही होगा, कभी अधिक नहीं होगा।

पतिपत्नीका एक मत।

इस सूक्तमें कही बात पति अपनी धर्मपत्नीसे कहता है। "यह धर्मपत्नी अपने माता पिताके घरको छोडकर पतिके घर पतिके साथ रहने आयी है।" (देखो मं. ५) धर्मपत्नी तरुणी है, इस आयुमें मनका संयम करना बडा कठिन कार्य होता है। तरुण भोग भोगनेके इच्छुक होते हैं, परिणामपर दृष्टि नहीं रख सकते। केवल भोग भोगनेके इच्छुक रहते है, परंतु यह काम ऐसा है कि—

> समुद्र इव हि कामः। नैव हि कामस्यान्तोऽस्ति
> न समुद्रस्य॥ तै ब्रा. २।२।५।६
> कामः पशुः॥ प्राणाग्नि उ. ४

"समुद्रके समान काम है। क्यों कि जैसा समुद्रका अन्त नहीं होता है वैसाही कामका भी अन्त नहीं होता है।" तथा "काम ही पशु है।"

यह काम भोग भोगनेसे कम नहीं होता है, प्रत्युत बढता जाता है। यह पशु होनेसे इसके उपासक पशुरूप होते हैं, जो इस कामरूपी पशुको अपने अंदर बढाते हैं, वे मानो

पशुभावको अपने अन्दर बढाते हैं। जिनके अंदर यह पशुभाव बढा हो, उनको " मनुष्य" कहना कठिन हो जाता है । क्यों कि मनन करनेवालेका नाम मनुष्य होता है और मन की मनन शक्ति तो कामसे नष्ट हो जाती है। काम मनमेंही उत्पन्न हो जाता है और वहां बढता हुआ मननशक्तिको ही नष्ट कर देता है । इसी कारण तारुण्यमें यदि मनके अंदर काम बढ गया तो वह मनुष्य विवेकभ्रष्ट होजाता है ।

अब अपने प्रस्तुत विषयकी ओर देखिये । धर्म पत्नी दूसरे घरसे लायी गई है । माताको और पिताको अपने भाइयों और जन्मके संबंधियोंको इस स्त्रीने छोड दिया है और पतिको अपने तन और मनका स्वामी माना है । इस प्रकार स्त्रीका पतिके पास आकर रहना एक प्रकारसे पतिके ऊपरकी जिम्मेवारी बढानेवाला है। पतिको यह अपना उत्तरदायित्व ध्यानमें रखना चाहिये ।

अब देखिये, उक्त प्रकार अपने माता पिताओंको छोडकर स्त्री पतिके घर आगई, और यदि तारुण्यावस्थाके शरीर धर्मके अनुसार उसको योग्य सुख प्राप्ति न हुई, तो उसका दिल भडक जानेकी भी संभावना है। पति शमदम आदि संयम और ब्रह्मचर्य पालन करने लगेगा और गृहस्थ धर्म प्राप्त अपने स्त्रीविषयक कर्तव्यको न करेगा, तो स्त्रीके मनकी कितनी अधोगति होना संभव है, इसका विचार पाठक करें और पतिका उत्तरदायित्व जानें ।

शमदम ब्रह्मचर्य आदि सब उत्तम है, मनुष्यत्वका विकास करनेवाला है, यह सब सत्य है; परंतु विवाहित हो जाने पर स्त्रीके मनोधर्मका भी विचार करना चाहिये । यह कर्तव्य ही है । इस कर्तव्यसे वीर्य हानिद्वारा थोडा पतन होता है, तथापि वह कर्तव्य करना ही चाहिये। स्त्रीने मातापिता छोडने का बडा त्याग किया है । यह स्त्रीका यज्ञ है, पतिको भी अचल ब्रह्मचर्यको छोडकर गृहस्थी धर्मका चलब्रह्मचर्यका स्वीकार करके अपनी ओरका त्याग करना चाहिये । यही उसका यज्ञ है । ऐसा पतिने न किया तो वह स्त्रीको असन्मार्गमें प्रवृत्त करनेका भागी बनेगा ।

इस सूक्त में जो पति अपनी धर्मपत्नीका हृदय कामके भयानक बाणसे विद्ध करना चाहता है, वह इसी हेतुसे चाहता है । इस लिये इस कामके बाणकी भयानक विध्वंसक शक्तिका वर्णन करता हुआ पति स्त्रीसे कहता है कि ऐसे भयानक बाणसे मैं तेरे चित्त को अपने कर्तव्य पालन करनेके हेतुसे ही वेध करता हूं । इस वर्णन को सुनकर स्त्री भी समझे कि यह जो कामोपभोगका विचार मनमें उत्पन्न हुआ है, यदि इस उपभोग के लिये मनको खुला छोड दिया जाय, तो कितनी भयानक अवस्था बन जायगी ।

इस विचारसे उस स्त्रीके मनमें भी काम को शमन करने की ही लहर उठ सकती है और यदि पतिने इस सूक्तके बताये मार्गसे अपने स्त्रीके मनमें यह संयमकी लहर बढायी, तो अंतमें जाकर दोनों का कल्याण हो जाता है ।

परंतु यदि पतिने जबरदस्तीसे स्त्रीको कामप्रवृत्तिसे रोक रखा, तो उस स्त्रीके अंदर के कामविषयक संकल्प बहुत बढ जांयगे, और अंतमें उसके अधःपातके विषयमें कोई संदेह ही नहीं रहेगा । ऐसा अधःपात न हो इस लिये ऋतुगामी होने आदि परिमित गृहस्थधर्म पालन करनेके नियमों की प्रवृत्ति हुई है । साथही साथ कामकी भयानक विघातकताकाही विचार होता रहेगा, तो उससे बचनेकी ओर हरएक स्त्रीपुरुषकी प्रवृत्ति होगी। इस लिये पति स्वयं संयम करना चाहता है और अपनी धर्म पत्नीको अपने अनुकूल धर्माचरण करनेवाली भी बनाना चाहता है । यह करनेके लिये पति स्वयं सुविचारोंकी जाग्रति करता है और देवोंकी प्रार्थना द्वाराभी दैवी शक्तिकी सहायता लेनेका इच्छुक है। इसी लिये षष्ठ मंत्रमें मित्रावरुण देवतोंकी प्रार्थना की गई है कि "हे देवो ! इस धर्मपत्नी को मेरे अनुकूल रहने और मेरे अनुकूल धर्माचरण करनेकी बुद्धि दीजिये । इस धर्मपत्नीके मनके विचारोंमें ऐसा परिवर्तन कीजिये कि यह दूसरा कोई विचार मनमें न लाकर मेरे अनुकूल ही धर्माचरण करती रहे, दूसरे किसी कर्ममें अपना मन न दौडे ।" (मं० ६)

धर्मपतिको अपनी धर्मपत्नीके विषयमें यह दक्षता धारण करना आवश्यक ही है । पतिको उचित है कि वह अपनी धर्म पत्नीको सन्तुष्ट रखता हुआ उसको संयमके मार्गसे चलावे । धर्मपत्नीके गुण इसी सूक्तमें वर्णन किये हैं ॥—

धर्मपत्नीके गुण ।

१ मृदुः=नरम स्वभाव वाली, शांत स्वभाववाली। (मं० ४)

२ निमन्युः=क्रोध न करनेवाली, शान्तिसे कार्य करनेवाली । (मं० ४)

३ प्रियवादिनी=मधुर भाषण करनेवाली । (मं० ४)

४ अनुव्रता=पतिके अनुकूल कर्म करनेवाली (मं० ४)

५ (मम) वशा=पतिके वशमें रहनेवाली, पतिकी आज्ञामें रहनेवाली । (मं० ७)

६ केवली=केवल पतिकी ही बनकर रहनेवाली (मं० ४)

७ (मम) चित्तं उपायसि=पतिके चित्तके समान अपना चित्त बनानेवाली । (मं० ५)

८ अक्रतुः= पतिके विरुद्ध कोई कर्म न करनेवाली। (मं० ६)

९ (मम) क्रतौ असः=पतिके उद्योगमें सहायता देनेवाली। (मं० ५)

ये शब्द धर्मपत्नीके कर्तव्य बता रहे हैं। पाठक इन शब्दोंका विचार करें और आर्य-स्त्रियां इस अमूल्य उपदेशको अपनानेका यत्न करें।

गृहस्थधर्म।

इस प्रकारकी अनुकूल कर्म करनेवाली धर्मपत्नीको पति कहता है, कि " हे स्त्रि! मैं तेरे हृदय को ऐसे भयंकर कामके बाणसे वेधता हूं। " पति जानता है कि यह कामका बाण बडा घातक है, ब्रह्मचर्यमें विघ्न होनेके कारण बडा हानिकारक है। धर्मपत्नी पतिके अनुकूल चलनेवाली होनेके कारण वह भी जानती है कि यह कामका बाण तपस्यामें विघ्न करनेवाला है। तथापि दोनों " गृहस्थी धर्म " से संबद्ध हैं इसलिये संतानोत्पत्ति करनेके लिये बाधित हैं। अतः दोनों गृहस्थ धर्मसे संबद्ध होतीं हैं। धर्मनियमानुकूल ऋतुगामी होकर घरमें वंशका बीजरूप वीर बालक उत्पन्न करती हैं और पश्चात् अपनी तपस्यामें लग जाती हैं।

पाठक इस दृष्टिसे विचार करें और इस सूक्तका महत्त्वपूर्ण उपदेश जानें। इस पंचम अनुवाकमें पांच सूक्त हैं। २१ वें सूक्तमें " कामाग्निका शमन, " २२ वें सूक्तमें "वर्चसकी प्राप्ति," २३ वें सूक्तमें " वंध्यात्व दोष निवारण पूर्वक वीर बालक उत्पन्न करने की विद्या, " २४ वें सूक्तमें " समृद्धिको प्राप्त करना, " और इस २५ वें सूक्त में "गृहस्थधर्मके नियमानुकूल रहकर गृहस्थ धर्मका पालन करना " ये विषय हैं। इनका परस्पर संबंध स्पष्ट है।

वैदिक यज्ञ संस्था।

प्रथम भाग मूल्य १) रु. डा. व्य ।)

इस पुस्तक में निम्न लिखित विषयों का विचार हुआ है।

प्राचीन संस्कृत निबंध।

१-३ पिष्ट-पशुमीमांसा। लघु-पुरोडाश-मीमांसा।

भाषाके लेख (ले०-श्री० पं० बुद्धदेवजी) ४ दर्श और पौर्णमास, ५ अद्भुत कुमार संभव। (ले० -श्री० पं० चंद्रमणिजी) ६बुद्धके यज्ञ विषयक विचार। (संपादकीय) ७ यज्ञका महत्व, ८ यज्ञका क्षेत्र ९ यज्ञका गूढ तत्व, १० औषधियोंका महामख, (ले० श्री० पं० धर्मदेवजी) ११ वैदिक यज्ञ और पशु-हिंसा। (ले० श्री० पं० पुरुषोत्तम लालजी) १२ क्या वेदोंमें यज्ञों में पशुओंका बलि करना लिखा है?

वैदिक यज्ञ संस्था द्वितीय भाग मूल्य १) रु डा व्य ।)

इस द्वितीय भागमें निम्न लिखित विषयोंका विचार हुआ है- (ले०-श्री. पं. देवशर्माजी विद्यालंकार)

भारतवर्षमें यज्ञकी कमी, यज्ञकी महिमा, यज्ञसे जो चाहे सो प्राप्त कर लो, यज्ञपुरुष का वर्णन, हवन प्रक्रिया, यज्ञशेष और उच्छेष राजसूय, विश्वजित, अश्वमेध, गोमेध, सर्वमेध, वाजपेय, पंचमहायज्ञ, यज्ञ संसारकी नाभि है।

पं. बुद्धदेवजी लिखित-संज्ञपन और अवदान।

संपादकीय-नरमेध का वैदिक तात्पर्य।

इतने विषयोंका विचार इस पुस्तक में हुआ है। प्रत्येक विषयके प्रतिपादनके लिये वेदके अनेक प्रमाण दिये है और विषयका प्रतिपादन अति सुगम है। मूल्य १) डा. व्य. ।)

वैदिक यज्ञ संस्था तृतीय भाग गोमेध

इस पुस्तकमें निम्न लिखित विषयोंका विचार हुआ है—

योगमें गोमांस, प्रकरणानुकूल अर्थ विचार, ऋषिपंचमी, वेदका महासिद्धान्त, यज्ञकी पूर्व और उत्तरवेदी, मधुपर्क, कलिवर्ज्यप्रकरण, बृहदारण्यक का वचन, गौका वैदिक नाम, गोमेधका विचार, चरक की साक्षी, विवाहमें गोमांस, अतिथिके लिये गौ, यज्ञमें मांस, अन्य यज्ञ, वेदमें अहिंसा, अवध्य गौ और बैल, यज्ञका तत्त्व, गौको खाना। गौ दान लेने का अधिकारी, रक्षक और पाचक गौका महत्त्व, राष्ट्ररक्षक गौ, गौके लिये सोमरस, सबकी माता गौ।

इत्यादि अनेक विषय इसमें आगये हैं। हरएक विषयका प्रतिपादन करनेके लिये अनेक वेदमंत्रोंके प्रमाण दिये है। जो कहते है कि 'वैदिक समयमें गोमांस भक्षण की प्रथा थी," उनके लिये यह उत्तम उत्तर है। यह पुस्तक पढनेके पश्चात् उक्त विषयमें कोई शंका नही रहेगी।

मूल्य१) रु डा व्य० ।)

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्री० दा० सातवलेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा)

ओ३म्

वैदिक धर्म ।

वैदिक तत्त्व ज्ञान प्रचारक मासिक पत्र ।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर



वर्ष ९ | अंक ११ | क्रमांक १०७

कार्तिक संवत् १९८५ | नवंबर सन १९२८

छपकर तैयार हैं।

महाभारत की समालोचना

प्रथम भाग और द्वितीय भाग ।

प्रति भागका मूल्य ॥) डाकव्यय =) वी पी से ॥।≥)

मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि सातारा)

वार्षिक मूल्य— म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५)

[redacted]ची।

१ सच्चा अन्नभोग	३३	५ कर्मका मर्म या कर्ममीमांसा	४७
२ यजुर्वेद सर्वानुक्रम	३४	६ अथर्व वेदका स्वाध्याय	१७७-२०८
३ मातृभूमिका वैदिक गीत	३६	उन्नतिकी दिशा	१७७
४ हिंदु समाज समर्थ कैसा बनेगा ?	४१	अभ्युदयकी दिशा	१७९

वर्ष ९
अंक ११
क्रमांक १०७

वैदिक धर्म.

कार्तिक
संवत् १९८५
नवंबर
सन १९२८

वैदिक तत्त्वज्ञान प्रचारक मासिक पत्र ।
संपादक -- श्रीपाद दामोदर सातवळेकर ।
स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

सच्चा अन्नभोग !

स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय ।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम् ॥

ऋग्वेद. १० । ११७ ।३

(यः) जो मनुष्य (अन्न कामाय चरते कृशाय) अन्नकी इच्छा करनेवाले दुर्बल और कृश तथा (गृहवे) घर घरमें जाकर भीख मांगनेवाले याचकको (ददाति) अन्न देता है । (सः इत् भोज) वह ही सच्चा भोजन करनेवाला होता है । (अस्मै) इस दाताके लिये (याम हूतौ) समय समयपर दान देनेके लिये अन्न (अरं भवति) पर्याप्त होता है । (उत) और (अपरीषु) कठिन प्रसंग के लिये (सखायं कृणुते) उत्तम मित्र भी वह मनुष्य बना सकता है ।

जो धनी मनुष्य निर्धन मनुष्योंको योग्य समयमें दान देता है,वही मनुष्य सच्चा भोजन करता है । परंतु जो धनी मनुष्य अपने पास धन रखता हुआ भी दुःखी बने हुए निर्धनों की सहायता करने के लिये अपने धन का भाग नही खर्च करता वह मानो पापही खाता है । ऐसे सत्पात्र में दान करनेवाले मनुष्यको मित्र भी मिलते हैं और उन मित्रोंसे उसको सुखभी प्राप्त होता है ।

यजुर्वेदका सर्वानुक्रम सूत्र।

यजुर्वेद का "सर्वानुक्रम सूत्र" ग्रंथ हमने मुद्रित किया है। इस सर्वानुक्रम सूत्रके देखनेसे किस मंत्रका कौनसा देवता है, तथा ऋषि और छंद कौनसा है, इसका ज्ञान हो सकता है। वेद का अध्ययन करनेवाले के लिये यह " सर्वानुक्रम सूत्र " अत्यंत उपयोगी है। इसके विना मंत्रोंके ऋषिदेवतादिकोंका यथावत् ज्ञान होना असंभव है।

" सर्वानुक्रमसूत्र " की भाषा अत्यंत दुर्बोध है, अर्थात् सामान्य मनुष्य इसके पाठसे लाभ नहीं उठा सकते। इस की दुर्बोधता के कारण इस समय तक जितने सर्वानुक्रमसूत्र छपे हैं, वे सबके सब अत्यंत अशुद्ध छपे हैं। मुंबई में मुद्रित तीन सर्वानुक्रमसूत्र, कलकत्तेमें मुद्रित एक, और काशीमें मुद्रित सभाष्य सर्वानुक्रमसूत्र; इतने ग्रंथ इस समय मुद्रित हैं। इनमें काशीमुद्रित सभाष्य पुस्तक हो कम अशुद्धियोंसे युक्त है। मुंबईमें छपे सर्वानुक्रमके पदच्छेद और मंत्रोंकी अशुद्धियां अत्यंत अक्षम्य हैं। यजुर्वेद जैसे वेदकी शुद्ध छपी सर्वानुक्रम की पुस्तक न होना वेदधर्मियोंके लिये एक लज्जाकी ही बात है। इस लिये इसका शुद्ध पदच्छेद पूर्वक मुद्रण करने का कार्य हमने गत वर्ष शुरू किया जो इस समय प्रायः समाप्त हुआ है।

इसका नमूना पृष्ठ इसके सामने दिया है। जिसमें पृष्ठके शिरोभागमें " सर्वानुक्रमसूत्र " बडे अक्षरोंमें मुद्रित किया है। सर्वानुक्रम सूत्र के प्रत्येक खण्डके समाप्तिके पश्चात् यजुर्वेद के अध्याय के मंत्रांक दिये हैं, जिससे पता लग जायगा कि इस खण्डमें किन मंत्रोंका विचार हुआ है।

"सर्वानुक्रमसूत्रके नीचे यजुर्वेदके क्रमपूर्वक मंत्र दिये हैं, प्रथम (१) मंत्र का क्रमांक, पश्चात् (२) मंत्रका प्रारंभका चरण, पश्चात् (३) उसका ऋषि, उसके पश्चात् (४) उसका देवता, और अन्त में (५) छन्द दिया है। सर्वानुक्रमसूत्रमें जो कहा है वह इस प्रकार अत्यंत सुबोध रीतिसे इस टिप्पणीमें दिया है। संस्कृत न जाननेवाला मनुष्य भी इस विस्तृत टीप्पणीको देखकर स्वयं, किसी दूसरे की सहायता के विना ही जान सकता है कि कौनसे मंत्रका ऋषि-देवता-छंद कौनसा है।

ऋग्वेदमें क्या और अथर्ववेद में क्या प्रायः सूक्तके ऋषिदेवता निश्चित होते हैं अथवा एक पूर्ण मंत्रका एक ऋषि-देवता होता है। इस लिये इन वेदोंमें ऋषिदेवता के विषयमें कोई संदेह नहीं हो सकता। परंतु यजुर्वेदमें एक एक मंत्रमें दो दो, चार चार या अधिक विभाग होते हैं, और प्रत्येक के भिन्न भिन्न ऋषिदेवता होते हैं। किसी भी पुस्तक में यह सूक्ष्म भेद स्पष्टतासे नहीं दर्शाया है जो इस टिप्पणीमें हमने दर्शाया है। इसके अतिरिक्त यजुर्वेदमें एक या अनेक अध्यायोंका एक ऋषि होता है और उसके अंदर आये मंत्रोंके पुनः भिन्न भिन्न ऋषिदेवता होते हैं। यह बात भी अजमेर आदि स्थानोंमें मुद्रित यजुर्वेदके पुस्तकोंमें दर्शायी नहीं है। यह बात यज्ञप्रकरण का विचार करनेके प्रसंगमें अत्यंत उपयोगी है। इतनी उपयोगी होनेपर भी वह किसी पुस्तकमें नहीं दर्शायी है। ये सब बातें अतिसूक्ष्म विचार करके इस सर्वानुक्रमसूत्र की टिप्पणीमें दर्शायी हैं।

इसमें इतनी सुबोध व्यवस्था की है कि जो इस को पढेंगे वे इसकी सुबोधताका अवश्य अनुभव करेंगे।

" संपादक "

आददेऽदित्यै रज्जुरिड एहि गौर्येत्ते त्रिष्टुभं दीर्घतमा, इन्द्राश्विना वैश्वदेवानि, समुद्राय त्वा वातनामानि, स्वाहा घर्माय घर्मदेवत्ये, विश्वा आशा आश्विन्यनुष्टुब्, दिवि धा घर्मदेवत्यमश्विना घर्ममुष्णिगपातां ककुबमेन्यस्मे खरः, स्वाहा पूष्णे सप्त लिङ्गोक्तदेवतानि, स्वाहा सं पयोदेवत्यं, मधु हुतं घर्मोऽभीमं गायत्रीबृहत्यावनवसाने अतिशक्करी

अथ० संहितायां अष्टत्रिंशोऽध्यायः ।

[अ १।१०]	१ देवस्य त्वा सवितु ०	दध्यङ् आथर्वणः	सविता	
	आददेऽदित्यै रास्नामि ।	,,	रज्जुः	
	२ इडऽएह्यदितऽएहि०	,,	गौः	
	३ अदित्यै रास्नासि०	,,	रज्जु	
	पूषासि०	,,	(वत्स)	
	४ अश्विभ्या पिन्वस्व०	,,	(लिङ्गोक्ता)	
	स्वाहेन्द्रवत्०	,,	(विप्रुषः)	
	५ यस्ते स्तन शशयो यो०	,, दीर्घतमा	(वाक्)	त्रिष्टुप्
	६ गायत्र छन्दोऽसि त्रैष्टुभ०	,,	(परीशासौ)	
	द्यावापृथिवीभ्या त्वा	,,	(महावीरः)	
	अन्तरिक्षेणोपयच्छामि ।	,,	(घर्मः)	
	इन्द्राश्विना मधुन सारघस्य०	,,	विश्वेदेवा	
	७ समुद्राय त्वा वाताय स्वाहा०	,,	वातनामानि	
	८ इन्द्राय त्वा वसुमते०	,,	,,	
	९ यमाय त्वाङ्गिरस्वते०	,,	,,	
	स्वाहा घर्माय०	,,	घर्म.	
	१० विश्वाऽआशा दक्षिणसद्०	,,	अश्विनौ	अनुष्टुप्
	११ दिवि धाऽइम यज्ञ०	,	घर्म	
	१२ अश्विना घर्म पातं०	,,	(अश्विन्यादयः)	उष्णिक्
	१३ अपातामश्विना घर्म०	,,	(अश्विनौ)	ककुप्
	१४ इषे पिन्वस्वोर्जे पिन्वस्व०	,,	(घर्म.)	
	अमेन्यस्मे नृम्णानि धारय०	,,	खर.(घर्म)	
	१५ स्वाहा पूष्णे शरसे स्वाहा०	,,	लिङ्गोक्ता(पूषादय)	
	१६ स्वाहा रुद्राय रुद्रहूतये०	,,	लिङ्गोक्ता(रुद्रादय.)	
	स्वाहा स ज्योतिषा ज्योतिः	,,	पय·	
[अ. ३७।२१]	अह केतुना जुषताᳩ०	,,	घर्मः	
	मधु हुतमिन्द्रतमं०	,,	,,	
	१७ अभीम महिमा दिव०	,,	अग्निः गायत्रीबृहत्यौ अनवमाने, व्यवसाना अतिशक्करी वा	

मातृभूमिका वैदिक गीत।

(चतुर्थ लेख)

मातृभूमि के वैदिक राष्ट्रगीत के विशेष महत्व के मननीय एवं आदरणीय उपदेशके विषयमें आवश्यक हाल अबतक बतलाया गया। इससे वाचक समझ गए होंगे कि यह वैदिक राष्ट्रगीत राष्ट्रीय भावनाओं का भंडार है। राष्ट्रीय सुविचारों का पोषण करने वाले इस सूक्तका मनन हर एक वैदिक धर्माभिमानी को करना चाहिए। उससे राष्ट्र को अधोगति में ले जानेवाले समय में साहस बढ़ेगा, पुरुषार्थ की प्रवृत्ति होगी, उन्नति के समय अधिक तेजी से राष्ट्रीय उन्नति के साधन का मार्ग दिखेगा। ऐसा अत्युत्तम राष्ट्र गीत अन्य किसी राष्ट्र में नहीं है। वह वैदिक आर्यों के राष्ट्र में ही है। यह हमारे लिए गर्व की बात है। वेद जिनके धर्मग्रंथ हैं, उन्हे इस राष्ट्रगीतका मनन कर उसके उपदेशों के अनुसार चलना ही चाहिए। क्यों कि वह तो उनका धर्म ही है। परंतु वेद को धर्मग्रंथ माननेवाले द्विज इस वैदिक सूक्त के उपदेशों के अनुसार चलते है या नहीं सो वेही अपने तई देखलें। और तब उनकी पराधीनता की कारणमीमांसा उनकी समझमें आवेगी।

इस उत्सववर्धक राष्ट्रगीत का जितना अधिक मनन करेंगे उतना कम ही है। प्रत्येक समय के मनन से उसमें से नवीन बोध मिलेगा। यह राष्ट्रगीत 'अथर्वा' नामक ऋषिने प्रथम देखा और उसने उसका प्रसार कर आर्यों में राष्ट्रीयभाव उत्पन्न किये। इस से विदित होगा कि प्राचीन काल के ऋषि राष्ट्रीय दृष्टिसे कैसे महत्व का कार्य करते थे।

ऐसे ऋषियों के ओज-भरे वचनों में कितना जीवित उपदेश मिलता है, यह इस लेख से विदित ही हुआ है। इससे पाठकों को निश्चय हुआ होगा कि अपने धर्म का 'सनातन धर्म' नाम कितना अन्वर्थक है। जो धर्मनियम सदैव जीवित या सदैव नवीन रहते हैं वे ही सनातन नाम के योग्य होते हैं। अपना यह वैदिक राष्ट्रगीत कई शतकों के पहले जारी हुआ था। वह आज भी नवीन, ताजा, जोशीला और स्फूर्तीदायी है। प्रस्तुत लेख के पढने से यह विदित हो हो चुका है। इस लेख को पढने वालों को निश्चय होगा कि आज की गिरी दशा में भी इस राष्ट्रगीत का उपदेश हमे तारक होगा। वाचक इस सनातनत्व को देखें और उसका यहां अनुभव करें।

पिछले तीन लेखों में राष्ट्रगीत के विशेष महत्वके बोध वचनों का विचार हुआ; अब शेष बोधप्रद मंत्रभागों का विचार करेंगे। इन मंत्रों से कुछ बातें स्पष्ट होंगी। अतएव पाठक इन पर विशेष ध्यान दें।

बहुतेरे लोगों की समझ में अपने धर्म में व्यक्ति की अनियंत्रित बाढ को अवकाश नहीं है। अमेरिका का प्रत्येक नागरिक जैसे आशा कर सकता है कि 'मैं भी एक दिन अमेरिका का सभापति हो सकता हूं।' वैसी आशा भारतीय सनातनी को नहीं हो सकती। क्यों कि उसकी उन्नति जाति तथा वर्ण की श्रेणी से बंधी हुई है। उस मर्यादा के बाहर वह नहीं जा सकता। जिन शिक्षित लोगों का यह मत है उनसे हमारा अनुरोध है कि वे वैदिक राष्ट्रगीत के निम्न लिखित मंत्र को ध्यानपूर्वक पढें।

अजीतो ऽ हतो अक्षतो ऽ ध्यष्ठां पृथिवीमहम् ॥
अथर्व १२। १। ११

'मै (शत्रुसे) जीता न जाकर' (शत्रु के साथ लडते हुए) मारा न जाकर, अथवा घायल न होकर अपनी मातृभूमि का अध्यक्ष होऊंगा।'

"अहं पृथिवीं अध्यष्ठां" यह मंत्रभाग बतलाता है कि 'मैं पृथ्वीका अधिष्ठाता होऊंगा।' अधिष्ठाता होनेका अर्थ है 'अध्यक्ष होना, राज्यशासन करना, देखभाल करना निरीक्षण करना'। इस अर्थ की ओर नजर डालने से सहज ही में ज्ञात होगा कि जो इस

को कहता है उसका अपने राष्ट्रमें मुख्य अधिष्ठाता, मुख्य निरीक्षक, मुख्य शासक बनना संभवनीय है। इस मंत्र भाग पर जितना अधिक विचार करेंगे उतना ही निश्चय होने लगता है कि यह मंत्र उस समय का स्मरण दिलाता है जिस समय अनियंत्रित राजसत्ता स्थापन नहीं हुई थी, उस समय लोक सत्ता थी। इस प्रजासत्ता के काल में प्रत्येक मनुष्य को निश्चय होता होगा कि मैं अपनी कर्तृत्व के बल पर अपने राष्ट्र का मुख्य अधिष्ठाता बनूंगा। उसी परिस्थिति में "शत्रु से लडते समय मैं पराजित न हूंगा बल्कि शत्रु को ही हराऊंगा, शत्रु से मारा न जाऊंगा किन्तु शत्रु को ही मारूंगा, मैं शत्रु के शस्त्रों से घायल न होऊंगा पर मेरे शस्त्रों से शत्रु को ही घायल करूंगा और इस प्रकार पूर्ण विजयी बनकर मैं अपने राष्ट्रमें अपनी मातृभूमि का अध्यक्ष बनूंगा" इस मंत्र की संगति लगती है।

प्रत्येक मनुष्य को समान अधिकार है कि वह अपने राष्ट्रकी भवितव्यताको मनचाहा बनादे। प्रत्येक मनुष्य को उसकी कर्तृत्व शक्ति के प्रमाणमें अधिकार है कि वह राज्यशासन के अधिक से अधिक अधिकार प्राप्त करे। वेद का सनातन धर्म समानता की शिक्षा है। सच है कि आगे चलकर रूप, रंग, जाति और कुल के कारण अधिकार के क्षेत्र मर्यादित हो गये। परंतु मूल धर्म के प्रवाह में वह मलिनता नहीं है। वह मालिन्य बाह्य कारणों से उत्पन्न हुआ है। अतएव वह सनातन धर्म का मुख्य भाग नहीं है। उक्त मंत्र ने जो समता दिखलाई है वह संपूर्ण मानवोंका बंधुत्व मानने पर ही आनेवाली है। इस बात को भूलना चाहिए, इसी विषयका निम्न लिखित श्लोक देखिए:—

तवेमे पृथिवि पंच मानवाः ॥

अथर्व. १२।१।१५

"हे मातृभूमि, हम पांच प्रकार के मनुष्य बिलकुल तेरे ही हैं।" तेरे ही संबंधी या तेरे ही पुत्र होने के कारण हम सब बंधु हैं। बंधु वा देशबांधव की दृष्टि से हम सब की एकता वा समानता है। मनुष्यों में रंग, रूप, वय, कुल आदि कारणों से जो भेद उत्पन्न होते हैं वे सब देशबंधुत्व की भावना में विलीन हो जाते हैं। और उन सब में एकता हो जाती है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद ये पांच प्रकार के लोग परस्पर भिन्न नहीं हैं वे एक ही मातृभूमि के पुत्र हैं, अतएव एक दूसरे के बंधुही है यदि यह भाव जागृत है कि हम सब मिलकर मातृभूमि की सेवा करते हैं, तो भेदभाव अपना सिर नहीं उठा सकता।

एकमत से और ऐक्य से हिलमिलकर मातृभूमि की सेवा क्यों करनी चाहिए? ऐसी सेवा करने से राष्ट्र के सब लोगोंका कल्याण क्या हो सकता है? आदि प्रश्न अब उठते हैं। उनका उत्तर आगे के मंत्र में मिल सकता है:—

सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी ॥

अथर्व. १२।१।१

"यह मातृभूमि हम सबके भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल की परिस्थिति का नियमन करने वाली है।" भूतकाल में हमारी स्थिति कैसी थी, वर्तमान स्थिति कैसी है और भविष्यत् में वह कैसी होगी इन सब का नियमन मातृभूमि करती है। अर्थात् भूतकाल में मातृभूमि की उपासना हमने कैसी की, अब कैसी करते हैं और आगे कैसी करने वाले हैं इसी पर इन तीनों काल की हमारी दशा निर्भर है। अथवा जैसी उपासना हमने भूतकाल में की होगी उसके फल हमे वर्तमान काल में मिल रहे हैं और अब हम जैसी उपासना करते हैं उसी के अनुसार आगे चलकर हमारी दशा होगी। यदि यह संबंध सब लोगों के मन में जम जाय और यदि सब को निश्चय हो जावे कि मातृभूमि की उपासना योग्य रीतिसे और मिलजुल कर करने ही से हम लोगों को सुख मिलनेवाला है तभी सब में समता, बंधुता आदि एकता की पुष्टि के भाव निःसंशय निवास करेंगे। ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो या अन्य कोई भी हो उन सबको यदि निश्चय हो जाय कि मातृभूमि ही हमारे भवितव्य का नियंत्रण करने वाली देवता है तो वे एकमत से अपना अपना काम करके उसकी उपासना करेंगे और अपने अभ्युदय का साधन निःसंशय करेंगे। इसी उद्देश से आगे का मंत्र देखिए:—

पृथिवी धर्मणा धृताम् । शिवां स्योनामनु-
चरेम विश्व हा ॥
अथर्व. १२।१।१७

" चलो धर्म से धारण होनेवाली, कल्याण कारक और सुखवर्धक मातृभूमि की हम सर्वदा सेवा करें।" हम सब को मिलकर मातृभूमि की सेवा सदैव करनी चाहिए,क्यों कि ऐसा करने से हमारा कल्याण होगा और हमारा सुख बढेगा।

यदि सब लोगों को विश्वास होजाय कि हमारा कल्याण और हमारा सुख होने का संबंध मातृभूमि की सेवा से है और यदि मातृभूमि की सेवा हिल-मिलकर न करें तो भलाई न होगी उलटे हम लोग निश्चय से दुःख में गिरेंगे, तो लोग आपसी मतभेद भूल जावेंगे, एकतासे, बंधुप्रेमसे अपने अपने काम करके मातृभूमि की सेवा करेंगे और अपनी स्वतः की उन्नति करेंगे। आजकल हिंदुस्थान में जो गडबडी मची है और हिंदु मुसलमान, ब्राह्मण-अब्राह्मण आदि जो व्यर्थ के झगडे बढ रहे है उसका कारण यही है कि उन्होने सच्चे राष्ट्रहित का ध्येय अपने सामने नही रखा। राष्ट्रहित बिलकुल जल्दी से साधना ही चाहिए ऐसी आतुरता उनके हृदयों में खलबली नही मचाती अथवा उन्हे आत्मविश्वास नहीं कि हम एकता से अपना उद्धार अवश्य ही करलेंगे वर्ना कोई भी स्याना मनुष्य सब का शत्रु घर में घुसा रहने पर आपस में लडते न रहेगा। इतना ही नही जो स्याने है वे आपस का भेदभाव भूलकर प्रथम शत्रू को दूर करेंगे और तत्पश्चात् आपसी झगडों का निपटारा करेंगे। जिस दिन लोगों को मालूम होगा कि अन्य सब काम छोडकर अपनी मातृभूमि के हित के लिए यत्न करना ही हमारा कर्तव्य है तो समझ लीजिए कि उसी दिनसे हमारे भाग्य खुलने का आरंभ हो गया।

मनुष्य को दिनरात इसी बात की चिंता रहनी चाहिए कि मनुष्यों के जो भिन्न भिन्न कार्यक्षेत्र हैं उन कार्य क्षेत्रों के कार्य करते हुए अपनी मातृ-भूमि का हित कैसे होगा। इस संबंध में आगे का मंत्र सचमुच देखने योग्य हैः —

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधिभूम्याम् ।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदामि ते ॥
अथर्व. १२।१।५६

गांव, अरण्य, सभा, संग्राम, परिषदें आदि जो कोई इस भूमि पर मनुष्य के व्यवहार के केंद्र हैं उन सब में मातृभूमि के संबंध से जो कुछ भी हित का होगा वही मैं बोलूंगा"। कभी भी मातृभूमि के अहित का विचार मै अपने मस्तिष्क में न रखूंगा। जितने मनुष्य के कार्य क्षेत्र हैं, उन सब में सब मनुष्यों के सामने मातृभूमि के हितका ही ध्येय होना चाहिए, तभी मनुष्यों का अभ्युदय होगा। इससे स्पष्ट होता है कि सब मनुष्यों को इसी एक मात्र उद्देश से अहर्निश अपना प्रत्येक काम करना चाहिए सब के काम यदि केंद्रीभूत हुए तो कितना भारी देशहित होगा ?

मातृभूमि की सेवा ऐष आराम करते समय होने वाली नहीं उसके लिए आत्मसमर्पण करने की तैयारी हरएक को करनी चाहिए। शिर कमलों को चढाने के लिए, जितना आवश्यक हो उतना आत्मसमर्पण करने के लिए और आत्मसर्वस्व का बलिदान करने को जो मनुष्य तैयार हो सकते हैं वे ही मातृभूमि की सेवा कर सकते हैं। यही भाव आगे के मंत्रमें है-

प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥
अथर्व. १२।१।६२

" हम जागृत रह कर तेरे लिए आत्मसर्वस्व का बलिदान करते हैं। "

यह मंत्र भाग कई दृष्टियों से विचारणीय है। हम चारों ओर की परिस्थिति खुली आंखों से देखते हैं, हम जागृत रहकर देखते हैं कि चहुं ओर क्या हो रहा है। और प्राप्त हुई बिकट परिस्थिति को दूर करने के लिए आत्मसर्वस्व का बलिदान करने को भी तैयार हैं। इतनी तैयारी हो तभी मातृभूमि का उद्धार करने बनेगा। ऐष आरामी जीव घडीभर मन बहलाने के लिए जरा कुछ इधर उधर प्रयत्न करते हों तो उससे कुछ लाभ न होगा।

जो लोग जागृत न होंगे, जो अपनी परिस्थिति का निरीक्षण करने में असमर्थ होंगे, जिन्हें वर्तमान परिस्थिति का ज्ञान न होगा, जो आवश्यक स्वार्थ-

...ग करने को तैयार न होंगे, जो अपने सिर मातृभूमि के चरणों पर अर्पण करने को तैयार न होंगे उनसे मातृभूमि की अधोगति ही होगी। अतएव प्रत्येक मनुष्य अपनी उन्नति इस मार्ग से करने का निश्चय कर अपना कर्तव्य करने में तैयार रहे। वर्तमान समय में आर्य जनता को वैदिकधर्म का यही संदेश है। यदि आर्य जनता इस संदेश को सुनेगी और उसके समान आचरण करेगी, तभी पहले के समान उनका यश चारों दिशाओं में फैलेगा। वाचक यहां पर विचार कर देखें कि सब में प्राचीन होते हुए भी हमारा वैदिकधर्म आज भी कैसा बिलकुल नवीन है। आजभी वह हमारा तारक हो सकता है। लोग उसकी आज्ञाओं का पालन अवश्य करें।

परंतु यह सब होने के लिए परमेश्वर का अधिष्ठान चाहिये अपने प्रयत्नों को परमेश्वर निश्चय से यश देगा, अपने प्रयत्नों में जो कुछ न्यूनता होगी वह परमेश्वर पूरी करेगा। अपनी मातृभूमि के उद्धार के कार्य में यदि कुछ कमी हुई तो निश्चय रखना चाहिए कि दैवी प्रेरणा से वह पूर्ण होगी, इस से यश अवश्य ही मिलता है।

त्वमस्यावपनी जनानामदितिः कामदुघा पप्रथना। यत्त ऊनं तत्त आपूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य ॥

अथर्व०

" हे मातृभूमि तूं उत्तम उपजा है और लोगों को आवश्यक उपभोग के पदार्थ देनेवाली कामधेनू ही है। तुझ में जो कमी हो वह परमेश्वर पूरी करता है।" वह तुझे किसी बात की कमी नहीं होने देता।

हमारी मातृभूमि की उन्नति के मार्ग में परमेश्वर सहायक है, यह दृढ विश्वास विशेष उत्साहवर्धक है; अतएव वह राष्ट्रोन्नति साधनेवाला है। इस मंत्र के उपदेश का महत्व तुरंत ही ध्यान में आजायेगा जब कि हम लोग देख लेंगे कि नास्तिक लोगों के राष्ट्र की अपेक्षा आस्तिक लोगों का राष्ट्र ही अधिक सुख-संतोष से रहता है।

" वंदे मातरम् " मंत्र कैसा हृदयस्पर्शी है और उससे मातृभूमि के प्रति कैसा प्रेम व्यक्त होता है, इसका अनुभव आज सब भारतीयों को है। वही भाव—

पृथिव्या अकरं नमः।

अथर्व० १२।१।२६

में है। "मातृभूमि को मैं वंदन करता हूं"। "मातृदेवो भव" की आज्ञा सब को विदित ही है। माता को देवता मान लेने पर उसे प्रेमपूर्वक नमस्कार करना उचित ही है। वह नमन कई मंत्रों में वेदों में आया हुआ है। सर्व प्रथम इसी मंत्र से "वंदे मातरम्" की कल्पना उत्पन्न हुई। तदनंतर वह बढी। इस बात को कोई न भूले। अस्तु।

मातृभूमि की उपासना की यह सब रीति और पद्धति निरंतर मनन करने योग्य है। परंतु यह उपासना करनेके लिए मनुष्य में कुछ योग्यता भी आनी चाहिए। उस योग्यता के विना मनुष्य इस मातृभूमि की यह उपासना कर ही नहीं सकता। देखिए इस तयारी के लिए राष्ट्रगीत में क्या कहा है।

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्।
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः॥

अथर्व. १२।१।५४

'मैं अपनी मातृभूमि में उच्चतर हूं और शत्रु के हमले मुझे डगमगा नहीं सकते। मैं प्रत्येक दिशामें विजयी उत्साहसे युद्ध करनेवाला और शत्रुको भगा देनेवाला हूं।'

इस मंत्र की शब्द योजना मनन करने योग्य है। अपनी तैयारी किस प्रकार करनी चाहिए इस विषय की वेदों में जो सैकडों सूचनाएं हैं उनका सारांश 'सह मान और असह्य' इन दो शब्दों में बताया जा सकता है। यह निःसंशय है कि मनुष्य 'सहमान और असह्य' बने जिससे कि अपनी ही विजय होगी। इन दो सांकेतिक शब्दोंका अर्थ देखिए—

१ सहमान - शत्रु के हमले होनेपर स्वतः अपना स्थान न छोडकर उन्हें लौटाने वाला।
२ असह्य - शत्रुपर हमला करके उन्हें भागने को विवश करनेवाला।

जो मनुष्य ऐसा होता है उसकी विजय होती है।

शत्रुके कितने ही हमले हुए पर तिसपर भी न डिगनेवाला, अपना स्थान न छोडने वाला और शत्रु के हमलों को लौटानेवाला यही तैयारी की एक बाजू है। इसी की दूसरी बाजू यह है कि यदि अपना शत्रुपर हमला करें तो शत्रु उसे सह न सके, उससे शत्रुका पैर पीछे को हटना ही चाहिये और अपना पैर आगे पडना चाहिए—

इन दो शब्दों ने स्पष्टतया बतला दिया है कि हमारी तैयारी दो प्रकार की होनी चाहिए संरक्षणात्मक और आक्रमणात्मक। वाचक इसको देखें जिससे उन्हे पता चलेगा कि वैदिक आदेश के अनुसार हमारी तैयारी कैसी होनी चाहिए। इसी के संबंध का आगे का मंत्र देखिए —

त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान्हन्मि दोधतः॥
अथर्व० १२।१।५८

" मै तेजस्वी और वेगवान हूं। जो घातक शत्रु हैं उनका मैं नाश करता हूं। '

अपनी तेजस्विता और वेग शत्रु से अधिक होना चाहिए। अपने तेजसे शत्रु को चकाचौंध होनी चाहिए और अपने वेग से शत्रु पीछे पड जाने चाहिए। जिस किसी शस्त्र का उपयोग हमे करना है वह शत्रु के शस्त्र से प्रबल और तेजस्वी होना चाहिए। तभी अपनी विजय होगी ऐसा न हो तो विजय की आशा ही छोडदेनी चाहिए।

यदि हम शांति का शस्त्र उठावें तो वह भी आखीर तक टिकनेवाला चाहिए। यदि हिंसक शस्त्र उठावें तो वह भी शत्रुके हिंसक शस्त्रकी अपेक्षा अधिक तेज होना चाहिए। पहला ब्राह्म शस्त्र है और दूसरा क्षात्र शस्त्र है। कोई भी शस्त्र क्यों न हो वह इतना तेजस्वी हो परिणाम कर सके और उसका जितने जल्द हो सके उतने जल्द और परिणामकारक रीति से उपयोग करना चाहिए। तभी यशप्राप्ति होगी।

राष्ट्रगीत की इस शिक्षा पर हर एक मनुष्य को विचार करना चाहिए। ये मंत्र अतीव महत्व के और प्रत्येक अवस्था में बोधप्रद हैं। इसीसे वाचकों को चाहिए इसपर योग्य विचार करें और इनके उपदेशों को जितने जल्द बन सके आचरण में लावें।

वाचक इस पूरे राष्ट्रगीत पर विचार करें और देखें कि वह कैसे गंभीर विचारों से भरा है। ऐसे अत्यंत राष्ट्रीय महत्व का राष्ट्रगीत हम लोगों को दिया इसके लिए वेदद्रष्टे ऋषियों के तथा वह आज दिनतक जीवित रखने वाले महानुभाव द्विजवरों के कितने ही धन्यवाद गावें तब भी पूरे न पडेंगे।

वैदिक कर्तव्य शास्त्र।

[ले०—श्री. पं. स्ना. धर्मदेवजी सिद्धान्तालंकार विद्यावाचस्पति, संपादक—"वेद संदेश" (कर्णाटक मासिक), सह संपादक – " ब्रह्मचर्य " (अंग्रेजी मासिक); प्रकाशक- " स्वाध्याय मंडल, औंध जि. सातारा.)]

वेदमें "वैदिक कर्तव्य शास्त्र" के विषयमें जो जो उल्लेख हैं उनकी उत्तम संगति लगाकर पं० धर्मदेवजीने यह ग्रंथ निर्माण किया है। "वैदिक कर्तव्य शास्त्र" के संबंधमें इस समय तक ऐसा उत्तम ग्रंथ प्रकाशित नहीं हुआ है। इस लिये हम कह सकते हैं कि इस समय इस विषयपर यह अद्वितीय ग्रंथ है। भ्रातृभाव, मित्रदृष्टि, जीवनोद्देश्य, आत्मौपम्य दृष्टि, कर्मका नियम, पापनिवृत्ति, समविकास, व्यक्ति और समाज, स्वाधीनता, स्त्री शिक्षा, कर्तव्य, ईशभक्ति, पवित्रता, आत्मसंयम आदि अनेक उपयोगी विषयोंके संबंधमें अनेकानेक वैदिक प्रमाण देकर वैदिक कर्तव्योंका विवरण इस पुस्तक में किया गया है। अत यह पुस्तक जैसा पुरुषोंको वैसा ही स्त्रियोंको अत्यंत पढने योग्य है। जो लोग वेदमें कहे कर्तव्योंको जानना चाहते हैं और उनका आचरण करने द्वारा अपना सुधार करके अपना अभ्युदय तथा निश्रेयस साधन करना चाहते हैं वे इस पुस्तक को अवश्य पढें। मूल्य १।) और डा० व्य० ।) है।

हिंदुसमाज समर्थ कैसा बनेगा?

[मूल लेखक — श्री. पं. महादेव शास्त्री दिवेकर। अनुवादक—पं० भोलानाथजी राव]

प्रकरण तीसरा.

—मनोबल विचार—

(१) जिज्ञासा नाशक वेदान्त

हिंदुसमाज के मन का अभ्यास करने से स्पष्ट विदित होता है कि जिज्ञासा नाशक वेदांत उसके हाड मांस में अच्छे तरहसे मिल गया है। हिन्दुओं का वेदान्त प्रयत्नवाद को नष्ट करनेवाला और दैववाद को बढानेवाला है। संसार में सब कार्य प्रभुसत्ता ही से चलता है इस कारण मानवी प्रयत्न द्रव्यसंग्रह तथा बालकों और स्त्रियों की चिंता करना व्यर्थ है, किसको स्त्री, किसके बाल बच्चे, हमें देशसे क्या करना है स्वराज्य की हमें आवश्यकता नही। इस प्रकार की पौरुषशून्य विचार सरणी हिन्दू समाज में ओतप्रोत भरी हुई है। समाज को वेदान्तका अजीर्ण होनेका तो यह परिणाम नही है? प्रायः ऐसा देखा जाता है कि जिनके मूछों की रेख भी नही फूटी है ऐसे नवयुवकों से लेकर अतिवृद्ध स्त्री पुरुष तक जो एकही प्रकार की विचार सरणी देखी जाती है उसका नाश हुए बिना समाज कभी भी उन्नति नहीं कर सकता। इस विचार सरणी के फैलने का क्या कारण है, इस बात का शोध करना महान आवश्यक है। हिंदु समाजके स्वभाव, उसकी ऐसी दशा और उपनिषत काल से समाज में जो निवृत्ति परता दीख पडती है " इन सब का क्या कारण है इस बातका साधारण रूप में विचार करने के अनन्तर हम वेदांत की तरफ चलेंगे।

समाज की दो शाखाऐं होतीं है। एक अंतर्मुख समाज और दूसरा बहिर्मुख समाज। अंतर्मुख समाज में तत्वज्ञान की वृद्धि होती है। तत्वज्ञान से पिंड ब्रह्माण्डका ज्ञान होता है। और भौतिक व व्यवहारिक ज्ञान का नाश होता है। बडे वृक्ष के नीचे छोटे वृक्ष कभी नही बढते। तीक्ष्णबुद्धि के सन्मुख अल्पबुद्धिका तेज मंद होता है उसी प्रकार तत्वज्ञानवृद्धि के साथ इतर व्यवहारिक ज्ञान की वृद्धि नही होती। किसी समाजमें तत्वज्ञान की वृद्धि कब होती है? यह जानना बडी कठिन समस्या है। सामान्यत: ऐसा देखा जाता है कि अन्नवैपुल्यता, जलवायु की अनुकूलता व सृष्टि सौंदर्य पर ही तत्वज्ञान की वृद्धि निर्भर होती है। " पहले आत्मा पिछे परमात्मा " इस लोकोक्ति के अनुसार किसी स्थिति में भी समाज को प्रथम अन्न की ही आवश्यकता होती है। यदि अन्न की कमी और पानी की अनुकूलता न हुई तो तत्वज्ञान बढने के लिये कोई भी साधन नही रहता। यदि हम यह कहें कि तत्वज्ञानकी वृद्धि ही अंतर्मुख का अनन्य सामान्य लक्षण है तो कुछ भी हानि नही होगी।

अब बहिर्मुख समाज की स्थिति पर भी विचार करना महान आवश्यक है। बहिर्मुख समाज जीवन कलह, स्पर्धा तथा एक दूसरे से उन्नति करने ही में तत्पर रहता है। इसका कारण सुख साधनों के वृद्धि-की उत्कट इच्छा व सुख की कल्पना ही है। बहिर्मुख समाज, अंतर्मुख समाजकी भांति सृष्टिसौंदर्य को देखकर केवल मुग्ध ही नही होता परन्तु उसे सुख वृद्धिके उपयोग में लाने की चेष्टा करता है। बहिर्मुख समाज की प्रवृत्ति अन्नमूलक होती है। वह अन्नार्थ सृष्टि पर प्रभुत्व जमाता है। अत्यन्त परिश्रम करके,

अन्न प्राप्त करना ही उसका सहज स्वभाव बन जाता है। थोडा भी अन्नस्वास्थ्य हुआ कि व्यक्ति और समाज सुख, देशोत्कर्ष और साम्राज्य वृद्धि के महत्वाकांक्षा की भूमिति श्रेणि से वृद्धि होती है। साधन स्वास्थ्य और सुलभता; इन्ही कारणों से बहिर्मुख समाज में बुद्धिमत्ता पूर्वक उलट फेर होता रहता है। बहिर्मुख समाज हिसाबी दृष्टि का होने के कारण सदैव उसी कार्यको करता है जिससे उसे लाभ की आशा हो। अंतर्मुख समाज में वृत्ति व भावना से जो खलबली तत्वज्ञान के क्षेत्र में होती है वह बहिर्मुख समाज के व्यवहार क्षेत्रमें नही होती। कारण कि प्रत्यक्ष व्यवहार में वृत्ति व भावना की अपेक्षा व्यवहारिक बुद्धि का ही अनुभव विशेष होता है। सारांश यह है कि बहिर्मुख समाज, बुद्धि प्रधान व अंतर्मुख समाज वृत्ति भावना व बुद्धि प्रधान होता है।

जीवन पोषक बातों में बहिर्मुख समाज शीघ्र ही कूद पडता है क्योंकि उसमें तो उसे सुख प्रत्यक्ष ही दिखलाई देता है। परंतु अंतर्मुख समाज, जीवन पोषक तत्वों के अच्छे होने पर भी उन्हें शीघ्र ग्रहण नही करता। इसका कारण उसकी अंतर्मुखता ही है। जीवन पोषक अच्छी बातों को शीघ्र कार्य में ले आना और बुरी बातों को छोड देना बहिर्मुख समाज का प्रधान स्वभाव है। परंतु अंतर्मुख समाज के अनुयायियों में व्यवहारिक बुद्धि की अपेक्षा वृत्ति व भावना की प्रबलता होने के कारण यदि कोई बात बुरी हुई तो भी वह उसको शीघ्र त्याग नहीं करता और यदि वह कितनी अच्छी हुई तो भी उसे शीघ्र ग्रहण नही करता।

उपर के विवेचन पर लक्ष रखते हुए यदि हम हिंदु समाज का विचार करने लगें तो हमें विदित होगा कि हिंदुसमाज अंतर्मुख समाज है। अंतर्मुख होने के कारण इसमें तत्वज्ञान की बाढ व तत्वज्ञान-जन्य अनेक धर्मपंथों की बाढ कितनी विशेष होगई है इसमें कुछ भी संदेह नही है। हिंदुसमाज के मानसिक विचारों पर तत्वज्ञान का सबसे बडा प्रभाव है परंतु वह तत्वज्ञान व्यवहारिक ज्ञान जिज्ञासा को नष्ट करने वाला बन रहा है। बहिर्मुख समाज प्रवृत्ति पर निर्भर है तो अंतर्मुख समाज निवृत्ति को ही मुख्य समझता है। हिंदुसमाज के निवृत्तिपर स्वभाव होने का मुख्य कारण वेदांत ही है। हिंदू लोग प्रायः तुटक वृत्ति व सन्यास वृत्ति के हैं। इन लोगों के ऐसे स्वभाव बनानेके अन्य कारणों से वेदान्त भी एक मुख्य कारण है। कुछ लोगों का कहना है कि महाराष्ट्रीय साधुसंतों ने ही निवृत्ति का उपदेश दिया, उनके भागवत धर्म ही के कारण समाज में पंगुता आगई। परन्तु यह विधान निराधार ही प्रतीत होते हें। यदि हम यह मान लें कि महाराष्ट्र संतों ने महाराष्ट्र देश में निवृत्तिका उपदेश दिया पर महाराष्ट्र देश के बाहर भी तो सब जगह निवृत्ति ही दीख पडती है, उसका क्या कारण है? ऐसा कहा जाता है कि समर्थ रामदास ने प्रवृत्ति धर्म की शिक्षा दी पर उन्हों ने भी कितनी शिक्षा दी यह प्रश्न है। श्रीसमर्थ के (कवितासमुद्र) "लक्षग्रंथ' में चार पांच सौ कविताएं प्रवृत्ति पर लिखी हुई हैं परन्तु उस लक्षग्रंथ के अथाह समुद्र में वे राई के सदृश ही प्रतीत होती हैं। इस प्रकार यदि हम प्रवृत्तिपर लिखी हुई कविताओं को देख ते बैठें तो हमें तुकाराम, ज्ञानेश्वर, एकनाथ, नामदेव के बहुतसे ग्रंथ मिलेंगे जिनमें प्रवृत्तिपर कविताएं होंगी परंतु सब संतों ने जितनी कविताएं प्रवृत्तिपर लिखी हैं उससे कहीं अधिक निवृत्ति पर ही लिखी हैं। यह दोष महाराष्ट्र संतों का नही है और न महाराष्ट्र देश के बाहरके साधुसंतों का है। हिन्दुस्तान के सब संतों ने अपने से पूर्व आद्य शंकराचार्य प्रभृति आचार्यों के तत्वज्ञानका अनुवाद किया है। यह "भाष्यकार से रास्ता पूछते हुए" ऐसा कहने वाले ज्ञानेश्वरके उद्गारसे सिद्ध होता है। वेदान्त तत्वज्ञान मूलक शाब्दिक कोटि व पिष्टपेषणके जो अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत व द्वैताद्वैत संस्कृत संप्रदाय निकले थे और जो वाङ्मय टीकोपटीका व प्रति टीका से बढे थे उनका भाषांतर काव्य साहित्य युक्त देशी भाषा में करने के सिवाय इन लोगोंने है? विशेष क्या किया? सारांश यह है कि सब लोग निवृत्ति के आविष्कारक नहीं थे परंतु पूर्व आचार्यों की लाई हुई निवृत्ति के उपदेशको फैलाने वाले थे।

संतों से पहले आचार्यों ही ने सर्व प्रथम निवृत्ति का उपदेश दिया, यह भी सिद्ध होना कठिन है। कारण कि इन सब आचार्यों से पहले ही गौतम बुद्धने निवृत्ति का प्रचार कर दिया था। बुद्ध व जैन धर्म ने समाज में प्रवृत्ति परता हटाकर जो संन्यास धर्म का प्रचार किया था उसी के अवैदिक स्वरूप को दूर करके वैदिक स्वरूप लाने में ही सब आचार्यों को परिश्रम करना पडा। गीतारहस्य के उपसंहार में रहस्यकार ने श्रीशंकराचार्य के समय कार्य व उनके समय का पर्यालोचन किया है। इस पर से ऊपर के अनुमान की पुष्टि होती है। गौतम बुद्ध के पूर्ण निवृत्ति परता के उपदेश का प्रभाव हिंदुधर्मसमाज पर इतना हो गया था कि पूर्ण प्रवृत्ति पर रहने वाले इस्लाम समाज से जब उनका सामना हुआ तब हिंदुसमाज को उनके सामने नमना पडा। यदि हम दूरदृष्टि से विचार करें तो हमें विदित होगा कि गौतम बुद्ध ही निवृत्ति व सन्यास के जनक, शंकराचार्य प्रभृति आचार्य उस तत्व के रूपांतरकार, और हिंदू साधुसंत उस तत्व के प्रचारक हुए।

गौतम बुद्ध का भी धर्म कहाँ से आया? उसने इस धर्म को कहाँ से उत्पादन किया? क्या उसका जन्म हिंदुस्तान के बाहर हुआ था? क्या गौतम बुद्ध की निवृत्ति पहले और कहाँ अवतीर्ण हुई थी? इस प्रकार के विचार यदि हमलोग शोधक बुद्धि से करने लगें तो "किं प्रजया करिष्यामः येषां नायमात्मा नायं लोकः" ऐसे गर्जनेवाले उपनिषत व सरितप्रवर का स्मरण होता है। और बौद्ध धर्म का उदय, विशेषतः उस धर्म के संन्यास व निवृत्ति का उदय उपनिषत के पैदा करने वाले से हुआ है। ऐसा करनेका साहस होता है। श्वेताश्वेतर उपनिषद में कपिल सांख्य का नाम आया है। निरिच्छ सांख्य मत और बौद्ध मत यह दोनों एक ही मत के जुडवाँ सन्तान समान प्रतीत होते हैं। दशों उपनिषदों में बहुत थोडा भाग कर्म योग का है। उपनिषद अरण्यक में से लीगई हैं। जंगलों में ही वे पढी जाती हैं। घर में व गांव में उपनिषदों का पढना नहीं चाहिये। प्रायः इस प्रकार की विचार सरणी देख पडती है। संहिता ब्राह्मण और अरण्यक के सम्मिश्रण से वेद की उत्पत्ति हुई है। वेद का आखिरी भाग उपनिषद है। इसी को वेदान्त कहते हैं। वेदान्त में पूर्ण निवृत्ति का ही उपदेश दिया है। कहीं कहीं निष्काम - कर्मयोग का प्रवचन भी मिलता है। तात्पर्य यह है कि हिंदुस्तान के हिंदू लोगों की निवृत्ति परता का खोज करते करते हमें उपनिषद पर्यंत जाना पडता है।

वेद के अंत्य भाग में निवृत्ति क्यों और कहाँ से आई यह बात भी विचार करने लायक है। संहिताके ब्राह्मण भाग में घोडे, पशु, प्रजा इन्हीं की मांग है। वैदिक कर्मकाण्ड के भाग में सर्वत्र प्रवृत्तिपोषक विचार ही बाहुल्यता से मिलते हैं। सौ वर्ष उपभोग करो सौ वर्ष राज्य करो उत्तम गाय, घोडे, उपजाऊ प्रदेश, स्वादिष्ट अन्न की पूर्णता और उत्साही तरुण प्रजा की ही मांग है। प्रजा से क्या करना है, राज्य की आवश्यकता नहीं, द्रव्य दुःखदायी है इस प्रकार की जो विचार सरणी फैल रही है उसका मुख्य कारण सुखोपभोग की परम सीमाके उपरान्त का वैराग्य ही है। इच्छित अन्न की प्राप्ति, सुखोपभोग और उत्तम हवा पानी की अनुकूलता होने पर तत्व ज्ञान की वृद्धि व निवृत्ति का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इस बात से यह सिद्ध होता है कि हिंदुस्थान की निवृत्ति परायणता का मुख्य कारण अन्न की बाहुल्यता ही है। अब अन्न की कमी होगई है। जब हिंदुस्थान में जहाँ तहाँ दरिद्रता आगई और कंगालपने का संचार होगया तब हिंदु समाज को जगाने के निमित्त अब प्रवृत्ति का विचार होना चाहिये। निवृत्ति को ध्येय समझकर जो व्यवहार चला है उसे रोककर प्रवृत्ति ही हमारा मुख्य ध्येय है ऐसा कुछ समय तक समझना श्रेष्ठ है। समाज को निवृत्ति का इतना अजीर्ण हो गया है कि अब प्रवृत्ति की औषधि दिये बिना वह बिष जा ही नहीं सकता। अब हम प्रवृत्ति मार्ग को रोकने वाले वेदांत का विचार करेंगे।

संसार में ज्ञान को अत्यंत पवित्र माना है। ज्ञान ही संसार का जीवन है। ज्ञान ही का संसार पर

राज्य है । अज्ञानी को ज्ञानी की दासता स्वीकार करनी पडती है । ज्ञान की ऐसी महिमा होते हुए भी हिंदुस्तान में ज्ञानजिज्ञासा की उत्कंठा नहीं दिखलाई पडती । इसका कारण ज्ञान के महत्व को न जानना ही है अथवा कोई बात ज्ञान जिज्ञासा की प्रतिबंधक है । पहले के कारणसे दूसरा कारण ही ठीक प्रतीत होता है । हिंदु जनताने ज्ञान के महत्व को थोडा बहुत अवश्य ही जाना है परंतु संसार के विविध ज्ञान शाखा में हिंदुसमाज की प्रगति नही दीख पडती । इसका कारण जिज्ञासा नाशक वेदान्त ही है ।

सर्व संसार में ब्रह्मज्ञान ही श्रेष्ठ है, उस ज्ञान के सन्मुख इतर सर्व ज्ञान तुच्छ है ऐसा समझने के कारण हिंदू समाज वेदान्त ज्ञानको छोडकर दूसरी ओर लक्ष ही नही करता । हिंदुस्तानमें नाना विद्या, कला अनेक प्रकारके शास्त्रीय शोधों की बाहुल्यता किसी समय में अवश्य ही थी । इसमें कोई संदेह नही परंतु बीच ही में अवदशा की एक ऐसी घडी उपस्थित हुई कि विद्या, शास्त्र, व्युत्पत्ति तथा अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है । इस प्रकार की विचार सरणी प्रारम्भ हुई और इसी के साथ साथ यह भी प्रतिपादन प्रारम्भ हुआ कि ईश्वर प्राप्तिके निमित्त विद्या कला, शास्त्र इनकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है । मनुष्य शरीर का मुख्य ध्येय ईश्वर प्राप्ति है । ईश्वर प्राप्तिका साधन भक्तिभाव है । यदि केवल भक्ति भावही से ईश्वर की प्राप्ति होती है तो इतने प्रयत्न रचने की क्या आवश्यकता है ऐसी भावना स्वाभाविक ही है ।

समाज की ऐसी विचार सरणी होने के मुख्यतः पण्डित और संतलोग ही जवाबदार हैं । मध्य युग में पण्डितोंने ज्ञानको शास्त्रीय परिभाषा व टीका ग्रन्थ द्वारा इतना क्लिष्ट बना रखा है कि पण्डितों का भी उसमें प्रवेश होना कठिन हो गया । सब ज्ञान संस्कृत भाषा में और वह भी पण्डितों के चक्रव्यूह में दीख पडता है । ज्ञान के इतने उंचे अभेद्य किलेपर जा बैठने से उसकी प्राप्ति नही हो सकती ऐसा देखकर जनता उस ज्ञान का तिरस्कार करने लगी और पण्डितों ने उस ज्ञान द्राक्षको दूर हीसे बताया । इस लिये जनता में द्राक्ष खट्टे हैं । इस लिये नही चाहिये ऐसी प्रतिक्रिया प्रारंभ हुई। पण्डितो ! अपना ज्ञान अपने पास ही रखो ! अहन्ता गुण से ब्रह्मराक्षस करने वाले तुम्हारे ज्ञान की अपेक्षा शुद्ध भाव से ईश्वर प्राप्ति का ज्ञान होना बहुत अच्छा है इस प्रकार की घोषणा संतोंने शुरु की ।

जिस प्रकार से ज्ञान संस्कृत भाषा के कठिन ताले व अवच्छेद्कावच्छिन्न की गुफा में बंद था उसी प्रकार वह कर्मठ आचार विचार के करीले जाल में भी फंसा हुआ था । मध्ययुगोत्तर निबंध ग्रंथ में सर्वत्र प्रायश्चित धर्म का ही उल्लेख है । प्रातःकाल से सायंकाल एक सब समय धर्म कर्म ही से बंधा हुआ है। किंचित मात्र भी उस पंथपर से हटने का समय नहीं मिलता । वर्षभर में जितने दिन होते हैं उससे दुगने तो व्रत और वैकल्य हैं । हेमाद्री का चतुर्वर्ग चिंतामणि तो व्रत और वैकल्य का कोषही है। उसके विरुद्ध थोडा भी कुछ किया तो प्रायश्चित्त। यदि हम उन प्रायश्चित्तों को करते ही रहें तो हमें संसार का ज्ञान प्राप्त करने के लिये समय ही नही मिल सकता । ऐसी विचार सरणी होने के कारण ही ज्ञान जिज्ञासा का नाश हुआ । ' यः क्रियावान् स पंडितः ' क्रियाविहीन वाक्पटुता व्यर्थ है इस वाक्य का अर्थ "कर्मठ मनुष्य " इस प्रकार से होने लगा । जो कार्य को संपादन करके दिखलाता है वही मनुष्य बुद्धिमान है " सत्य में कर्ता पुरुष ही पुरुष है" इस तात्विक अर्थका नाश होकर इस प्रकार की मिथ्या कल्पना उत्पन्न हुई कि सब दिन तेली के बैल की तरह जो मनुष्य काम ही में लगा रहता है वही क्रियावान है । धर्मसिंधुकार की एक आख्यायिका कहना है वह ग्रंथ पढकर एक गृहस्थ ग्रंथकार के यहाँ उसका धर्माचरण देखने गया उस समय ग्रंथकार प्रात काल उठकर अंगीठी में आग सुलगाकर ताप रहा था । यह देखकर पृच्छक ने पूंछा कि आपके ग्रंथ से आप के व्यवहार कैसे मिलाये जाय? ग्रंथकारने ग्रंथ में लिखे हुएके अनुसार उत्तर दिया " कि मै यदि कर्मठपने में बैठा रहा तो ग्रंथ लिखने को समय कहाँ है " इस बात से यह स्पष्ट विदित होता है कि उस समय में कर्मठपने

कैसी छाप थी।

नहींसके अनन्तर कर्मठपन के करीले पाश में जकड़े हुए और संस्कृत परिभाषा के गुफा में छिपे हुए ज्ञान को बाहर निकालने का कार्य प्रारम्भ हुआ। संतोंने अपने वाक्प्रहार द्वारा कर्मठपन के जाल को तोड डाला और संस्कृत भाषा में छिपे हुए ज्ञानका तत्वज्ञान अनेक शास्त्रोंसे लेकर उसे मराठी भाषा में बतलाने के लिये ग्रंथ संपत्तिका निर्माण किया। सब लोगों को देशी भाषामें ज्ञानोपदेश की दृष्टी से ज्ञानेश्वरादि संतोंका प्रयत्न इतना सफल हुआ कि वेदान्त के सिवा दूसरे एक भी ज्ञानविषयका संस्कृत से मराठी भाषा में अनुवाद नहीं हुआ। न्यायमूर्ति रानडे का संतों के विषय में कहना है कि "संतों ने भटभिक्षुकों के बंड (जमात को) कम कर दिया और देव व मनुष्य के मध्यस्थों की कल्पना समल नष्ट कर दी।

वस्तु स्थिती का विचार करते हुए यह कहना पडता है कि न्यायमूर्ति का यह विधान अत्यन्त साहसिक है। कर्मठ भट्टोंकी भिक्षुकी संतों ने नष्ट की ही होगी परंतु संतों की मध्यस्थी की चाल उसी समय से विशेष हुई। देव व मनुष्य इनके मध्यस्थी संत होने हैं। वे संत ईश्वर से मिलाते हैं। अभिमान त्याग कर संतों की शरण जाना चाहिये। ऐसी विचारसरणी के कारण संतों के पीछे बहुजन समाज विशेष रीतिसे लगने लगा। ईश्वर प्राप्ति के लिये ही मनुष्य जन्म है और उस ईश्वर से मिलाने वाला मध्यस्थ संत है ऐसे साध्य साधन संबंध होने के कारण गुरूपदेशका व भोंदू गुरुओं का इतना प्रचार हुआ कि उस ढोंग के फंदे से हिंदुसमाज आज तक नहीं छूटा। आधुनिक विद्वानों को भी गुरुपदेश व साधू लोगों का इतना पागलपन सवार है कि, साधू के आशीर्वादसे संतान होती है और उनकी कृपा से बढती होती है। इसी प्रकार के विचारों की समझ देख पडती है। सारांश यह है कि संतों ने अपनी प्रभुत्व(आडम्बर) हद से ज्यादा बढा रखा था। देवभेट की कल्पना पर समाज को अपनी ओर आकर्षित कर लिया था, जगन्मिथ्यात्व का वेदान्त बतलाकर और ब्रह्म निरूपण का उपदेश देकर समाज की जिज्ञासा इतनी नष्ट कर दी थी कि संसारिक व्यवहार की ओर अर्थात् धर्मशास्त्र और अभ्युदय कीओर देखने की समाज की प्रवृत्ति भी नष्ट कर दी।

तत्वज्ञान का अधिकारी कौन है? उसकी क्या योग्यता है? उसकी बुद्धि की तीव्रता कितनी है? इन सब विचारों को एक तरफ छोडकर त्रिविधताप से तप्त व संसार की झंझाटों से घिरा हुआ मनुष्य भी यदृच्छा से परमार्थ का अधिकारी बनने लगा। सिद्धान्त यह है कि ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। और यह भी सत्य है कि वह ज्ञान अत्यंत शुद्ध व कुशाग्र बुद्धि के मनुष्यों के सिवाय दूसरों में नहीं होता। ऐसी स्थिति होने के कारण उस ज्ञान की आवश्यकता ही नहीं इसलिये भक्ति भावके भक्तिसंप्रदाय की उत्पत्ति हुई। इस संप्रदाय का वर्चस्व प्रतीत हुए हजार वर्षों से इतना है कि उससे बाहर निकलना कठिन ही दीख पडता है।

ज्ञानेश्वरादि साधु संतों के समय में वैराग्य उत्पन्न होने की बहुत ही अनुकूल स्थिति थी। जहाँ तहाँ लूट,मार,दुष्काल व सुलतानी संकटों से समाज अत्यन्त दुःखित हो गया था। इस वैराग्य के समाधान के लिये क्रियाशून्य करने वाले वेदान्त की आवश्यकता थी, उसका प्रचार प्रारम्भ हुआ। प्रतिभासंपन्न कुशाग्रबुद्धिग्राह्य जो तत्वज्ञान है वह अचिंत्य है इस से उसका विचार करना ही व्यर्थ है और जो विचार करने लायक संसारिक विषय हे वे सब मिथ्या हैं, संसार माया है इन सब कल्पनाओं से अभ्युदय के विचार की इति श्री होगई और वेदान्त तत्वज्ञान सबसे अच्छा है ऐसा कहकर जनताने उसी को ग्रहण किया।

हिन्दुसमाज को यदि भविष्य में जिवंत समाज बनकर रहना है तो इस जिज्ञासा मारक वेदान्तको नमस्कार करके हिमालय की गुफा में भेज देना हो उत्तम होगा। यदि नहीं तो ऐसे सुसंपन्न देशको मिथ्या कहकर इसे अन्य जाति के हाथ में सौंपकर हिन्दू जनता को शाश्वत सुख मार्ग को पकडना चाहिये। यह वेदान्त विदेशीयों को लाभदायक तथा उनका तारक है परंतु हम लोगों के लिये मारक

है। "सर्व माया" कहकर सर्वस्व त्याग कर यदि हिंदुस्तान के लोग संसार के बाहर चले जायेंगे तो इसे छोडकर विदेशीयों को और आनन्द की क्या बात हो सकती है? हिंदू समाज को जीवित रखने के लिये अब कर्तव्यपरायण वेदान्त की आवश्यकता है। जहॉं जहॉं ब्रह्ममाया का निरुपण, ब्रह्ममाया का गडबड और निवृत्ति प्रचारक संतोंने इतना शोर मचा रखा है कि समाज स्वास्थ्य चिंतन की इति श्री ही होगई है। ऐसा कहते हैं कि हिंदुस्थान में एक लाख निरुद्योगी साधु रहते है। इन एक लाख साधुओं का पालन पोसन करना हिंदूसमाज को शीघ्र ही मृत्यु मार्ग को पहुंचानेवाला है। साधू क्या करता है, क्या खाता है, क्या कहता है, इस और लोगोंका ख्याल विशेष रहता है कारण कि सिद्धोंके लक्षण साधकों में अवश्य होना चाहिये ऐसा सिद्धान्त है। जिस प्रकार सिद्ध करता है उसी प्रकार साधक को भी करना चाहिये। सिद्ध निवृत्ति ही बतलाता है निवृत्ति ही बोलता है और निवृत्त हो ऐसा हो उपदेश करता है। ऐसे निवृत्ति परायण एक लक्ष साधू जिस समाजके ध्येय हैं वह समाज भला आपत्ति के गर्त में से कैसे बाहर आ-सकता है? यह एक लाख साधू दुर्बल समाज के सिरपर व्यर्थ ही पेट पालते हैं और साथ साथ धर्म डूबा धर्म डूबा इस प्रकार भी कहते जाते हैं इन साधुओं का धर्म बडा यह कहनेका केवल यही अर्थ है कि इन लोगों का अब पहले की तरह पूरी खुराक नही मिलती। परंतु साधुओं को यह नही समझ पडता है कि खुराक न मिलने का कारण समाज की अन्नन्यूनता व दारिद्रता ही है। इन साधुओं को अन्य देश में अन्न जाते देखकर दुःख नही होता, अन्याय देखकर संताप नहीं होता विशेष क्या पतिव्रता स्त्री पर यदि किसी ने हाथ उठाया तब भी ये लोग चुपचाप देखते ही रहते हैं। हिंदु समाज को चाहिये कि इन साधुओं की एक शाला बनवादे अथवा इन्हें रुग्णालयों में रुग्णशुश्रुषाका काम दें या इनकी भरती सेना में करवा दें।

साधन चतुष्टय संपन्न मनुष्य वेदान्त का अधिकारी है ऐसा प्राचीन शास्त्रों में लिखा है। अर्वाचीन शास्त्र में भी उसी प्रकार की व्याख्या करनी चाहि हिंदुस्तान का नागरिक हिंदु समाज का अभिमा· गृहस्थाश्रमी और भौतिक शास्त्र में से एक दो शा-खाओं में निपुण ऐसे साठवर्ष के ऊपर के आयु के मनुष्यों को हिन्दू समाज को वेदान्त का अधिकारी समझना चाहिये। तीस वर्ष के भीतर लडके व लड-किये नही मिलते इससे ब्रह्मचारी, पैसा नही मिल-ता इससे वैराग्यशील और कुछ भी करने को नहीं आता इससे ब्रह्मज्ञानी ऐसे जो मनुष्य साधुओं की श्रेणी में चले जाते हैं उसे बंद करना चाहिये। "वैरागी ही वेदान्त का अधिकारी है" इस शास्त्र को कुछ दिनों के लिये बंद करके ढाले मे डालदेना चाहिये। जग छोटा है यह भी वेदान्त पश्चिम की ओर भेजकर, संसार में ईश्वर है कर्तव्य कर्मरूपी कु-सुम से ईश्वर संतुष्ट होता है इस तत्व का लोगों को शिक्षण देना चाहिये। ईश्वर प्राप्तिके लिये अभ्युदय, प्रवृत्ति, स्वराज्य, प्रजा, घर, दार. धन, दौलत इत्या-दि सर्व वस्तुओं की आवश्यकता ईश्वर प्राप्ति के लिये ही है ऐसी प्रवृत्ति हिंदुसमाज के नस नस में भर देनी चाहिये। यदि प्रवृत्ति का अतिरेक होगया अर्थात् हिंदूसमाज में संसार पर साम्राज्य करने की इच्छा उत्पन्न होकर उसकी पूर्ति होने लगी तो निवृत्ति का सूक्ष्म उपदेश भी काम दे सकता है। आधु-निक इस शास्त्रीय जग में शास्त्र संपन्न हो की समृद्धिमें उत्पन्न हुई जोजो शास्त्रीय ज्ञान है उन्हे आत्म-सात किये बिना हिंदु समाज के जीवित रहने की अशा नही की जा सकती। मोटर आगगाडी, तारा-यंत्र की आवश्यकता है और अन्य सुखों की आव-श्यकता है तो उस ज्ञान की तीव्र जिज्ञासा बढानी चाहिये। बिना इच्छा हुए मार्ग की प्राप्ति नही होती। ज्ञान जिज्ञासा के विना ज्ञान की प्राप्ति नही और बिना ज्ञान के अभ्युदय नहीं और अभ्युदय के समय यदि अन्न ही खानेको न हो तो "भूखे पेट परमार्थ कैसा ऐसी परंपरा है।

सारांश, दुर्बल वेदांत ज्ञानजिज्ञासा नाशक वेदांत की हमें जरूरत नहीं। हमें तो ज्ञानवृद्धिदायक वेदांत की जरुरत है। बीमारी से उठा हुआ मनुष्य जिस तरह खाना खाना करता है उसी प्रकार हिंदू-

[सम]ाज को ज्ञानक्षेत्र में करना उचित है। यह ज्ञान नहीं वह ज्ञान नहीं इस प्रकार कह कर जिस ज्ञान की निंदा की है उसी ज्ञान को आधुनिक प्रवृत्ति के अनुसार उपयुक्त समझकर उसे बढाने की चेष्टा करनी चाहिये। शिल्पकला खेती और अन्य उद्योगों को शास्त्रीय पद्धति द्वारा चलाने का ज्ञान हिंदूसमाज को संपादन करना चाहिये। छोटे छोटे बच्चों को जो वेदान्त का पाठ पढाया जाता है, उपनिषद्का शिक्षण दिया जाता उससे उन्हें कुछ भी लाभ पहुंचता है क्या? यदि कुछ होता भी है तो उलटा ही होता है। इसीसे गीता शास्त्र का शिक्षण अवश्य देना चाहिये जिससे उनमें सरल सरल प्रवृत्तिपरता का विकास हो। शालाओंमें भी उतनी ही वेदांत की शिक्षा देना उचित है जिससे ईश्वरनिष्ठा वा पापभीरुत्व इन गुणों का समावेश हो। बालकों तथा स्त्रियों को वेदांतों के गाने और स्तोत्र नहीं सिखलाने चाहिये। उपदेशकों को निवृत्ति व जिज्ञासा मारक वेदांतका उपदेश देना बंद करना चाहिये जहाँ तक हो कठिन परिश्रम कर के सिद्धिदायक वेदांत ही समाज के नस नस में भरना चाहिये।

कर्मका मर्म या कर्ममीमांसा।

(लेखकः— श्री० पं० रामचंद्रजी हेडमास्तर; अंबाला)

प्रस्तावना

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
गीता ४।१६

अर्थः - क्या कर्म है? और क्या अकर्म है? पंडित भी इस विषयमें मोहित है। सो मै तुझे यह कर्म (मीमांसा) बतलाउंगा जिसको जानकर तू अशुभ (दुःखोंसे) छूटेगा॥

आजकल जब हम अपनी चारों ओर दृष्टि डालते हैं तो दो विचित्र घटनाएं दिख पडती हैं। एक ओर तो बाह्य जगतमें पदार्थ विद्याके प्रचुर प्रचार से अतुल प्रकाश, और दूसरी ओर अन्तरीय जगत में मनोमय सूर्यके असह्य संकोचसे निपट अन्धकार। एक ओर तो मनुष्य साहस अर्थात् पदार्थविद्याके बलसे बली होकर मोटरकार दौडता है। हवाई-जहाज उडाता। है रेलें चलाता है। तारवर्क्स फैलाता है। विनातार के भी खबरें पहुंचाता है। अनेक आश्चर्य जनक दृश्य देखता और दिखाता है। दूसरी ओर वही महोदय सभ्य मनुष्य इन सब मायावी, जाज्वल्यमान विविध विभूतियों को रखता हुआ अति असंतुष्टि को प्रकट करता है। उसके शरीरके लिये अच्छेसे अच्छे वस्त्र, उत्तमसे उत्तम विशाल मन्दिर, उसके भोजनके लिये सुस्वादु, सुरस नाना प्रकारके भोजन हैं। उसके सैर के लिये सुंदर मनोहर सुगन्धियुक्त पत्र पुष्पोंसे भरे हुए उद्यान हैं, उसके खेलनेके लिये बडे, खुले, साफ सुथरे मैदान हैं। किंबहुना पदार्थ विद्याकी नान्दी ने उसको प्रसन्न कर में कोई कसर उठा नहीं रखी है। परन्तु हा! शोक, उसका मन अशान्त है। उसकी आत्मा विभ्रान्त है और उसकी खुशियों का चमन पादाक्रान्त है। शरीर सुखी है, पर मन दुःखी है। इस मानसिक सन्तुष्टि को उपलब्ध करनेके लिये वह बहुतेरे प्रयत्न करता है। कभी इधर देखता है कभी उधर। कभी अपने संबंधिपर नज़र धरता है और कभी अपने पडौसीपर हाथ साफ करता है। कभी यहां जाता है, कभी वहां। कभी यह करता है

कभी वह। परन्तु –

" मर्ज बढता गया जूं जूं दवा को "

वाला मामला है। यह व्यष्टिगत अशान्तिकी अग्नि समष्टि रूपमें होकर बडे भयंकर रूप धारण करती है। कहीं पर घोर युद्धके रूपमें फूटती है। और कहीं पर हडताल की शकल में प्रकट होती है। कहीं पर भाई भाई में फूट डलवाती है और कहीं पर राजा प्रजामें वैमनस्यता दिखलाती है। इस असंतुष्टिकी अग्निसे न कोई घर बचा है न कोइ कुटुंब,न कोई व्यक्ति बची है और न कोई जाति। न कोई देश बचा है और न कोई खंड। न राजा बचा है न प्रजा। न कोई शिक्षित बचा है न अशिक्षित। न अमीर बचा है न गरीब। हा! देव। कैसा समय है कि यह अशान्तिकी अग्नि सर्व व्यापक हो कर प्राणिमात्रको भस्म किया चाहती है। इस अग्निका सबसे बडा कार्यक्षेत्र यह हमारा अभागी भारतवर्ष बना हुआ है। जहां इस समय ऐसी ऐसी अघटनीय घटनायें प्रतिदिन उपस्थित होती हैं कि जिनके सुननेसे मृत शरीर पर भी रोम खडे हो जाते हैं। पत्थर भी हिलजाते हैं और वज्रभी पिघल जाते हैं। कहांतक लिखूं इस घटना को देखकर हृदय कम्पता है। आंखोंसे अश्रु प्रवाह बह जाता है। हाथ डगमगाता है लेखनी कानोंपर हाथ धरती है। इस घटना के यथार्थ दृश्यको खींचनेके लिये तो कोइ वाल्मीकि सा कवी या विश्वकर्मा सा चित्रकार चाहिये। मुझ जैसे साधारण बुद्धि मनुष्य में यह सामर्थ्य कहां?

प्रिय पाठको! आइये जरा इस दृश्य को यहां ही छोडिये। हम आज आपको इस दृश्य को देख देख कर रुलानेके लिये नहीं बुलाते। और नहीं रोनेसे कुछ लाभ है। आओ तनिक विचार कर देखें, कि इस सारी दुर्घटना का कारण क्या है। विनाकारण कोइ कार्य प्रकट नहीं होता। इसका भी कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिये। जहांतक हमारी बुद्धि काम करती है और जहांतक हमने संसारके अर्वाचीन या प्राचीन विधानों और महात्माओंके विचारों ओर लेखोंको समझा है हमें तो यही प्रतीत होता है कि आधुनिक मनुष्य समुदाय में एक बडे परिवर्तन की आवश्यकता है। यह परिवर्तन न केवल मनु की सामाजिक या राजनैतिक प्रथा ओं में, न केवल द्रव्य (Capital) और परिश्रम (Labour) के सम्बन्धों में और न केवल शिक्षाप्रणालिमें ही आवश्यक है, अपितु यह परिवर्तन मनुष्यमात्रके हृदयमें, मनुष्यमात्रकी आत्मा में आना अधिक तर आवश्यक है। और जब तक ऐसा नहीं होगा यह अशान्ती एक रत्तीभर भी कम नहीं होगी।

आप शायद कहेंगे कि इतनी शिक्षा फैल चुकी। साइन्सकी उन्नति आकाश तक पहुंच चुकी, क्या अभीतक वह परिवर्तन नहीं आया। हां, मैं कहूंगा हां। यह परिवर्तन नहीं आया। बेशक सायन्स फैली। निःसंदेह शिक्षाका प्रचार हुआ पर यह सब कुछ केवल मस्तिष्कको विकाश देनेवाली (Brain Education or Head Learning)शिक्षा होती है। आत्माको विकाशित करनेवाली विद्या (Soul Wisdom) नहीं। और जबतक यह तत्व विद्या (Soul Wisdom) अच्छी तरहसे प्रचार नहीं पाएगी तबतक तनिक भी कल्याण की सम्भावना नहीं हो सकती।

इस मस्तिष्क विकाश (Brain Education)ने मनुष्यको अन्तिम सीमातक स्वार्थपरायण बना दिया है। वह स्वार्थके लिये पढता है। स्वार्थ के लिये ही पढाता है। वह स्वार्थ के लिये राज्य करता है और स्वार्थ के लिये ही राज्य भक्ति करता है। वह स्वार्थ के लिये ही खाता है, पीता है, जीता है, और यदि दान करता है तो वह भी स्वार्थ के लिये ही देता है। यदि परोपकार करता है तो वह भी स्वार्थ के लिये ही करता है। किं बहुना स्वार्थ वश होकर ही एक जाति मुखसे यह कहती हुई कि सब मनुष्य समुदाय भाई हैं क्योंकि वे एकही पिता (ईश्वर) के पुत्र हैं, अपनेसे कमजोर जातियोंको पांओं में दलना चाहती है और दलती है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को सबूत ही निगलना चाहता है और वश चले तो निगल जाता है। एक देश दूसरे देशके सब धनधान्यको लपेट सपेट कर अपने देशको मालामाल और दूसरोंको कंगाल करना चाहता है।

परंतु तत्वविद्या या तत्व ज्ञान (Soul Wisdom) इस स्वार्थपरायणताके स्थानमें कर्तव्य पालन के जीवनको स्थापन करेगा। यह तत्वज्ञानही है जो मनुष्यको बताएगा कि केवल स्वार्थपरायणता मनुष्यका धर्म नहीं। उसके जीवनका कुछ उद्देश है। कुछ कर्तव्य है और वह कर्तव्य पालनही उसके जीवनका सार है, उसकी संसार यात्राकी अन्तिम गति है।

यहां शायद यह प्रश्न हो सकता है कि यदि स्वार्थ सर्वथाही प्रकृति विरुद्ध (Unnatural) है तो यह भाव मनुष्यके हृदय में विधाताने क्यों रक्खा है? इसका उत्तर यह है कि निस्सन्देह स्वार्थ (selfishness) विकाशपद्धति के आरम्भिक पदों में एक आवश्यकीय भाव है क्योंकि इसके विना जीव अपने हरएक शारीरिक और मानसिक भावों को उन्नत नहीं कर सकता। माता बच्चेको चलना नहीं सिखा सकती जबतक उसके मनको आकर्षण करनेके लिये उसके आगे कोई सुंदर खिलोना न रखे कि जिसको देखकर वह बालक रिंघडने या चलने की चेष्टा करता है। और मनुष्य से नीचे की पश्वादिक योनियोंमें तो इस स्वार्थता के विना निर्वाह ही नहीं हो सकता। यही कारण है आरम्भिक दशा में मनुष्यों में अनुराग (Self-Love) ऐसा ही स्वाभाविक भाव है जैसा पशुओं में, क्यों कि मनुष्य पशुयोनिसेही उन्नत होकर आया है। और हमें आरम्भिक अवस्थावाले मनुष्योंपर इस आत्मानुराग पर कोई दोष भी नहीं देना चाहिये। परंतु यह सब ही मानते है कि मनुष्य योनि का उद्देश्य यही है कि मनुष्य शनैः शनैः पशुत्व से ऊंचे उठता हुआ मनुष्यत्व तथा देवत्व को प्राप्त हो। इसीवास्ते साधारणावस्थामें आत्मानुराग के साथ साथ आत्म त्याग के भावको भी संचार करनेके वास्ते मनुजी कहते हैं:—

> कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।
> काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः॥
> मनु. अ. २। २५

"कामात्मता (selfishness) अच्छी नहीं। और नहि (साधारण अवस्थामें) निरी अकामता (selflessness) ही सम्भव है। क्योंकि कामनाके विना वेदादिशास्त्रोंका पठन पाठन और कर्म काण्ड नही हो सकता। परंतु सभ्य मनुष्यके लिये और विशेषकर उस मनुष्यके लिये जो अपने आप को उच्च कोटिका शिक्षित मानता है यही उचित है कि कर्तव्य पालन को अपने स्वभाव में सबसे पहिले और सबसे उच्चतर स्थान दे।

कर्तव्य पालन क्या है और किस नियम पर स्थित है यह बात आगे विस्तार पूर्वक निर्णय की जावेगी। हां यहां इतनी बात अवश्य स्मरण रखनी चाहिये कि कर्तव्य पालन के भावको यथार्थता में समझने से ही मनुष्य यह निर्णय करने के समर्थ हो सकता है कि किस सीमातक आत्मानुराग (self-love) या आत्मरक्षा (self-preservation) धर्म है और कहां जाकर यह अधर्म है। इसलिये कर्तव्य पालन के भावको सबसे पहले समझना चाहिये।

परंतु यह समझने के लिये यह जरूरी है कि हम यह जाने कि कर्म क्या है किस तरह अपना व्यवहार करना है। इसका जीवात्मासे क्या संबंध है इत्यादि। इस विषय के निर्णय करनेके लिये यह छोटा सा पुस्तक रचनेके वास्ते यह सेवकजन लेखनी उठाता है। परंतु साथ ही यह भी अनुभव करता है कि विषय बडा गम्भीर है और अपनी बुद्धि तुच्छ और शक्ति अल्प। परन्तु सेवाभाव जो हृदयमें खरकता है वह बार बार यही कहता है कि मनुष्यमात्रके हितके लिये इस समय इसी सेवाकी सब से बडी आवश्यकता है। इसलिये यह सेवकजन इस काम को करने का साहस करता है। कहांतक यह इसमें कृतकृत्य हुआ है यह पाठक स्वयं ही विचार लेंगे। यदि इस पुस्तक को पढकर एक भी पुरुष के मनमें परिवर्तन आगया। या इस पुस्तककी त्रुटियों और दोषोंको देखकर किसी विद्वान् महात्माके चित्तमें इस विषय पर अधिक प्रकाश डालनेका विचार आगया तो वह लेखक अपने पुरुषार्थ को सफल समझेगा।

मैं यहां उन महानुभावोंका हार्दिक धन्यवाद करना भी अपना धर्म समजता हूं जिनके रचे हुए पुस्तकोंसे इस ग्रन्थके रचने में सहायता लीगई है। क्यों कि उनकी सहायताके विना ऐसे कठिन विषय में मुझ जैसे साधारण बुद्धि मनुष्यके लिये प्रवेश करना न केवल कठिन ही था अपितु असम्भव था।

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास।

इस समय तक छपकर तैयार पर्व।

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्यय
१ आदिपर्व	[१ से ११]	११	११२५	६) छः	रु १)
२ सभापर्व	[१२ " १५]	४	३५६	२) दो	,, ।-)
३ वनपर्व	[१६ " ३०]	१५	१५३८	८) आठ	,, १।)
४ विराटपर्व	[३१ " ३३]	३	३०६	१॥) डेढ	,, ।-)
५ उद्योगपर्व	[३४ " ४२]	९	९५३	५) पांच	,, १)
६ भीष्मपर्व	[४३ " ५०]	८	८००	४) चार	,, ॥।)
७ द्रोणपर्व	[५१ " ६४]	१४	१३६४	७॥)साडेसात	१।=)
				कुल मूल्य ३४)	कुलडा.व्य.६)

८ कर्णपर्व छपरहा है। उसके ६ अंक होंगे।

सूचना— ये पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज दीजिये तो आधा डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा।

मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

उन्नति की दिशा।

[२६]

(ऋषिः— अथर्वा। देवता— अग्न्यादयः)

ये३ऽस्यां स्थ प्राच्यां दिशि हेतयो नाम देवास्तेषां वो अग्निरिषवः।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ १ ॥
ये३ऽस्यां स्थ दक्षिणायां दिश्यविष्यवो नाम देवास्तेषां वः काम इषवः।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ २ ॥
ये३ऽस्यां स्थ प्रतीच्यां दिशि वैराजा नाम देवास्तेषां व आप इषवः।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ ३ ॥

अर्थ- (ये अस्यां प्राच्यां दिशि) जो तुम इस पूर्व दिशामें (हेतयः नाम देवाः) वज्र नामवाले देव हो, (तेषां वः) उन तुम्हारा (अग्निः इषवः) अग्नि बाण है। (ते नः मृडत) वे तुम हमें सुखी करो, (ते नः अधिब्रूत) वे तुम हमें उपदेश करो। (तेभ्यः वः नमः) उन तुम्हारे लिये हमारा नमन होवे, (तेभ्यः स्वाहा) उन तुम्हारे लिये हम अपना समर्पण करते हैं॥ १ ॥

जो तुम इस (दक्षिणायां दिशि) दक्षिण दिशामें (अविष्यवो नाम देवाः) रक्षा करनेकी इच्छा करनेवाले इस नामके जो देव हो (तेषां वः काम इषवः) उन तुम्हारा काम बाण है। वे तुम हमें सुखी करो और हमें उपदेश करो, उन तुम्हारे लिये हमारा नमन होवे और तुम्हारे लिये हम अपना अर्पण करते हैं ॥ २ ॥

जो तुम इस (प्रतीच्यां दिशि) पश्चिम दिशामें (वैराजा नाम देवाः) विराज नामक देव हो, उन तुम्हारा (आपः इषवः) जल ही बाण है। वे तुम हमें सुखी करो और उपदेश करो। तुम्हारे लिये हमारा नमन और समर्पण होवे ॥ ३ ॥

ये३॑स्यां स्थोदी॑च्यां दिशि प्रविध्य॑न्तो नाम॑ देवास्तेषां॑ वो वात इष॑वः ।
ते नो॑ मृडत ते नोऽधि॑ ब्रूत तेभ्यो॑ वो नम॒स्तेभ्यो॑ वः स्वाहा॑ ॥ ४ ॥
ये३॑स्यां स्थ ध्रुवायां॑ दिशि नि॑लिम्पा नाम॑ देवास्तेषां॑ व ओष॑धीरिष॑वः ।
ते नो॑ मृडत ते नोऽधि॑ ब्रूत तेभ्यो॑ वो नम॒स्तेभ्यो॑ वः स्वाहा॑ ॥ ५ ॥
ये३॑स्यां स्थोर्ध्वायां॑ दिश्यव॑स्वन्तो नाम॑ देवास्तेषां॑ वो बृह॒स्पति॑रिष॑वः ।
ते नो॑ मृडत ते नोऽधि॑ ब्रूत तेभ्यो॑ वो नम॒स्तेभ्यो॑ वः स्वाहा॑ ॥ ६ ॥

अर्थ— जो तुम इस (उदीच्यां दिशि) उत्तर दिशामें (प्रविध्यन्तः नाम देवाः) वेध करने वाले इस नामके देव हो, उन तुम्हारा (वातः इषवः) वायु बाण है। वे तुम हमें सुखी करो और उपदेश करो। तुम्हारे लिये हमारा नमन और समर्पण होवे ॥ ४ ॥

जो तुम इस (ध्रुवायां दिशि) ध्रुव दिशामें (निलिम्पा नाम देवाः) निलिम्प नामक देव हो, उन तुम्हारा (ओषधीः इषवः) औषधी बाण है। वे तुम हमें सुखी करो और उपदेश करो। उन तुम्हारे लिये हमारा नमन और समर्पण होवे ॥ ५ ॥

जो तुम इस (ऊर्ध्वायां दिशि) ऊर्ध्व दिशामें (अवस्वन्तः नाम देवाः) रक्षक नाम वाले जो देव हो, उन तुम्हारा (बृहस्पतिः इषवः) ज्ञानी बाण है। वे तुम हमें सुखी करो और उपदेश करो। उन तुम्हारे लिये हमारा नमन और समर्पण होवे ॥ ६ ॥

भावार्थ-पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ध्रुवा (पृथिवी) और उर्ध्वा (आकाश) ये छः दिशाएं हैं, इन छः दिशाओंमें क्रमशः (हेति-शस्त्रास्त्र) वज्र; रक्षाकी इच्छा करनेवाले स्वयंसेवक; (वि-राज्) राजरहित अवस्था अर्थात् प्रजासत्ता; वेधकता; लेप करनेवाले वैद्य; और उपदेशक इनकी प्रधानता है। ये जनताको उपदेश करते हैं और उनकी रक्षा करते हैं, इस लिये जनताभी उनका सत्कार करती है और उनके लिये आत्मसमर्पण करती है ॥ १-६ ॥

इसी प्रकारका परंतु कुछ अन्य भाव व्यक्त करनेवाला आगे का सूक्त है और दोनोंका अत्यंत घनिष्ठ संबंध है, इस लिये उसका अर्थ पहले देखेंगे और पश्चात् दोनोंका इकट्ठा विचार करेंगे।

अभ्युदय की दिशा।

[२७]

(ऋषिः— अथर्वा। देवता-अग्न्यादयः)

प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इर्षवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ १ ॥

अर्थः- (प्राची दिक्) उदयकी दिशाका (अग्निः अधिपतिः) तेजस्वी स्वामी, (अ—सितः रक्षिता) बंधनरहित रक्षक और (आदित्याः इषवः) प्रकाशरूप शस्त्र हैं ॥ (तेभ्यः) उन (अधिपतिभ्यः) तेजस्वी स्वामियोंकोही (नमः) मेरा नमन है। उन (रक्षितृभ्यः नमः) बंधनरहित संरक्षकोंके लियेही हमारा आदर है। उन (इषुभ्यः नमः)प्रकाशके शस्त्रोंके सामनेही हमारी नम्रता रहे।(यः) जो अकेला (अस्मान्) हम सब आस्तिकोंका (द्वेष्टि) द्वेष करता है और (यं) जिस अकेले दुष्टका (वयं) हम सब धार्मिक पुरुष (द्विष्मः) द्वेष करते हैं (तं) उस दुष्टको हम सब (वः) आप सब सज्जनोंके (जंभे) न्यायके जबडेमें (दध्मः) धर देते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—प्राची दिशा अभ्युदय, उदय और उन्नतिकी सूचक है। सूर्य, चंद्र, नक्षत्र आदि सब दिव्य पदार्थोंका उदय और उन्नति इसी दिशासे होती है और उदयके पश्चात् उनको पूर्ण प्रकाशकी अवस्था प्राप्त होती है। इस लिये सचमुच यह प्रगतिकी दिशा है। जिस प्रकार इस उदयकी दिशासे सबका उदय और वर्धन हो रहा है उसीप्रकार हम सब मनुष्योंका अभ्युदय और संवर्धन होना चाहिए। यह पूर्व दिशा हम सब मनुष्योंको उदय प्राप्त करनेकी सूचना दे रही है। इस शिक्षाके अनुसार हम सबको मिलकर अभ्युदयकी तैयारी करनी चाहिए। इस सूचना और शिक्षाका ग्रहण करके मैं अपने और जनताके अभ्युदयके लिये अवश्य यत्न करूंगा। उदयकी दिशाका (अग्निः) अग्रणी, ज्ञानी और वक्ता अधिपति है। उदयका मार्ग ज्ञानी उपदेशकोंके द्वाराही ज्ञात हो सकता है,इसलिये

हम सब लोक ज्ञानी उपदेशकोंके पास जाकर जागृतिके साथ उनका उपदेश ग्रहण करेंगे। अब सोनेका समय नहीं है। उठिए, जागृतिका समय प्रारंभ हुआ है। चलिए, तेजस्वी ज्ञानसे युक्त गुरुके पास जायेंगे और उनसे ज्ञानका प्रकाश प्राप्त करेंगे। इस उदय की दिशाका (अ-सितः) बंधनोंसे दूर रहनेवाला, स्वतंत्रताके विचार धारण करनेवालाही रक्षक है। ज्ञानीके साथ रहकर ज्ञानकी प्राप्ति और स्वातंत्र्यके संरक्षकके साथ रहनेसे स्वातंत्र्यकी प्राप्ति होती है॥ स्वतन्त्रताके विना उन्नति नहीं होगी इसलिये स्वातंत्र्यका संरक्षण करना आवश्यक है। इस संरक्षणके शस्त्रास्त्र (आदित्याः) प्रकाशके किरण हैं। प्रकाशके साथही स्वातंत्र्य रहता है। विशेषतः ज्ञानके प्रकाशसे स्वातंत्र्यका संवर्धन होता है। प्रकाश जिस प्रकार अज्ञानका निवारण करता है ठीक उसीप्रकार ज्ञानका सूर्य अज्ञानके आवरक अंधकारमय प्रतिबंधोंको दूर करता है। अभ्युदय प्राप्त करनेके लिये स्वसंरक्षण होनेकी आवश्यकता है और प्रतिबंधोंको दूर करनेसेही स्वसंरक्षणकी शक्ति अपनेमें बढती है। तेजस्विता, ज्ञान, वक्तृत्व, आत्मसंमान आदि आग्नेय गुणोंके आधिपत्यसेही अभ्युदय होता है, इसीलिये तेजस्वी अधिपतियों, स्वतंत्रताके संरक्षकों और प्रतिबंधनिवारक प्रकाशमय शक्तियोंकाही हम आदर करते हैं। इसके विपरीत गुणोंका हम कभी आदर नहीं करेंगे। जो अकेला दुष्ट मनुष्य सब आस्तिक धार्मिक भद्र पुरुषोंको कष्ट देता है, उनकी प्रगति और उन्नतिमें विघ्न करता है, तथा जिसके दुष्ट होनेमें सब सदाचारी भद्र पुरुषोंकी पूर्ण संमति है, अर्थात जो सचमुच दुष्ट है, उसको भी दंड देना हम अपने हाथमें नहीं लेना चाहते; परंतु हे तेजस्वी स्वामियो! और स्वतंत्रता देनेवाले संरक्षको! आपके न्यायके जबडेमें हम सब उसको रख देते हैं। जो दंड आपकी पूर्ण संमतिसे योग्य होगा आपही उसको दीजिए। समाजकी शांतिके लिये हरएक मनुष्यको उचित है कि वह सचे अपराधीको भी दंड देनेका अधिकार अपने हाथमें न लेवे, परंतु उस अपराधीको अधिपतियों और संरक्षकोंकी न्यायसभामें अर्पण करे तथा पूर्वोक्त प्रकारके अधिपति और संरक्षकोंका ही सदा आदर करे। अर्थात् हरएक मनुष्य सत्य और न्यायका विजय करनेके लिये सदा तत्पर रहे॥ १॥

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ २ ॥

अर्थ-(दक्षिणा दिक्) दक्षताकी दिशाका (इंद्रः अधिपतिः) शत्रु निवारक शूर स्वामी, (तिरश्चि-राजी रक्षिता) मर्यादाका अतिक्रमण न करनेवाला संरक्षक और (पितरः इषवः) पितृशक्तियां अर्थात् प्रजननकी शक्तियां शस्त्र हैं। हम सब उन शत्रुनिवारक शूर अधिपतियोंका, अपनी मर्यादाका कभी अतिक्रमण न करनेवाले संरक्षकोंका तथा सुप्रजानिर्माणके लिये समर्थ पितृशक्तियोंका ही आदर करते हैं। जो हम सब आस्तिकोंका विरोध करता है और जिसका हम सब आस्तिक विरोध करते हैं, उसको, हम सब आप स्वामी और संरक्षकोंके न्यायके जबडेमें धर देते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ- दक्षिण दिशा दाक्षिण्यका मार्ग बता रही है। दक्षता, चातुर्य कौशल्य, कर्मकी प्रवीणता, शौर्य, धैर्य वीर्य आदि शुभ गुणोंकी सूचक यह दिशा है, इसीलिये सीधा अंग दक्षिणांग कहलाता है, और सीधा मार्ग अथवा दक्षिण मार्ग इसी दक्षिण दिशासे बताया जाता है । अर्थात् दक्षिण दिशासे सीधेपनके मार्गकी सूचना मिलती है। शत्रुका निवारण करने, अपने नियमोंकी मर्यादाका उल्लङ्घन न करने और उत्तम प्रजा निर्माण करनेकी शक्ति धारण करनेवाले क्रमशः इस मार्गके अधिपति, संरक्षक और सहायक हैं। इन्हींका आदर और सन्मान करना योग्य है। अपनी उन्नतिका साधन करनेके लिये (इन्-द्र) शत्रुओंका विदारण करनेकी आवश्यकता होती है। शत्रुका पराजय करनेपरही अपना मार्ग निष्कंटक हो सकता है। शत्रुओंके साथ युद्ध करनेसे अपना बल बढता है और शत्रुदमन करनेके पुरुषार्थसे अपनेमें उत्साह स्थिर रहता है। इस लिये मेरे तथा समाजके शत्रुओंका शमन करनेके उपायका अवलंबन करना मेरेलिये आवश्यक है। समाजकी शांतिके लिये अपनी मर्यादाका उल्लङ्घन न करनेवाले संरक्षकोंकी आवश्यकता है। कोई संरक्षक अपनी मर्यादा उल्लंघन करके अत्याचार न करे। मैंभी कभी अपने नियमोंका और मर्यादाका अतिक्रमण नहीं करूंगा। समाजकी सुस्थितिके लिये उत्तम

प्रतीची दिग् वरु॑णोऽधि॑पतिः पृदा॑कू रक्षि॒तान्न॒मिष॑वः ।
तेभ्यो॒ नमोऽधि॑पतिभ्यो॒ नमो॑ रक्षि॒तृभ्यो॒ नम॒ इषु॑भ्यो॒ नम॑ एभ्यो अस्तु ।
यो॒३॑ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मस्तं वो॒ जम्भे॑ दध्मः ॥ ३ ॥

अर्थ- (प्रतीची दिक्) पश्चिम दिशा का (वरुणः अधिपतिः) वर अ-र्थात् श्रेष्ठ अधिपति, (पृत्-आ-कुः रक्षिता) स्पर्धामें उत्साह धारण करने-वाला संरक्षक और (अन्नं इषवः) अन्न इषु हैं। उन श्रेष्ठ अधिपतियोंके लिये, उन उत्साही संरक्षकोंके लिये, तथा उस अभीष्ट अन्नके लिये हमारा आदर है। जो सबके साथ कलह करता है इस लिये सब भद्र पुरुष जिसको नहीं चाहते हैं उसको उक्त अधिपतियों और संरक्षकोंके न्यायके जबडेमें धर देते हैं ॥ ३ ॥

पितृशक्ति अर्थात् सुप्रजा निर्माण करनेकी शक्तिकी अत्यंत आवश्यकता है। सुप्रजानिर्माणसे समाज अमर रह सकता है। इस लिये हरएक पुरुषको अपने अंदर उत्तम पुरुषत्व तथा हरएक स्त्रीको अपने अंदर उत्तम स्त्रीत्व विकसित करना चाहिए। तात्पर्य उक्त प्रकारके शत्रुनिवारक अधिपति, नियमानुकूल व्यवहार करनेवाले संरक्षक और उत्तम पितर जहां होते हैं वहांही दाक्षिण्यका व्यवहार होता है। इसी प्रकारकी व्यवस्था स्थिर कर-नेका यत्न मैं अवश्य करूंगा। जो सबको हानि पहुंचाता है और जिसको सब समाज बुरा कहता है उसको उक्त अधिकारी, संरक्षक और पितरोंके न्यायालयमें हम सब पहुंचाते हैं। वेही उसके दोषका यथायोग्य विचार करें। हरएक मनुष्यको उचित है, कि वह सीधे मार्गसे चले और समाज की उन्नतिके साथ अपनी उन्नतिका उत्तम प्रकारसे साधन करे ॥ २ ॥

भावार्थ— पश्चिम दिशा विश्रामकी दिशा है; क्योंकि सूर्य, चंद्र, आदि सब दिव्य ज्योतियां इसी पश्चिम दिशामें जाकर गुप्त होती हैं और जगत् को अपना दैनिक कार्य समाप्त करनेके पश्चात् विश्राम लेनेकी सूचना देती हैं। पूर्व दिशाद्वारा प्रवृत्तिरूप पुरुषार्थकी सूचना होगई थी, अब पश्चिम दिशासे गुप्त स्थानमें प्रविष्ट होने, वहां विश्रांति और शांति प्राप्त करने, अर्थात् निवृत्तिरूप पुरुषार्थ साध्य करनेकी सूचना मिली है। श्रेष्ठ उत्साही महात्मा पुरुष इस मार्गके क्रमशः अधिपति और संरक्षक हैं । विश्राम

उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ४ ॥

अर्थ— (उदीची दिक्) उत्तर दिशाका (सोमः अधिपतिः) शांत अधिपति, (स्व-जः रक्षिता) स्वयं सिद्ध रक्षक और (अशनिः इषवः) विद्युत्तेज इषु हैं। उन शांत अधिपतियों, स्वयंसिद्ध संरक्षकों और तेजस्वी इषुओंके लिये हमारा नमन है। जो सबका द्वेष करता है और जिसका सब द्वेष करते हैं उसको उक्त अधिपतियों और संरक्षकोंके न्यायके जबडेमें हम धर देते हैं ॥ ४ ॥

और आरामका मुख्य साधन यहां अन्न है। श्रेष्ठ और उत्साही अधिपति और संरक्षकोंके लिये सबको सत्कार करना उचित है। तथा अन्नकी ओर सन्मानकी दृष्टिसे देखना योग्य है। जो सबके मार्गोंमें विघ्न करता है इस लिये जिसको कोई पास करना नहीं चाहते उसको अधिपतियों और संरक्षकोंकी न्यायसभाके आधीन करना योग्य है। समाजके हितके लिये सबको उचित है, कि वे न्यायानुसारही अपना सब बर्ताव करें और किसीको उपद्रव न दें ॥ ३ ॥

भावार्थ— उत्तर दिशा उच्चतर अवस्थाकी सूचना देती है। हरएक मनुष्यको अपनी अवस्था उच्चतर बनाने का प्रयत्न हर समय करना चाहिये। इस उच्चतर मार्गमें शांत स्वभावका आधिपत्य है, आलस्य छोड कर सदा सिद्ध और उद्यत रहने के धर्मसे इस पथपर चलने वालोंका संरक्षण होता है। व्यापक उदार तेजस्वी स्वभावके द्वारा इस मार्गपरकी सब आपत्तियां दूर होती हैं। इस लिये मैं इन गुणोंका धारण करूंगा और समाजके साथ अपनी अवस्था उच्चतर बनानेका पुरुषार्थ अवश्य करूंगा। शांत स्वभाव धारण करनेवाले अधिपति, सदा उद्यत और सिद्ध संरक्षकही सदा सन्मान करने योग्य हैं। साथही सर्वोपयोगी व्यापक तेजस्विताका आदर करना योग्य है। जो सबकी हानि करता है इसलिये जिसका सब सज्जन निरादर करते हैं उसको उक्त अधिपतियों और संरक्षकोंके सन्मुख खडा किया जावे। लोगही स्वयं उसको दंड न

ध्रुवा दिग् विष्णुरधिपतिः कुल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ५ ॥

ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
यो ३ स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ६ ॥

अर्थ- (ध्रुवा दिक्) स्थिर दिशाका (विष्णुः अधिपतिः) प्रवेशकर्ता अधिपति, (कल्माष-कर्मास-ग्रीवः रक्षिता) कर्म कर्ता संरक्षक और (वीरुधः इषवः) वनस्पतियां इषु हैं । इन सब अधिपतियों और रक्षकोंके लियेही हमारा आदर है । इ० ॥ ५ ॥

(ऊर्ध्वा-दिक्) ऊर्ध्व दिशाका (बृहस्पतिः अधिपतिः) आत्मज्ञानी स्वामी है, (श्वित्रः रक्षिता) पवित्र संरक्षक है और (वर्ष इषवः) अमृत जल इषु हैं । आत्मज्ञानी स्वामियोंका तथा पवित्र संरक्षकोंकाही सबको सन्मान करना योग्य है । शुद्ध अमृत जलकाही सबको आदर करना चाहिए । इ० ॥ ६ ॥

देवें । तथा अधिपति निष्पक्षपातकी दृष्टिसे उसको योग्य न्याय देवें । समाजकी उन्नतर अवस्था बनानेके लिये उक्त प्रकारके स्वभाव धारण करना अत्यंत आवश्यक है ॥ ४ ॥

भावार्थ- ध्रुव दिशा स्थिरता, दृढता, आधार आदि शुभ गुणोंकी सूचक है । चंचलता दूर करने और स्थिरता करनेके लियेही सब धर्मके नियम हैं । उद्यमी और पुरुषार्थी पुरुष यहां अधिपति और संरक्षक हैं । क्योंकि कर्मसेही जगत्‌की स्थिति है, इसलिये कर्मके विना किसीकी स्थिरता और दृढता हो नहीं सकती । यही कारण है कि इस दृढताके मार्गके उद्यमी और पुरुषार्थी संचालक हैं । यहां औषधि वनस्पतियां दोष निवारणद्वारा सहाय्य करती हैं । जो जो दोषोंको दूर करनेवाले हैं वे सब इस मार्गके सहायक हैं । उद्यमी और पुरुषार्थी अधिपति और संरक्षकोंका सन्मान सबको करना चाहिए । इ० ॥ ५ ॥

भावार्थ— ऊर्ध्व दिशा आत्मिक उन्नताका मार्ग सूचित करती है। सच्चा आत्मज्ञानी आप्त पुरुषही इस मार्गका अधिपति और मार्गदर्शक है। जो अंतर्बाह्य पवित्र होगा वहही यहां संरक्षक हो सकता है। आत्माके अनुभव और पवित्रत्वका यहां स्वामित्व है। आत्मिक उन्नताके मार्गका अवलंबन करनेके समय आत्मज्ञानी आप्त पुरुषके आधिपत्यमें तथा पवित्र सदाचारी सत्पुरुषके संरक्षणमें रहते हुएही इस मार्गका आक्रमण करनेसे इष्ट सिद्धियोंकी वृष्टि होती है। आत्मिक अमृत जलका रसास्वाद लेनेका यही योगमार्ग है। मैं इस मार्गका आक्रमण अवश्यही करूंगा और दूसरोंका मार्गभी यथाशक्ति सुगम करूंगा। मैं सदाही उक्त प्रकारके आत्मज्ञानी और शुद्ध सदाचारी सत्पुरुषोंका सन्मान करूंगा। इ०॥६॥

दिशाओंके वर्णनसे मानवी उन्नतिका तत्त्वज्ञान।

उन्नतिके छः केन्द्र।

इस "सूक्तके" छः मंत्रोंमें मानवी उन्नतिके छः केंद्र छः दिशाओंके द्वारा सूचित किये हैं। (१) प्राची, (२) दक्षिणा, (३) प्रतीची, (४) उर्दीची, (५) ध्रुवा और (६) ऊर्ध्वा ये छः दिशाएं क्रमशः (१) प्रगति, (२) दक्षता, (३) विश्राम, (४) उन्नता, (५) स्थिरता और (६) आत्मिक उन्नतिके भाव बता रहीं हैं, ऐसा जो उक्त छः मंत्रोंद्वारा सूचित किया है, विशेष विचार करने योग्य है। उपासक इन दिशाओंमें होनेवाली नैसर्गिक घटनाओंको विचारकी दृष्टिसे देखें। इस सृष्टिके विविध घटनाओंके द्वारा सर्वव्यापक परमात्मा प्रत्यक्ष उपदेश दे रहा है, ऐसी भावना मनमें स्थिर करके उपासकोंको सृष्टिकी ओर देखना आवश्यक है। जड भावको छोडकर परमात्माके चैतन्यसे यह सृष्टि ओतप्रोत व्याप्त है, ऐसी भावना मनमें स्थिर करनी चाहिए। क्योंकि "यह पूर्णसृष्टि उस पूर्ण परमेश्वरके द्वाराही उदयको प्राप्त होती है। और उस पूर्ण ईश्वरकी शक्तिही इस सृष्टिद्वारा दिखाई दे रही रही है।" इस प्रकार विचार स्थिर करके यदि उपासक उक्त प्रकार छः दिशाओंद्वारा अपनी उन्नतिके छः केंद्रोंके संबंधमें

उपदेश लेंगे तो व्यक्ति और समाजकी उन्नतिके स्थिर और निश्चित मार्गोंका ज्ञान उनको हो सकता है।

इन केन्द्रोंका ज्ञान उत्तम रीतिसे होनेके लिये पूर्वोक्त वैदिक सूक्तोंमें कथित दिशाओंके ज्ञान के कोष्टक यहां देते हैं और उनका स्पष्टीकरण भी काव्यकी दृष्टिसे संक्षेपसे ही करते हैं—

दिशा कोष्टक ॥ १ ॥ [अथर्व० ३।२७। १—६]

दिशः	अधिपतिः	रक्षिता	इषवः
प्राची	अग्निः	असितः	आदित्याः
दक्षिणा	इन्द्रः	तिरश्चिराजी	पितरः
प्रतीची	वरुणः	पृदाकुः	अन्नम्
उदीची	सोमः	स्वजः	अशनिः
ध्रुवा	विष्णुः	कल्माषग्रीवः	वीरुधः
ऊर्ध्वा	बृहस्पतिः	श्वित्रः	वर्षम्

इस सूक्तके मंत्रोंको देखनेसे इस कोष्टककी सिद्धि हो सकती है। अब वेदमें अन्य स्थानोंमें आये हुए दिशा विषयक उल्लेखोंका विचार करना है। इस विषयमें निम्न मंत्र देखिए—

येऽस्यां स्थ प्राच्यां दिशि हेतयो नाम देवास्तेषां वो अग्निरिषवः।
ते नो मृडत ते नोऽधिब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ १ ॥
येऽस्यां स्थ दक्षिणायां दिश्यविष्यवो नाम देवास्तेषां वः काम इषवः।
ते नो० ॥ २ ॥ येऽस्यां स्थ प्रतीच्यां दिशि वैराजा नाम देवास्तेषां
व आप इषवः। ते नो० ॥ ३ ॥ येऽस्यां स्थोदीच्यां दिशि प्रविध्यन्तो
नाम देवास्तेषां वो वात इषवः। ते नो० ॥४॥ येऽस्यां स्थ ध्रुवायां दिशि
निलिम्पा नाम देवास्तेषां व ओषधीरिषवः। ते नो० ॥५॥ येऽस्यां स्थोर्ध्वायां दिश्यवस्वन्तो नाम देवास्तेषां वो बृहस्पतिरिषवः। ते नो०॥६॥
अथर्व. ३। २६। १-६

'प्राची आदि दिशाओंमें हेति आदि देव हैं और अग्नि आदि इषु हैं। ये सब (नः) हम सबको (मृडत) सुखी करें, वे हम सबको (अधिब्रूत) उपदेश करें, उन सबको हमारा नमस्कार है, उनके लिये हमारा समर्पण है।' यह इन मंत्रोंका भावार्थ हैं। अब इनका निम्न लिखित कोष्टक बनता है—

दिशा कोष्टक ॥ २ ॥ [अथर्व० ३।२६। १—६]

दिशः	देवाः	इषवः
प्राची	हेतयः	अग्निः
दक्षिणा	अविष्यवः	कामः
प्रतीची	वैराजाः	आपः
उदीची	प्रविध्यन्तः	वातः
ध्रुवा	निलिंपाः	ओषधीः
ऊर्ध्वा	अवस्वन्तः	बृहस्पतिः

पहिले कोष्टककी इस द्वितीय कोष्टकके साथ तुलना कीजिए। पहिले कोष्टकमें 'प्राची और ऊर्ध्वा' के 'अग्नि और बृहस्पति' अधिपति हैं, वेही यहां 'इषु' बने हैं। 'ध्रुवा' दिशाके इषु पहिले कोष्टकमें 'वीरुधः' हैं और यहां 'ओषधि' हैं। इन दोनों शब्दोंका अर्थ एक ही है। 'प्रतीची' दिशाका इषु दोनों कोष्टकोंमें 'अन्नं और आपः' है। खान पानका परस्पर निकट संबंध है। 'दक्षिण' दिशाके इषु दोनों कोष्टकोंमें 'पितरः और कामः' है। काम के उपभोगसेही पितृत्व प्राप्त हो सकता है। 'उदीची' दिशाके इषु 'वात और अशनि' हैं। अशनिका अर्थ विद्युत् है और उसका स्थान मध्यस्थान अर्थात् वायुका स्थान माना गया है। इससे पाठकोंको पता लग जायगा, कि केवल 'प्राची और ऊर्ध्वा' दिशाओंके इषु बदले हैं, इतनाही नहीं परन्तु पहिले कोष्टकमें जो अधिपति थे वे ही दूसरेमें इषु बने हैं। अन्य दिशाओंके इषु समान अथवा परस्पर संबंध रखनेवाले हैं। अथर्व वेदके तीसरे कांडके २६ और २७ सूक्तोंके कथनमें इतना भेद है। इस भेदसे स्पष्ट होता है कि इषु, अधिपति आदि शब्द वास्तविक नहीं हैं परंतु आलंकारिक हैं। अब निम्न मंत्र देखिए—

प्राचीमारोह गायत्री त्वावतु रथंतरं साम
त्रिवृत्स्तोमो वसन्त ऋतुर्ब्रह्म द्रविणम् ॥ १० ॥
दक्षिणामारोह त्रिष्टुप्त्वावतु बृहत्साम
पञ्चदश स्तोमो ग्रीष्म ऋतुः क्षत्रं द्रविणम् ॥ ११ ॥
प्रतीचीमारोह जगती त्वावतु वैरूपं साम
सप्तदश स्तोमो वर्षा ऋतुर्विड् द्रविणम् ॥ १२ ॥
उदीचीमारोहानुष्टुप्त्वावतु वैराजं
सामैकविंश स्तोमः शरदृतुः फलं द्रविणम् ॥ १३ ॥

ऊर्ध्वामारोह पंक्तिस्त्वावतु शाक्वररैवते सामनी
त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ हेमन्तशिशिरावृतू
वर्चो द्रविणम् ॥ १४ ॥ यजु. अ. १०

'प्राची आदि दिशाओंमें (ब्रह्म द्रविणं) ज्ञान आदि धन है। इन मंत्रोंका स्पष्टीकरण निम्न कोष्टकसे हो सकता है—

दिशा कोष्टक ॥ ३ ॥ [यजु० १०।१०-१४]

दिशः	रक्षक छंदः	साम	स्तोमः	ऋतुः	द्रविणं धनं
प्राची	गायत्री	रथंतरं	त्रिवृत्	वसन्तः	ब्रह्म
दक्षिणा	त्रिष्टुप्	बृहत्	पंचदशः	ग्रीष्मः	क्षत्रं
प्रतीची	जगती	वैरूपं	सप्तदशः	वर्षा	विट्
उदीची	अनुष्टुप्	वैराजं	एकविंशः	शरद्	फलं
ध्रुवा ऊर्ध्वा	पंक्तिः	शाक्वररैवतं	त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ	हेमन्तःशिशिरः	वर्चः

इस कोष्टकमें दिशाओंके धनोंका पाठक अवश्य अवलोकन करें (१) प्राची दिशाका धन (ब्रह्म) ज्ञान है। (२) दक्षिण दिशाका धन (क्षत्र) शौर्य है। (३) प्रतीची दिशाका धन (विश्) उत्साहसे पुरुषार्थ करनेकी वैश्य शक्ति है। (४) उदीची दिशाका धन फल परिणाम लाभ आदि है। (५) ध्रुवा और ऊर्ध्व दिशाका धन शक्ति, बल आदि है। ज्ञान, शौर्य, पुरुषार्थ प्रयत्न, लाभ और वीर्य तेज ये उक्त दिशाओंके धन हैं। उसकी तुलना प्रथम कोष्टकके साथ करनेसे अर्थका बहुत गौरव प्रतीत होगा। पाठकोंने यहां जान लिया होगा कि उक्त गुण विशेष वर्णोंके होनेसे उक्त दिशाओंका संबंध उक्त वर्णोंके साथ भी है। ब्राह्मणोंका ज्ञान, क्षत्रियोंका शौर्य, वैश्योंका पुरुषार्थ, शूद्रोंके हुनरका लाभ और जनताका वीर्यतेज सब राष्ट्रके उद्धारका हेतु है। तथा प्रत्येक व्यक्तिमें ज्ञान, शौर्य, पुरुषार्थ, फलप्राप्ति तक प्रयत्न करनेका गुण और वीर्यतेज चाहिए। इस प्रकार व्यक्तिमें और राष्ट्रमें उक्त गुणोंका संबंध है। इस संबंधको स्मरण रखते हुए पाठक निम्न मंत्र देखें—

प्राच्यां दिशि शिरो अजस्य धेहि
दक्षिणायां दिशि दक्षिणं धेहि पार्श्वम् ॥ ७ ॥
प्रतीच्यां दिशि भसदमस्य धेहि
उत्तरस्यां दिश्युत्तरं धेहि पार्श्वम्। ऊर्ध्वायां दिश्यजस्यानूकं धेहि
दिशि ध्रुवायां धेहि पाजस्यम्० ॥ ८ ॥ अथर्व. ४।१४।

'प्राची दिशामें (अजस्य) अजन्मा जीवका सिर रखो तथा अन्य दिशाओंमें अन्य अवयव रखो।' इन मंत्रोंमें अवयवोंका दिशाओंके साथ संबंध बताया है। निम्न कोष्टकसे इसका भेद स्पष्ट होगा—

दिशा कोष्टक ॥ ४ ॥ (अथर्व. (४।१४।७-८)

प्राची	शिरः	मस्तक
दक्षिणा	दक्षिणं पार्श्वं	दहनी बगल
प्रतीची	भसदं	गुप्त भाग
उदीची	उत्तरं पार्श्वं	बायी बगल
ध्रुवा	पाजस्यं	पेट
ऊर्ध्वा	आनूक्यं	पीठकी हड्डी

इस कोष्टकके साथ पूर्वोक्त तीसरे कोष्टककी तुलना कीजिए। ज्ञान, शौर्य, पुरुषार्थ, और फलका संबंध सिर, बाहू, मध्यभाग और निम्न भागके साथ यहां लिखा है। ज्ञान, शौर्य पुरुषार्थका संबंध गुणरूपसे प्रत्येक व्यक्तिमें है और वर्ण रूपसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंमें अर्थात् राष्ट्र-पुरुषके अवयवोंमें है। इस प्रकार वर्णोंका संबंध दिशाओंके साथ स्पष्ट है। यह संबंध ध्यानमें धर कर विचार करते हुए आप निम्न मंत्र देखिए—

प्राचीं प्राचीं प्रदिशमारभेथामेतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते ॥
यद्वां पक्वं परिविष्टमग्नौ तस्य गुप्तये दंपती संश्रयेथाम् ॥ ७ ॥
दक्षिणां दिशमभि नक्षमाणौ पर्यावर्तेथामभि पात्रमेतत् ॥
तस्मिन्वां यमः पितृभिः संविदानः पक्वाय शर्म बहुलं नियच्छात्॥८॥
प्रतीचीं दिशामियमिद्वरं यस्यां सोमो अधिपा मृडिता च ॥
तस्यां श्रयेथां सुकृतः सचेथामधा पक्वान् मिथुना संभवाथः ॥ ९ ॥
उत्तरं राष्ट्रं प्रजयोत्तरावद्दिशामुदीचीं कृणवन् नो अग्रम् ।
पांक्तं छंदः पुरुषो बभूव विश्वैर्विश्वांगैः सह संभवेम ॥ १० ॥
ध्रुवेयं विराण्नमो अस्त्वस्यै शिवा पुत्रेभ्य उत मह्यमस्तु ।
सा नो देव्यदिते विश्ववार इर्य इव गोपा अभि रक्ष पक्वम् ॥ ११ ॥

अथर्व. १२।३.

(१) (प्राचीं) पूर्व दिशा प्रगतिकी दिशा है, इसमें (आरभेथां) उत्साहके साथ पुरुषार्थका आरंभ कीजिए, (एतं लोकं) इस उन्नतिके लोकमें (श्रद्दधानाः) श्रद्धा धारण करनेवाले ही पहुंचते हैं। जो (वां) आप दोनोंका अग्निमें प्रविष्ट होकर (पक्वं)

पका हुआ अन्न होगा, (तस्य गुप्तये) उसकी रक्षाके लिये (दंपती) स्त्रीपुरुष (संश्रयेथां) प्रयत्न करें ॥ (२) इस दक्षिण दिशामें जब आप (अभि नक्षमाणौ) सब प्रकारसे प्रगति करते हुए इस (पात्रं) योग्य अथवा संरक्षक कर्मका (अभि पर्यावर्तेथां) सब प्रकारसे वारंवार अनुष्ठान करेंगे, तब आपकी (पक्काय) परिपक्कताके लिये (पितृभिः) रक्षकोंके साथ (संविदानः यमः) ज्ञानी नियामक (बहुलं शर्म) बहुत सुख देगा ॥ (३) (प्रतीचीं) पश्चिम दिशा यह सचमुच (वरं) श्रेष्ठ दिशा है, जिसमें (सोमः) विद्वान और शांत अधिपति और (मृडिता) सुख देनेवाला है। इस दिशाका आश्रय कीजिए, सुकृत करके परिपक्कताको (सचेथां) प्राप्त कीजिए। और (मिथुना) स्त्रीपुरुष मिलकर (सं भवाथः) सुसंतान उत्पन्न कीजिए ॥ (४) उत्तर दिशा (प्र- जया) विजयशाली राष्ट्रीय दिशा है, इस लिये हम सबको यह उत्तर दिशा (अग्रं) अग्र भागमें ले जावे। (पांक्तं) पांच वर्णों-राष्ट्रके विभागों-का (छंदः) छंद ही यह पुरुष होता है। इन सब अंगोंके साथ हम सब (सं भवेम) मिलकर रहेंगे ॥ (५) यह ध्रुव दिशा (विराट्) बडी भारी है। इसके लिये नमन है। यह मेरे लिये तथा बालबच्चोंके लिये (शिवा) कल्याणकारी होवे। हे (अ-दिते देवि) हे स्वतंत्रता देवि ! (विश्व-वारे) सब आपत्तियोंका निवारण करनेवाली देवी ! तूं (गोपा) हम सबका संरक्षण करती हुई, हमारी परिपक्कताको सुरक्षित रखो ॥

इन मंत्रोंमें दिशाओंकी कई विशेष बातें बताई हैं। इनके सूचक मुख्य शब्दोंका निम्न कोष्टक बनता है।

दिशा कोष्टक ॥ ५ ॥ (अथर्व १२ । ३ । ७-११)

दिशः	कर्म	साधन	साधक	क्रिया
प्राची	आरंभः	श्रद्धानः	दंपती	संश्रयेथां
दक्षिणा	पर्यावर्तनं	नक्षमाणः	यमःसंविदानः	नियच्छात्
प्रतीची	आश्रयः	सुकृतः	मिथुनः	संभवाथः
उदीची	प्र-जयः	पांक्तं छंदः	पुरुषः	सह संभवेम
ध्रुवा	वि-राट्	शिवा	विश्ववारा अदितिः	रक्ष

इस कोष्टकसे साधारणरूपमें पता लग जायगा कि दिशाओंके उक्त नाम किस बातके सूचक हैं। और इन सूचक नामोंमें कैसा उत्तम तत्त्वज्ञान भरा है। इन मंत्रोंको देखनेसे निम्न बातोंका पता लगता है --

(१) प्राची दिशा -- (प्र+अंच्=आगे बढना, उन्नति करना, अग्रभागमें हो जाना,)

यह मूल अर्थ ' प्रांच् ' धातुका है, जिससे ' प्राची ' शब्द बनता है। ' प्राची दिशा ' का अर्थ बढती अथवा उन्नतिकी दिशा, वृद्धिका मार्ग।

उन्नतिके लिये विविध कर्म प्रारंभ करनेकी अत्यंत आवश्यकता होती है। पुरुषार्थोंका प्रारंभ करनेके विना उन्नतिकी आशा करना व्यर्थ है। उत्साहसे पुरुषार्थ करनेके लिये श्रद्धा चाहिए। श्रद्धाके विना उत्साह प्राप्त नहीं हो सकता। जगत्‌में स्त्रीपुरुष मिलकर ही विविध पुरुषार्थोंका साधन करते हैं। उनके परस्पर मिलकर रहनेसे ही संसारमें सब भोगोंकी परिपक्वता और (गुप्ति) संरक्षण हो सकता है। इस प्रकार प्राची दिशासे बोध मिलता है।

(२) दक्षिण दिशा–' दक्षिण' शब्दका अर्थ दक्ष, ठीक, योग्य, प्रबुद्ध, सीधा, सच्चा है। ' दक्षिण दिशा ' शब्दोंका मूल अर्थ सीधा मार्ग, सच्चा मार्ग ऐसा ही है। पश्चात् इसका अर्थ ' सीधे तरफ् की दिशा ' हो गया है।

उन्नतिके लिये सीधे और सच्चे मार्गसे चलना चाहिए। और (नक्षमाण) गति अथवा हलचल किंवा प्रयत्न करना चाहिए अन्यथा सिद्धि होना असंभव है। एक वार प्रयत्न करनेसे सिद्धि न हुई तो वारंवार पुरुषार्थ करना आवश्यक है, इसी की सूचना '(पर्यावर्तेथां, परि-आ- वर्तेथां) वारंवार प्रयत्न कीजिए ' इन शब्दों द्वारा मंत्रमें दी है। ' यम ' शब्द नियमोंका सूचक, ' पितृ ' शब्द जननशक्ति और संरक्षणका सूचक, तथा ' संविदान ' शब्द ज्ञानका सूचक है। नियम, स्वसंरक्षण और ज्ञानसेही शर्म अर्थात् सुख होता है। यह दक्षिण दिशाके मंत्रसे बोध मिलता है।

(३) प्रतीची दिशा–प्रत्यंच् अंदर आना, अंतर्मुख होना। प्रतीची दिक् शांतिकी दिशा, अंदर मूल स्थानपर आनेकी दिशा, स्वस्थानपर आनेका मार्ग, अंतर्मुख होनेका मार्ग, यह इस शब्दका मूल अर्थ है। ' पूर्व दिशा ' को आगे बढनेका मार्ग कहा है और पश्चिम दिशाको फिर वापस होकर अपने मूल स्थानपर आकर विश्राम लेनेकी दिशा कहा है–

प्रतीची	प्राची
(प्रति-अंच्)	(प्र-अंच्)
प्रति-गति	प्र-गति
प्रति-गमन	प्र-गमन
नि-वृत्ति	प्र-वृत्ति

दिशाओंके नामोंसे जो भाव व्यक्त होते हैं, उनका पता इस कोष्टकसे लग सकता

है । वैदिक शब्दोंका इस प्रकार महत्त्व देखना चाहिए ।

निवृत्ति, विश्रांति अथवा स्व-स्थताका स्थान ही श्रेष्ठ (वरं) होता है । शांतिसे भिन्न और श्रेष्ठता क्या होगी ? सोम ही शांतताकी देवता है । सूर्यके प्रखरतर प्रचंड किरणोंके तापसे संतप्त मनुष्य चंद्र (सोम) के शीत प्रकाशसे शांत, संतुष्ट और आनंदित होता है । सुकृत अर्थात् धार्मिक पुण्य कर्मोंका मार्ग ही इस शांतिको प्राप्त कर सकता है, इत्यादि भाव इस मंत्रमें ज्ञात होते हैं ।

(४) उत्तर दिशा-(उत्-तर) अधिक उच्च तर, अधिक श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त करनेका मार्ग ऐसा इसका मूल अर्थ है । मनुष्योंकी उच्च तर अवस्था प्राप्त होनेके लिये राष्ट्रकी भक्ति कारण होती है, क्योंकी—

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपसेदुरग्रे ॥
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ॥
अथर्व. १९ । ४१ । १.

सब का कल्याण करनेकी इच्छा करनेवाले ज्ञानी ऋषिमुनियोंने तप किया और दक्षतासे व्रत किया । उससे राष्ट्र, बल और ओज उत्पन्न हुआ, इस लिये सब देव उस राष्ट्रीयताके सन्मुख नम्रता धारण करें ।' राष्ट्रीयताके साथ लोककल्याणका भाव इस प्रकार वेदने वर्णन किया है । लोककल्याण ही लोगोंकी उच्चतर अवस्था है । राष्ट्रीय भावनाके अंदर (नः अग्रं कृण्वन्) 'हम सबको अग्र भागमें होनेके लिये प्रयत्न' करना आवश्यक है । राष्ट्र (पांक्त) पांच विभागोंमें विभक्त है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद, अथवा ज्ञानी, शूर, व्योपारी, कारीगर और साधारण जन मिल कर राष्ट्रके पांच अवयव होते हैं, इन पांच प्रकारके जनोंका कल्याण करनेकी (छंद) प्रबल इच्छा जिसमें होती है वही सच्चा 'पुरुष' कहा जा सकता है । पुरुष उसको कहते हैं कि जो (पुरि) नगरीमें (वसति) निवास करता है । नागरिक जन जो 'लोककल्याण' करता है, वही सच्चा पुरुष है । सब अंगोंसे उसकी पूर्णता होती है और उन्नतिके लिये (सं भवेम) सब मिल कर एकत्रित होनेकी आवश्यकता है । यह बोध उत्तर दिशाके मंत्रके शब्दोंसे टपकता है ।

(५) ध्रुवा दिक्-स्थिरता का धर्म यहां बताना है । मनुष्यके व्यवहारोंमें चंचलता ठीक नहीं है । स्थिरता, दृढता, निश्चितता, उन्नतिकी साधक है । सबका (शिवा) कल्याण इस गुणसे होता है । स्थिरताका मार्ग योग मार्ग है,जिसमें चंचलताको दूर करके स्थिरताकी प्राप्ति की जाती है । इससे सबका हित होता है । यही (अ-दिति) अविनाशकी देवता अथवा स्वतंत्रताकी देवता है । स्थिरताके विना स्वतंत्रता की प्राप्ति नहीं हो

सकती। (गो-पा) इंद्रियोंका संरक्षण अर्थात् संयम इस मार्गमें अत्यंत आवश्यक है । इस प्रकार ध्रुव दिशाके मंत्रोंसे बोध प्राप्त होता है ।

मंत्रोंकी शब्दयोजना कितनी अर्थ पूर्ण है, इसका विचार पाठक यहां कर सकते हैं । अस्तु । दिशा विषयक उल्लेख ऋग्वेदमें नहीं है । इस लिये अब इस सब विवरणका एकीकरण करना चाहिए । उसके पूर्व निम्न मंत्र देखिए ।

प्राच्यै त्वा दिशेऽग्नयेऽधिपतयेऽसिताय रक्षित्र आदित्यायेषुमते । एतं परिदद्मस्तं नो गोपायतामस्माकमैतोः । दिष्टं नो अत्र जरसे नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम ॥ ५५ ॥ दक्षिणायै त्वा दिश इन्द्रायाधिपतये तिरश्चिराजये रक्षित्रे यमायेषुमते ॥ एतं० ॥ ५६ ॥ प्रतीच्यै त्वा दिशे वरुणायाधिपतये पृदाकवे रक्षित्रेऽन्नायेषुमते । एतं० ॥ ५७ ॥ उदीच्यै त्वा दिशे सोमायाधिपतये स्वजाय रक्षित्रेऽशन्या इषुमत्यै ॥ एतं० ॥ ५८ ॥ ध्रुवायै त्वा दिशे विष्णवेऽधिपतये कल्माषग्रीवाय रक्षित्र ओषधीभ्य इषुमतीभ्यः ॥ एतं० ॥ ५९ ॥ उर्ध्वायै त्वा दिशे बृहस्पतयेऽधिपतये श्वित्राय रक्षित्रे वर्षायेषुमते ॥ एतं० ॥ ६० ॥ अथर्व. १२ । ३.

" प्राची दिशा, अग्नि अधिपति, असित रक्षिता और इषुमान् आदित्यके लिये (एतं) यह दान (परि दद्मः) देते हैं । अस्माकं (आ-एतोः) हमारे दुष्ट भावोंसे हम सबका (नः गोपायतां) संरक्षण करें । (अत्र) यहां (नः) हम सब को (दिष्टं) अच्छी धर्मकी प्रेरणा (जरसे) वृद्ध अवस्था तक (नि नेषत्) ले जावे । (जरा) वृद्ध अवस्था मृत्युको (नः मृत्यवे परि ददातु) हम सबको मृत्युके प्रति देवे । (अथ) और (पक्वेन) परिपक्कताके साथ (सं भवेम) संभूति अर्थात् उन्नतिको प्राप्त हो जावें । यह प्रथम मंत्रका अर्थ है। शेष मन्त्रोंका भाव ऐसाही सुगम है ।

इन मंत्रोंमें (१) दान, (२) स्वसंरक्षण, (३) दुष्टभावका दूर करना, (४) धर्मकी प्रेरणाके साथ पूर्ण वृद्ध अवस्थाका अनुभव लेनेके पश्चात् अर्थात् दीर्घ आयुकी समाप्तिके पश्चात् मरनेकी कल्पना, और (५) परिपक्क (बुद्धिके सज्जनों) के साथ अर्थात् सत्संगमें रहनेका उपदेश है ।

प्रारंभसे यहां तक दिशा विषयक जो कोष्टक और मंत्र दिये हैं उन सबका एकीकरण पूर्वक विचार करनेसे इन मंत्रोंका अधिक बोध होना संभव है ।

प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षिताऽऽदित्या इषवः ॥

तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ॥
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ अथर्व० ३। २७। १

इस मंत्रका अब विचार करना है। इसका विचार होनेसे अन्य सब मंत्रोंका विचार हो सकता है। पूर्व स्थलमें, जहां दिशाओंका द्वितीय कोष्टक दिया है, वहां बताया है कि अधिपति, इषु, रक्षिता आदि शब्द आलंकारिक हैं, इस लिये इनका अर्थ काव्य कल्पनाके अनुसार लेना चाहिए।

(१) अधिपति, रक्षिता, इषवः आदि शब्द आलंकारिक हैं क्यों कि वर्षा, वीरुधः आदिकोंको भी बाण कहा है। वस्तुतः ये बाण नहीं हैं। इस कारण कविकी आलंकारिक दृष्टिसे इनका अर्थ लेना उचित है।

(२) मंत्रके प्रथम पादमें अधिपति, रक्षिता ये शब्द एक वचनमें हैं, परंतु द्वितीय चरणमें इन ही शब्दोंका बहुवचन लिखा है। एक वचनका शब्द परमेश्वर पर माना जा सकता है परंतु 'अधिपतिभ्यः, रक्षितृभ्यः' शब्द बहुवचन होनेके कारण परमेश्वर पर नहीं माने जा सकते। आदरार्थक बहुवचन माननेके पक्षमें पूर्वचरणमें एक वचन आया है उसकी निरर्थकता होती है। वेदमें किसी स्थान पर एक मंत्रमें परमेश्वर वाचक शब्दोंका एक वचन और बहुवचन आया नहीं है। इस लिये यहां इन शब्दोंके अर्थ केवल परमेश्वर पर होनेमें शंका है।

(३) प्रत्येक दिशाका अधिपति रक्षिता और इषु भिन्न हैं। यदि ये परमेश्वर पर शब्द हैं तो भिन्नताका कोई तात्पर्य नहीं निकल सकता।

(४) तृतीय चरणमें ' जो हम सबका द्वेष करता है और जिसका हम सब द्वेष करते हैं उसको (वः जम्भे) आप सबके एक जबडेमें हम सब धर देते हैं। ' इस आशयके शब्द आगये हैं। यह मंत्रका भाग केवल सामाजिक स्वरूप पर कहा है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। दुष्टको दण्ड देनेका इसमें विषय है और दण्ड देनेवाला अकेला नहीं है, परंतु (वः) अनेक हैं। (वः जम्भे) 'आप अनेकोंके एक जबडेमें हम सब मिलकर उस दुष्टको देते हैं ' आप जो चाहें उसको दंड दीजिए। दंड देनेका अधिकार हम अपने हाथोंमें नहीं लेते, आप सबकोही दंड देनेका अधिकार है। यह आशय उक्त मंत्र भागमें स्पष्ट है। इसमें न्याय व्यवस्थाकी बातें स्पष्टतासे लिखीं हैं—

(अ) अनेक सज्जनोंको मिलकर न्याय करना चाहिए।

(आ) किसीको उचित नहीं कि वह स्वयंही दुष्टको मनमाना दंड देवे। वह अधिकार न्यायसभाका ही है।

(इ) बहुपक्षसे द्वेष नहीं करना चाहिये। द्वेष करना बुरा है। स्वसंमति प्रगट करना द्वेष नहीं है।

(ई) बहुपक्षको भी उचित नहीं कि वे अपनी संमतिसे किसीको दंड देवें। बहुपक्ष और अल्प पक्षके मतभेद होने पर न्यायसभा द्वारा योग्यायोग्यका निश्चय करना चाहिए। और न्यायसभाका निश्चय सबको मानना चाहिए।

इत्यादि बातें उक्त मंत्रभागसे स्पष्ट सिद्ध होती हैं। यहां परमेश्वरके जबडेमें देनेकी कल्पना नहीं प्रतीत होती। अब यहां 'जंभ' शब्दका अर्थ देखना उचित है—

' जंभ ' शब्दका अर्थ दांत, हाथीका दांत, मुख, जबडा, वज्र, दंड होता है। मंत्रमें 'वः जंभे' अर्थात् 'अनेकोंका एक जबडा' कहा है; प्रत्येक प्राणीके लिये एक जबडा हुआ करता है। परंतु यहां अनेक मनुष्योंका मिलकर एक जबडा कहा है। वास्तविक रीतिसे अनेक मनुष्योंका एक जबडा नहीं हो सकता, परंतु यहां कहा है, इस लिये यह जबडा वास्तविक नहीं है, केवल काल्पनिक है। निम्न कोष्टकसे व्यक्तिगत और सामाजिक जबडेकी कल्पना आ सकती है—

व्यक्तिका जबडा	समाजका जबडा
जंभ	न्यायालय
मुख	मुख्य
ज्ञानेंद्रिय-पंचक	ज्ञानीजन-पंच
दांत-द्विज	त्रैवर्णिक-द्विज
दंतपंक्ति	द्विज-सभा
चर्वण, चर्वितचर्वण	विषय-चर्चा
अन्न-चर्वण	प्रमाण-विचार

सिंह व्याघ्र आदि हिंस्र पशु अपने शत्रुको अपने जबडेमें रखकर खाते हैं। शत्रुको अपने जबडेमें रखनेकी कल्पना नीच प्राणियोंमें है। क्रोधी मनुष्य पागल बनकर अपने शत्रुको काटने दौडता है। परंतु विचारी मनुष्य इस पशुवृत्तिको दबाकर अपने आपको समाजका एक अवयव समझकर, अपने शत्रुको भी समाजका एक अवयव मानता है; इस कारण वह शत्रुको दंड देनेके लिये स्वयं प्रवृत्त न होता हुआ, न्यायसभाकी शरण लेता है, क्यों कि वही 'समाजका जबडा' है। इस न्यायालयमें द्विजोंकी सभा लगती है और वह अनुकूल प्रतिकूल बातोंका मनन वारंवार करके दुष्टको दंड देती है और सज्जनको स्वातंत्र्य अर्पण करती है। इस समाजके जबडेका-अर्थात् न्यायसभाका-भाव 'जंभ' शब्दसे

लेना यहां उचित है। यही अनेक मनुष्योंका मिलकर एक जबडा होसकता है।

तं वो जंभे दध्मः।

(तं) उस दुष्टको हम सब (वः) आप अनेकोंके (जंभे) एक जबडेमें-अर्थात् न्यायसभामें- (दध्मः) धारण करते हैं। अर्थात् आपके आधीन करते हैं। न्यायसभाकी शिरोधार्यता यहां बताई गई है।

यहांका 'वः' शब्द पूर्वोक्त 'अधिपतिभ्यः, रक्षितृभ्यः' इन शब्दोंको सूचित करता है। समाजके अथवा राष्ट्रके अधिपति और रक्षक 'वः' शब्दसे जाने जाते हैं। सबका द्वेष करनेवाले दुष्टको इन पंचोंके आधीन करना चाहिए, यह मंत्रका स्पष्ट आशय है। इसीलिये 'अधिपति' आदि शब्दोंका बहुवचन मंत्रमें आगया है और इसी कारण वह बहुवचन योग्य और अर्थके अनुकूल है।

शत्रुको पंचोंके आधीन करनेके भावसे शत्रुको स्वयं दंड देनेकी और न्यायको अपने हाथमें लेनेके घमंडकी वृत्ति कम होती है, और पंचोंकी ओरसे न्याय प्राप्त करनेकी सात्विक प्रवृत्ति बढती है। इस प्रकारकी प्रवृत्ति समाजके हितके लिये आवश्यक है।

इस उपदेशसे अपने आपको समाजका अवयव समझनेका सात्विक भाव बढाया जाता है। मैं जनताका एक अंश हूं, जनताका और मेरा अटूट संबंध है, यह भावना अत्यंत श्रेष्ठ है, और इस उच्च भावनाका बीज कितनी उत्तमतासे अंतःकरणमें रखा गया है। यह वैदिक धर्मका ही महत्त्व है।

'तेभ्यो नमो०' आदि दो पाद प्रत्येक मंत्रमें हैं। ये दो पाद छे मंत्रोंमें बार बार कहे हैं। बार बार मंत्रोंका जो अनुवाद किया जाता है उसको 'अभ्यास' कहते हैं। विशेष महत्वपूर्ण मंत्रोंका ही इस प्रकार वारंवार अनुवाद वेदमें किया गया है। इससे सिद्ध है, कि इन मंत्रोंका भाव मुख्य है, और इनके अनुकूल शेष मंत्रभागका अर्थ करना चाहिए। अर्थात् इस सूक्तका अर्थ सार्वजनिक है।

(१)

(१ प्राची दिक्) प्रगतिकी दिशा, (२ अग्निः अधिपतिः) तेजस्वी स्वामी, (३ असितः रक्षिता) स्वतंत्र संरक्षक और (४ आ-दित्याः इषवः) स्वतंत्रता पूर्ण वक्तृत्व ये चार बातें हैं।

प्रत्येक दिशा विशेष मार्गकी सूचक समझी जाती है और उस विशेष मार्गके साधक तीन गुण हैं। प्रत्येक दिशाके साथ ये गुण निश्चित हैं। इस पूर्व दिशाके अनुसंधानसे प्रगतिके मार्गका उपदेश किया है। तेजस्विता स्वतंत्रता और वक्तृत्व ये तीन गुण

उन्नतिके साधक हैं। अर्थापत्तिसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि निस्तेज निर्वीर्य राजा, पराधीन रक्षक और अस्वतंत्र वक्ता किसी प्रकार भी उन्नतिका साधन नहीं कर सकते। इसी प्रकार अन्य दिशाओंका विचार करके बोध जानना उचित है।

(१) प्रगतिका निश्चित मार्ग, (२) तेजस्वी स्वामी, (३) स्वाधीनताका धारण करनेवाला रक्षक, और (४) स्वतंत्रतापूर्ण वक्तृत्व, ये चार बातें मानवी उन्नतिके लिये आवश्यक हैं। इसी प्रकारके स्वामी, संरक्षक, और वक्ताओंका सत्कार होना उचित है। जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं उसको आप अधिपतियोंकी सभाके आधीन हम सब करते हैं। यह मंत्रका सीधा आशय है। मनुष्यकी भलाईके उपदेश यहां हैं। इस प्रकार अर्थका मनन करना उचित है। अब मुख्य शब्दोंके मूल अर्थोंका मनन करते हैं—

(१) ' अग्नि ' शब्द वैदिक वाङ्मयमें ब्राह्मण और वक्तृत्वका प्रतिनिधि है। दिशा कोष्टक सं० ३ देखिए, उसमें प्राची दिशाका ' ब्रह्म ' अर्थात् ज्ञान ही धन कहा है।

(२) ' अ-सित ' शब्दका अर्थ बंधन रहित, स्वतंत्र, स्वाधीन ऐसा है। ' सि बंधने ' इस धातुसे ' सित ' शब्द बनता है, जिसका अर्थ ' पर-स्वाधीन ' है। ' अ-सित ' अबद्ध, स्वतंत्र।

(३) ' आदित्य ' शब्द ' अ-खंडनीय ' अर्थमें प्रयुक्त होता है। ' दो-अवखंडने ' धातुसे ' दिति ' शब्द बनता है जिसका अर्थ ' खंडित ' है। ' अ-दिति ' का अर्थ ' अ-खंडित ' है। अदितिका भाव आदित्य है। अखडनीय, अमर्याद, बंधन रहित, स्वतंत्रताके भाव, जहां अज्ञानका बंधन नहीं है।

(४) ' इषु '-' इष्-गतौ ' धातुसे यह शब्द बनता है। इस लिये ' गति, हलचल ' यह भाव इस शब्दमें मुख्य है। पश्चात् इसके अर्थ हलचलका यत्न करना, वक्तृत्व करना, घोषणा देना, उन्नति करना; ये हो गये। इस धात्वर्थका भाव ' इषवः ' शब्दमें है। अस्तु इस प्रकार प्रथम मंत्रका आशय है। अब द्वितीय मत्र देखिए—

(२)

(१ दक्षिणा दिक्) दक्षताकी दिशा (२ इन्द्रः अधिपतिः) शत्रुनिवारक स्वामी (४ तिरश्चिराजी रक्षिता) पंक्तिमें चलनेवाला संरक्षक और (४ पितरः इषवः) वीर्यवान् हलचल करनेवाले, ये चार बातें उन्नतिकी साधक हैं। इसी प्रकारके स्वामी रक्षक और पालकोंका सत्कार हो। जो आस्तिकोंसे द्वेष करता है और जिसका आस्तिक द्वेष करते हैं उसको हम सब आप अधिपतियोंकी सभाके आधीन करते हैं।

(५) ' इन्द्र ' — (इन् शत्रून् द्रावयिता ॥ १०।८) शत्रुका निवारण करनेवाला विजयी।

(६) 'तिरश्चिराजी'- (तिरः) बीचमेंसे, (अंच्-)जाना,(राजी -) लकीर, मर्यादा। अपनी मर्यादाका उल्लंघन न करनेवाला।

(७) ' पिता ' (पातीति पिता)- संरक्षक पिता है। वीर्य धारण करके उत्तम सन्तान उत्पन्न करनेवाला वीर्यवान् पुरुष पिता होता है।

(३)

यह भाव द्वितीय मन्त्रका है। अब तीसरा मंत्र देखिये – (१ प्रतीची दिग्) अंत र्मुख होनेकी दिशा (२ वरुणः अधिपतिः) सर्व सम्मत स्वामी (३ पृदाकुः रक्षिता) स्पर्धामें उत्साही रक्षक और (४ अन्नं इषवः) अन्नकी वृद्धि ये चार बातें अभ्युदयकी साधक है।

(४)

(१ उदीची दिग्) उत्तर दिशा, उच्च तर होनेकी दिशा, (२ सोमः अधिपतिः) शांत स्वामी (३ स्व-जः रक्षिता) स्वयं सिद्ध संरक्षक और (४ अशनिः इषवः , तेजस्वी प्रगति ये चार बातें उन्नति की हैं।

(५)

(१ ध्रुवा दिक्) स्थिर दिशा (२ विष्णुः अधिपतिः) कार्यक्षम स्वामी (३ कल्माषग्रीवः रक्षिता) कर्मकर्ता संरक्षक और (४ वीरुधः इषवः) औषधियोंकी वृद्धि ये चार बातें उत्कर्षके लिये हैं।

(६)

१ (ऊर्ध्वा दिक्) उच्च दिशा (२ बृहस्पतिः अधिपतिः) ज्ञानी स्वामी (३ श्वित्रः रक्षिता) शुद्ध संरक्षक (४ वर्ष इषवः) वृष्टिकी गति ये चार बातें उन्नति करनेवाली हैं।

अब इन शब्दार्थोंका मनन करेंगे। शब्दोंके मूल धात्वर्थ नीचे दिये हैं—

(१) 'वरुणः'—वर-वृ-वरणे। पसंद करना। जो पसंद किया जाता है वह वरुण होता है। सर्व संमत सर्व श्रेष्ठ।

(२) 'पृदाकुः'— (पृत्-आ-कुः) – पृत् का अर्थ युद्ध, संग्राम, स्पर्धा, स्पर्धाके समय उत्साहके शब्द बोलने वाला 'पृदाकु' होता है। कु=शब्द।

(३) 'सोमः'—शांतिका सूचक चंद्र अथवा सोम है। इसका दूसरा अर्थ 'स+उमा' अर्थात् विद्याके साथ रहनेवाला अर्थात् ज्ञानी है। 'सु-प्रसवऐश्वर्ययोः' इस धातुसे 'सोम'

शब्द बनता है जिसका अर्थ 'उत्पादक, प्रेरक और ऐश्वर्यवान्' ऐसा होता है।

(४) 'स्वजः' (स्व+जः) अपनी शक्तिसे रहनेवाला, जिसे दूसरेकी शक्तिका अवलंबन करनेकी आवश्यकता नहीं है। स्वावलंबन शील। स्वयं जिसका यश चारों और फैलता है।

(५) 'अशनिः'—यह विद्युत्का नाम है। तेजस्विताका बोध इस शब्दसे होता है। 'अश्' धातुका अर्थ 'व्यापना' है। व्यापक शक्तिका नाम अशनि है।

(६) 'विष्णुः' सर्व 'व्यापक' कर्ता उद्यमी।

(७) 'कल्माष-ग्रीवः '— 'कल्मन्' का अर्थ 'कर्मन्' अर्थात् कर्म, कार्य, उद्योग है। 'कल्माष'=(कल्म-स)=कर्मके द्वारा अनिष्ट बुराईका नाश करनेवाला। (कर्मणा अनिष्टं स्यति इति कर्माषः। कर्माष एव कल्माषः।)' पुरुषार्थसे दुष्टताको दूर करके सुष्टुताको प्राप्त करनेवाला और इस प्रकारके पुरुषार्थके भाव गलेमें सदा धारण करलेवाला 'कल्मा ष —ग्रीव' किंवा 'कर्मा-स-ग्रीव' कहलाता है।

(८) 'बृहस्पतिः'—महान् ज्ञानका स्वामी, ज्ञानी। स्तुति अथवा भक्तिका अधिष्ठान।

(९) 'श्वित्रः'—शुद्ध, पवित्र, श्वेत।

अस्तु, इस प्रकार मुख्य शब्दोंके अर्थ हैं। पाठक इनका अधिक विचार करके लाभ उठावें।

पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ध्रुव और ऊर्ध्व ये छः दिशायें क्रमशः प्रगति, चातुर्य, शांति, उन्नति, स्थैर्य और श्रेष्ठता इन छः गुणोंकी सूचक हैं। इन छः गुणोंका साधक 'गुण-चतुष्टय' पूर्वोक्त मंत्रोंमें वर्णन किया है। (१) दिशा, (२) अधिपति (३) रक्षक और (४) इषु ये चार शब्द विशेष संकेत के हैं, और इन शब्दोंमें यहां असाधारण विशेष गूढ अर्थ है, इस बातका प्रकाश पाठकोंके मनमें पूर्ण रीतिसे पडा ही होगा। वारं वार मनन करके इनके गूढ तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करना हम सबका कर्तव्य है।

इन मंत्रोंमें 'इषु' शब्द विलक्षण अर्थके साथ प्रयुक्त हुआ है। इसका किसी अन्य-भाषामें भाषांतर करना अत्यंत कठिन कार्य है। किसी एक प्रतिशब्दसे इसका भाव प्रकट होता ही नहीं। इसलिये इन मंत्रोंको विशेष विचारसे सोचना चाहिए।

उत्तम अधिपति और श्रेष्ठ संरक्षकोंका सन्मान होनेसे जनसमाजकी स्थिति ठीक रहती है, और राज्यशासन ठीक चल सकता है। अधिपति मुख्य होते हैं और संरक्षक उनके आधीन रहकर कार्य करनेवाले होते हैं। अधिपति और संरक्षकोंके विषयमें जनतामें निरादर नहीं होना चाहिए। अधिपति और संरक्षकोंके गुण, जो इन मंत्रोंमें वर्णन किये गए हैं, जहां होंगे वहां सब जनताका पूज्यभाव अवश्य रहेगा। दुष्टको दंड

देनेका अधिकार इनहींको है। किसी मनुष्यको उचित नहीं कि वह अपने हाथमें न्याय करनेका अधिकार स्वयंही लेकर किसीको दंड देवे। इससे अशांति और अराजकता होती है। इसलिये प्रत्येक मंत्रमें कहा है कि 'हम श्रेष्ठ और योग्य अधिपतियोंका आदर करते हैं और दुष्टका शासन होनेके लिये उसको उनहींके स्वाधीन करते हैं।' सब लोगोंपर इस भावके संस्कार होनेकी बडी भारी आवश्यकता है।

मनसे सार्वजनिक अवस्थाका निरीक्षण करना और मानवी हितसाधन करनेका विचार करना, इन मंत्रोंका मुख्य उद्देश्य है। इन मंत्रोंमें जनताकी उन्नतिके विचारकी सूचना मिली है। वैदिक धर्ममें व्यक्ति और समाजका मिलकर सुधार लिखा है। केवल व्यक्तिका सुधार नहीं होगा, और केवल समाजका भी नहीं होगा। दोनोंका मिलकर होगा। व्यष्टि समष्टिकी मिलकर उन्नति होती है। प्रत्येक मंत्रकी प्रथम पंक्तिमें सामान्य सिद्धांत कहे हैं और शेष मंत्रमें उन सिद्धांतोंको जनतामें घटाकर बताया है। इस दृष्टिसे पाठक इन मंत्रोंका अधिक विचार करें।

दिशाओंका तत्त्वज्ञान।

वैदिक दृष्टि।

वैदिक तत्त्वज्ञान इतना विस्तृत, व्यापक और सर्वगामी है, कि उसका उपदेश न केवल वेदके प्रत्येक सूक्त द्वारा हो रहा है, परंतु वेदके सूक्त पाठकोंमें वह दिव्य दृष्टि उत्पन्न कर रहे हैं, कि जिस दृष्टिसे जगत्‌के पदार्थमात्रकी ओर विशेष भावनासे देखनेका गुण वैदिक धर्मियोंके अन्दर उत्पन्न हो सकता है। विशेष प्रकारका दृष्टिकोन उत्पन्न करना वेदको अभीष्ट है। यदि पाठकोंमें यह दृष्टिकोन न उत्पन्न हुआ, तो वैदिक मंत्रोंका अर्थ समझना ही अशक्य है। वेद मंत्रोंकी रचना, तथा उनको समझनेकी रीति, वैदिक उपदेशकी पद्धति तथा वैदिक दृष्टि, इतनी विलक्षण और आजकलकी अवस्थासे भिन्न है कि, वह दृष्टि अपनेमें उत्पन्न करना ही एक बडे प्रयासका कार्य, आजकलकी सभ्यताके कारण हो गया है। आजकलकी जड सभ्यताकी रीति अवलंबन करनेके कारण वह परिशुद्ध मानसिक अवस्था और वह दिव्य दृष्टि हमारेमें नहीं रही, कि जो प्राचीन आर्योंमें वैदिक धर्मके कारण थी।

किसी काव्यकी भाषा नीरस और शुष्क हृदयमें कोई प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकती। काव्यका रस जाननेके लिये पाठकोंका तथा श्रोताओंका हृदय विशेष संस्कृतिसे संपन्न

ही चाहिए । कविकी दृष्टिसे ही काव्यका रस ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा कविकी दृष्टि के विना कोई काव्य पाठकोंके हृदयपर प्रेमका भाव उत्पन्न कर ही नहीं सकता । उच्च कविता जंगली मनुष्योंके हृदयोंपर कोई इष्ट परिणाम नहीं कर सकती, इसका यही हेतु है । वीणाकी एक तार बजानेसे उसके स्वरके साथ मिली हुई दूसरी तार आप ही आप आवाज देती रहती है, परंतु जो तार उसके स्वरके साथ मिली नहीं होती, वह नहीं बजती । यही नियम काव्यके आस्वाद लेनेके विषयमेंभी है । जो हृदय कवीके हृदयके समान उच्च होते हैं वेही उस काव्यमें हिल जाते हैं, परंतु जो हृदय भिन्न प्रकार की अवस्थामें होते हैं, वे नहीं हिल सकते । वेद ' देवका काव्य ' होनेसे उसको समझने और उसका वास्तविक आनंद लेनेके लिये भी विशेष उच्च कोटीके हृदय चाहिए ।

यहां प्रश्न उत्पन्न हो सकता है, कि यदि ऐसा है तो सामान्य मनुष्यके लिये वेद निकम्मा सिद्ध होगा ! परंतु वास्तविक बात वैसी नहीं है ! परमेश्वरकी सृष्टि जैसी सब मनुष्योंके लिये है, उसी प्रकार ईश्वरके वेद भी सब मनुष्योंके लिये ही हैं । परंतु अपनी योग्यता और अवस्थानुसार हरएक मनुष्य वेदसे लाभ उठा सकता है ।

जिस प्रकार साधारण मनुष्य जलसे तृषा शांत करने और अग्निसे शीत निवारण करनेका काम लेकर इन पदार्थोंका उपयोग करता है, और समझता है, कि सृष्टिका मैंने उपभोग लिया; तद्वत् साधारण मनुष्य वेदका स्थूल अर्थ लेता है और समझता है कि मैंने वेदका अर्थ जान लिया । जैसा - " अग्निं ईडे " का अर्थ " मैं आगकी प्रशंसा करता हूं " इतना ही समझना है ।

जिस प्रकार उच्च कोटीके वैज्ञानिक यंत्रकलानिपुण महाजन उसी जल और अग्निको यंत्रोंमें रखकर उनके योगसे बडे बडे यंत्र चला लेते हैं, और समझते हैं कि हमने सृष्टिका उपभोग लिया; तद्वत् ही बडे योगी और आत्मज्ञानी पुरुष उसी वेद मंत्रका काव्य दृष्टिसे अवलोकन करके परमात्म तत्त्वके सिद्धान्तोंको जानते हैं । जैसा — " अग्निं ईडे " । का अर्थ ये लोग समझते हैं कि " मैं उस तेजस्वी आत्माकी प्रशंसा करता हूं । "

जैसा सृष्टिका उपभोग दोनों ले रहे हैं, वैसा ही वेदका अर्थ दोनों समझ रहे हैं । परंतु एककी साधारण दृष्टि अथवा जड दृष्टि है और दूसरेकी असाधारण अथवा काव्यदृष्टि है । वेद दिव्य काव्य होनेसे इस प्रकारकी असाधारण काव्य दृष्टिसे ही उसका आशय देखना उचित है । यद्यपि सबको यह दृष्टि साध्य नहीं है, तथापि जिनको साध्य हो गई है उनकी सहायतासे अन्योंको उचित है कि वे अपनी गति इस भूमिकामें करें । आचार्यके बताये मार्गसे चलनेका यही तात्पर्य है ।

वेदका अर्थ समझनेके लिये न केवल वेद मंत्रोंका विशेष दृष्टिसे और विशेष पद्धतिसे अर्थ जाननेकी आवश्यकता है; परंतु सृष्टिकी ओर भी विशेष आत्मिक भावनासे देखने की अत्यंत आवश्यकता है। सर्व साधारण लोकोंको सृष्टिकी तरफ जड दृष्टिसे देखनेका अभ्यास आजकल हो गया है। यही अभ्यास अत्यंत घातक है। जबतक जनतामें जड दृष्टि रहेगी, तबतक उनमें वैदिक दृष्टिका अभाव ही रहेगा। "जिस अवस्थामें सब भूत-मात्र आत्मरूप होगये, उस अवस्थामें एक-त्व-का सर्वत्र दर्शन होनेके कारण शोक मोह नहीं होता।" (य. ४०। ७) यह दृष्टि है कि जिस दृष्टिसे सृष्टिकी ओर देखना चाहिए। परमात्म शक्तिका जो विकास इस प्रकृतिमें होगया है, वह ही सृष्टि है। इस दृष्टिको 'आत्मरूप दृष्टि' कहते है।

जड दृष्टिके लोग अपने शरीरकी ओर भी जडत्वके भावसे देखते हैं और केवल अस्थि, मज्जा, मांस आदिकोंको ही देखते हैं; उनको इन जड पदार्थोंसे भिन्न कोई श्रेष्ठ पदार्थ इस शरीरमें दिखाई नहीं देता; परंतु दूसरे सुविज्ञ लोग ऐसे हैं, कि जो इस शरीरकी ओर चेतन दृष्टिसे देखते हैं, और हरएक शरीरके भागमें आत्माकी शक्तिका विकास और आभास देखते हैं। यह दूसरी दृष्टि वेदको अभीष्ट है। इसी दृष्टिसे सृष्टिका निरीक्षण करनेका तथा वेदका अभ्यास करनेका यत्न करना चाहिए। इस विचारका विशेष स्पष्टीकरण करनेके लिये इस लेखमें दिशाओंका विषय लिया है, आशा है कि पाठक इस लेखको उक्त भावनाके साथ पढेंगे—

"प्राची दिशा" पूर्व दिशाकी विभूति।

पूर्व दिशाके लिये वेदमें विशेष कर "प्राची दिक्" शब्द आता है। इसका मूल अर्थ निम्न प्रकार है—

(१) प्राची=(प्र+अंच्)='प्र' का अर्थ 'आधिक्य, प्रकर्ष, आगे, सन्मुख' है। 'अंच्' का अर्थ 'गति पूजन' अर्थात् जाना, बढना, चलना, हलचल करना, सत्कार और पूजा करना' है। तात्पर्य 'प्राची' शब्दका अर्थ आगे बढना,उन्नति करना, अग्रभागमें हो जाना, प्रगतिका साधन करना, उदयको प्राप्त होना, अभ्युदय संपादन करना, ऊपर चढना, इत्यादि प्रकार होता है।

(२) दिक्=दिशा=का अर्थ तर्फ, सीध, ताक, हिदायत,आज्ञा, निशाना, सीधा रास्ता, सरल मार्ग, इत्यादि होता है।

उक्त दोनों अर्थोंको एकत्रित करनेसे " प्राची दिक् " का अर्थ- (१) आगे बढनेकी दिशा, (२) उदयका मार्ग (३) अभ्युदय प्राप्त करनेका रास्ता, (४) सत्कार

और पूजाका पंथ, (५) उन्नतिकी हलचल, (६) उच्च गतिका सीधा मार्ग, इत्यादि प्रकार होता है। प्राची दिशाका मूल अर्थ बढती अथवा उन्नतिकी दिशा, अभ्युदयका मार्ग, वृद्धिका रास्ता है।

इस अर्थको मनमें धारण करके पाठक पूर्वदिशाकी ओर सवेरे देखें। विचार पूर्वक देखनेके पश्चात् पाठकोंको पता लग जायगा कि पूर्वदिशाका नाम " प्राची दिक् " वेदने क्यों रखा है। विचारकी दृष्टिसे रात्रीके समयमें भी पूर्वदिशाकी ओर पाठक देखते जांय। पूर्व दिशाकी अपूर्वता सवेरे और रात्रीके समय ही ज्ञात हो सकती है। दिनके समय सूर्यके प्रचण्ड प्रकाशके कारण इस दिशाका महत्त्व ध्यानमें नहीं आ सकता। इस लिये सवेरे और रात्रीको ही पूर्व दिशाके महत्त्वका चिन्तन करना चाहिये।

तार्किक लोग दिशाओंको जड कहते हैं, उनको वैसाही कहने दें, क्योंकि उनकी दृष्टि भिन्न है। वेद पढनेके समय आपको सर्वत्र पूर्ण चैतन्यकी दृष्टिसे देखना चाहिए। जैसा पूर्व दिशामें उसी प्रकार अन्य सब दिशाओंमें चैतन्यका विकास हो रहा है, ऐसी शुद्ध कल्पना कीजिये। और प्रत्येक दिशा जीवित और जाग्रत है, तथा विशेष प्रकारकी शक्तिका प्रकाश कर रही है, ऐसी कल्पना कर लीजिए। यदि आप इसको क्षणमात्र देवता मान सकेंगे तो भी हमारे प्रस्तुतके कार्यके लिये बहुत अच्छा है।

आप प्रभात कालमें पूर्व दिशाकी ओर मुख कर लीजिए। कई तारागणोंका उदय हो रहा है और कइयोंका उदय हो गया है, ऐसा आप देखेंगे। अनंत तारागणोंको जन्म देनेवाली, उनका उदय करनेवाली यह पूर्वदिशा है। तेजस्विताका प्रकाश इस दिशासे हो रहा है। प्रतिक्षण इस दिशाकी प्रतिभा बढ रही है, क्योंकि तेजोरूप सूर्यनारायणका अब जन्मका समय है। देखिये। थोडे ही समयमें सहस्ररश्मी सूर्य भगवान् उदयको प्राप्त होंगे और संपूर्ण जगत्को नवजीवनसे संचारित करेंगे। तमोगुणी अंधकारका नाश होगा और सत्वगुणी प्राणमय प्रकाश चारों ओर चमकने लगेगा। देखिए अब सूर्यका उदय हो गया है, यह सूर्यबिंब कैसा मनोरम, रमणीय, स्फुरण देनेवाला, आनंदको बढानेवाला, तेजका अर्पण करनेवाला, तथा सहस्रों शुभ गुणोंसे युक्त है!! आप इसको केवल जड न समझिए। यह हमारे प्राणोंका प्राण है, यह स्थावर जंगमका जीवनदाता है, इसके होनेसे हम जीवित रह सकते हैं और इसके न होनेसे हमारा मृत्यु है, ऐसा यह सूर्यनारायण हमारे जीवनका आधार, परमेश्वरके अद्वितीय तेजका यह सूर्य निःसंदेह व्यक्त पुंज है। इसकी कल्पनासे आप परमात्माकी अद्वितीय तेजस्विताकी कल्पना कर सकते हैं। इस उच्च दृष्टिसे आप इसका निरीक्षण कीजिए। उदय होते ही

इसका तेज बढने लगा है । तात्पर्य यह पूर्व दिशा हरएकको उदयके मार्गकी सूचना दे रही है, अभ्युदयका रास्ता बता रही है, अपनी तेजस्विता बढानेका उपदेश कर रही है । वेद कहता है कि यह " उदयकी दिशा " है । सबका उदय यहांसे हो रहा है । हे मनुष्य ! तुम प्रतिदिन इसका ध्यान और अपने उदयका मार्ग सोचो ।

सूर्य चंद्रका और सब तारागणोंका उदय देखते हुए आप अपने उदयके मार्गकी सूचना निःसंदेह ले सकते हैं । यदि एक समय अस्तको पहुंचा हुआ सूर्य पुरुषार्थसे फिर अपनी परिपूर्ण तेजस्विताके साथ उदयको प्राप्त हो सकता है, यदि क्षयरोगके कारण अत्यंत क्षीणताको पहुंचा हुआ चंद्रमा प्रतिदिन शनैः शनैः प्रयत्न करता हुआ फिर पूर्णिमाके दिन अपने परिपूर्ण वैभवको इसी पूर्व दिशासे प्राप्त हो सकता है, इसी प्रकार यदि सब तारागण एकवार अस्तंगत होनेपर भी पुनः पूर्ववत् उदयको प्राप्त कर सकते हैं; तो क्या मनुष्य, किसी कारण अवनतिमें पहुंच गये होंगे, तो भी उन्नत नहीं हो सकेंगे ? जिस मनुष्यके हृदयमें प्रत्यक्ष आत्मा बैठा है, जिस मनुष्यके शरीरमें सब सूर्य चंद्रादि देवताओंने प्रत्यक्ष जन्म लिया है, ऐसा मनुष्य कि जो ३३ कोटी देवताओंका सत्वरूप है, वह पुरुषार्थ करनेपर नीच अवस्थामें क्यों कर रह सकता है ? न केवल अभ्युदयपर इसका परिपूर्ण अधिकार है, परंतु यह अपना जैसा चाहे वैसा अभ्युदय अपने ही स्वावलंबनसे और अपने ही पुरुषार्थसे निःसंदेह प्राप्त कर सकता है । व्यक्तिशः और संघशः, अर्थात् अपना और जातीका, निजका और राष्ट्रका इसी दृढ भावनासे उदय हो सकता है । पूर्वदिशाके अवलोकन से मनमें ये विचार उत्पन्न हो सकते हैं ।

पश्चिम दिशाकी विभूति ।

दिशाओंकी विभूतियोंका वर्णन करते हुए पूर्व स्थलमें पूर्वदिशाकी वैदिक कल्पना बताई है, अब इस लेखमें पश्चिम दिशाकी कल्पना बताना है । वैदिक क्रम देखा जाय तो पूर्व दिशाके पश्चात् दक्षिण दिशाका वर्णन आना योग्य है, और यह वैदिक दृष्टिसे ठीक भी है; क्योंकि उदयके मार्गके साथ साथ दाक्षिण्यका मार्ग चलना चाहिए । अभ्युदय और दक्षताका साहचर्य सनातन ही है । उदयकी इच्छाके साथ दाक्षिण्यका अवलंबन करनेकी आवश्यकता है, इसमें कोई संदेह ही नहीं है । तथापि पूर्व और पश्चिम दिशाओंकी विभूतियां परस्पर सापेक्षताका संबंध रखतीं हैं, इस लिये वैदिक कल्पनाकी स्पष्टता होनेकी इच्छासे पूर्व दिशाका वर्णन होनेके पश्चात् पश्चिम दिशाका वर्णन करनेका संकल्प किया है । यह सापेक्षताका संबंध देखिए—

पूर्व	पश्चिम
उदय	अस्त (अस्तं गृहं)
जन्म	मृत्यु (स्व-रूप प्राप्ति)
प्रकाशका प्रारंभ	अंधकारका प्रारंभ
प्र-वृत्ति	नि-वृत्ति
पुरुषार्थ	विश्रांति
प्राची	प्रतीची
प्र+अंच्	प्रति+अंच्
हलचल	शांति
जाग्रति	सुषुप्ति
दिन	रात्री

इन दो दिशाओंका परस्पर सापेक्ष संबंध देखनेसे वैदिक कल्पनाकी अधिक स्पष्टता हो जायगी। इस लिये क्रमप्राप्त दक्षिण दिशाका विचार न करते हुए पश्चिम दिशाका ही विचार यहां प्रथमतः करना है। देखिए—

पश्चिम शांतिकी दिशा है। इस शांतिकी दिशाका जलाधिपति वरुण स्वामी है, क्योंकि जलका ही गुण शांति है और वह वरुणके आधीन है। इसीलिये इसको वर अर्थात् श्रेष्ठ कहते हैं। अथवा 'वर' शब्द गौणवृत्तिसे उदकवाचक भी है, जिसके पास 'वर' अर्थात् उदक है, वह वरुण कहलाता है। जलाधिपतिका संबंध अन्नके साथ होना स्वाभाविक ही है, जलके विना अन्नकी उत्पत्ति हो नहीं सकती। अन्नका भोजन करनेसे क्षुधाशांति और जलका पान करनेसे तृषाशांति होती है, अर्थात् खानपानके कारण प्राणियोंके अंदर परिपूर्ण शांति होनेके कारण उत्साह बढता है। इस प्रकार इस दिशासे जनताकी शांतिका संबंध है।

अब पश्चिम दिशाकी विभूति देखिए-व्यक्तिके देहमें गुह्य भाग, आयुमें तारुण्य की अवस्था, दिनमें सायंकालका समय, दिनको पुरुष मानीए और वह दिन अपनी स्त्री रात्रीके साथ मिलने जाता है, यही दिन और रात्रिका मिथुन है, इसी प्रकार स्त्री पुरुष का मिथुन होता है, इस लिये तारुण्यावस्था पश्चिम दिशा है, चोवीस घंटेका अहोरात्र अथवा पूर्ण दिवस होता है, उसमें १२ घंटे व्यतीत होते हैं, वह आयुकी मध्यम अथवा तारुण्यावस्था है, इस समय सूर्य विश्रामके लिये पश्चिम दिशामें जाता है। ऋतुओंमें वर्षा ऋतु, महिनोंमें श्रावण भाद्रपद, कालोंमें पर्जन्य काल, वर्णोंमें वैश्य वर्ण, आश्रमोंमें

गृहस्थाश्रम, पुरुषार्थोंमें काम, युगोंमें द्वापर युग, अवस्थाओंमे सुषुप्ति इत्यादि पश्चिम दिशाकी विभूति है। इसका विचार और आंदोलन करके इस गणनामें न्यूनाधिक करना उचित है। साधारणतया थोडासा रूप यहां वर्णन किया है।

पश्चिम दिशाको इस प्रकार आप अमूर्त और व्यापक मानिए। एक विशेषभाव इस शब्दसे ध्यानमें लाना है। साधारण लोक पश्चिम दिशासे सूर्यास्त होनेकी दिशा समझते हैं, परंतु इससे कई गुणा उच्च और व्यापक अमूर्त भाव वेदमें है, जिसका ज्ञान होनेके विना दिशा बोधक वैदिक मंत्रोंके शब्दोंका आशय समझ में ही नहीं आवेगा।

'प्रति+अंच्' धातुसे 'प्रतीची' शब्द बनता है। इसका धात्वर्थ पीछे हटना, निवृत्त होना, अंतर्मुख होना, विश्रामकी तैयारी करना इत्यादि प्रकार होता है। सूर्य दिन भर प्रवृत्ति रूप कार्य करनेके पश्चात् विश्रामकी तैयारी करके पश्चिम दिशाका आश्रय करता है। मानो कि सब जगत्को दिनभर प्रकाश देनेके पश्चात् विश्रांतिके लिये अपने घर आता है, और रात्रीके साथ संलग्न होता है। इसी हेतुसे रात्रीको 'रमयित्री' अर्थात् रमण करनेवाली कहा जाता है। पुरुष भी इसी प्रकार दिनभर अपने सब व्यवहार करता हुआ जब थक जाता है तब घर आकर अपनी पत्नीके साथ रहता हुआ शांति पाता है। सूर्य तपता है इसलिये तपस्वी है, यह तप उसका ब्रह्मचर्य है, इस ब्रह्मचर्य व्रतके पश्चात् वह रात्रीके साथ रममाण होनेसे गृहस्थी बनता है, यही उसका पश्चिम दिशाका कार्य है। इधर ब्रह्मचर्याश्रममें नियमों और व्रतोंके कारण, तपनेवाला ब्रह्मचारी भी गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होकर शांत होता है, यही व्यक्तिका पश्चिम दिशाका कार्य है। वर्णोंमें ब्राह्मण वर्ण यमनियमोंसे तप करता है, यह ब्राह्मण वर्ण तपस्याके लिये ही है। परंतु वैश्य वर्ण शांतिसे घरमें रहता, पैसे कमाता और आनंद पाता है। न तो इस वर्ण को ब्राह्मणके समान तपस्याके कष्ट हैं और न क्षत्रियके समान युद्धके दुःख हैं। शांतिके साथ गृहसौख्य भोगनेके कारण यह वैश्य वर्ण चातुर्वर्ण्यमें शांति और विश्रामका अतएव पश्चिम दिशाका स्थान है। ऋतुओंमें वसंत और ग्रीष्म उष्णतासे तपनेवाले हैं, परंतु वर्षाऋतुमें सर्वत्र शीत जलकी वृष्टि होनेसे नदी नद तालाव और कूए जलसे परिपूर्ण होनेके कारण सर्वत्र कृषिका प्रारंभ होनेसे सब भूमि हरियावलसे सुंदर और शांत दिखाई देती है, इसलिये ऋतुओंमें वर्षा ऋतु पश्चिम दिशाकी विभूति मानी है। इसी दृष्टिसे अन्यत्र देखिए और सर्वत्र पश्चिम दिशाकी विभूति जाननेका यत्न कीजिए। इस प्रकारकी भावना पश्चिम दिशाके वैदिक मंत्रोंमें है, इसलिये इसकी यथावत् कल्पना होनेसे ही मंत्रोंका आशय हृदयमें विकसित हो सकता है।

उत्तर दिशाकी विभूति।

पूर्व दो लेखोंमें 'पूर्व और पश्चिम' दिशाओंकी विभूतियोंका वर्णन किया गया है, उसी क्रमानुसार इस लेखमें उत्तर दिशाका विचार करना और उस दिशाकी विभूतियोंका स्वरूप अवलोकन करना है। पश्चिम दिशाके पश्चात् क्रमप्राप्त 'उत्तर' दिशा है। उत्तर दिशाका भाव निम्न प्रकार देखा जा सकता है—

उत्तर	उदीची
उत्-तर	उत-अंच्
उच-तर	उच्च-गति

(उत्) उच्चतासे (तर) अधिक जो भाव होता है, वह उत्तर किंवा उच्च-तर शब्दसे बताया जा सकता है। उच्चताकी दिशा, अधिक उच्चताके भावकी दिशा यह इस शब्दका आशय है। जिस प्रकार पूर्व दो लेखोंमें बताया गया है कि 'प्राची और प्रतीची' दिशा क्रमशः 'प्रगति और विश्राम' की सूचक दिशा है, उसी प्रकार समझिये कि यह 'उदीची दिशा उच्चगतिकी सूचक है, व्यक्तिके शरीरमें यह उत्तर दिशा 'बायी बगल' के साथ सम्बन्ध रखती है।

शरीरमें बायी बगल उत्तर दिशा है, इसमें भी हृदय मुख्य है इसका आत्मा अधिपति है। अंगुष्ठ मात्र पुरुष हृदयमें रहता है, यह उपनिषदोंका वर्णन यहां देखने योग्य है। इसका 'स्वजः' रक्षिता है। 'स्व-ज' शब्द स्वत्वसे उत्पन्न होनेवाली शक्तिका बोधक है। आत्मत्वकी स्वकीय शक्तिसे यहांका रक्षण होता है। बाहेरकी शक्तिसे यहांका कार्य होना ही नहीं है। आत्माकी निज शक्तिका ही प्रभाव यहां होना आवश्यक है। आत्माके प्रेमसे तथा परमात्माकी भक्तिसे हृदयके शुभमंगलमय होनेकी संभावना यहां स्पष्ट हो रही है।

उत्तरं राष्ट्रं प्रजयोत्तराविद्दिशामुदीचीं कृणवन्नो अग्रम् ॥
पांक्तं छंदः पुरुषो बभूव विश्वैर्विश्वांगैः सह संभवेम ॥ १० ॥
अथर्व. १२। ३.

"(उत्तरं राष्ट्रं प्रजया उत्तरावित्) उत्तर दिशा सदाही विजयकी राष्ट्रीय दिशा है। इस लिये (नः) हम सबको (अग्रं) अग्र भागमें बढनेकी इच्छा धारण करते हुए इसी उच्चतर दिशासे प्रयत्न करना चाहिए। (पांक्तं) पांच वर्णोंमें विभक्त (पुरुषः) नागरिक जनही इसका छंद है। इसलिये सब अंगोंके साथ हम सब (सहसंभवेम) मिलकर

रहें, अर्थात् एकतासे पुरुषार्थ करें। ”

राष्ट्रमें उच्च होनेकी भावनाही उत्तर अर्थात् उच्चतर दिशा है। इस दिशाके प्रगतिका साधन और अभ्युदयके मार्गका अवलंबन करनेवाले राष्ट्रके प्रत्येक मनुष्यके अंदर यह भावना चाहिये, कि मैं (अग्रं) अग्रभागमें पुरुषार्थ करता हुआ पहुंच जाऊंगा। मैं कभी पीछे नहीं रहूंगा। राष्ट्रमें पांच वर्ण होते हैं, ज्ञानके कारण ब्राह्मणोंका श्वेतवर्ण, क्षात्रके कारण रजोगुण प्रधान क्षत्रियोंका रक्त वर्ण, बैठकर कार्य करनेवाले धनसंग्रह करनेवाले वैश्योंका पीतवर्ण, कारीगरोंका अर्थात् सच्छूद्रोंका नीलवर्ण और असच्छूद्र जंगलियोंका कृष्ण वर्ण होता है। सब जनता इन पांच वर्णोंमें विभक्त है, इसलिये पंचजनोंके राष्ट्रका वैदिक नाम ' पांचजन्य ' है। 'पांच-जन्यका महानाद' ही जनताका सार्वजनिक मत हुआ करता है। जो पुरि अर्थात् नगरीमें वसते हैं उनका नाम पुरुष अर्थात् नागरिक होता है। (पुरि-वस, पुर्-वस, पुर्-उष, पुरुष) ये पुरुष अर्थात् नागरिक पहिले चार वर्ण हैं, और पांचवा निषाद वर्ण नागरिकोंसे भिन्न है, इसलिये कि वह जंगलमें रहता है। जंगल निवासी भी राष्ट्रके अवयव हैं, जैसे नागरिक होते हैं। इस लिये ' पांच-जन्य ' राष्ट्रमें सब लोक आते हैं जिस प्रकार वैदिक राष्ट्रीय पांचजन्यकी कल्पनामें सब पांचों प्रकारके जनोंका अन्तर्भाव होता है, उस प्रकार का ' पांचजन्य राष्ट्र ' का अर्थ और आशय बतानेवाला शब्द किसी अन्य भाषामें नहीं है। इससे पता लगता है, कि वैदिक राष्ट्रीयताकी कल्पना कितनी उच्च और कैसी व्यापक है। सब अवयवों और अंगोंके साथ जब प्रेमरूप एकताका भाव होता है तभी राष्ट्रीय एकताकी अद्भुत शक्ति निर्माण होती है, जिससे राष्ट्रको उच्च तर दिशाके अभ्युदयके मार्गसे जाना सुगम होता है। इस प्रकार उत्तर दिशाकी विभूति है।

जगत्में जो उत्तर दिशा है वह सब जानते ही हैं, यही उत्तर दिशा व्यक्तिके शरीरमें बायी बगल है, राष्ट्रमें उत्तर दिशा धनोत्पादक कारीगर वर्ग है, ऋतुओंमें उत्तर दिशा शरदृतु है, महिनोंमें आश्विन कार्तिक मास हैं, वर्णोंमें सच्छूद्रोंका कारीगर वर्ग है, छंदोंमें अनुष्टुप् छंद, भावनाओंमें उच्च-तर होनेकी महत्वाकांक्षा है, इत्यादि प्रकार इस उत्तर दिशाकी विभूति है। इस दृष्टिसे सर्वत्र उत्तर दिशाकी विभूति देखकर पाठक बोध ले सकते हैं।

पाठक अन्य दिशाओंके विषयमें इस प्रकार विचार करके जानें और इस ढंगसे इन दो सूक्तोंका मनन करके बोध प्राप्त करें।

R. NO. B. 1463

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा)

ओ३म्

वैदिक धर्म ।

वैदिक तत्त्व ज्ञान प्रचारक मासिक पत्र ।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

वर्ष ९

अंक १२

क्रमांक

१०८

मार्गशीर्ष

संवत् १९८५

दिसंबर

सन १९२८



वार्षिक मूल्य— म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५)

विषयसूची।

१ सत्संग	४९	७ अथर्व वेद स्वाध्याय	
२ स्व० ला० लाजपतरायजी	५०	२८ पशुओंकी स्वास्थ्य रक्षा	२०९
३ अथर्व वेदमें मणिका अभिप्राय	५१	२९ संरक्षक कर	२१५
४ हिंदूसमाज समर्थ कैसा बनेगा	६४	३० एकता	२२६
५ वैदिक गृह निर्माण	६७	३१ पापकी निवृत्ति	२३४
६ चार पुरुषार्थ	८०	विषयसूची	२४६

वर्ष ९

अंक १२

क्रमांक १०८

वैदिक धर्म.

मार्गशीर्ष संवत् १९८५

दिसंबर सन १९२८

वैदिक तत्वज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।

संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।

स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

सत्संग !

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो निवर्तताम् ॥
देवानां सख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्र तिरन्तु जीवसे ॥

ऋ० १।८९।२

(देवानां) ज्ञानियों की (भद्रा सुमतिः) कल्याणकारक उत्तम बुद्धि (ऋजूयतां) सीधी होकर हमारे पास आ जाए। (देवानां रातिः) श्रेष्ठोंका ज्ञान (नः अभिवर्ततां) हमारे पास आजावे। (देवानां सख्यं) श्रेष्ठोंके साथ मित्रता (वयं उपसेदिम) हम सब करें तथा (जीवसे) दीर्घायु के लिये (देवाः नः आयुः प्रतिरन्तु) श्रेष्ठ सत्पुरुष हमें आयुष्यका उपाय बतावें।

श्रेष्ठ सत्पुरुषोंके साथ रहते हुए हम अपना आयुष्य बढावें, हम अन्य सब उन्नति प्राप्त करें और अभ्युदय के साथ निःश्रेयस कमा कर अपनी आयु की सार्थकता सिद्ध करें॥

स्व० लाला लाजपत राय जी !

श्री० ला०लाजपतरायजीका अकस्मात् स्वर्गवास हुआ, यह सुन कर संपूर्ण भारत वर्षका हृदय दुःखसे दग्ध हुआ है। मृत्यु आने योग्य लालाजी की अवस्था नहीं हुई थी। वे देश सेवा के लिये कटिबद्ध होकर सायमन कमिशन के बहिष्कार के लिये अगुवा होते हुए लोगोंको अपनी स्वातंत्र्य प्राप्तिका मार्ग बता रहे थे, ऐसे समयमें उनकी छाती पर पंजाब की पुलिसने दो तीन लाठीके प्रहार किये। इसकारण उनकी छातीपर सूजन आगई और इसी दुःखमें उनका देहान्त हुआ। यह बात अब सबको विदित ही है।

लालाजी अपने देशकी स्वतंत्रताके लिये कार्य कर रहेथे और पंजाब की सरकार भारतवर्षकी पराधीनता स्थिर करनेके यत्नमें थी। स्वतंत्रता और परतंत्रता का यह झगडा था। इस प्रकारके युद्धमें पंजाब के सिंहका शरीर राष्ट्र कार्य में समर्पित हुआ है। तरुण भारतको यह "लालाजीका स्वातंत्र्य युद्धमें आत्मसमर्पण" अपने हृदयमें स्थिर रखना चाहिये।

पंजाब पुलिसकी लाठीके जो आघात लालाजी की छातीपर हुए वे केवल उनकी ही छातीपर नहीं थे, प्रत्युत वे आघात हरएक भारतीय हृदयपर हुए हैं और लालाजी की मृत्युसे तो वह दुःख अब असह्य हो हुआ है। जब तक भारत को "स्वराज्य" नहीं मिलेगा, तब तक यह दुःख दूर नहीं हो सकता और तरुण भारत को अब अन्य सब कार्य छोडकर केवल स्वराज्य प्राप्तिके प्रयत्नके लिये ही अपने आपको पूर्णतया समर्पित होना चाहिये। क्योंकि स्वराज्य के विना ऐसे अत्याचार अब कम नहीं होंगे।

स्वराज्यका मार्ग " अहिंसामय सत्याग्रह " है और भारतकी निःशस्त्र अवस्थामें यही एक हमारा सच्चा सहायक है। यह बात अब प्रयोग के साथ बारडोलीमें सिद्ध हुई है। तरुण भारत अब इस मार्गका अवलंबन करे। प्राचीन कालमें ध्रुव, प्रल्हाद, वसिष्ठ आदिकों द्वारा इसी अहिंसापूर्ण सत्याग्रहका अवलंबन हुआ था। इस मार्गसे जैसी सत्याग्रही की उन्नति होती है वैसी ही अत्याचारी की भी उन्नति होती है। यदि भारतवर्ष इस मार्गसे अपना स्वातंत्र्य शीघ्र प्राप्त करेगा तो वह न केवल भारत वर्षका ही उद्धार करेगा, परंतु वह अन्य देशोंका मार्ग दर्शक नेता बनेगा और साथ ही साथ अपने स्वातंत्र्य के प्राचीन आदर्श से गिर जाने वाले इंग्लीस्तान को भी गिरावट से बचायेगा। साम्राज्यमद से ही सब राष्ट्र गिरते हैं, साम्राज्य बढनेसे इंग्लिस्तान में अब वह स्वातंत्र्य प्रीति नहीं रही जो सौ डेडसौ वर्ष पूर्व थी। भारत वर्ष का भविष्यमें यही महत्त्वपूर्ण कार्य है कि वह अपना बचाव करता हुआ अपने गिरानेवालेका भी बचाव करे। यदि तरुण भारत ने यह कार्य किया तो भारतके यशकी कोई सीमा नहीं रहेगी।

आसुरी उपायोंसे अन्य देशोंने स्वराज्य प्राप्त किया है, परंतु यह भारत वर्ष द्वारा ही सिद्ध होना है कि दैवी उपायोंसे भी स्वराज्य प्राप्त हो सकता है और उस से जगत् में अधिक कल्याण हो सकता है।

स्व० लालाजीने अपना देह इसी पवित्र कार्य के लिये समर्पित किया है, देह समर्पण के पश्चात् भी स्व० लालाजी वही भारतकी स्वातंत्र्यप्राप्तिका कार्य करना चाहते हैं। उनकी आत्मा सुयोग्य तरुणोंके हृदय ढूंढ रही है कि जिनके आश्रयसे लालाजी की आत्मा कार्य कर सके। इस लिये तरुण भारत को चाहिये कि वह अब अपने आत्माको ऐसा पवित्र, निःस्वार्थ और उच्च बनावे कि जिसके आश्रय से लालाजी की आत्मा अपना उद्दिष्ट कार्य पूर्ण कर सके।

यही एक मार्ग है जिससे भारतवर्ष स्व०लालाजी का योग्य श्राद्ध कर सकता है।

अथर्व वेदमें 'मणि' का अभिप्राय।

(लेखक—श्री. पं० सत्यकेतु जी विद्यालंकार)

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् ।
स मायं मणिरागमत् तेजसा त्विष्या सह
यशसा कीर्त्या सह ॥ २७ ॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो ऽसुरक्षितिम् ।
स मायं मणिरागमत्सर्वाभिर्भूतिभिः सह ॥२८॥
अथर्व० १०।३

वेदोंमें बहुतसे स्थल इस प्रकारके हैं, जिनका वास्तविक अभिप्राय अभीतक समझा नहीं जा सका है। अथर्व वेद के मणि संबंधी सूक्त इसी प्रकार के हैं। भारतीय और विदेशी वैदिक विद्वानोंने इनके अर्थ किये अवश्य हैं, परन्तु वे सन्तोष जनक नहीं हैं। "मणि" शब्द का क्या अर्थ है, यह रहस्य अभीतक स्पष्ट नहीं हुआ है। भाष्यकर्ता सायणाचार्य ने "मणि" से ताबीज व कवच का अभिप्राय लिया है। वे ताबीजों की अलौकिक व असाधारण शक्ति पर विश्वास करते हैं, और "मणि" से उनको ही ग्रहण करते हुए नानाविध मणियों की अपरिमित शक्तियों का वर्णन करते हैं। अभीवर्त मणि का अभिप्राय समझते हुए वे लिखते हैं:-

"अथ आद्याभिश्चतसृभिर्ऋग्भिः शत्रुमर्दित-राष्ट्राभिवृद्धये रथचक्रनेमिर्मणि सूत्रोक्त-लक्षणं कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य 'उदसौ सूर्यः' इति उत्तमाभ्यां बध्नीयात्।"
अथर्व० १।२९

इसी प्रकार पर्णमणि, जङ्गिडमणि आदिके सम्बन्धमें सायणाचार्यने "मणि" के निर्माण व धारण विधिका वर्णन करके उन के फल को भी दर्शाया है। जङ्गिडमणिके सम्बन्धमें वे लिखते हैं—

"दीर्घायुत्वाय" इति सूक्तेन कृत्यादूषणार्थं आत्मरक्षणार्थं विघ्नशमनार्थं च जङ्गिडाख्यवृक्षविशेषमणिं शणसूत्रप्रोतं कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात्।"
अथर्व २।४

जङ्गिड कौनसा वृक्ष है, यह वर्तमान संस्कृत कोषों से प्रतीत नहीं होता, परन्तु भाष्यकार के समयमें यह वाराणसी वा काशी में सर्व विदित था और उत्तरीय भारत में लोग इस से साधारणतया परिचित थे। 'प्रतिसर मणि' के सम्बन्ध में सायण ने इस प्रकार लिखा है-

"अयं प्रतिसरः" इति सूक्तद्वयं अर्थसूक्तम् अभिलषितार्थसिद्ध्यर्थम्। अनेनार्थसूक्तेन दधिन मधुनि च त्रिरात्रं वासितं तिलकमणिं संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात्।" इत्यादि ॥
अथर्व ०८।५

अन्य मणियों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकारसे व्यवस्था की गई है। यह विश्वास केवल सायणाचार्य का ही नहीं था, उन के विश्वास के लिये कुछ प्राचीन प्रमाण भी विद्यमान हैं। सायण ने अपनी स्थापना के लिये प्राचीन ग्रंथों से प्रमाण भी पेश किये हैं। उन्होंने जगह जगह पर "शान्तिकल्पः" 'कौशिक सूत्र' नक्षत्रकल्पः' 'अथर्वपरिशिष्टम्' आदि प्राचीन ग्रन्थों के प्रमाण भी दिये हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन ग्रन्थों के निर्माता मणि शब्दसे 'ताबीज व कवच' का ही ग्रहण करते थे, और सायण ने प्राचीन परिपाटी को ही सम्मुख रखकर अपना भाष्य लिखा था। भारतीय इतिहास

के मध्ययुगमें निस्सन्देह तावीज और कवच आदि पर विश्वास किया जाता था और विद्वान् लोग यही समझते थे कि वेदों में इनका विधान है। अब भी जो लोग कवच व तावीज पर विश्वास रखते हैं इन्हें वेदानुकूल ही मानते हैं और अपने पक्षकी पुष्टिके लिये अथर्व वेद के मणि संबंधी सूक्तों को प्रमाणरूपसे पेश करते हैं। अभिप्राय यह है यह विश्वास प्राचीन और परम्परागत है, अतः प्राचीन पुस्तकों में भाष्य का यह अर्थ देख कर आश्चर्य न करना चाहिये।

वर्तमान पाश्चात्य विद्वानोंने भी " मणि " शब्दसे इसी अर्थ का ग्रहण किया है। प्रसिद्ध विद्वान् मैकडोनल और कीथने अपनी Vedic Index में लिखा है—

"Mani is the name in the Rigveda and later of a 'Jewel' used as an amulet against all kinds of evil. That either 'pearl' or 'diamond' is denoted is not clear. It is evident that the Mani could be strung on a thread (sutra), which is referred, in the Panchavinsha Brahman".

इसी प्रकार Bloomfield, Lanman आदि सभी विद्वानोंने मणि शब्दका यही अभिप्राय लिया है। ब्लूम फील्ड अथर्व वेदके बहुतसे सूक्तों में जादू टोना की सत्ता मानते हैं और बहुतसे मन्त्रों की व्याख्या इसी दृष्टिसे करते हैं। जङ्गिडमणि के सूक्त पर वह निम्न लिखित शीर्षक देते हैं— 'Charm with an amulet derived from the जङ्गिड tree, against diseases and demons' वरणमणि को उन्होंने इन शब्दोंमें बताया है-'Exorcism of disease by means of an amulet from the Varan tree' इसी तरह अन्यत्र भी मणिशब्दसे यही अभिप्राय लिया गया है। लैम्मन, ग्रीफिथ, वीवर, गेल्डनर, ल्युड्विग् आदि अंग्रेजी भाष्यकारों ने इसी पक्षकी पुष्टि की है। पाश्चात्य विद्वानों की यह संमति किसी स्वतन्त्र आधार पर आश्रित नहीं, उन्होंने भारतीय भाष्यकारों को ही दृष्टिमें रखकर युरोपियन भाषाओं में वेदोंका भाषान्तर किया है।

मणिका अर्थ करते हुए उन्हों भारतीय ग्रन्थोंका विस्तार के साथ उल्लेख किया है। वर्तमान समयमें पं० क्षेमकरण दासजी त्रिवेदीने अथर्व वेदका भाष्य किया है। त्रिवेदीजी ऋषि दयानन्द के अनुयायी हैं और आर्यसमाजी हैं। भाष्य करते हुए वे तावीज और कवच को स्वीकार नहीं कर सकते थे, क्यों कि ये बातें आर्य सिद्धान्तोंके विरुद्ध हैं। अतः उन्होंने 'मणि' शब्द के प्रसंगानुसार बल, सामर्थ्य, ऐश्वर्य, ईश्वर आदि अर्थ किये हैं। हम यह भी नहीं कहते कि पण्डितजीके अर्थ अशुद्ध हैं, परन्तु इतना अवश्य है कि वेदके विद्यार्थी को उनसे सन्तोष नहीं हो सकता। त्रिवेदीजी के भाष्यसे मणि संबंधी सूक्तोंका असली अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता। वस्तुतः " मणि" का ठीक मतलब समझ सकना बहुत कठिन है, मणि का अर्थ न निरुक्तमें किया गया है और न वैदिक कोष निघण्टुमें इस शब्दका जिक्र है। ब्राह्मण ग्रन्थोंमें भी इस पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया। अथर्ववेदका ब्राह्मण गोपथ है। गोपथ में कुछ अन्य सूक्तों की तो व्याख्या की गई है, परन्तु मणि सम्बन्धि सूक्तों का इसमें भी कोई उल्लेख नहीं। अन्य वैदिक साहित्य की भी यही हालत है। इस अवस्थामें यह बहुत कठिन है कि "मणि" के असली अभिप्रायको ठीक प्रकार समझा जा सके। परन्तु वैदिक साहित्य के अध्ययनसे कुछ ऐसे निर्देश अवश्य उपलब्ध होते हैं, जिनसे मणि सबंधी सूक्तों और " मणि-शब्द" का अभिप्राय समझमें आ जाता है। ये निर्देश परोक्षरूपमें हैं। असली अर्थको समझनेके लिये हमें यह देखना होगा कि मणि शब्दके विशेषण कौनसे हैं और उनका अर्थ वैदिक साहित्यमें क्या किया गया है। इसके सिवाय इन सूक्तों की आन्तरिक साक्षी तथा प्रकरण का भी अवलोकन करना होगा। इन्हीं आधारोंपर हम " मणि" के अभिप्रायको समझनेका प्रयत्न प्रारंभ करते हैं।

अथर्व वेदमें मणि के विशेषण रूपसे जो शब्द मुख्य रूपसे पाये जाते हैं,वे निम्न लिखित हैं- वरणमणिः, औदुम्बरमणिः, पर्णमणि, दर्भमणिः,अभीवर्तमणिः, सर्वकाममणिः, प्रतिसरोमणिः, शङ्खमणिः,

और जङ्गिडोमणिः । हम इन विशेषणोंके अर्थपर ब्राह्मण ग्रन्थोंके अनुसार विचार करेंगे ।

पहले 'वरण' शब्दको लीजिये-गोपथ ब्राह्मणमें 'वरण' शब्दके अर्थको इस प्रकार स्पष्ट किया है-

" ता भीता अब्रुवन् भगवन्तमेव वयं राजानं वृणीमहे इति । यच्च वृत्वाऽतिष्ठंस्तद्वरणोऽभ वत् तं वा एतं वरणं सन्तं वरुण इत्याचक्षते परोक्षेण । परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः ॥　　गो ब्रा.१।७

इस गोपथ वाक्यके अनुसार 'वरण' और 'वरुण' एक ही हैं । और वरण या वरुण उसे कहते है, जो भीत प्रजाद्वारा राजा चुना जाता है । क्यों कि उसे वरण किया जाता है, इसी लिये उसे ' वरण कहते हैं । राजाके चुने जाने की बात प्राचीन साहित्यमें अनेक बार आई है । राजाविहीन अवस्थामें प्रजा भीत होगई और उन्होंने राजाको चुना । मनुने इसी सिद्धान्तको इन शब्दोंमें लिखा है-

अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥
मनु० ३।७।३

वेदमें भी संभवतः-

' विराड् वा इदमग्र आसीत् । तस्या जातायाः सर्वमबिभेत् ।'

इत्यादि सूक्तमें यही प्रतिपादन किया गया है । 'वरण' या 'वरुण' राजाको कहते हैं, अथवा राजस म्बन्धमें यह प्रयुक्त होता है, इसके लिये ये प्रमाण पर्याप्त होंगे-

' वरुणः सम्राट् सम्राट्पतिः । साम्राज्यमस्मिन्यक्षे मयि दधातु ।' श० ब्रा० ११।४।३।१०
' क्षत्रस्य राजा वरुणोऽधिराजः । तै० ३।१।२।७
' क्षत्रं वै वरुणो, विशो मरुतः ।' शत० २।५।२।६
' वरुणो वै देवानां राजा । ' शत० १२।८।३।१०
'यदादित्यो वरुणं राजानं वरुणप्राघासैरजयत ।'
तै० १।४।१०।६
'एतेन वै वरुणो राज्यमाधिपत्यमगच्छद्राज्यमाधिपत्यं गच्छति · ...। ताण्डय० १३।९।२३

वेदमें भी राजाप्रकरणमें वरुण को राजा कहा गया है-

सोमस्य राज्ञो वरुणस्य धर्मणि बृहस्पतेरनुमत्या उ शर्मणि । ऋ०१०।१६७।३

इस तरह स्पष्ट है कि वरण या वरुण का राज्यके साथ अत्यन्त सम्बन्ध है और वैदिक साहित्य के अनुसार इसका अर्थ राजा भी है । अब 'वरणमणि' के सूक्तको लीजिये-

अयं मे वरणो मणिः सपत्नक्षयणो वृषा ।
तेना रभस्व त्वं शत्रून् प्रमृणीहि दुरस्यत ॥
अथर्व० १० । ३ ।१

परन्तु इस सूक्तका अर्थ करनेसे पूर्व हम अन्य मणियों पर भी विचार करेंगे । अब 'औदुंबर मणि' को लीजिये । सायण तथा पाश्चात्य विद्वानोंने 'वरण' को एक वृक्षविशेष बताया था और इसकी लकडीसे निर्मित मणि को वरण मणि कहा था, परन्तु वैदिक साहित्यमें हमने सर्वथा भिन्न अभिप्राय जाना । इसी तरह अब ' औदुम्बर ' पर विचार कीजिये । उदुंबर प्रसिद्ध वृक्ष है, जिसे गूलर कहते हैं । परन्तु वैदिक साहित्यमें इसका अर्थ कुछ और ही है । क्यों कि —

' परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः । '

शतपथ ब्राह्मणमें लिखा है—

" सोऽब्रवीत् । अयं वाव मा सर्वस्मात्पाप्मन उदभार्षीदिति यदब्रवीदुदभार्षीन्मेति तस्मादुदुम्भर उदुम्भरो ह वै तमुदुम्बर इत्याचक्षते परोक्षेण परोक्षकामा हि देवाः ।
शत० ७।५।१।२२

' क्यों कि इसने मुझको सब पापों से ऊपर उठाया है, अतः यह ' उदुम्भर ' है । इसो ' उदुम्भर ' को ' उदुम्बर ' कहते हैं, क्यों कि देवता-लोग सीधी बात पसन्द नहीं करते, वे टेढी बात कहते हैं । '

एक अन्य स्थान पर शतपथमें कहा है-

' अथास्य इन्द्र ओज आदाय उदङ् अक्रामत् स उदुम्बरोऽभवत् । '
श. ७।४।१।३९

इस प्रजापति के ओज को लेकर इन्द्र ऊपरको चला गया, इन्द्रने उन्नति की, इन्द्रने विजय प्राप्त की इसी लिये यह ओज उदुम्बर कहते हैं । शतपथ

तथा ताण्ड्य महा ब्राह्मण (६ । ४ । १) में उदुम्बर को-

प्राजापत्यो वा उदुम्बरः ।

कहा गया है, इसका कारण यह है, कि शतपथके पूर्व वचन के अनुसार प्रजापति के ओजका नाम ही उदुम्बर है। यह ओज अथवा ' ऊर्ग् ' देवों ने प्रजापति से प्राप्त किया था। देवों के राजा का ही नाम इन्द्र है। इसी ओज वा उर्ग् को प्राप्त कर देव लोग असुरोंपर विजय प्राप्त कर सके।

ते ह सर्वे एव वनस्पतयोऽसुरानभ्युपेयुः
उदुम्बरो हैव देवान्न जहौ ते देवा असुरान्
जित्वा तेषां वनस्पतीनवृञ्जत । श० ६ । ६ ।३।२

सब साधन बेकाम रह गये। केवल उदुम्बर या ऊर्ग् के द्वारा ही देव विजयी हुए। अत एव कहा है—

' प्रजापतिर्देवेभ्य ऊर्जं व्यभजत् तत उदुम्बरः समभवत् । ' ताण्ड्य० ६ । ४ । १

' देवा वा ऊर्जं व्यभजन्त । तत उदुम्बर उदतिष्ठत् । ' तैत्तिरीय ब्राह्मण १ । १ । ३ । १

इस वैदिक साहित्य के अनुसार उदुम्बर उस ओज वा ऊर्ग् का नाम है, जिसको प्रजापतिने देवों के लिये दिया था और जिस ही के कारण वे असुरोंपर विजय पासके थे। इस ओज को और अधिक स्पष्टतासे समझने के लिये निम्न लिखित वाक्यों पर विचार करना आवश्यक है। तैत्तिरीय संहिता में लिखा है-

' देवासुराः संयत्ता आसन् ते देवा बिभ्यतोऽग्निं प्राविशन्, तस्मादाहुरग्निः सर्वा देवता इति ।'
तै० सं० ६ । २ । २

' देव और असुर दोनों संग्राम में जुटे हुवे थे। युद्ध में देव डर गये। डर कर वे अग्नि में घुस गये, इसी कारण अग्निको सब का देवता कहा जाता है। ' उपर्युक्त ब्राह्मण वाक्य का यह शब्दार्थ है। देव लोग परोक्ष बात कहना पसन्द करते हैं, अतः यहां क्या परोक्ष बात कही गयी है, यही विचारणीय है। निरुक्त के अनुसार अग्निका अर्थ निम्न लिखित है-

'अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते।'

अग्रणी या नेता को अग्नि कहते हैं। अतः 'अग्निं प्राविशन् ' का अर्थ हुवा अग्रणी वा नेता को प्राप्त हुवे। पहिले वे नेतृ विहीन थे,अब उन्होंने नेता को प्राप्त कर लिया। नेता या राजा प्राप्त करके—राजा के रूप में संगठित होकर फिर उन्होंने असुरों के साथ युद्ध किया और विजयी हुवे। ब्राह्मणग्रन्थोंमें इसी भावको अनेक प्रकारसे प्रकट किया है। ऐतरेय ब्राह्मणके निम्न शब्दोंमें यह भाव बहुत स्पष्ट है।

" देवासुरा वा एषु लोकेषु समयतन्त त एतस्यां प्राच्यां दिश्ययतन्त तांस्ततोऽसुरा अजयंस्ते दक्षिणस्यां दिश्ययतन्त तांस्ततोऽसुरा अजयंस्ते प्रतीच्यां दिश्ययतन्त तांस्ततोऽसुरा अजयंस्त उदीच्यां दिश्ययतन्त तांस्ततोऽसुरा अजयंस्त उदीच्यां प्राच्यां दिश्ययतन्त ते ततो न पराजयन्त सैषा दिगपराजिता तस्मादेतस्यां दिशि यतेत वा यातयेद्वेश्वरो हानृणा कर्तोस्ते देवा अब्रुवन्नराजतया वै नो जयन्ति राजानं करवामहा इति तथेति ते सोमं राजानमकुर्वंस्ते सोमेन राज्ञा सर्वा दिशोऽजयन्नेष वै सोमो राजा यो यजते प्राचि तिष्ठति ...... ।
ऐतरेय ब्राह्मण १ । १४

वह प्राजापत्य ओज जिसे उदुम्बर कहा गया है, राज्यत्व के सिवाय अन्य कुछ नहीं है। इसी भाव को परोक्षरूपसे ' अग्निं प्राविशन् ' और स्पष्टरूपसे ' राजानं करवामहै ' इत्यादि सन्दर्भ से बताया गया है। पहले पहल यह राज्यत्व 'गृहपति' के रूपमें प्रगट हुआ, यह बात ' विराड्वा इदमग्र आसीत् ' आदि उत्क्रान्ती सूक्त में स्पष्ट है। वहां कहा गया है, कि राज्य विहीन अवस्थाके बाद उत्क्रान्ति होकर पहले ' गार्हपत्य अग्नि 'या' गृहपति' अवस्था प्राप्त हुई। इसी लिये राज्यत्व की प्रथमावस्था में स्थित गृहपति के लिये आवश्यक है कि वह ' औदुम्बर ' वा प्राजापत्य ओज को धारण करे। ताण्ड्य महा ब्राह्मणमें लिखा है—

' गृहपतिरौदुम्बरीं धारयति गृहपतिर्वा ऊर्जो यन्तोर्जमेवैभ्यो यच्छति ।' तां० ब्रा० ५।९।१५

हम समझते हैं कि इस विवेचन से उदुम्बर का अर्थ स्पष्ट होगया होगा। जो भाव ' वरण मणि ' का है वही ' औदुम्बरमणि ' का भी है । जिस प्रकार वरण से राज्यत्व सूचित होता है उसी तरह औदुम्बर से । यही कारण है, कि शतपथ के राज्याभिषेक प्रकरण में तथा ऐतरेय के ऐन्द्रीय महाभिषेक प्रकरण में राजाका अभिषेक करने के लिये जो सामान उपस्थित किया गया है, उस में उदुम्बर का बहुत भाग है। भाव यह है, कि राजसिंहासन, चमस आदि सब उपकरणोंके उदुम्बर काष्ठ द्वारा निर्मित होने से वास्तविक उदुम्बर या प्राजापत्य ओज का स्मरण हो सके। ब्राह्मणग्रन्थों के यज्ञ प्रकरण का अध्ययन करते हुए इस बात को खूब अच्छी तरह ध्यानमें रखना चाहिये कि बाह्य साधारण यज्ञों की रचना, विधि, उपकरण आदि सब के विशेष अभिप्राय हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार जीवन यज्ञमय है। जीवन के प्रत्येक पहलूपर यज्ञ की दृष्टिसे विचार किया जा सकता है। इसी लिये बाह्य यज्ञ को इस प्रकार बनाया गया है कि वास्तविक यज्ञ का सदा स्मरण होता रहे। उदुम्बर के परोक्ष भाव को स्मरण कराने के लिये राज्याभिषेक की अनेक वस्तुओं को उदुम्बर निर्मित होने की विधान किया गया है—

'तस्यैते पुरस्तादेव सम्भारा उपक्लृप्ता भवन्ति। औदुम्बर्यासन्दी तस्यै प्रादेशमात्राः पादाः स्युः। अरत्निमात्राणि शीर्षण्यानूच्यानि मौञ्जं विवयनं व्याघ्रचर्मास्तरणं। औदुम्बरश्चमस उदुम्बरशाखा तस्मिन्नेतस्मिंश्चमसेऽष्टौ तयानि निषुतानि भवन्ति। ऐ० ब्रा० ८।५

इस तरह औदुम्बर आसन्दी, चमस, शाखा आदि रखनेका अभिप्राय यही है, कि राज्यके मूलभूत ' उदुम्बर " या ' प्राजापत्य ऊर्ग् ' का सदा ख्याल रहे। अतः ' औदुम्बर मणि ' के संबन्ध में इतना तो निश्चित समझना चाहिये कि इसका संबंध राज्याभिषेक के साथ है। यद्यपि अभिषेक के समय औदुंबर चमस और उदुम्बर शाखासे औदुम्बर आसन्दीपर तिलक किया जाता है, परन्तु वास्तविक अभिषेक के सम्बन्धमें तैत्तिरीय ब्राह्मणका कथन है, कि—

' औदुम्बरेण राजन्यः (अभिषिञ्चति)। ऊर्जमेवास्मिन्नन्नाद्यं दधाति। ' तै० ब्रा० १।७।८।७

अर्थात् राजन्य का अभिषेक औदुम्बर से होता है,परन्तु वह औदुम्बर क्या है? वह है, जिसके द्वारा उसमें ऊर्ग् व प्राजापत्य ओजका आधान होता है। इस तरह—

औदुम्बरो वृषा मणिः स मा सृजतु पुष्ट्या॥
अथर्व० १९। ३१। २

मन्त्रमें औदुम्बर मणि का अर्थ बहुत कुछ स्पष्ट होजाता है, परन्तु इन सूक्तों का अर्थ करने से पूर्व अभी हम अन्य मणियों पर विचार करते हैं।

अब ' पर्णमणि' को लीजिये। पर्णका क्या अभिप्राय है, इस पर भी ब्राह्मण ग्रन्थोंसे कुछ प्रकाश पडता है। परन्तु वेदकी आन्तरिक साक्षी इसे और भी अधिक स्पष्ट करती है। पर्ण के सम्बन्धमें वेद लिखता है-

सोमस्य पर्णः सह उग्रमागन्निन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टः। तं प्रियासं बहु रोचमानो दीर्घायुत्वाय शतशारदाय॥ अथर्व० ३।५।४

इस मन्त्रमें ' पर्णमणि' को सोमसंबंधी कहा गया है, इस भाव को तैत्तिरीयब्राह्मणका निम्न लिखित सन्दर्भ स्पष्ट कर सकेगा-

तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत्।
तं गायत्र्याहरत्। तस्य पर्णमच्छिद्यत।
तत्पर्णोऽभवत्। तत्पर्णस्य पर्णत्वम्॥
तै० ब्रा० १।१।३।१०

इसका शब्दार्थ यह है- सोम पहले तृतीय लोक अर्थात् द्युलोकमें था, उसे गायत्रीने अपहरण किया। इससे उसका पर्ण टूट गया। वही पर्ण बन गया, इसी लिये उसे पर्ण कहते हैं। इस ब्राह्मण वाक्यके अनुसार पहले सोम पृथ्वीपर नहीं था, वह द्युलोकमें था, गायत्री उसे पृथ्वी पर लाई। अभी भाव स्पष्ट नहीं हुआ, और अधिक स्पष्टताके लिये ऐतरेय ब्राह्मण को देखिये --

सोमो वै राजा गन्धर्वेष्वासीत्तं देवाश्च ऋषयश्चाभ्यध्यायन् कथमयमस्मान्त्सोमो राजा गच्छेदिति ? सा वागब्रवीत् स्त्रीकामा वै गन्ध-

र्वा, मयैव स्त्रिया भूतया पणध्वमिति । नेति देवा अब्रुवन्, कथं वयं त्वदृते स्यामेति ? साब्रवीत् क्रीणीतैव, यर्हि वाव वो मयार्थो भविता तर्ह्येव वोऽहं पुनरागन्तास्मीति तथेति । तया महानग्न्या भूतया सोमं राजानमक्रीणंस्तामनुकृतिमस्कन्नां वत्सतरीमाजंति सोमक्रयणी तया सोमं राजानं क्रीणन्ति । तां पुनर्निष्क्रीणीयात्पुनर्हि सा तानागच्छत्तदुपांशु वाचा चरितव्यं । सोमे राजनि क्रीते गन्धर्वेषु हि तर्हि वाग्भवति सागनावेव प्रणीयमाने पुनरागच्छति । ऐतरेय ब्रा० १।२७

पहले सोमराजा गन्धर्वों के पास था, देवों और ऋषियोंने सोचा, कि हम सोम को प्राप्त करें। वे सोचने लगे, कि किस प्रकार राजा सोम हमें प्राप्त हो। इस पर 'वाग्' बोली-गंधर्व लोग स्त्रीकामी हैं, मैं स्त्री बनकर उनके पास जाती हूं। उन्हें मुझको देकर सोमराजा को खरीद लो। देवोंने कहा-नहीं, तेरे बिना हमारा कर्म कैसे चल सकता है ? वाग् ने कहा-सन्देह मत करो। मुझे देकर सोमको खरीद लो। ज्यों ही तुम्हारा काम बन जायगा, मैं वापीस चली आऊंगी और फिर तुम्हारे पास आजाऊंगा। देवोंने इस बातको स्वीकृत कर लिया। उन्होंने वाग् देकर सोमको खरीद लिया। .... ज्यों ही सोमराजा आता है और ' अग्नि ' बनाई जाती है, त्यों ही ' वाग् ' फिर वापिस हो जाती है।

सोम का अर्थ राजा वा राज्यत्व है,यह पहले ऐतरेय ब्राह्मण द्वारा स्पष्ट किया जा चुका है। इस सम्बन्धमें कुछ अन्य प्रमाणों का आगेभी उल्लेख किया जायगा। इस सन्दर्भ में अलङ्कार रूपसे 'राज्यत्व' की उत्पत्तीका वर्णन है। देवोंने राज्यत्व को ' वाग्' बेच कर प्राप्त किया। राज्य की उत्पत्ति से पूर्व ' विराड् ' अवस्था में सब पूर्णतया स्वतंत्र थे, जो जो कुछ चाहता था, बोलता था व करता था। कोई नियम व व्यवस्था न थी। इस व्यवस्थाकी स्थापना के लिये सोमराजा का आवाहन किया गया। पर सोमराजा वा राज्यत्व की प्राप्ति के लिये ' वाग् ' को बेचना आवश्यक था। हर व्यक्तिको नियम आदि की पूर्ण स्वतंत्रताके होते हुए सोम कैसे आसकता था। अतः वाग् स्वतन्त्रता को बेचकर सोमराजाको प्राप्त किया गया, पर सोमके आते ही जब ' अग्नि' बनी, जब अग्रणी वा नेता की योजना हुई, त्यों ही ' वाग् ' भी फिर लौट कर होगयी। राज्य उत्पन्न हो जानेपर फिर वाणीकी स्वतन्त्रता बन जाती है, पर उसके निर्माण के समयमें अपनी वैयक्तिक संमतियोंको दबाना पडता है। इसी लिये ऐतरेयका कहना है, कि—

'उपांशु वाचा चरितव्यं सोमे राजनि आगते ।'

सोमराजा के आने पर वाग् को मन्द कर देना चाहिये, वैयक्तिक वाक्स्वतंत्रताको पीछे छोड देना चाहिये।

इसी बातका वर्णन तैत्तिरीय ब्राह्मणमें और भी अधिक मनोरंजक अलंकार द्वारा किया गया है। हम यहां पर कुछ ही पंक्तियां उद्धृत करते है—

' सा रोहिद्रूपं कृत्वा गन्धर्वेभ्योऽपक्रम्य अतिष्ठत् तद्रोहितो जन्म, ते देवा अब्रुवन्नपयुष्मद् क्रमीन्नास्मानुपावर्तते विह्वयामहा इति; ब्रह्म गंधर्वा अवदन्नगायन्देवाः, सा देवान् गायत उपावर्तत, तस्माद्गायन्तं स्त्रियं कामयन्ते ।'

तै० ब्रा० ६।१।६।५-६

इसकी व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं। इन सन्दर्भों को इसलिये दिखाया गया है कि गायत्री द्वारा सोमके पर्णको अपहरण करनेका अलंकार स्पष्ट हो सके।

तृतीयस्यां दिवि सोम आसीत् । तं गायत्र्याहरत् तस्य पर्णमच्छिद्यत ।'

इत्यादि वाक्यमें गायत्रीसे अभिप्राय वाणीका ही है, और उपरिलिखित कथा की तरफ ही यहां निर्देश है। पहले सोम तृतीय लोक यानी द्युलोकमें था, गायत्री या वाक्ने उसका अपहरण किया। सोम एक लता भी होती है, जिसके अनेक 'पर्ण' होते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थोंमें आलङ्कारिक भाषाका प्रयोग होनेके कारण सोमराजाके आहरण होनेपर भी उसके 'पर्ण' का निर्देश कर दिया गया है। वस्तुतः सोमहीका नाम पर्ण है, यह शतपथके ' सोमो वै पर्णः' (६।५।१।१) इस वाक्यसे स्पष्ट है । इस प्रकार पर्णके

अर्थ हुआ सोमराजा या राज्यत्व। शतपथमें ऐतरेय और तैत्तिरीयके अलंकारको इस प्रकार लिखा है-

'यत्र वै गायत्री सोममच्छापतत्तदस्याऽआहरन्त्याऽअपादस्ताभ्यायत्य पर्णं प्रचिच्छेद गायत्र्यै वा सोमस्य वा राज्ञस्तत्पतित्वा पर्णोऽभवत्तस्मात्पर्णो नाम।' शत० ब्रा० १।७।१।१

गायत्री या वाग् द्वारा सोम लाया गया, लाते हुवे उसका पर्ण अलग होगया अतः उसका नाम पर्ण पडा। इन सब सब संदर्भोंसे 'पर्ण' का वास्तविक अर्थ क्या है, यह अच्छी प्रकार स्पष्ट होगया होगा। 'वरण मणि' और 'औदुंबर मणि' की तरह 'पर्ण मणि' भी राज्यत्व को ही सूचित करती है।

अब 'दर्भमणि' को लीजिये। दर्भके अर्थके सम्बन्धमें कोई विशेष निर्देश ब्राह्मण ग्रंथोंमें नहीं मिलते। परन्तु 'दूर्वा' जो कि दर्भका पर्याय वाची है, इस दर्भके अर्थको भी स्पष्ट करता है। दूर्वाके संबंधमें ऐतरेय ब्राह्मणमें लिखा है-

'अथ यद्दूर्वा भवति क्षत्रं वा एतदोषधीनां यद् दूर्वा।' ऐ० ब्रा० ८।८

दूर्वा औषधियों में क्षत्रिय है। परन्तु केवल औषधियों में ही क्षत्रिय का नाम दूर्वा नहीं है, क्षत्र का ही नाम दूर्वा है। शतपथ कहता है-

'अयं वाव माऽधूर्वीदिति यदब्रवीत् अधूर्वीन्मेति, तस्मात् धूर्वाः, धूर्वा ह वै तां दूर्वा इत्याचक्षते, परोक्षकामा हि देवाः। तदेतत्क्षत्रम्। श० ब्रा० ७।४।२।१२

क्यों कि इसकी हिंसा नहीं होती और यह किसी की हिंसा नहीं करता, इस लिये 'धूर्वा' कहते हैं। यद्यपि वस्तुतः तो इसका नाम 'धूर्वा' है, परन्तु इसे 'दूर्वा' कहते हैं, क्यों कि देवलोग परोक्ष बात को पसन्द करते हैं। यह दूर्वा 'क्षत्र' ही है।

इसी तरह शतपथमें अन्यत्र कहा है-

तदेतत्क्षत्रं प्राणो ह्येष रसो (यद् दूर्वा) लोमान्यन्या ओषधयः, एतां (दूर्वा) उपदधत्सर्वा ओषधीरुपदधाति।

शत० ब्रा० ७।४।२।१२

इसमें भी दूर्वा को क्षत्र ही कहा गया है, यह दूर्वा या क्षत्र ओषधि अन्य सब ओषधियों में अत्यन्त उत्कृष्ट है।

इस तरह दूर्वा या दर्भ का भी अभिप्राय क्षत्र या राज्यत्व ही है। 'अभीवर्त मणि' का भी वर्णन अथर्ववेदमें आया है। 'अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो' आदि सूक्त ऋग्वेद में भी आता है। केवल इतना भेद है कि वहां पर 'मणिना' के स्थानपर 'हविषा' शब्द आया है।

'अभीवर्तेन हविषा येनेन्द्रो अभिवावृधे।'

आदि सूक्त स्पष्टरूपसे राज्य प्रकरण का है और भाष्यकारोंने उसका अर्थ भी इसी प्रकार किया है। केवल हविषा के स्थान पर ही 'मणिना' शब्द होनेसे यह संभावना होती है कि अथर्ववेदका अभीवर्तसूक्त भी राजप्रकरण का है। परन्तु इस संबंध में केवल यही एक साक्षी नहीं है। ताण्डय महाब्राह्मणमें 'अभीवर्त' का अर्थ इस प्रकार किया है-

'अभीवर्तेन वै देवा असुरानभ्यवर्तन्त यदभीवर्तो ब्रह्मसाम भवति भ्रातृव्यस्य अभिवृत्यै। तां० म० ब्रा० ८।२।८

इस सूत्रके अनुसार देवोंने 'अभीवर्त' के द्वारा असुरों को पराभूत किया। यह अभीवर्त क्या है? यह है- 'ब्रह्मसाम' यहां ब्रह्मसाम का अभिप्राय क्या है? इसे ताण्डय महाब्राह्मण स्वयं स्पष्ट करता है-

'देवाश्च वा असुराश्चैषु लोकेष्वस्पर्धन्त ते देवाः प्रजापतिमुपधावँस्तेभ्य एतत्साम प्रायच्छत् एतेनैनान्कालयिष्यथमिति।'

तां० महा० ८।३।१

'देवों और असुरोंने इस लोकमें संग्राम किया। देव लोग प्रजापति के पास भागे भागे गये। प्रजापति ने इन्हें विजय के लिये 'साम' दे दिया। यह साम क्या है? 'साम' वही राज्यत्व या 'सोमराजा' है। जिसके द्वारा देवों ने असुरोंको पराजित किया। इस अद्भुत शक्तिका वर्णन वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों पर पाया जाता है।

देवासुर संग्राम में जिस 'अभीवर्त' के द्वारा देवोंने असुरों को पराजित किया, वह यही सोम या

राजत्व है । इस प्रसंगमें गोपथ के—

'ता भीता अब्रुवन् भगवन्तमेव वयं राजानं वृणीमहे ।' इति

और ऐतरेय के-

देवासुरा वा एषु लोकेषु समयतन्त ... ते सोमं राजानं चक्रिरे ।'

सन्दर्भोंका भी ख्याल करलेना चाहिये । इनको दृष्टिमें रखकर इस स्थापना में कोई सन्देह न रहेगा कि अभीवर्त,सोम या राज्यत्व का ही अभिद्योतक है।

अब प्रतिसर मणिको लीजिये । प्रतिसर का क्या अर्थ है । इसको स्पष्ट करनेके लिये शतपथब्राह्मणका निम्न लिखित सन्दर्भ पर्याप्त होगा-

एतद्वै देवा एतमात्मानमुपधायाविभयुर्य द्वैन इ-मभिह रक्षांसि नाष्ट्रा न हन्युरिति तऽएतान्र-क्षोघ्नान्प्रतिसरानपश्यन्कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीमिति राक्षोघ्ना वै प्रतिसरास्त ऽ एतैः प्रतिसरैः सर्वाभ्यो दिग्भ्यो रक्षाँसि नाष्ट्रा अप-हत्याऽभयेऽनाष्ट्रऽएतमात्मानं समस्कुर्वत तथै-वैतद्यजमान एतैः प्रतिसरैः सर्वाभ्यो दिग्भ्यो रक्षाँसि नाष्ट्रा अपहत्याऽ भयेऽनाष्ट्र एतमात्मानं संस्कुरुते । श० ब्रा० ७ । ४ । १ । ३३

' इसका अभिप्राय यह है, कि देवों और असुरोंके संग्राम में देवोंने सोचा कि राक्षस लोग हमें न मारें, इसका कुछ उपाय करना चाहिये । इस पर उन्होंने राक्षसों के मारनेमें समर्थ प्रतिसरों को समझा। इन प्रतिसरोंका वर्णन यजुर्वेदके ' कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीम् ' इत्यादि (यजु० १३ । ८—१३) मन्त्रों में है । वे मन्त्र स्पष्ट रूपसे राज्य प्रकरण में हैं। और वस्तुतः उनमें राक्षसों के घातमें समर्थ ' प्रतिसर ' का वर्णन है। शतपथ के अनुसार ' राक्षोघ्नाः प्रति-सरा ' जिससे राक्षसों व असुरोंका घात होता हो, वह प्रतिसर है। आगे फिर ' एतैः प्रतिसरैः ' इत्यादि। इस प्रतिसरसे सब दिशाओं में राक्षसों और नाष्ट्रों को मार कर सर्वत्र अभय की स्थापना देवोंने की। इसी तरह अबभी यजमान प्रतिसरसे राक्षसों व नाष्ट्रों का नाश कर अपने को भयसे रहित करता है। राक्षस और नाष्ट्र समानार्थक शब्द हैं ।

शतपथ ब्राह्मणसे यह स्पष्ट है, कि 'प्रतिसर ' भी वही वस्तु है, जिसके द्वारा देव असुरों को पराजित करते हैं, जिससे वे अभयका सर्वत्र सञ्चार करते हैं । यह इस शक्तिसे विशिष्ट प्रतिसर 'सोम राजा के सिवाय कुछ नहीं है, इसकी व्याख्या करनेकी आवश्यकता अब नहीं रही है ।

इस तरह मणिशब्दके साथ जो विशेषण मुख्यरू-पसे अथर्व वेद में आये हैं, उनपर हमने विचार कर लिया है । वरण, औदुम्बर आदिके सिवाय दो अन्य विशेषण इस प्रकारके हैं, जिनपर विचार करनेकी आवश्यकता है । ये हैं- जङ्गिड और शंख । अथर्व वेदके द्वितीय काण्डके चतुर्थ सूक्तमें जंगिड मणिका और चतुर्थ काण्ड के १० वें सूक्तमें शङ्ख मणिका वर्णन है । ये दोनों मणियां आयुर्वेद शास्त्रके साथ सम्बन्ध रखती हैं, ऐसा प्रतीत होता है । ' जंगिड ' किस औषधिका नाम है, यह इस समय तो नहीं मालूम, पर सायण के समयमें इस नामका वृक्ष उत्तरीय भारतमें प्रसिद्ध था । जंगिड औषधि ही है, ऐसा परिज्ञान इस सूक्तके निम्न लिखित मन्त्रसे होता है—

शणश्च मा जङ्गिडश्च विष्कन्धादभिरक्षताम् ।
अरण्यादन्य आभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः ।

अथ० २।४।५

औषधिके सिवाय अन्यभी कुछ ' जंगिडमणि का अभिप्राय है वा नहीं, इस सम्बन्धमें कुछ बो हमें वैदिक साहित्यके अध्ययनसे नहीं हुवा । शंख सूक्तमें मणिशब्द एक बार आया है। शंखका अभि-प्राय है, यह एक रहस्यमय विषय अब तक बना हुवा है । यदि इससे साधारण शंख का अभिप्राय लें, तो इन मन्त्रों का क्या अभिप्राय होगा—

' यो अस्मान्त्सर्वतः पातु हेत्या देवासुरेभ्यः । '

अ० ४।१०।५

'देवानामस्थि कृशनं बभूव तदात्मन्वच्चरत्य-प्स्वन्तः । तत्ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय कार्शनस्त्वाभिरक्षतु।'

अथर्व० ४।१०।७

साधारण शङ्खमें इन असाधारण शक्तियों को मानना असंगत प्रतीत होता है । यह केवल इस अवस्थामें माना जा सकता है, जब ' तावीज ' व

कवचमें अलौकिक शक्तियों को स्वीकृत कर लिया जाय। वस्तुतः शंख व जंगिड मणियोंके वास्तविक अभिप्रायको समझ सकना अभी बहुत कठिन प्रतीत होता है। इनके जिन गुणों या कार्यों आदिका इसमें वर्णन है, उन्हें संमुख रखते हुए इन्हें साधारण औषध भी नहीं समझा जा सकता। स्पष्ट न होनेके कारण जंगिड और शंख मणिके सम्बन्धमें हम यहां विचार नहीं करेंगे।

उपर्युक्त विवेचना द्वारा हमने यह समझनेका प्रयत्न किया है कि 'मणि' के मुख्य मुख्य विशेषणोंका वैदिक साहित्य के अनुसार क्या अभिप्राय है। अब हम मणि संबंधी सूक्तोंके आन्तरिक निर्देशों पर विचार करेंगे। इन सूक्तोंमें कुछ मंत्र खण्ड इस तरह के आते हैं, जो अथर्व वेदके मणि शब्दके अभिप्राय को बहुत कुछ स्पष्ट कर देते हैं।

यह पहले बताया जा चुका है, कि देवों और असुरोंके संग्राममें, राज्यत्व को प्राप्त करके, राजा और प्रजाके रूपमें संगठित होकर देवोंने असुरोंपर विजय प्राप्त की। देवोंके नेता का नाम 'इन्द्र' था। इन्द्रने अपनी राज्यशक्तिद्वारा ही असुरों को परास्त किया। राज्य एक यज्ञ है। देवलोग यज्ञ करने वाले थे और असुर यज्ञ नहीं करते थे। यज्ञ करने के कारण देव विजयी हुवे और यज्ञके अभाव से असुर परास्त हुवे। यह यज्ञ राज्यरूपी यज्ञके सिवाय अन्य कुछ नहीं है। शतपथ ब्राह्मण के पञ्चम काण्डमें, जो कि मुख्यतः राज्यधर्म संबंधी है और जिसमें विस्तारके साथ राज्याभिषेकका वर्णन किया है, प्रारंभ में ही इस राष्ट्र यज्ञ की व्याख्या की गई है। उसका भाव संक्षेप में हम इस प्रकार लिख सकते हैं-

देव और असुर दोनों प्राजापत्य हैं, दोनों प्रजापतिकी सन्तान हैं। इन दोनों में परस्पर प्रतिस्पर्धा उत्पन्न हुई। असुर सोचने लगे कि हम किसमें यज्ञ करें। वे अभिमान के कारण अपने अपने में ही आहुति देने लगे। यज्ञके वास्तविक अभिप्राय त्याग और अन्योन्याश्रयिताको उन्होंने नहीं समझा। वे उस आहुति को, जो अन्यों के लिये थी, अपने काम में लाने लगे। परिणाम यह हुवा कि वे पराभूत होगये। इसके विपरीत देवोंने एक दूसरे में हवन किया। आहुति अपने में न देकर एक दूसरे में दी। इस कारण देव लोगों का यज्ञ प्रारंभ हुआ। परन्तु यज्ञके प्रारंभ होनेपर यह झगडा हुआ, कि सब लोग किस एक में आहुति दें, क्यों कि यज्ञकी पूर्णता के लिये किसी एक का केन्द्रित रूप से विद्यमान होना अनिवार्य था। अन्तमें यह निश्चित हुआ, कि जो सबसे अधिक योग्य और शक्तिशाली हो, उसी में सब आहुति दें। इस प्रकार 'इन्द्र' या राजाकी उत्पत्ति हुई। इसी इन्द्रने देवोंका नेतृत्व स्वीकृत किया और इसी कारण असुर पराभूत हुवे।

शतपथ की भाषा इतनी आसान नहीं है। पर इसका भाव यही ही है। वस्तुतः यहां राष्ट्ररूपी यज्ञका वर्णन है। राष्ट्रयज्ञमें सबको अपना अपना भाग छोडकर अन्यों का ख्याल करना पडता है। सबकी भलाई के लिये स्वयं आहुति देनी होती है, स्वयं त्याग करना पडता है। यह यज्ञकी हवि,बलि या कर एक इन्द्र या राजाके पास जाता है, जिसके कारण सब संगठित रहते हैं।

इसी सचाईका अथर्ववेदके इन मणिसूक्तोंमें अनेक निर्देशों द्वारा वर्णन किया गया है। उदाहरण के लिये कुछ निर्देश यहां पर लीजिये-

'अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे।
अ० १।२९।१

जिस अभीवर्त मणिसे इन्द्रने वृद्धिको प्राप्त किया। अब इसका अर्थ समझनेमें कोई कठिनाई नहीं है। अभीवर्त मणिका भी अभिप्राय हमें मालूम है और इन्द्र किस चीजसे तथा किस प्रकार वृद्धिको प्राप्त करता है, यह भी हम जान गये हैं। और लीजिये-

अवारयन्त वरणेन देवा अभ्याचारमसुराणां श्वःश्वः।
अ० १० । ३ । २

इसी सूक्तमें फिर एक स्थान पर--

इन्द्रो दस्यूनिवासुरान्।
अ० १०।३।११

इसी एक सचाई की तरफ बार बार निर्देश किया

जा रहा है । फिर लिखा है-

यमबध्नाद्बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् ।

अ० १०।६।२२

देवों को असुर विनाशक यह शक्ति बृहस्पतिने दी है, इस रहस्य को समझने के लिये दूर जानेकी आवश्यकता नहीं । शतपथके पञ्चम काण्डके प्रारंभमें ही लिख दिया गया है—

' ते होचुः । कस्य न इदं भविष्यतीति ते मम ममेत्येव न सम्पादयाञ्चक्रुस्ते हासंपाद्योचुरा जिमेवास्मिन्नजामहै स यो न उज्जैष्यति तस्य न इदं भविष्यति इति तथेति तस्मिन्नाजिमाजन्त ॥ ३ ॥ स बृहस्पतिः । सवितारमेव प्रसवायोपाधावत्सविता वै देवानां प्रसविता । "

श० ब्रा० ५ । १ । १ । ३-४

यहां बृहस्पति द्वारा इस मणिका देवोंको प्रदान करना बिलकुल स्पष्ट है। अब प्रतिसर मणिके सम्बन्धमें देखिये-

' अनेनेन्द्रो मणिना वृत्रमहन् । अथर्व० ८।५।३

फिर-

' अबिभस्त्वेन्द्रो मानुषे ।' अथर्व० ८।५।१४

दर्भमणिके सम्बन्धमें लिखा है-

' हृदः सपत्नानां भिन्धीन्द्र इव विरुजं बलम् । '

अथर्व० १९ । २८ ।३

फिर-

' त्वामाहुर्देववर्म त्वां दर्भ ब्रह्मणस्पतिम् ।

त्वामिन्द्रस्याहुर्वर्म त्वं राष्ट्राणि रक्षसि । '

अ० १९ । ३० । ३

अब औदुम्बर मणि के विषयमें देखिये-

' इन्द्रेण जिन्वितो मणिरा मागन्त्सह वर्चसा । '

अथर्व० १९ । ३१ । ७

ये सब मणि संबंधी सूक्तों के आन्तरिक निर्देश हैं, जो कि स्पष्ट रूपसे हमारी स्थापना को पुष्ट कर रहे हैं । इन मन्त्रभागोंमें शतपथके ही राष्ट्रयज्ञमें देवोंकी विजयके प्रधान साधन राज्यशक्ति की ओर निर्देश है ।

अब हम मणि संबंधी इन सूक्तों की अन्य आन्तरिक साक्षियों पर विचार करेंगे । पहले औदुम्बर सूक्तको लीजिये- इस सूक्तका दूसरा मन्त्र है—

यो नो अग्निर्गार्हपत्यः पशूनामधिपा असत् ।

औदुम्बरो वृषा मणिः स मा सृजतु पुष्ट्या ॥

अथ० १९ । ३१ । २

(यः) जो (गार्हपत्यः अग्निः) गार्हपत्य अग्नि (नः) हमारे (पशूनाम्) पशु आदि संपत्तिका (अधिपा) रक्षक (असत्) भवतु-होवे (सः) उस गार्हपत्य अग्नि को (वृषा) श्रेष्ठ या अभिमत फल की वर्षा करने वाली (औदुम्बरो मणिः) औदुम्बर मणि (पुष्ट्या) पुष्टिके लिये (मा सृजतु) मेरे लिये उत्पन्न करे । इस मन्त्रमें ध्यान देने योग्य बात यह है कि औदुम्बर मणिने ' गार्हपत्य अग्नि ' को उत्पन्न करना है । औदुम्बर मणि का अर्थ हमें मालूम है, ' गार्हपत्य अग्नि ' का अर्थ है- गृहपति नेता राजकीय विकास की प्रथम गृहपति दशाका नेता । विकास की इस स्वाभाविक प्रथम सीढी का प्रतिपादन इस सूक्त का स्पष्टरूप से किया गया है-

(१) ' विराड् वा इदमग्र आसीत् तस्या जातायाः सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति ॥१॥ सोदक्रामत् सा गार्हपत्ये न्यक्रामत् ॥ २ ॥ गृहमेधी गृहपतिर्भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

अथर्व० ८ । १० । १।३

यहां 'गार्हपत्यसे अभिप्राय इसी गृहपति अवस्था' का है । 'यो नो अग्नि' इत्यादि मन्त्रमें इस ' औदुम्बर मणि ' या राज्यशक्ति द्वारा गृहपति अवस्थाकी उत्पत्ति प्रतिपादित की गई है । इससे औदुम्बर मणि के अभिप्राय पर अच्छा प्रकाश पडता है ।

(२) इस सूक्तका १२ वां मन्त्र है-

ग्रामणीरसि ग्रामणीरुत्थायाभिषिक्तोभि मा सिञ्च वर्चसा । तेजोऽसि तेजो मयि धारयाधि रयिरसि रयिं मे धेहि । अथर्व० १९ । ३१ । १२

हे औदुम्बर ! तू (ग्रामणीः) ' ग्रामं नयतीति ग्रामणीः ' ग्रामस्वामी (असि) है, तू (अभिषिक्तः) अभिषिक्त (असि) है, इत्यादि ।

इस मंत्रमें तो स्पष्ट रूपसे औदुम्बर मणि को ग्रामणी और अभिषिक्त कहा है । हमारे पक्ष की पुष्टिके लिये इससे अधिक स्पष्ट प्रमाण क्या हो सकता है ?

(३) दर्भसंबन्धी सूक्तों में ये निर्देश भी मनन

योग्य है--

त्वामिन्द्रस्याहुर्वर्म त्वं राष्ट्राणि रक्षसि।

अथर्व १९।३०।३

हे दर्भमणि! तुझे इन्द्रका 'वर्म' कहा जाता है, इन्द्रका वर्म क्या है इसपर टिपणी की अब आवश्यकता नहीं। तू राष्ट्रों या देशों की रक्षा करने वाली है।

(४) सपत्नक्षयणं दर्भ द्विषतस्तपनं हृदः।
मणिं क्षत्रस्य वर्धनं तनूपानं कृणोमि ते।

अथ० १९।३०।४

दर्भ शत्रुओंका नाश करनेवाली है, द्वेषियों के हृदय को तपानेवाली है। यह क्षत्रशक्तिको बढाने वाली है।

(५) वरण सूक्त में आता है--

स मे राष्ट्रं च क्षत्रं च पशूनोजश्च मे दधत्।

अ० १०।३।१२

(६) मणि के अभिप्राय को समझनेके लिये यह मंत्र बहुत महत्वपूर्ण है -

तस्मै घृतं सुरां मध्वन्नमन्नं क्षदामहे।
स नः पितेव पुत्रेभ्यः श्रेयः श्रेयश्चिकित्सतु
भूयो भूयः श्वः श्वो देवेभ्यो मणिरेत्य।

अ० १०।६।५

(तस्मै) उस मणिके लिये हम (घृतं) घृत (सुरा) सुरां (मध्वन्नं) मिष्टान्न (अन्नं) अन्न आदिसे उपलक्षित सम्पत्ति को (क्षदामहे) समर्पित करते है इस के बदले में (सः) वह (नः) हमें (पुत्रेभ्यः) पुत्रों के लिये (पितेव) पिताकी तरह (श्रेयः श्रेयः) जो कुछ श्रेय हो वह (चिकित्सतु) प्राप्त करावे हमें श्रेय मार्ग की तरफ ले जावे यह कार्य (भूयो भूयः) पुनः पुन. बार बार(श्वः श्वः) हमेशा भविष्यमें (मणिः एत्य) मणि हमें प्राप्त हो कर हम देवों के लिये करे।

इस मन्त्रमें राज्यकार्यका बडी सुन्दर रीतिसे वर्णन किया है। यह कहा है, कि हम सम्पत्तिमें से कुछ भाग कर के रूपमें मणिरूप राज्यशक्ति को समर्पित करें और वह राज्य हमारे लिये श्रेयस्कर हो, पिताकी तरह प्रजाका पालन करे और भविष्य में सर्वदा राज्य हमारे लिये हितकर हो।

(७) यस्मै त्वा यज्ञवर्धन मणे प्रत्यमुचं शिवम्।
तं त्वं शतदक्षिण मणे श्रैष्ठ्याय जिन्वताम्।

अथ० १०।६।३४

यहां मणिका विशेषण 'यज्ञवर्धन' रखा गया है, यह विशेषण महत्त्वपूर्ण है। मणिकी वृद्धि यज्ञ द्वारा होती है, यह बात शतपथ ब्राह्मणमें विस्तारके साथ प्रतिपादन की गई है।

इस तरह मणिसंबंधी सूक्तोंकी आन्तरिक साक्षी से भी हमने अपनी स्थापना को स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है। इस सम्बन्धमें अन्यभी बहुतसे मंत्र व मन्त्रों के टुकडे पेश किये जा सकते हैं। पर विस्तार भयसे इतने ही पर्याप्त हैं। यदि मणि का अर्थ 'तावीज' या अन्य कुछ समझा जाय, तो इनका स्पष्टीकरण असंभव है।

अब हम एक अत्यन्त महत्वपूर्ण व आवश्यक विषय पर आते हैं, जिस पर सम्यक् विचार करने से 'मणि' शब्दके अभिप्राय को समझनेमें बहुत सहायता मिल सकेगी। शतपथ और तैत्तिरीय ब्राह्मणोंमें 'रत्नियों' का वर्णन किया गया है- राज्याभिषेक के समय वह व्यक्ति, जिसका अभिषेक होता था, इन 'रत्नियों' को 'रत्नहवि' प्रदान करता था। इनकी संख्या ११ होती थी। राजा इनके घर जाता है और इन्हें 'रत्नहवि' प्रदान करता है। इसके लिये तैत्तिरीय ब्राह्मणके इन वाक्योंपर दृष्टि डालिये--

'रत्निना प्रेतानि हवींषि भवन्ति। एते वै राष्ट्रस्य प्रदातारः। एते' पादातारः। य एव राष्ट्रस्य प्रदातारः, ये पादातारः,त एव अस्मै राष्ट्रं प्रयच्छन्ति। राष्ट्रमेव भवति, यत्समाहृत्य निर्वपेत्। अरत्निनः स्युः। यथायथं निर्वपति रत्नित्वाय।' तैत्तिरीय ब्रा० १।७।३।१

ये हवियां रत्नियों की ही हैं। ये रत्नी राष्ट्र के प्रदाता हैं, ये ही राष्ट्रके गृहीता रक्षक हैं, ये ही राजाके लिये राष्ट्रको प्रदान करते हैं। क्यों कि ये ही राष्ट्र के प्रदाता हैं, और राष्ट्रके गृहीता है, अतः वे ही राजा के लिये राष्ट्र को देते हैं। राष्ट्र ही है, जिसे वे देते हैं, अन्यथा वे 'अरत्नी' हो जावें।

इन रत्नियों के नाम निम्न लिखित हैं-

१ सेनानी २ पुरोहित ३ महिषी ४राजा ५ सूत ६ ग्रामणी ७ क्षत्तृ ८ संगृहीता ९ भागदुघ१०अक्षावाप ११ गोविकर्तृ १२ पालागल। क्यों कि 'रत्नहवि' राजाको अपने आप भी दी जाती है, अतः उस की भी परिगणति इस सूचि में की गई है, पर वह स्वयं रत्नी नहीं है। यह प्रतिपादित करने की आवश्यकता नहीं। ये दसों 'रत्निन्' राष्ट्रके उच्च राजकर्मचारी है। ये उन राज्यपदाधिकारियों के नाम हैं, जिन पर राज्यका सम्पूर्ण भार निहित था। ये राज्य के प्रदाता या 'राज्यकृतः' कहलाते थे। शतपथ और तैत्तिरीयकी विधिके अनुसार राज्याभिषेक के अवसर पर राजा प्रतिदिन क्रमशः इन में से एक एक के घर जाता था और वहां 'रत्नहवि' इन्हें देता था। ये सेनानी पुरोहित आदि 'रत्निन्' राजाको राष्ट्रका प्रदान करते थे और उसकी सत्ता को स्वीकृत करते थे।

इस वर्णन में ध्यान देने योग्य बात यह है कि 'रत्निन्' और 'मणि' का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ प्रतीत होता है। 'रत्न' और 'मणि' एकही अर्थ के बोधक हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि वेदमें जिस भावके लिये मणि शब्द का प्रयोग है,इसीको ब्राह्मण ग्रंथोंने 'रत्न' शब्दसे अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया हो। इस तरह का प्रयत्न हम अनेक स्थलों पर देखते हैं। परन्तु इस बातका आधार केवल यह कल्पना ही नहीं है। इसके लिये हमारे पास अधिक दृढ आधार विद्यमान हैं। पर्ण मणि सम्बन्धी सूक्तमें निम्न लिखित दो मन्त्र उपलब्ध होते हैं-

ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः। उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥ ६ ॥ ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये। उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥ ७ ॥ अ० ३।५

इसमें पर्णमणिसे प्रार्थना की गई है, कि हे मणि! तू धीवान, रथकार, कर्मार, राजकृत राजा, सूत, ग्रामणी आदि राज कर्ताओंको मेरे अनुकूल सेवाके लिये मेरे समीप कर। यह ठीक वही भाव है, जो 'रत्नहवि' के आदान और प्रदान में पाया जाता है। ब्राह्मणग्रन्थोंके 'रत्निन्' राजकर्त्तारः या राजकृतः हैं, वे राजा को 'रत्न' प्रदान कर अपने को उसके अनुकूल कर देते हैं। यहां राजा इसी 'रत्न' वा मणिसे इन मणिके धारण करने वाले 'राजकृतः' को अपने अनुकूल करनेकी प्रार्थना करता है। दोनों का भाव एक ही है और दोनोंमें परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध वा एकत्व सूचित होता है। इस सम्बन्धको पाश्चात्य वैदिक विद्वान् ब्लूमफील्डने भी अनुभव किया है। वह लिखता है-

"The two stanzas prove conclusively that the hymn belongs to the sphere of practices connected with the consecration of a king, and the firm establishment of his royalty. The four classes of persons whose aid is regarded as desirable for the king belong to the so-called Ratna, 'jewels, of the court, i. e they are honoured and in-dispensible members of his household Their number altogether is about a dozen and according toTait Br 1, 7,3, 1 ff, they are the givers and takers of royalty (Rashtrarya pradatarah, rashtrarya pradatarah) As a preliminary to the consecration of a king they must be consiliated, and an oblation is offered in the house of each"

वीबर आदि अन्य विद्वानों को भी इन मन्त्रोंका यही सम्बन्ध मालूम हुआ उनपर जो विवेचना की गई है, उससे 'मणि' का अभिप्राय बहुत स्पष्ट हो जाता है। 'मणि' का अभिप्राय वही है, जो ब्राह्मण ग्रन्थोंमें 'रत्न' का है। 'रत्न' राज्य शक्तिको सूचित करता है और मणिभी इसी अर्थका द्योतक है। शतपथमें जिस 'रत्नहवि'का विधान है, वही अथर्व वेद की परिभाषामें 'मणि' है। शतपथमें राजाके लिये रत्नको प्रदान करनेवाले सेनानी, पुरोहित, सूत,ग्रामणी आदि हैं, जिन्हें 'रत्निन्' कहा गया है। अथर्व वेदमें भी 'मणि' का प्रदान करनेवालों की संख्या गिनाई गई है। मणिके प्रदाता इस तरह बढाये गये हैं-

तदग्निराह तदु सोम आह बृहस्पतिः सविता
तदिन्द्रः। ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः
प्रतिसरैरजन्तु ॥ अथर्व०८।३।५

अग्नि, सोम, बृहस्पति, सविता, इन्द्र और अन्य पुरोहित देवोंने इस मणिको कहा है।

इसी प्रकार—

'तमग्निः प्रत्यमुञ्चत सो अस्मै दुह आज्यम्।
'तमिन्द्रः " " " " "
'तं सोमः " " " " "

आदि दशम काण्डके ६वें सूक्तके मन्त्रोंसे भी यही निर्देश मालूम पडता है। वैदिक राज्य पदाधिकारियों के नाम ब्राह्मण कालके नामों से भिन्न हैं, इस पर आश्चर्य नहीं करना चाहिये। शनैः शनैः नामों में भेद आते रहते हैं, यह स्वाभाविक है। ब्राह्मण कालमें जो नाम थे, कौटिल्य के समय वे नही रहे। यह बात अत्यन्त साधारण है।

उपसंहार।

वैदिक साहित्यमें मणि सम्बन्धी सूक्तोंके वास्तविक अभिप्रायको स्पष्ट करने वाले जो निर्देश पाये जाते हैं उन्हें मैं ने इस निबन्धमें संगृहीत किया है। जिस परिणाम पर हम पहुंच गये हैं, वह नवीन होनेसे कुछ विचित्र प्रतीत होगा। परन्तु उस अर्थ को समझ कर यदि इन सूक्तोंका अध्ययन किया जाय तो कुछ विशेष ही आनन्द आ जायगा। तब न तो इन सूक्तों में जादू टोनेकी गन्ध आयगी और नही ये कुछ रहस्य मय अद्भुत बात प्रतीत होंगी। ये राजधर्मशास्त्रकी सचाइयोंका वर्णन करने वाले मन्त्र मालूम पडने लगेंगे।

मैं नहीं समझता कि मेरी यह कल्पना विद्वानों को मान्य होगी। परन्तु इतना अवश्य है कि इस से उन्हें सोचने के लिये अवसर मिलेगा। यदि इस निबन्ध द्वारा वैदिक पण्डितों को मणि संबंधी सूक्तों के अध्ययन करने में कुछ भी सहायता मिली, तो मैं अपने इस परिश्रम साध्य प्रयत्नको सफल समझूंगा। अन्तमें इस प्रार्थनाके साथ इस निबन्धको समाप्त करता हूं—

यमबध्नाद्बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।
स मायं मणिरागमत्तेजसा त्विष्या सह यशसा कीर्त्या सह।
यमबध्नाद्बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।
स मायं मणिरागमत्सर्वाभिर्भूतिभिः सह ॥

महाभारत।

महाभारत का कर्णपर्व करीब करीब संपूर्ण छपकर तैयार है, केवल अंतिम अंक तैयार हो रहा है वह तैयार होते ही ग्राहकोंके पास भेजा जायगा। पूर्वके समान दो दो अंक ग्राहकोंके पास न भेजनेका कारण डाक खानेके नवीन नियम हैं। डाक खानेवालों का नवीन नियम यह है कि मासिकोंके अंक खुले पैक करना चाहिये। चारों ओर से बंद पूर्वके समान पैक किये तो तीन गुणा महसूल देना होगा। इस समय तक प्रति अंक के लिये आधा आना महसूल लगता था। परंतु अब वैसा अंक भेजा तो प्रति अंक के लिये डेढ आना लगेगा। यदि डा० व्य० न्यून करनेके लिये खुला पैकिंग किया तो अंक पट कर ग्राहकोंको मिलेंगे और ग्राहकोंका नुकसान होगा, तथा यदि बंद पैकिंग किया तो डा० व्य० का हमारा बहुत नुकसान होगा। इस प्रकार दोनों तरफ हानि होगी। इस लिये इस विषयमें डाक खानेवालोंसे लिखा पढी चल रही है। उनका उत्तर आनेके बाद अंक भेजे जायंगे ॥

प्रबंधकर्ता— स्वाध्याय मंडल, औंध
(जि. सातारा.)

हिंदू समाज समर्थ कैसा बनेगा ?

(ले० श्री० पं० महादेव शास्त्री दिवेकर । अनुवा० श्री ० पं ० भोलानाथजी राव)

प्रकरण चौथा ।.

मनोबल विचार (आधुनिक कर्तव्यपरायण वेदान्त)

वर्तमान समय में हिंदूसमाज को कर्तव्यपरायण वेदान्त की शिक्षा देने की महान आवश्यकता है ।. कर्तव्यपरायण वेदान्त का तात्पर्य यह है कि आत्मा अमर व देह नश्वर । " नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः " आत्मा का ऐसा स्वरूप है । देह क्षणभंगुर है । ईश्वर ने देह की रचना कर्तव्य करने के लिये ही की है । आत्मा अमर है ऐसा ध्यान रखते हुए शरीर का ध्यान रखकर स्वधर्म पर मारने व मरने को तय्यार रहना ही हमारा मुख्य कर्तव्य है । इस प्रकार की भावना प्रत्येक हिंदमात्र के मन में होनी चाहिये । हिंदुस्तान में मूर्ख पनका वेदान्त ही विशेषतया दिखलाई पडता है । हर एक मनुष्य कर्तव्यहीन होकर वेदान्त की चर्चा करना ही अपना प्रधान कर्म समझता है । "जग नश्वर है" इस प्रकार कहकर वेदान्त जहाँ तहाँ पेट भरने का साधनही हो रहा है । हिंदुस्तान के पास आत्मा की अमरत्वता व पुनर्जन्म का कोहेनूर हीरा रहते हुए भी वह उसकी उपयोगिता को भूला हुआ है। इतर धर्मावलंबियोंमें जो धर्माभिमान नश्वर शरीर के प्रति उदासीनता और शत्रुओं के ऊपर टूट पडने की जो वृत्ति दिखलाई देती है उस वृत्ति का हिंदुओं में अभाव होने का क्या कारण है । न्याय, स्त्री, स्वधर्म, स्वसम्मानके निमित्त हिंदू समाज मारने मरने को तय्यार क्यों नहीं होता ? वेदान्त तो तीव्र है, तीक्ष्ण है, तरवार के धारसदृश कठिन है, वह वैराग्य की प्रज्वलित अग्नि के सदृश है । उसमें शरीर के चटकमटक पन के लिये बिलकुल अवसर नहीं है । फिर इस कर्तव्यपरायण वेदान्त को दुर्बल' कर्तव्यहीन, पंगु, तथा जयिष्णु वेदान्त को सहिष्णु वृत्ति का किसने बनाया ? यदि इस बात पर दूर दृष्टि से विचार किया जाय तो सिद्ध होता है कि कुछ प्राचीन व अर्वाचीन उपदेशक लोग ही वेदान्त की हीन अवस्था के कारण हैं ।

आधुनिक समयमें शास्त्री, पंडित, हरिदास, पुराणिक और सन्तलोग ही वेदान्त के उपदेशक हैं। यह सब लोग पेट भरने के लिये ही इधर उधर उपदेश करते फिरते हैं । अर्थात इनका वेदान्तोपदेश केवल पेट पूर्ति के लिये ही है ! ऐसे पेटू वेदान्त से भला राष्ट्र की जागृति कैसे हो सकती है । ब्रह्म सत्य व जग मिथ्या कहकर प्रतिदिवस एकही नियमित उपदेश व भाषण के द्वारा किसी प्रकार जनता पर अपना प्रभाव जमा कर धनोपार्जन कर अपने को धन्य समझने वाले पेटू वेदान्तियों द्वारा मारने मरने के वेदांत की शिक्षा समाज को कभी भी नहीं मिल सकती । कीर्तन प्रभावशाली हो, पादपूजा अच्छी हो मिले, स्वयं यदि दक्षिण के बारें में न भी कहें तो भी एजेंटों द्वारा उसकी योजना हो जाय, यह पौराणिक बहुत अच्छे हैं इस प्रकार जनता का विचार हो, इन्हीं कारण में से वेदान्त सिखा व सिखाया जाता है । वेदान्त के अधिकारी कौन? तो हरिदास पुराणिक और प्रवचनकार, कारण कि अपने व्यर्थ की बातों में उत्तेजना लाने के लिये उन्हें पंगु वेदान्त की आवश्यकता होती है वेदान्तरहस्य, मर्म, देहनश्वरत्व का ज्ञान उन्हें कहाँतक है इसकी परीक्षा उनकी वृत्ति ही से प्रतीत होती है। देवताओं की निन्दा सुनते हुए भी इन्हें क्रोध नहीं आता, स्त्रियोंको भ्रष्ट करते हुये देखकर भी उन्हें घृणा नहीं होती, देवताओं की सवारी पर अन्यधर्मावलम्बियोंके धावा करने पर जो सत्याग्रह के लिये तयार नहीं होते । मुसलमान लोग यदि भजनमंडलीयोमे झगडा करेंगे

तो इनको मारने मरनेकी इच्छा नहीं होती। मुसलमान लोग देवमंदिरों पर कितनाही अत्याचार करें पर इन्हें क्या मतलब। कारण कि इनके मस्तिष्क में तो "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"की कल्पना भरी हुई है और इसी भावके अनुसार अपर भाव कहाँ ? वंदे मातरम् के घोषणा की क्या आवश्यकता ? राष्ट्र की कैसी चिन्ता ? मुसलमानों से द्वेष करनेकी क्या आवश्यकता? ऐसे कहने वाले चाटुकार साधुओं की मंडली आजकल बहुत दिखाई देती है। ऐसे कर्तव्यहीन साधुओंके पी े समाज चल रहा है और समाज पीछे दुर्बल कर्तव्यपराङ्मुख वेदान्त की वृद्धि हो रही है। कृपा करके ऐसे कर्तव्यहीन वेदान्त को तिलांजलि देकर इन स्वार्थसाधक साधुओं को सेना में भरती करके इन्हें मारने व मरने के वेदान्त की शिक्षा देनी चाहिये।

बहुत से अजागल मनुष्य ऐसे दीख पडते हैं जिन्हें संन्यास निवृत्ति व ब्रह्मचर्य यह शब्द बडे मोहक प्रतीत होते हैं परंतु वह इनके पीछे पडकर अपना सर्वनाश कर देते हैं। आजकल संन्यास अर्थात् निवृत्ति ध्येयके मनुष्य संसारमें बहुत दिखलाई देते हैं। संसार के व्यवहार में लिपटे रहना; संस्थाओं में कार्य करना दूसरों पर निर्भर रहना, पर भाषामात्र संन्यास व निवृत्ति की, यही इन लोगों की असली दशा है। ऐसे सन्यास को क्या कहा जाय ? ऐसे अधूरे मनुष्य सन्यास व व्यवहार दोनों को बिगाडते हैं। सन्यास ही ध्येय होने के कारण किसी भी कार्य को वे उत्साहपूर्वक नहीं करते। यदि संन्यास लेते तो भी बडापन और अधिकार की इच्छा परस्ती नहीं है। ऐसे बहुत से मनुष्य देखने में आते हैं जो कितने ही वर्षों से सन्यास सन्यास कहते हैं पर इनकर वृत्ति के वैराग्य के अभाव होने के कारण यह लोग संसारिक मोह में फंस ही जाते हैं और स्वतःके परमार्थका और जगका व्यवहार बिगाड कर हृदयशून्य स्थिति में मृत्युकेमुखमें जाते हैं ऐसे ही अघोर संन्यासियोंने वेदान्त और समाज दोनों को निःसत्व कर रक्खा है।

जिस संस्थामें कर्तव्यशाली महानुभवों और त्यागी पुरुषों का महत्व घटकर अमावर्च रखने वाले और उनके नाचने वालों का महत्व बढता है वह जिस प्रकारसे शीघ्र मृतप्राय हो जाती है उसी प्रकार से अधूरे संन्याँसियों का जो समाज अनुगामी होता है वहभी शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। कारण कि "अंधेनेव नीयमानाः यथांधाः" की लोकोक्ति चरितार्थ होती है। वेदान्तके तेजस्वी, कर्तव्यपरायण, उत्साही तथा पौरुषयुक्त होते हुए भी यदि उसे आज निस्तेज, दुर्बल, निष्क्रियावान नैराश्यवादी व पौरुष विहीन किसी ने बनाया है तो वे आधुनिक अघोर सन्यासी ही हैं। आधुनिक वेदान्तोपदेशकों के चरित्र में त्याग, कारागृह, कष्ट दुःख, अपमानकी क्या थोडी भी झलक देख पडती है?एवं च जिज्ञासा नाशक, पुरुषत्व निर्मूलक, सर्व ब्रह्ममय कहकर समाज व देशसेवा से रोकने वाला व विश्वबंधुत्वके नाम के बहाने स्वसमाजपर अन्यधर्मावलम्बियों के अत्याचार सहन करनेवाला समाज मारक वेदान्त व उसके एकनिष्ठ उपदेशकों को कुछ समय हवा खाने के लिये हिमालय के उन्नत शिखरों पर भेज देना चाहिये तभी हिंदुसमाज की जागृति होगी।

जगन्मिथ्यात्व के वेदान्त की अब हिन्दुस्तान में जरुरत नहीं है। जगत्सत्य है उसमें परब्रह्म व चैतन्य का विकास है ऐसा समझ कर जगके कल्याणार्थ बहुतसे कर्तव्यपरायण मनुष्य राष्ट्रमें उत्पन्न होने चाहिये। बहुत समय से जग मिथ्या, स्त्री मिथ्या,द्रव्य मिथ्या इस प्रकार की जो विचार सरणि फैल रही है उसे बंद करके जगही परब्रह्म है "सर्वं जगदिदं ब्रह्म" इस तत्वज्ञान को जनता में फैलाना की व आश्यकता हैं वास्तविक संसार को छोडकर ईश्वर को इधर उधर खोजना कितनी मूर्खता है यह नीचे चलकर स्पष्ट हो जायेगा।

श्री समर्थ का कहना है कि "जहाँ जग वहीं जगन्नायक॥" जगन्नायक की प्राप्ति जगही में हो सकती है। निर्जन स्थान में हम क्या देख सकते हैं और समाज को छोडकर हम कहाँ रह सकते हैं। संसार में जिसे कुछ भी करना है तो उसे जग की अवश्य ही जरूरत होती है। रजोगुणी जगको छोडकर कर्तृत्व दिखलाने के लिये दूसरा स्थान ही नहीं है। विशेष क्या ईश्वर को अपना साक्षात्कार भी इसी जगमें

दिखलाना पड़ता है। जगतमें अनेक चमत्कार दिखला कर ईश्वर अपनी सिद्धताका प्रमाण देता है। जग में नाम रूप ही से ईश्वर की लीला कैवल्य भासमान होती है। यही कारण है कि जग के सिवाय अन्य कहीं ईश्वर का भासमान होना भी अशक्य है। गुड में जैसे सब मीठा ही होता है, पुष्पमें जैसे सब जगह सुगन्धि ही होती है, करेले में सब कडुआपन ही रहता है, कपूरमें जैसे सर्व सुगंधि ही है उसी प्रकार इस संसार में जितने वृक्ष, नग, नगर, आराम, चैत्य, वन, उपवन व सैकडों अन्य पदार्थ हैं वे सब चैतन्य के विकास रूप में परिणत हैं उसमें किंचित मात्र संदेह नहीं है। श्री तुकाराम जी का कहना है कि "मीठेपन से जैसा गुड है उसी प्रकारसे ईश्वर सब जगह व्यापक है" इन सब उदाहरणों से यही सिद्ध होता है कि जगही ईश्वर का दृश्य व सगुण स्वरूप है। ज्ञानेश्वर ने इस कल्पना को अनेक दृष्टान्तों द्वारा भली भांति समझाया है। उसका रूपांतर का सारांश आगे लिखे हुए के अनुसार है।

"संसार का पिता मैं हूं व माता माया है। शरीर में जैसे अनेक अवयव, वृक्ष में अनेक शाखाएं उसी प्रकार जग में यदि वैविध्य दिखलाई दिया तो भी वह सब मेरा ही रूप है मही का पुत्र घर और सूत का पुत्र वस्त्र, कल्लोल परंपरा यह जैसी सागर की संतति उसी प्रकार यह चराचर विश्व परमेश्वर की संतति है। "जग मेरा है, मुझसे भी निराला है तो भी वह मद्रूप है। वन्हि व ज्वाला, रत्न व तेज, कमल व पाकली, सोना व अलंकार इनका संबंध जिस प्रकार से साधारण रीति से है उसी प्रकार संसार का और मेरा संबंध है। द्रव माने पानी, तेज माने रत्न, मीठा माने शक्कर, ज्वाला माने अग्नि, सुगंधि माने ले फुल, शाखें अर्थात् वृक्ष, अलंकार अर्थात् सोना, जमाया हुआ दूध अर्थात् दही, घर अर्थात् मृत्तिका पट अर्थात् सूत इत्यादि का बोध होता है उसी प्रकार विश्वका नाम लेने ही से मेरा संबोधन होता है। अर्थात् विश्व इस नाम से जो कुछ है वह सब मैं ही हूं।" इस प्रकार से ज्ञानेश्वर महाराज ने चौदहवे अध्याय में बतलाया है। ईश्वर व जग में जो भेद मानता है वह व्यभिचारी भक्त और जो अभेद मानता है वह अव्यभिचारी भक्त है। ऐसा ज्ञानेश्वर का मत है। सोने का अलंकार बन जाने पर भी जिस प्रकार सोने का सोनापन नहीं जाता, कमल के फूलने पर भी कमलत्व नष्ट नहीं होता उसी प्रकार यदि चैतन्य का विकास विश्वरूप में होता है तो भी उसमें कुछ कमी नहीं होती। यदि जगत ईश्वर के अस्तित्वको अपने में छिपा रखता है तो वण ज्वाला अग्नि को, तेज रत्न को और अलंकार सुवर्ण को अपने भीतर छिपाके नहीं रखता? परंतु व्यवहार में वैसा नहीं दीख पडता इससे अन्त में यही सिद्धान्त निकलता है। संसार को एक ओर रखकर तो मैं ईश्वर विद्यमान नहीं हूं। तो मैं कैसे दिखलाई देता? सारांश यह है कि, जगतस्वरूप ही से ईश्वर का ग्रहण करना चाहिये। कई स्थानों पर तुकाराम महाराज ने कहा है कि "विष्णुमय जग" ही वैष्णवों का धर्म है। "विश्वही में विश्वंभर" यही वेदांत का सार है। "जगमें जगदीश" यही शास्त्र की घोषणा है। "नारायण व्यापक है" ऐसा ही पुराण में लिखा है। ऐसा होते हुए भी "जगन्मिथ्या" इस घातक व मारक कल्पना को क्या नहीं छोड देना चाहिये? जग यह चैतन्यका विकास है, जग ही ईश्वर का स्वरूप है इन विषयों को जानने के लिये जिज्ञासुओं को ज्ञानेश्वरके चौदहवें अध्याय को अवश्य ही देखना चाहिये।

सर्व प्रथम हिंदुसमाज को यह बात बतला देनी अत्यावश्यक है कि जगत परब्रह्म स्वरूप है तदनन्तर उसे देशसेवा की शिक्षा देनी चाहिये। देह और देव के मध्य में देश है और समाज है ऐसा बतला कर स्वसमाजोपकारक कार्य जनता से कराना चाहिये। हिंदू समाज की यह बडी भूल है कि वह ईश्वर ईश्वर करके संसार, देश, समाज की ओर बिलकुल ध्यान नहीं देता। स्वसमाज सेवा और देशसेवा ही कर्तव्यपरायण वेदान्त की पहली सीढी है।" स्वार्थ से निकल कर परमार्थ में लगना ही वेदान्त की पहली सीढी है।

ऐ हिंदुस्तान के वेदांतियों, भविष्य में तुम लोग समाज के सम्मुख कर्तव्यपराङ्मुख वेदान्त के रूप

देश देना बन्द कर दो; यदि तुम्हें उपदेश देना ही है तो यही उपदेश दो कि संसार ही साक्षात परब्रह्म का स्वरूप है। प्राणियों का पालन करना ही देवपूजा है। रुग्ण सेवा ही ईश्वर का भजन है, निरक्षर को साक्षर, साक्षरको सुविचारी, अस्पृश्यको स्पृश्य, धर्मभ्रष्ट को शुद्ध, हिंदुओं को द्विज, पुरुषों को मर्द बनाना यही साक्षात ईशसेवा है। भविष्य में जनता को यही शिक्षा देनी चाहिये कि वह हिंदुसमाज की उन्नति की चेष्टा करें। तारक वेदान्तका उपदेश दो। तत्वहीन मारक वेदान्त के उपदेशकी आवश्यकता नहीं। ईशसेवा व जनसेवा के वेदान्त की ही शिक्षा दो। परब्रह्म का पूर्णज्ञानी करोडो मनुष्यों में से एक आध ही मिलकर और उसे तुम्हारे उपदेश की आवश्यकता नहीं। परंतु जिनको विषय सेवन इन्द्रियदमन करने की कभी बुद्धि नहीं है उन्हें व्यर्थ ही वैराग्य का उपदेश मत दो। बहुतसे मनुष्य ऐसे होते हैं जो वैरागी होते हुए भी वेदान्ती बनने का दावा रखते हुए भी मोह पाशमें फंस जाते हैं, यशोपार्जन की कांक्षा जिनके सदैव बनी रहती है, स्त्रियों धन प्रतिष्ठा के कटाक्ष में फंसकर प्राण दे देते हैं। ऐसे लोगों को यही शिक्षा देनी चाहिये कि तुम लोग सदाचारी गृहस्थ बनो अच्छे नागरिक बनकर देश सेवा करो और स्त्रियोंको यह शिक्षादो। कि वे वीरमाताएँ बनें। निवृत्ति और संन्यास ध्येय का उपदेश हिन्दू समाजको इतना मिल चुका है कि हिन्दूसमाज को निवृत्ति होगई है. इतनाही नहीं परन्तु इस उपदेश की दुर्गन्धि हिन्दू समाजमें सब ओर दिखाई देती है। इस अजीर्ण को शांत करने के लिये वीर, कर्तव्यशाली व प्रवृत्ति वंश पुरुषोंको उत्पन्न करने की ही आवश्यकता है। ऐ संतों, तुम्हें समाज को यही शिक्षा देना चाहिये। क्योंकि हिंदूसमाज की शिथिलता का कारण मारक वेदान्त हो है। हमारा यही कहना है कि ऐसे शिथिल समाज को जगानेके लिये भविष्य में जनता को तारक वेदांत की शिक्षा दो।

वैदिक-गृह-निर्माण।

(ले०—श्री० पं० गणेशदत्त शर्मा गौड "इन्द्र" आगर)

पहिले किसी समय में गृहस्थाश्रमी ही घरों में रहा करते थे। घर में रहने वाले मनुष्य गृहस्थ कहाते थे। शेष तीन आश्रम ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास घरों में नहीं बिताते थे। वनों में वृक्षों के नीचे झोंपडों में अपने जीवनके तीन भाग व्यतीत करते थे। केवल एक भाग आयुही घरोंमें बितानी पडती थी। इस कारण उनका स्वास्थ्य, बल, तेज, सौन्दर्य, विद्या, आयु सब तरहसे पूर्णताको पहुंची हुई थी। परन्तु आज कालचक्र के कारण सभी आश्रम घरों में रहकर बिताये जाते हैं। पैदा भी घरही में होते हैं और मरते भी घरही में हैं। ब्रह्मचारी को भी घरों में रहकर ब्रह्मचर्यव्रत रखने को विवश किया जाता है। आजकल के ब्रह्मचर्याश्रमों के भवन राजप्रासादों के समान गगन चुम्बी बने हुए हैं। वानप्रस्थाश्रम के लिये भी मठ मन्दिर बन चुके हैं और संन्यासी भी घरों से बाहिर रहना पसन्द नहीं करते। इस घरघुस्सूपने से हमें विविध हानियाँ सहनी पडती है। यह आयुर्वेदिक सिद्धान्त है कि घरों में रहने वालों की अपेक्षा वनों में वृक्षों के नीचे या पर्णकुटी में रहने वाले अधिक स्वस्थ, दृढ, बली और दीर्घायु होते हैं। प्राचीन काल के ऋषिमुनि, इसीलिये अपना जीवन जंगलों में व्यतीत करते थे। प्राचीन ब्रह्मचर्याश्रम (गुरुकुल) इन्हीं तेजःपुञ्ज तपस्वियों के आश्रम होते थे। जहाँ चक्रवर्ती साम्राट् पुत्र से लेकर गरीब निर्धन विद्यार्थी तक वृक्षों के नीचे या पत्तों तथा घासकी बनी झोपडियों में अपनी ब्रह्मचर्यावधि आनन्दपूर्वक समाप्त करते थे। वह भारत का ज्ञानयुग था-सुख सम्प

त्ति का जमाना था। आज वह बात नहीं है।

वर्तमान समय गृह-युग कहा जा सकता है। इसमें राजा से रंक तक को गृहकी जरूरत है। स्त्री पुरुष, बालक बूढे, भुक्त, मुक्त, साधू संन्यासी, किसीका भी काम घरके बिना नहीं चलता। प्रत्येक मनुष्य अपने लिये घर बनाने की चेष्टा करता रहता है। खानेपीनेसे बचाकर, जेवरगहना गिरवी रखकर, कर्जपर रुपये लेकर हम लोगों को घर बनाते देखते हैं। घर बनाकर उसमें रहना आज कल, इज्जत आबरू समझी जाती है। कहनेका तात्पर्य यह है कि यह युग घरों का युग है।

घर इतना जरूरी होनेपर भी हम देखते हैं कि उसके बनाने का ढंग निकम्मा होता है। आजकल के घरों को "मौतका पिंजरा" अथवा "यमालय" कह दिया जाय तो अत्युक्ति न होगी। सिर घुसेडकर उसमें बैठे रहने, तथा सो रहने के लिये जो कुछ भी आड बना ली जाती है उसेही घर कहते हैं। परन्तु वास्तव इन्हें घर नहीं कहा जा सकता। इस विषयको अब हम अधिक न बढाकर यहाँ यह बतलाने की कोशिश करेंगे कि वेदमें गृह निर्माण के लिये कितने अच्छे ढंग बताये गये हैं।

सब से घर बनाने के लिये उत्तम भूमि देखनी चाहिये—

" अक्षुमोपशं विततं सहस्त्राक्षं विषूवति। "
अथर्व ९। ३। ८

(विषूवति) ऊँचे (विततम्) फैले हुए स्थानपर ही मकान बनाना चाहिये। गढ्ढों में झीलमें विषम भूमि पर, पहाडियों के बीचमें मकान नहीं बनाना चाहिये। और देखिये-

"ऊर्जस्वती पयस्वती,पृथिव्यां निमिता मिता।
विश्वान्नं बिभ्रती शाले मा हिंसीः प्रति गृह्णतः॥
अथर्व ९। ३। १६

(पृथिव्याम्) उत्तम भूमिपर,(मिता) परिमाणयुक्त (निमिता) निर्मित (ऊर्जस्वती) बलपराक्रम देनेवाली (पयस्वती)जल आदिसे पूर्ण स्थानपर मकान बनवाना चाहिये। अर्थात्-स्थान देखनेके अतिरिक्त वहां का जल वायुभी देख लेना चाहिये। कहीं ऐसा न हो कि वायु और जलका ढोंढाही रहे। इस प्रकार मनुष्यजीवनके लिये आवश्यकीय वस्तुओंका ध्यान रखकर उचित भूमिपर ही मकान बनवाना चाहिये। मकानकी नींव किसी मूर्ख शिल्पीद्वारा न रखी जाये। देखिये—

"ब्रह्मणा शालां निमितां कविभिर्निमितां मिताम्।
इन्द्राग्नी रक्षतां शालाममृतौ सोम्यं सदः॥ "
अथर्व ९।३।१९

(अमृतो) सुखदायक - मृत्युआदि कारणोंसे रहित (ब्रह्मणा) ज्ञानी पुरुष द्वारा (निमितम्) नींवडाली गई (शालाम्) (कविभिः) विद्वानों द्वारा (मिताम्) मापी हुई (निमिताम्) दृढ बनाई हुई (शालाम्) घर (सोम्यम्) ऐश्वर्य युक्त (सदः) घर की (रक्षताम्) रक्षा करें। मकान की नींव खुदवाने और नीवँ भरवानेमें विद्वानों की जरूरत है। यह काम मूर्ख शिल्पियोंके हाथ में नहीं देना चाहिये। क्योंकि नीव हो अच्छी न होगी तो घर कहाँ से सुदृढ और उत्तम बन सकता है। मकान कैसे बनाये जावें और उसमें कमरे कैसे और कितने रखे जावें इस विषयमें देखिये।

" या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते।
अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्निमग्निर्गर्भ इवाशये। " अथर्व० ९।३।२१

एक, दो, चार, छः, आठ, दस कमरों वाली मंजिलों वाली इमारत इतनी उत्तमतासे बन... चाहिये जिसमें (मानस्य) मानकी (पत्नीम्) रक्षा करनेवाली (शालाम्) शालामें (अग्नि) जठराग्नि और (गर्भः इव) गर्भस्थ बालकके समान (आशये) ठहरूं।

यहां " गर्भस्थ बालक " की उपमा घरमें रहने वाले के लिये और गर्भकी उपमा " घर " के लिये बिलकुल उचित है। जिस प्रकारमें गर्भ में बच्चा प्राणवायु और भोजन प्राप्त कर बढता है, उसी तरह मकान में भी शुद्ध भोजन और शुद्ध वायुके द्वारा मनुष्य अपनी वृद्धि करे। गर्भ में यदि बालकको प्राण वायु अथवा भोजन न पहुंचे तो वह मर जाता है। इसी तरह यदि इसी उदररूपी मकान में हवा वगैरे का अभाव रहा तो यह मौतका पिंजरा बन जाता है।

जिस मकानमें हवा और प्रकाश नहीं पहुंचता उसके अन्दर रहने वाला मनुष्य, रोगी, अस्वस्थ, निर्बल,अल्पायु हो जाता है। क्योंकि ये दोनों पदार्थ उचित परिणाम में प्रत्येक प्राणी के लिये अत्यंत आवश्यक हैं। यदि इनमें किसीभी प्रकारकी न्यूनता हुई तो फिर हानि अनिवार्य हो जाती है। इसलिये मकानमें हवा और प्रकाश आने के लिये पर्याप्त दरवाजे और खिडकियां रखनी चाहिये ताकि रोगोत्पादक कीटाणुओं को वहां रहने की जगह ही न मिले। वेद कहता है-

" द्दरस्य ते विचृताम्यपिनद्धमपोर्णुवन्। वरुणेन समुब्जितां मित्रः प्रातर्व्युब्जतु॥ " अथर्व ९।३।१८

(द्दरस्य) द्वारके (अपिनद्धम्) बन्धन, चटखनी सांकळ, कुन्दी वगैरेको (अपोर्णुवन्) खोलता हुआ मैं (विचृतामि) अच्छी तरह ग्रंथित करता हूं (वरुणेन) अंधःकारसे (समुब्जिताम्) दबाये हुए घरको (मित्रः) सूर्य (प्रातः) सुबहके समय (विउब्जतु) खोल दे। अर्थात् घर इस ढंगसे बनवाया जाय कि सूर्योदयके समय सूर्य किरणें सीधी मकानके अन्दर पहुंचकर उसे प्रकाशित कर दें। जिन घरों में इस तरह नित्य प्रकाश आता रहेगा, उसमें रहने वाले मनुष्य कदापि दुखीत न होकर सर्वदा आनन्दमें रहेंगे। हम देखते हैं कि आजकल मकानोंमें लोग हवा आनेके लिये द्वार या खिडकियाँ वगैरे नहीं रखते। आने जाने के लिये छोटे छोटे जिनमें सिर फूटा करता है एकाधा द्वार रखते है। उसे बन्द कर देनेपर मकान एक डिब्बी हो जाता है। उस सन्दूक के समान मकानमें फिर हवाके आने को बिलकूल जगह नहीं रहती। इसी लिये वेद कहता है—

" उपमितां प्रतिमितामथो परिमितामुत।
शालायाविश्ववाराया नद्धानि विचृतामसि॥ "
अथर्व० ९।३।१

(विश्ववाराया) खूब दरवाजोंवाली (शालाया) मकानकी (उपमिताम्) उपमा (प्रतिमिताम्) प्रतिमान युक्त (अथो) और भी (परिमिताम्) परिमाणयुक्त (उत) और (नद्धानि) इंटचूने मिट्टी आदि के मेल को (विचृतामि) अच्छी तरह करते हैं। अर्थात् मकानकी सुडौल सुन्दर नाप तोल कर बनाई हुई दीवारों में चारों ओर खूब द्वार रखने चाहियें ताकि मकानमें वायु और प्रकाशका अभाव न रहने पावे। हवाके लिये मकानों के द्वार और छत दीवारें वगैर ऊंची ऊंची बनवानी चाहिये। जिससे शुद्ध हवा उसमें रहने वालोंको काफी मिल सके। आजकल प्रायः नीची छतों के मकान बनते हैं जिनमें सिर फूटाकरते हैं और न अच्छी प्रकार हवा ही प्रवेश करने पाती है। इस विषयमें देखिये, वेद कहता है —

" उच्छ्रितात्न्वे भव। " अथर्व ९।३।६

(शाला) मकान (उच्छ्रिता) ऊंची उठी हुई (भव) हो। नीची न हो। दीवारें ऊंची ऊंची हो, नीची न हों। सिरफोड छत न हो। बल्कि यथेष्ट ऊंची हो। मकान पर छत किस चीजकी डाली जावे इस विषय में वेद कहता है-

" तृणैरावृता। "

घासफूस पत्तों आदिसे अच्छादित हों। घासफूस से मकानों को छाना जंगली पन नहीं है। परन्तु अत्यंत उपयोगी है। घास से छाया हुआ मकान प्रत्येक ऋतुमें उपयोगी होता है, सर्दी, गर्मी, वर्षा से अच्छी प्रकार रक्षा होती है। घास फूस द्वारा छाया हुआ मकान यदि खूब सूरती से छाया जावे तो बडाही अच्छा दिखाई देता है। वेद कहता है कि मकान को छाने वाले लोग विज्ञ ही हों।

"अनवद्धमभिहितं ब्रह्मणा विचृतामसि" (अनवद्धम्) अच्छी तरह छाये हुए (ब्रह्मणा) विद्वानद्वारा (अभिहितम्) बताये गये (अक्षुम्) व्याप्तिवाले को (विचृतामसि) हम बनाते हैं।

मकान साफ पाक सुथरा और सजा हुआ रखना चाहिये। वेद कहता है।

" अमुत्रैनमा गच्छताद् दृढा नद्धा परिष्कृता।
अथर्व ९।३।१०

(दृढा) मजबूत (नद्धा) छायी हुई (परिष्कृता) सुसज्जित वहां इसे प्राप्त हो। अर्थात् मकान को लीपपोतकर झाडफूंककर चित्रादि से सुसज्जित बनाये रखना चाहिये। मकान में उत्तम सामग्री रखनी चाहिये। घरों की हवा शुद्ध रखने के

लिये जल अग्नि आदि रखनेके स्थान ठीक जगह पर बनवाने चाहिये।

" इमा आपः प्रभराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः।
गृहानुपप्रसीदाम्यमृतेन सहाग्निना।"
अथर्व ९। ३। २३

(इमाः) इस (अयक्ष्माः) रोगरहित (यक्ष्मनाशिनीः) रोगनाशक (अपः) जल को अच्छी तरह (आभरामि) मैं लाता हूं (अमृतेन) अमृततुल्य पदार्थों तथा (अग्निना) अग्निके साथ (गृहान्) घरोंमें (उप) आकर (प्र) अच्छी तरह (सीदामि) बैठता हूं। पानी और आग रखनेका स्थान अर्थात् इन्धनशाला ऐसी जगह बनवाई जहां परकि उठने बैठने वालों को कीचड से या अग्निकी धूआं वगैरः से कष्ट न हो। मकान बनवाले समय प्रत्येक कार्य का घर अलग अलग बनवाना चाहिये। भोजनालय, स्नानागार, स्त्रियों के रहने के मकान, ईश्वरोपासना गृह, शयनागार, शस्त्रागार, वस्त्रागार, शोकभवन, सभाभवन इत्यादि। वेदभी कहता है कि

" हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः।
सदो देवानामसि देवि शाले।" अथर्व ९। ३। ७

(देवि शाले!) हे दिव्यभवन 'तू (हविर्धानम्) अन्न घृत आदिका भण्डार (अग्निशालम्) अग्निविद्युत आदिका स्थान (पत्नीनाम्) स्त्रियोंका घर और (सदः) सभास्थान (देवानाम्) विद्वान पुरुषों का (सदः) सभाभवन (असि) है। अर्थात् मकान बनवाते समय प्रत्येक कार्य के लिये पृथक् पृथक घर कोठरियां बनवानी चाहिये। यह वेदकी आज्ञा है। पशुशाला निर्माण के विषयमें भी वेद के निम्न मंत्र विचारणीय हैं।—

" गोभ्यो अश्वेभ्यो नमो यच्छालायां विजायते।
अथर्व ९।३।१३
अग्निमन्तश्छादयसि पुरुषान् पशुभिः सह।"
अथर्व ९।३।१४

हे शाले! तू (अग्निम्) अग्निको और (पुरुषान्) मनुष्यों को (पशुभिः सह) पशुओं सहित (अन्तः) अपने अन्दर (छादयसि) ढांक लेती है। अर्थात् जिस प्रकार मकान मनुष्यों के लिये ध्यानपूर्वक बनवाये जावें उसी तरहके पशुओंके लिये भी वायु और प्रकाश का ध्यान रख कर बनवाये जाने चाहिये। कहीं ऐसा न हो कि उन्हें पशु समझकर चाहे जैसे मकान में बांध दिया जावे। नहीं उनका भी वैसा ही ध्यान रखा जावे जैसा कि मनुष्योंका। क्यों कि गौ, घोडे आदि प्राणि मनुष्यों के साथी हैं। इसीलिये वेदने " पशुभिः सह " वाक्य प्रयोग किया है। आशा है मूक प्राणियों के सुखदुःख का विचार रखकर मनुष्य उनके लिये गृहनिर्माण करावेंगे।

गृह निर्माण सम्बन्धी, वेदमें सैकडों मंत्र हैं, परंतु हमने यहां अथर्व वेदके नवें काण्डमें तृतीय सूक्तमें वर्णित मंत्रोंपरही विचार किया है। आशा है पाठकोंको लाभप्रद होगा।

चार पुरुषार्थ।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हैं। इनमें से ' अर्थ और काम ' जो कि विषयों के उपभोग के लिए अर्थात् इंद्रियों की तृप्ति के लिए प्राप्त किए गए हैं, 'इंद्रियार्थ' सिद्ध होते हैं 'पुरुषार्थ' नहीं। क्यों कि वे पुरुष के लिए प्राप्त ही नहीं किए गए। केवल इंद्रिय के सुख के लिए जो अर्थ और काम प्राप्त किए जाते हैं वे ही धर्म और मोक्ष के मार्ग में रोडे बिछाते हैं। व्यवहार में अर्थ और काम प्राप्त करते समय मनुष्य की दृष्टि इंद्रियों के सुख की ओर रहती ही है। यही कारण है कि व्यवहार में अर्थ और काम की धर्म और मोक्ष से नहीं पटती।

अर्थ और काम के द्वारा इंद्रियों की इच्छा पूर्ण करना उतना ही सरल है जितना हवाकी मोट बांधना। चाहे कितना भी अर्थ क्यों न प्राप्त करो और उसका उपभोग लो, पर इच्छा तृप्त नहीं होती।

' उपभोग '

सुखेच्छा

यह एक मिस है। इसका छेद प्रति दिन बढता ही जाता है। अतएव वह अपूर्णोंक अधिकाधिक अपू-

र्ण ही होता जाता है। वह कभी भी पूर्ण नहीं होता यह शोपेन हौयर का मत है। और वह लोकमान्य तिलक ने 'गीतारहस्य' के 'सुखदुःख विवेक' नामक अध्याय में उद्धृत किया है और इससे भगवान मनु के—

" हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।"

" अग्नि में घी डालने से वह अधिकाधिक बढता ही है " मत को पुष्टि दी है। तब फिर प्रश्न होता है कि अर्थ और काम मिलाना किस लिए? सुखोपभोग को छोड अर्थ और काम का अन्य उपयोग ही क्या है? पैसा तो इसीलिए कमाया जाता है कि चैन करने मिले और चैन करना अर्थ प्राप्ति का फल ही नहीं है। वाः क्या खूब उपदेश है! अरे भाई तब फिर पैसा कमाने में जो झञ्झटें उठानी पडती हैं वे किस लिए? जिन मनुष्यों की दृष्टि देह और इन्द्रियों के परे नहीं गई उन्हें अर्थ और काम का दूसरा उपयोग दिखनाही असम्भव है। परन्तु अर्थ के उपभोग से इंद्रियों की तृप्ति नहीं हो सकती। एक समय सुखद मालूम होनेवाला अर्थ अन्य किसी समय दुःखद होता है। इस बातपर जब दृष्टि डाली जाती है, तब विचारी लोगों को यही कहना पडता है कि अर्थ और काम का फल देह और इंद्रिय की तृप्ति कदापि नहीं है।

अर्थ और काम का सच्चा उपयोग है मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति करना। स्थूल-सूक्ष्म शरीर, मन और आत्मा इस त्रयी का ही मतलब मनुष्य है। मानवी जीवित का ध्येय यही है कि इन तीनों का पूर्ण विकास करना। और इस विकास के साधन हैं "धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष" ये चार पुरुषार्थ इसी दृष्टि से, सुभाषितकारों का कथन है कि इस चौकडी में से यदि एक भी प्राप्त कर लिया तो सार्थक हुआ।

स्थूलसूक्ष्म शरीर और मन के विकास में अर्थ और काम को सहायता होती है। यही बात तैत्तरीय के "अन्न के स्थूल भाग से मल, मध्यम भाग से मांस, सूक्ष्म भाग से मन होता है" आदि वचनोंसे सिद्ध होती है। परंतु अर्थ और काम का उपयोग इंद्रियोंके चोचले पूरे करनेमें जब होने लगता है तब जीभ का अत्याचार पेट को सहना पडता है; आंखों को नाटक और सीनेमा देखने का अत्याचार शेष शरीरको सहना पडता है। इस प्रकार विकास तो दूर ही रहता है पर शरीर और मन का ऱ्हास अवश्यही होता है।

उपभोग के अतिरेक से कुछ लोग सत्वहीन और मुर्झाए हुए नजर आते हैं और कुछ काफी उपभोग न मिलने से इंद्रियलालसा की आंच से सूखे हुए मालूम होते हैं। एक दशा पानी के आधिक्य से फीके पडे पौधोंके सदृश है तो दूसरी पानी की कमी से और धूप से मुरझाए हुए पौधों के समान है। इस का कारण यही है वे अर्थ और काम के प्राप्त करने का उद्देश ठीक ठीक नहीं समझे।

सारांश यही है कि अर्थ और काम देह तथा इंद्रियोंकी चैन के लिए प्राप्त करना नहीं वे व्यष्टि-समष्टि में क्षराक्षर रूप से विद्यमान उत्तम 'पुरुष' के लिए प्राप्त करना हैं। इस उद्देश्य से प्राप्त किए अन्न और काम धर्म-मोक्ष के आड न आवेंगे। जिस उत्तम पुरुष के लिए अर्थ-काम प्राप्त करना हैं वह पिण्ड-ब्रह्माण्ड में एकही भरा हुआ है। अतः उसके लिए अर्थ काम प्राप्त करनेवाला देहेंद्रियों की लालसाओं का शिकार बनेगा। उसे विश्वास हो जाता है कि सब अर्थ " ईशावास्यमिदं सर्वं " है। अतएव वह कामोपभोग में यही लक्ष्य रखेगा कि "तेन त्यक्तेन भुंजीथाः" तब उसके अर्थ-काम धर्म-वर्जित न रहेंगे। और इसी लिए वे पुरुषार्थ कहलाने योग्य होंगे।

अब धर्म और मोक्ष पर कुछ विचार करेंगे। धर्म का मतलब यही लेना उचित होगा कि "Ethical conduct, and the law of the individual and social life." अर्थात् 'नैतिक चारित्र्य और व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन के योग्य नियम'। स्वर्गीय लोकमान्य भी इसी अर्थ को मानते थे। वे कहते थे, " चतुर्विध पुरुषार्थ की गणना करते समय 'धर्म, अर्थ काम, मोक्ष' कहा जाता है............ (यहाँ) 'धर्म' शब्द से शास्त्रकारों का अभिप्राय इसी मतलबसे है कि जगत् के वा संसार के सैकडों नीतिधर्म। सामान्य जन धर्म शब्द से कुछ विशेष आचार ही समझ लेते हैं। प्रायः घर के लोग

इस प्रकार कहते हैं, " कैसी धर्म भ्रष्टता हो रही है' स्नान-संध्या का तो नाम ही लोग भूल रहे हैं। खानपान आदि का विधिनिषेध ही लोग भूल रहे हैं। " परंतु आचार धर्म का केवल एक अंग है। केवल उतने ही से ' धर्म ' पुरुषार्थ पूर्णतया नहीं सधता । आजकल जनता में ' धर्म ' पुरुषार्थ प्राप्ति की आकांक्षा का दिखना तो दूर ही रहा पर उसमें ' धर्म ' पुरुषार्थ की यथार्थ कल्पना भी नहीं दिख पडती । जो लोग धार्मिक समझे जाते हैं वे केवल कुछ विशिष्ट आचारों का पालन करने वाले, जप करने वाले और भजन-पूजन में मग्न रहने वाले हैं इनमें से थोडे ऐसे हैं जो आचार-विशेषों का नियम से पालन इस लिए करते हैं कि वे यथार्थ में उसी को धर्म समझते हैं पर अधिकांश लोग ऐसे हैं। जो विशिष्ट आचारों का पालन इस लिए करते हैं कि जिसमें लोग उन्हें धार्मिक कहें। पर यथार्थ बात तो यह है कि ये आचार व्यक्तिगत चारित्र्य का कुछ थोडासा भाग हैं।

चार वर्ण और चार आश्रमों के कर्तव्यों पर यदि हम विचार करें तो हम ' धर्म ' पुरुषार्थ की पूर्णता की कल्पना कर सकेंगे। इन कर्तव्यों के पालन ही से ' धर्म ' पुरुषार्थ की प्राप्ति होगी। व्यष्टि-समष्टि रूप परमात्मा की सेवा ' स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य ' इस गीतावचन के अनुसार करने ही से ' धर्म ' पुरुषार्थ की सिद्धि प्राप्त हो सकती है। ' धारणात् धर्ममित्याहुः ' यह धर्म की परिभाषा है। पुरुषार्थ की दृष्टि से इस परिभाषाका अर्थ वही है जो देशभक्त बाबू अरविंद घोषने वा स्व० लोकमान्य तिलक ने किया है। अतएव यही सिद्ध हुआ कि समाजधारणा के उपयोगी नियमों के पालन से ' धर्म ' पुरुषार्थ सिद्ध होता है और समाज के विकास के हेतु तन, मन, धन अर्पण करने की बुद्धि से यदि अर्थ और काम प्राप्त करें तो वे ' अर्थ और काम ' पुरुषार्थ को सिद्ध करते हैं।

'मोक्ष' क्या है? मानव जीवन का उच्चातिउच्च साध्य ' मोक्ष ' है। मानवी जीवन की पूर्ण अवस्था, जीवन की संचालक शक्ति की पहिचान होना ही मोक्ष है। ' मोक्ष ' पुरुषार्थ तभी सिद्ध होता है जब व्यक्ताव्यक्त स्वरूप उत्तम पुरुषसे तादात्म्य हो जाय। देहेंद्रियां, भौतिक पदार्थ और अखिल जगत् में भरी हुई ईश्वरी शक्ति की उपासना धर्म, अर्थ काम के द्वारा करते करते जब उस शक्ति से समरस हो जाँय, संकुचित भाव नष्ट हो जाय, तभी ' मोक्ष ' पुरुषार्थ प्राप्त होता है।

योगाभ्यास के साधन से व्यक्ति की ही मुक्ति होती है। पर व्यक्ति की मुक्ति के लिए योगाभ्यास करने वाले तापसी तब तक मुक्त नहीं होते जब तक उन का व्यक्तिभाव नष्ट नहीं होता। व्यक्तिभाव तभी नष्ट होता है जब व्यक्तिको समष्टि के परमात्मभाव का अनुभव होता है। मनुष्य को इच्छा होती है कि मुझे अमुक वस्तु की आवश्यकता है, मुझ में अमुक की कमी है, मुझे अमुक वस्तु प्राप्त करनी है आदि। इस इच्छा का मूल बीज मूल के पूर्ण स्वरूप की प्राप्ति की प्रबल इच्छा ही है। मनुष्य केवल भ्रमसे मान लेता है कि वह बेचैनी इन्द्रिय की तृप्ति से शान्त होगी। परन्तु वास्तवमें शान्ति होती ही नहीं। ' मोक्ष ' पुरुषार्थ तभी सिद्ध होता है जब पूर्णता का सच्चा स्वरूप मालूम हो जाय। यह पूर्णता ही व्यक्त और अव्यक्त उत्तम पुरुष परमात्मा है। उसकी प्राप्ति होने से मनुष्य स्वयं ही पुरुष बन जाता है। सम्पूर्ण विश्व ही पुरुष के लिए है। अतएव जिसने प्राप्त कर लिया उसने सभी पुरुषार्थ प्राप्त कर लिए। उपनिषत् में एक दृष्टान्त है कि जिसने ' कृत ' नाम का पांसा जीता उसने उसके नीचे के सब पांसे जीत लिए। यह उपनिषत् का दृष्टान्त भी उपरोक्त बात को सिद्ध करता है।

अस्तु। अर्थ-काम हों चाहे धर्म-मोक्ष हों वे तो विश्वव्यापी पुरुष के लिए प्राप्त करने हैं, व्यक्तिगत और इंद्रियजन्य क्षणिक सुख के लिए नहीं हैं। यह भावना जब उत्पन्न हो जाती है तब अर्थ, काम, धर्म, मोक्ष के विरोधी नहीं होते। इसके विपरीत परमात्मा की इच्छा से प्रवर्तित हुए इस संसार चक्र में अर्थ-काम मिला दिए जाने चाहिए। और वे इस प्रकार प्राप्त करने चाहिए जिससे ' धर्म ' पुरुषार्थ में रुकावट न हो बल्कि वह उत्तम रीतिसे साध्य हो।

पशुओंकी स्वास्थ्यरक्षा ।

२८

(ऋषिः—ब्रह्मा । देवता—यमिनी)

एकैकयैषा सृष्ट्या सं बभूव यत्र गा असृजन्त भूतकृतो विश्वरूपाः ।
यत्र विजायते यमिन्यपर्तुः सा पशून् क्षिणाति रिफती रुशती ॥ १ ॥
एषा पशून्त्सं क्षिणाति क्रव्याद् भूत्वा व्यद्वरी ।
उतैनां ब्रह्मणे दद्यात् तथा स्योना शिवा स्यात् ॥ २ ॥

अर्थ— (यत्र भूतकृतः विश्वरूपाः गाः असृजन्त) जहां भूतोंको बनानेवालोंने अनेक रंग रूपवाली गौवें बनाईं, वहां (एषा) यह गौ (एक-एकया सृष्ट्या संबभूव) एक एकके क्रमसे बच्चा उत्पन्न करनेके लिये उत्पन्न हुई है । (यत्र अप-ऋतुः यमिनी विजायते) जहां ऋतुकालसे भिन्न समयमें जुडे बच्चोंको उत्पन्न करनेवाली गौ होती है वहां (सा रुशती रिफती) वह गौ पीडा देती हुई और कष्ट उत्पन्न करती हुई (पशून् क्षिणाति) पशुओंको नष्ट करती है ॥ १ ॥

(एषा क्रव्याद् व्यद्वरी भूत्वा) यह गौ मांस खानेवाले कृमीके समान होकर (पशून् सं क्षिणोति) पशुओंका नाश करती है । (उत एनां ब्रह्म दद्यात्) इसलिये इस गौको ब्राह्मणके पास भेजनी चाहिये (तथा स्योः शिवा स्यात्) जिससे वह सुखदायी और कल्याण कारिणी हो जावे ॥२

भावार्थ—सृष्टि उत्पन्न करनेवालेने अनेक रंगरूप और विविध गुणधर्मवाली गौवें बनायी हैं । ये सब गौवें एकवार एक ही बच्चा उत्पन्न करनेके लिये बनाई हैं । जब यह गौ ऋतुको छोड कर अन्य समयमें इकट्ठे दो बच्चे उत्पन्न करती है उस समय वह घातक और नाशक होती है, जिससे अन्य पशुभी नष्ट होते हैं ॥ १ ॥

जैसे मांस खानेवाले पशु नाशक होते हैं उस प्रकार यह रोगी गौ नाशक होती है । इसलिये ऐसा होने ही इसको योग्य उपायज्ञ वैद्य ब्राह्मणके पास भेजनी चाहिये, जहां योग्य उपचारोंसे वह गौ सुखदायिनी बन जावे ॥ २ ॥

शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा ।
शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि ॥ ३ ॥
इह पुष्टिरिह रस इह सहस्रसातमा भव ।
पशून् यमिनि पोषय ॥ ४ ॥
यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः ।
तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव सा नो मा हिंसीत् पुरुषान् पशूंश्च ॥ ५ ॥

अर्थ- (पुरुषेभ्यः शिवा भव) पुरुषोंके लिये कल्याण करनेवाली हो, (गोभ्यः अश्वेभ्यः शिवा) गौओं और घोडोंके लिये कल्याण करनेवाली हो, (अस्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा) इस सब भूमिके लिये कल्याण करनेवाली होकर (नः शिवा एधि) हमारे लिये सुख देनेवाली हो ॥ ३ ॥

(इह पुष्टिः, इह रसः) यहां पुष्टि और यहां रस है। (इह सहस्र-सातमा भव) यहां हजारों लाभ देनेवाली हो और हे (यमिनी) जुडे सन्तान उत्पन्न करनेवाली गौ ! (इह पशून् पोषय) यहां पशुओंको पुष्ट कर ॥ ४ ॥

(यत्र) जिस देशमें (स्वायाः तन्वः रोगं विहाय) अपने शरीरका रोग त्यागकर (सुहार्दः सुकृतः मदन्ति) उत्तम हृदयवाले और उत्तम कर्मवाले होकर आनन्दित होते हैं, हे (यमिनी) गौ ! (तं लोकं अभिसंबभूव) उस देशमें सब प्रकार मिलकर हो जाओ, (सा नः पुरुषान् पशून् मा हिंसीत्) वह हमारे पुरुषों और पशुओंकी हिंसा न करे ॥ ५ ॥

भावार्थ- यह गौ मनुष्योंके लिये तथा घोडे बैल गौएं आदि पशुओंके लिये, इस भूमिके लिये और हम सबके लिये सुख देनेवाली बने ॥ ३ ॥

इस गौमें पोषणकारक गुण है, इसमें उत्तम रस है, यह गौ हजारों रीतियोंसे मनुष्योंको लाभदायक होती है, इस प्रकारकी गौ सब पशुओंको यहां पुष्ट करे ॥ ४ ॥

जिस प्रदेशमें जाकर रहनेसे शरीरके रोग दूर होते हैं और शरीर स्वस्थ होता है, तथा जिस प्रदेशमें उत्तम हृदयवाले और उत्तम कर्म करनेवाले लोग आनंदसे रहते हैं, उस देशमें यह गौ जाय, वहां रहे; यहां रोगी अवस्थामें रह कर हमारे मनुष्यों और पशुओंको कष्ट न पहुंचावे ॥ ५ ॥

यत्रा सुहार्दां सुकृतामग्निहोत्रहुतां यत्र लोकः ।
तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव सा नो मा हिंसीत् पुरुषान् पशूंश्च ॥ ६ ॥

अर्थ- (यत्र यत्र सुहार्दां सुकृतां अग्निहोत्रहुतां लोकः) जहां जहां शुभ हृदयवाले, उत्तम कर्म करनेवाले और अग्नि होत्रमें हवन करनेवालोंका देश होता है, हे (यमिनी) गौ (तं लोकं अभिसंबभूव) उस लोकमें मिलकर रह और (सा नः पुरुषान् पशून् च मा हिंसीत्) वह हमारे पुरुषों और पशुओंकी हिंसा न करे ॥ ६ ॥

भावार्थ— जिस प्रदेशमें उत्तम हृदयवाले, शुभकर्म करनेवाले और अग्निहोत्र करनेवाले सज्जन रहते हैं, उस देशमें यह गौ जाय और नीरोग बने। रोगी होती हुई हमारे पुरुषों और अन्य पशुओंको अपना रोग फैलाकर कष्ट न पंहुचावे ॥ ६ ॥

पशुओंका स्वास्थ्य।

पशुओंका उत्तम स्वास्थ्य रहना चाहिये, अन्यथा एक भी पशु रोगी हुआ तो वह अन्य पशुओंका तथा मनुष्योंका भी स्वास्थ्य बिगाड सकता है। एक पशुका रोग दूसरे पशुको लग सकता है और इस कारण सब पशु रोगी हो सकते हैं। तथा गौ आदि पशु रोगी हुए, तो उनका रोगयुक्त दूध पीकर मनुष्य भी रोगी हो सकते हैं। इस अनर्थ परंपराको दूर करनेके लिये पशुओंका उत्तम स्वास्थ्य रखनेका प्रबंध करना चाहिये।

पशुरोगकी उत्पत्ति।

पशुओंमें रोग उत्पन्न होनेके तीन कारण इस सूक्तमें दिये हैं, वे कारण देखिये—

१ अप+ऋतुः = ऋतुके विरुद्ध आचरण करनेसे रोग उत्पन्न होते हैं। पशुओंके लिये जिस समयमें जो खानेपीने आदिका प्रबंध होना चाहिये वह यथा योग्य होना ही चाहिये। उसमें अयोग्य रीतिसे परिवर्तन होनेसे पशु रोगी होते हैं। पूर्ण समयके पूर्व बच्चा उत्पन्न होनेसे भी गौ रोगी होती है।

२ यमिनी विजायते=जुडे बच्चेको उत्पन्न करना। इससे प्रसूतिकी रीतिमें बिगाड होकर विविध रोग होते हैं।

३ क्रव्याद् व्यद्वरी भूत्वा=मांस खानेवाली विशेष भक्षक होकर रोगी होती है। गौ जिस समय प्रसूत होती है उसके बाद गर्भस्थानसे कुछ भाग गिरते हैं। कदाचित वह गौ उक्त भागोंको खाजाती है और रोगी होती है। अथवा योनी आदि स्थानमें जुडे

बच्चेके उत्पन्न होनेके कारण कुछ व्रणादि होते हैं और वहां प्रसूतिस्थान का विष लगनेसे गौ रोगी होती है। इस प्रकार इस संबंधसे गौके रोगी होनेकी संभावना बहुत है। इसलिये गौके स्वामीको उचित है कि वह ऐसे समयमें योग्य सावधानता रखे और किसी प्रकार भी असावधानी होने न दें।

ये सब रोग बडे घातक होते हैं और यदि एक पशुको हुए तो उसके संसर्गमें रहनेवाले अन्यान्य पशुओंका भी नाश उक्त रोगोंके कारण हो सकता है। इस लिये जिसके घरमें बहुत पशु हैं उसको उचित है कि वह ऐसी अवस्थाओंमें बडी सावधानता रखें और अपने पशुओंके स्वास्थ्यरक्षाका उत्तम प्रबंध करें।

रोगी पशु।

पशुके स्वास्थ्य के विषयमें आवश्यक योग्य प्रबंध करनेपर भी गौ आदि पशु पूर्वोक्त कारणोंसे अथवा अन्यान्य कारणोंसे रोगी होते हैं। वैसे रोगी होने पर उनको उत्तम वैद्यके पास भेजना चाहिये, इस विषयमें कहा है—

उत एनां ब्रह्मणे दद्यात् तथा स्योना शिवा स्यात् ॥ (मं० २)

" उस रोगी गौको ब्राह्मणके पास देना चाहिये, जिससे वह शुभ और कल्याण करनेवाली बने " अर्थात् उस रोगी गौको ऐसे सुयोग्य ज्ञानी वैद्यके पास भेजना चाहिये कि जिसके पास कुछ दिन रहनेसे वह नीरोग स्वस्थ और शुभ बन जावे। यहां "ब्रह्मन्" शब्द है; यह आयुर्वेद शास्त्र, और आथर्वणी चिकित्सा जाननेवाला ज्ञानी वैद्य है। ब्राह्मण ही वैद्यक्रिया करते हैं, इस विषयमें वेदमें अन्यत्र कहा है—

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः।
ऋ. १०।९७।६; वा. य. १२।८०

" जिस विप्रके पास बहुत औषधियां होती हैं उस विप्रको वैद्य कहा जाता है, वही रोगके कृमियोंका नाश करता है और वही रोगभी दूर करता है। "

इस प्रकारके जो वैद्य होते हैं उनके सुपुर्द वैसी रोगी गौको तत्काल करना चाहिये। जिनके पास रहती हुई वह गौ योग्य उपचार द्वारा आरोग्यको प्राप्त हो सके। जहां इस गौको भेजना चाहिये वह स्थान कैसा हो, इसका वर्णन भी देखिये—

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः। (मं० ५)
यत्रा सुहार्दां सुकृतां अग्निहोत्रहुतां यत्र लोकः। (मं० ६)
तं लोकं यमिन्यभि संबभूव ॥ (मं० ५-६)

" जहां प्रतिदिन अग्निहोत्रमें हवन करनेवाले लोग रहते हैं, और जहां उत्तम हृदयवाले और श्रेष्ठ कर्मकर्ता लोग रहते हैं, और जहां अपने शरीरका रोग दूर होकर मन आनन्द प्रसन्न हो सकता है, उस स्थानपर उस गौको भेजना चाहिये, जहां रहनेसे सब प्रकारसे कल्याण होगा । "

रुग्णालयके सब लोग अग्निहोत्रमें प्रतिदिन हवन करनेवाले हों, क्योंकि रुग्णालय में विविध प्रकारके रोगी आते हैं और उनके संस्पर्शसे विविध रोग फैलना संभव है, इस कारण वायु शुद्धिके लिये प्रतिदिन हवन होना योग्य है,इस प्रातः सायं किये अग्निहोत्रके हवनसे वायु निर्दोष होगा और रोगबीज नष्ट होंगे, और ऐसे वायुसे रोगी भी शीघ्र नीरोग हो सकता है । यह रुग्णालय की वायुशुद्धिके विषयमें कहा है । इसके अतिरिक्त रुग्णालयके कर्मचारी प्रतिदिन नियम पूर्वक हवन करनेवाले हों, जिससे उनका भी आरोग्य सिद्ध होगा और उस स्थानकी भी शुद्धता होगी ।

साथही साथ रुग्णालयके कर्मचारी (सु-कृतः) उत्तम शुभ कर्म करनेवाले पवित्र आत्मा होने चाहिये ॥ इनकी पवित्रतासे ही रोगीका आधा रोग दूर हो सकता है । जो वैद्य पवित्र हृदयवाला और शुभ कर्म करनेवाला होगा,उसका औषध भी अधिक प्रभावशाली होगा, क्योंकि औषधके साथ उसके दिलके शुभविचार भी बडे सहायक होंगे ॥

ऐसे सदाचारी सद्भावनावाले धार्मिक वैद्यके पास जो भी रोगी जाय, वह उस आश्रमके पवित्र वायुमंडलसे --

स्वायाः तन्वः रोगं विहाय । (मं. ५)

"अपने शरीरसे रोग दूर करके" पूर्ण नीरोग होगा, इसमें कोई संदेह नहीं । इसी लिये कहा है कि ऐसे सुविज्ञ आचारसंपन्न ब्राह्मण वैद्यके पास उस प्रकारके रोगी गौको सत्वर भेजना चाहिये। वहां जाकर वह गौ नीरोग बने और वहांसे वापस आकर "घरके मनुष्यों, गौओं, घोडों और घरकी सब भूमिको पवित्र बनावे । (मं. ३)" नीरोग गौका मूत्र, गोबर, तथा गोरस अत्यंत पवित्र होता है, परंतु रोगी गौके ये सब पदार्थ अत्यंत अनिष्ट होते हैं । इसलिये उक्त आश्रममें पंहुंचकर, वहां रहकर, पूर्ण नीरोगताको प्राप्त होकर जब यह गौ वापस आवेगी, तब वह मंगल कारिणी बनेगी; ऐसा जो तृतीय मंत्रमें कहा है; वह सर्वथा योग्य है। "गौ के अन्दर पोषक पदार्थ और अमृतरस होते हैं । यह गौ अनंत प्रकारसे लाभकारी होती है, (मं. ४)" इसलिये उसके आरोग्यके लिये दक्षता से योग्य प्रबंध करना उचित है ।

संरक्षक कर।

[२९]

(ऋषिः—उद्दालकः । देवता-शितिपाद् अविः)

यद् राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्यामी सभासदः ।
अविस्तस्मात् प्र मुञ्चति दत्तः शितिपात् स्वधा ॥ १ ॥
सर्वान् कामान् पूरयत्याभवन् प्रभवन् भवन् । आकूतिप्रोऽविर्दत्तः शितिपान्नोप दस्यति ।२॥

अर्थ— (यत्) जिस प्रकार (यमस्य अमी राजानः सभासदः) नियम से चलनेवाले राजाके ये राज्य करनेवाले सभासद (इष्टापूर्तस्य षोडशं विभजन्ते) अन्नादि का सोलहवां भाग विभक्त करते हैं। यह (दत्तः) दिया हुआ भाग (अविः) रक्षक बनकर (शिति-पात्) हिंसकोंको गिरानेवाला (स्व-धा) और अपना धारण करनेवाला होता हुआ (तस्मात् प्रमुञ्चति) उस भयसे छुडाता है ॥ १ ॥

यह (दत्तः) दिया हुआ भाग (आकूति-प्रः) संकल्पोंको पूर्ण करनेवाला, (शिति-पात्) हिंसकोंको दबानेवाला, (अविः)संरक्षण करनेवाला, (आ-भवन्) फैलानेवाला, (प्रभवन्) प्रभावशाली, (भवन्) अस्तित्वका हेतु होता हुआ (सर्वान् कामान् पूरयति) सब कामनाओंको पूर्ण करता है और (न उपदस्यति) विनाश नहीं करता ॥ २ ॥

भावार्थ—नियमसे प्रजाका पालन करनेवाले राजाके ये राजसभाके सभासद वस्तुतः सच्चे राजाही हैं। ये प्रजाके अन्न आदि प्राप्तिका सोलहवां भाग कर रूपसे लेते हैं। राजाको दिया हुआ यह सोलहवां भाग सब राष्ट्रका संरक्षण करता है, प्रजाको दुःख देनेवाले जो होते हैं उनको दण्ड देकर दबाता है, प्रजाकी धारक शक्ति बढाता है और उनको भयसे मुक्तता करता है ॥ १ ॥

यह दिया हुआ कर प्रजाके सब अभ्युदयके संकल्पोंको पूर्ण करता है, दुष्टोंका दमन करता है, सुष्टोंका पालन करता है, राष्ट्रका विस्तार करता है, वीरोंका प्रभाव बढाता है और ज्ञानीका अस्तित्व स्थिर रखता है, साथ साथ सब जनताके मनोरथ पूर्ण करता है और कीसीभी प्रकार प्रजाका नाश नहीं करता ॥ २ ॥

यो ददाति शितिपादमविं लोकेन संमितम्।

स नाकमभ्यारोहति यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे ॥ ३॥

पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम्। प्रदातोप जीवति पितॄणां लोकेऽक्षितम् ॥४॥

पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम्। प्रदातोप जीवति सूर्यामासयोरक्षितम् ॥५॥

अर्थ-(यः लोकेन संमितं) जो सब लोगों द्वारा संमानित (शिति-पादं अविं ददाति) हिंसकोंके नाश करनेवाले संरक्षक भागको देता है (सः नाकं अभ्येति) वह दुःखरहित स्थानको प्राप्त करता है, (यत्र अबलेन बलीयसे शुल्कः न क्रियते) जहां निर्बल मनुष्यको बलवानके लिये धन देना नहीं पडता है॥३॥

(पञ्च-अ-पूपं) पांचोंको न सडानेवाले अत एव (लोकेन संमितं) जनता द्वारा संमत (शिति-पादं अविं) हिंसकोंको दबानेवाले संरक्षक कर भागको (प्रदाता) देनेवाला (पितॄणां लोके अक्षितं उपजीवति) पितृदेशमें अक्षयतासे जीवित रहता है॥ ४॥

(पञ्च-अ-पूपं) पांचोंको न सडानेवाले (लोकेन संमितं) जनताद्वारा संमानित (शिति-पादं अविं) हिंसकोंको गिरानेवाले संरक्षक कर भागको (प्रदाता) देनेवाला (सूर्या-सामयोः अक्षितं उपजीवति) सूर्य और चन्द्रके सान्निध्यमें अक्षयताके साथ जीवित रहता है॥ ५॥

भावार्थ- इसलिये सब लोग राजाको यह कर देना पसंद करते हैं। जो लोग दुष्टोंको दबाकर सज्जनोंका प्रतिपाल करनेवाला यह कर राजाको देते हैं,वे मानो, सुख पूर्ण स्थानको प्राप्त करते हैं, फिर उस स्थानमें कोई बलवान मनुष्य निर्बलसे जबरदस्तीसे धन लेनेवाला नहीं रहता और न कोई निर्बल मनुष्य अपनी शक्ति हीनताके कारण बलवान केलिये धन अर्पण करता है॥३॥

यह कर पञ्चजनोंको न गिरानेवाला, दुष्टोंको दबानेवाला और सत्पुरुषोंका पालन करनेवाला है, इसलिये सब जनता इसको राजाके पास समर्पण करती है। जो लोग यह कर देते हैं वे संरक्षकों की रक्षामें सदा सुरक्षित रहते हैं॥ ४॥

यह कर पञ्चजनोंको न गिरानेवाला, दुष्टोंका दमन करनेवाला, सज्जनोंका पालन करनेवाला है, इसलिये सब लोग आनंदसे राजाको यह देते हैं। जो कर देते हैं वे सूर्य और चन्द्रमाके प्रकाशमें सुखसे रहते हैं॥ ५॥

इरे॑व नोप॑ दस्यति समु॒द्र इ॑व॒ पयो॑ म॒हत् । दे॒वौ स॑वा॒सिना॑विव शितिपा॒न्नोप॑ दस्यति ॥६॥
क इ॒दं कस्मा॑ अदा॒त् कामः॒ कामा॑यादात् ।
कामो॑ दा॒ता कामः॑ प्रतिग्रही॒ता कामः॑ समु॒द्रमा वि॑वेश ॥
कामे॑न त्वा॒ प्रति॑ गृह्णामि॒ कामै॒तत्ते॑ ॥ ७ ॥
भूमि॑ष्ट्वा॒ प्रति॑ गृह्णात्व॒न्तरि॑क्षमि॒दं म॒हत् ।
माहं प्रा॒णेन॒ मात्मना॒ मा प्र॒जया॑ प्रति॒गृह्य॒ वि रा॑धिषि ॥ ८ ॥

अर्थ-(इरा इव) भूमिके समान तथा (महत् पयः समुद्र इव) बडे जलनिधि महासागरके समान और (स-वासिनौ देवौ इव) साथ साथ निवास करनेवाले प्राणरूप दो देवोंके समान (शितिपात् न उपदस्यति) हिंसकको दबानेवाला यह भाग विनाश नहीं करता है ॥ ६ ॥

(कः इदं कस्मै अदात्) किसने यह किसको दिया है ? (कामः कामाय अदात्) मनोरथने मनोरथको दिया है । (कामः दाता) कामही दाता है, (कामः प्रतिग्रहीता) कामही लेनेवाला है, (कामः समुद्रं आविवेश) काम ही समुद्रमें प्रविष्ट होता है । (कामेन त्वा प्रतिगृह्णामि) इच्छासे ही तेरा स्वीकार करता हूं । हे काम ! (एतत् ते) यह सब तेराही है ॥ ७ ॥

(भूमिः) पृथ्वी और (इदं महत् अन्तरिक्षं) यह बडा अन्तरिक्ष (त्वा प्रतिगृह्णातु) तेरा स्वीकार करे । (अहं प्रतिगृह्य) मैं प्राप्त करके (प्राणेन, आत्मना, प्रजया) प्राणसे आत्मासे और प्रजासे (मा मा मा विराधिषि) न अलग होजाऊं ॥ ८ ॥

भावार्थ — दुष्टोंको दबानेके लिये दिया हुआ यह कर भूमिके समान आधार देनेवाला, समुद्रके जलके समान शांति देनेवाला और प्राणोंके समान सबका रक्षक होता है और किसीका विनाश होने नहीं देता ॥६॥

भला, यह कर कौन किसको देता है ? काम ही कामको देता है । इस जगत्में मनकी इच्छा ही देने और लेनेवाली है । यही कामना मनुष्यको समुद्रपर भ्रमण कराती है । इस कामसे ही मनुष्य बडी आपत्तियां स्वयं सिर पर लेता है । यह सब जगत्का व्यवहार कामकी महिमाही है ॥ ७ ॥

इस पृथ्वीपर और आकाशमें कामनाका ही संचार हो रहा है । इस कामना का विस्तार करता हुआ मैं प्राण आत्मा और प्रजासे दूर न होऊं ॥ ८ ॥

राज्य शासन चलानेके लिये कर।

राजा राज्यका शासन करता है। इस महत्त्व पूर्ण कार्यके लिये प्रजा उसको " कर " समर्पण करती है। इस करका प्रमाण कितना होना चाहिये, अर्थात् प्रजा अपनी प्राप्तिका कितवाँ भाग राजाको समर्पित करे, और राजा उस धनका किन कार्योंमें उपयोग करे, इस विषयका उपदेश इस सूक्त में किया है। अतः राज्यशासन का विचार करनेवालोंको यह सूक्त बडा बोधप्रद है।

प्राप्तिका सोलहवाँ भाग।

प्रजाकी जो आमदनी होती है, उसका सोलहवाँ भाग राजा को देनेके लिये राजसभाके सभासद अलग करते हैं यह वर्णन पहले ही मंत्रमें है—

अमी सभासदः इष्टापूर्तस्य षोडशं विभजन्ते ॥ (मं० १)

" राजसभाके ये सभासद प्रजाकी प्राप्तिसे सोलहवां भाग अलग करते हैं। " और यह सोलहवां भाग राजाको प्रजासे मिलता है। यह कर है जो राजाको राज्य चलानेके लिये देना चाहिये। खेतमें जो धान्य उत्पन्न होगा उसका सोलहवां भाग राजाकी ग्रामसभाके सभासद लेकर उसका संग्रह करें। जो उत्पन्न होगा उसका सोलहवां भाग लेना है। अर्थात् साधारण खेती करनेवालोंसे हरएक धान्यके रूपमें ही यह कर लिया जायगा। धान्य उत्पन्न करनेवालोंसे धनके रूपमें नहीं लेना है, प्रत्युत जो पदार्थ उत्पन्न होगा उस पदार्थका सोलहवां भाग लेना है। जिस पदार्थका भाग हो नहीं सकता उसके मूल्यका सोलहवां भाग लिया जायगा तथा जो वैश्य धन कमाते होंगे, उनसे उनकी कमाईका वह भाग धनके रूपमें लिया जागया। कर देनेके विषयमें यह वेदकी आज्ञा सुस्पष्ट दिखाई देती है और यह कर प्रजाके लिये कभी असह्य नहीं हो सकता।

उत्पन्नका सोलहवां हिस्सा लेनेके लिये वेदकी आज्ञा है परंतु स्मृतिग्रंथोंमें छठां भाग लेनेतक करकी वृद्धि हुई है और आज कल तो कई गुणा वृद्धि हुई है। इस मंत्रमें " विभजन्ते" क्रिया वर्तमान कालकी है। राजसभाके सभासद स्वयं उत्पन्न देख कर उसका सोलहवां भाग अलग करते हैं, अर्थात् वे खेतमें धान्य तैयार होनेपर धान्यकी राशीके पास जाते हैं और उसके सोलह भाग करके एक भाग राजप्रबंधके लिये ले लेते हैं। केवल अंदाजासे नहीं लेते, परंतु प्रत्यक्ष प्राप्ति देखकर उसमेंसे उक्त भाग लेते हैं, यह बोध वर्तमान कालवाचक " अमी सभासदः विभजन्ते " इस वाक्यसे प्राप्त होता

है। अकालके दिनोंमें धान्य कम उत्पन्न हुआ तो कर कम लेते है, और सुकालमें अधिक उत्पत्ति हुई तो अधिक लेते हैं। आज कलके समान सुकाल और अकालमें एक जैसे प्रमाणसे नहीं लेते। पाठक यह वैदिक रीति देखें और इसकी विशेषताका अनुभव करें।

प्राप्तिके दो साधन।

आमदनीके दो मार्ग होते हैं, एक "इष्ट" और दूसरा "पूर्त"। मनुष्य जो अपनी इच्छानुसार अभीष्ट व्यवहार करते हैं और उससे कमाई करते हैं, उसको "इष्ट" कहते हैं, इसमें उद्योग धंदे शिल्प आदिका समावेश होता है, इसमें कर्ताकी इच्छापर व्यवहार की सत्ता निर्भर है। दूसरा है "पूर्त"। इसमें स्वामीकी इच्छा हो या न हो, आमदनी होती रहती है, जैसे बागसे फलादिकोंका उत्पन्न होना, कृषिसे धान्य मिलना, पहिलेसे बढे हुए वृक्षोंसे फल प्राप्त होना इ०। चली हुई पूर्व व्यवस्थासे जो प्राप्ति होती है उसका नाम पूर्त है, जमींदारोंको जो उत्पन्न होता है वह "पूर्त" है क्योंकि जमींदारके प्रयत्न न करनेपर भी वह इसके कोशकी पूर्तता करता रहता है। इष्ट व्यवहारका वैसा नहीं है; वह इच्छापूर्वक काम धंदा करके सफलता होनेपर प्राप्ति होती है, यह प्रयत्नसाध्य है। इष्ट और पूर्तमें यह भेद है। मनुष्योंके व्यवहारोंके ये मुख्य दो भेद हैं।

आजकल "इष्ट" का अर्थ "यज्ञयाग" और 'पूर्त" का अर्थ सर्वजनोपयोगी कूप तालाव धर्मशाला आदि करना समझते है, इन शब्दोंमें यह अर्थ है, परंतु यह केवल एकही भाग है। इन शब्दोंके संपूर्ण अर्थ केवल येही नहीं हैं। इस समय विचार करनेके सूक्तमें "प्रजाकी आमदनीसे सोलहवां भाग कर रूपसे लिया जाता है" ऐसा कहा है। उस प्रसंगमें "यज्ञ और कूवे" का सोलहवां भाग राजा लेता है ऐसा मानना अयोग्य है, इसीलिये चारों वर्णोंके व्यवहारकी दृष्टिसे होनेवाला और जिससे राजाको सोलहवां भाग कर रूपसे प्राप्त हो सकता है वैसा अर्थ ऊपर लिया है। यज्ञादि अर्थ लेनेके प्रसंग में प्रजाके सुकृतका जो पुण्य होगा उसका कुछ भाग राजाके यश संवर्धनके लिये उसको प्राप्त हो सकता होगा। परंतु इससे संपूर्ण राज्यशासन नहीं चल सकता; अतः आमदनी के विषयका अर्थ ही यहां लेना योग्य है।

उक्त प्रकारकी रीतिसे दो प्रकारके व्यवहारोंसे होनेवाली प्राप्ति का सोलहवां भाग राजाके सभासद राज्यशासन चलानेके लिये प्रजासे कर रूपमें लेते हैं, यह प्रथम मंत्रार्थका कथन है। यहां राजाका भी लक्षण देखना चाहिये —

राजा कैसा हो।

इस सूक्तमें राजाका नाम "यम" आगया है। यम का अर्थ "स्वाधीन रखनेवाला, नियमसे चलनेवाला, धर्मका पालन करनेवाला" है। "यम-धर्म" इस शब्दसे भी यम से धर्मका संबंध स्पष्ट होता है। राज्य चलानेके जो धर्म नियम होते हैं उनके अनुसार राज्यशासन करनेवाला राजा यहां इस शब्दसे बोधित होता है। इससे स्पष्ट है कि यहां का राजा मनमानी बातें करनेवाला नहीं है, प्रत्युत राजधर्मके नियमोंके अनुसार तथा जनताके प्रतिनिधियोंकी संमतिके अनुसार राज्य चलानेवाला है। यह राजा राजसभाके सदस्योंके मतसे और धर्मनियमोंसे बद्ध है, स्वेच्छाचारी नहीं है। वस्तुतः इसके राज्यमें —

अमी सभासदः राजानः। (मं० १)

"राजसभाके ये सभासद ही राज्यशासन करनेवाले राजा हैं।" राजा तो नाम मात्र अधिकारी रहकर, उन सभासदोंकी संमतिसे जो नीति निश्चित होती है, उसके अनुसार राज्य शासन चलाता रहता है। वेदकी यह नियमबद्ध राजसत्ता यहां देखने योग्य है। इस राजाकी राजसभाके सदस्य प्रजाकी आमदनीका सोलहवां भाग राज्य शासनके व्यय के लिये प्रजासे करके रूप में लेते हैं॥ इसका उपयोग कैसा किया जाता है, यह अब देखिये। यह प्रजासे प्राप्त होनेवाला कर क्या क्या करता है इस विषयमें इस सूक्तका वर्णन बडा मनोरंजक है। इसका विचार करनेसे हमें पता लग सकता है कि प्रजाके दिये हुए करका राजा कैसा उपयोग करता है। देखिये—

करका उपयोग।

राजा जो कर जनतासे लेता है, उसका व्यय किन बातोंके लिये किया जावे, इसका वर्णन निम्न लिखित शब्दोंसे इस सूक्तमें किया है। "यह कर निम्न लिखित बातें करता है," ऐसा वर्णन इस सूक्तमें आया है, इस सूक्तका कथन है कि प्रजाद्वारा दिया हुआ कर निम्नलिखित बातें करता है—

(१) अविः= (अवति इति अविः)=रक्षा करता है, जनताकी अथवा राष्ट्रकी रक्षा करता है। प्रजासे लिया हुआ करही प्रजाकी रक्षा करता है। (मं० १, ३—५)

(२) स्वधा= (स्वस्य धारणा)=अपनी अर्थात् प्रजाकी धारणा करता है। राष्ट्रकी धारणा शक्ति करसे बढती है। कर लेकर राजा ऐसे प्रबंध करता है कि जिससे प्रजाकी समर्थता बढ जाती है। (मं० १)

(३) पञ्चापूपः= (पञ्च+अ+पूपः-पूयते विशीर्यते इति पूपः। न पूपः अपूपः। पञ्चानां अपूपः पञ्चापूपः)-जो अलग अलग होता है अर्थात् जिसके भाग बिखरे पडते हैं उसका नाम 'पूप' है। तथा जिसके भाग संघटित एक दूसरेके साथ अच्छी प्रकार मिले जुले होते हैं उसको 'अ-पूप' कहते हैं। पञ्चजनोंको संघटित-संघटनायुक्त-करता है अर्थात् परस्पर मिलाकर रखता है, जिससे पांचों प्रकारके ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र निषादोंका अभेद्य संघ होता है उसका यह नाम है। राजा प्रजासे कर लेता है और प्रजाकी संघशक्ति बढाता है। (मं० ४, ५)

(४) भवन्- होना, अस्तित्व रखना। प्रजासे कर ले कर राजा ऐसे कार्योंमें विनियोग करता है कि जिनसे प्रजाका अस्तित्व चिरकाल रहता है। (मं. २)

(५) आभवन्=धन ऐश्वर्य संपन्न होना। राजा करका ऐसा उपयोग करता है कि जिससे प्रजा प्रतिदिन अधिकाधिक संपत्तिमान होती जाय। (मं. २)

(६) प्रभवन्=प्रभाव शाली। प्रजासे कर प्राप्त करके राजा उसका विनियोग ऐसे कार्योंमें करता है कि प्रजा प्रतिदिन प्रभावशालिनी बनती जावे। सत्ववान, पराक्रमी और प्रभावशाली प्रजा बने। (मं० २)

(७) आकूतिप्रः= (आकूतिः) संकल्पोंको (प्र) पूर्ण करनेवाला कर है। अर्थात् प्रजासे कर लेकर राजा ऐसे कार्य करता है कि जिनसे प्रजाके मनकी श्रेष्ठ कामनाएं परिपूर्ण होती हैं और प्रजाकी अखंडित उन्नति होती रहती है। (मं. २)

(८) सर्वान् कामान् पूरयाति=प्रजाकी संपूर्ण उन्नतिकी कामनाएं सफल और सुफल होती हैं। किसीप्रकार भी प्रजाकी श्रेष्ठ आकांक्षाएं निष्फल नहीं होती। कर लेकर राजा ऐसा प्रबंध करता है कि प्रजाकी श्रेष्ठ कामनाएं पूर्ण रीतिसे सिद्धिको प्राप्त हों। (मं० २)

(९) यो... ददाति स नाकं अभ्येति=जो (कर) देता है वह (न+अ+कं) सुखपूर्ण स्थानको प्राप्त करता है अर्थात् राजाको कर देनेवाले लोक अपने देशमें सुखी रहते हैं। प्रजासे कर लेकर राजा ऐसे उत्तम प्रबंधसे राज्य चलाता है, कि सब प्रजा सुखी होती है। (मं० ३)

(१०) प्रदाता पितॄणां लोके अक्षितं उपजीवति=कर देनेवाले लोग संरक्षकों

द्वारा सुरक्षित हुए प्रदेशमें चिरकाल आनंदसे रहते हैं। राजा प्रजासे कर लेवे और उनको अत्यंत सुरक्षित रखे, सुराज्य प्रबंधसे लोग सुरक्षित होकर आनंदसे रहें। (मं० ४)

(११) प्रदाता सूर्या-मासयोः अक्षितं उपजीवति=कर देनेवाले लोग जैसे (सूर्य) दिनमें वैसे (मास=चंद्रमाः) रात्रीके समय भी सुरक्षित होकर आनंदसे रहते हैं। कर लेकर राजा राज्य शासनका ऐसा योग्य प्रबंध करे कि जिससे प्रजा दिनके समय भी सुरक्षित होवे और रात्रीके समयमें भी सुरक्षित होवे। (मं० ५)

(१२) इरा इव न उपदस्यति = कर देनेवाली प्रजा पृथ्वीके समान ध्रुव रहती है अर्थात् उस प्रजाका नाश कोई नहीं कर सकता। (मं० ६)

(१३) महत् पयः समुद्र इव न उपदस्यति=कर देनेवाली प्रजा बडे जलसे भरे गहरे महासागरके समान सदा गंभीर और प्रशांत रहती है। छोटे जलाशयके समान शुष्क होकर नाशको नहीं प्राप्त होती। (मं० ६)

(१४) सवासिनौ देवौ इव न उपदस्यति-साथ साथ रहनेवाले दो देव, श्वास और उच्छ्वासके समान यह कर सब प्रजाकी रक्षा करता है अर्थात् जिस प्रकार प्राणके व्यापारसे सब शरीर सुरक्षित रहता है उसी प्रकार प्रजासे मिलनेवाला कर राष्ट्रको सुरक्षित रख सकता है। (मं० ६)

(१५) तस्मात् प्रमुञ्चति-उस महाभयसे मुक्त करता है। यह दिया हुआ कर प्रजाको महाभयसे बचाता है। (मं० १)

(१६) शिति-पात्- (शीयते इति शितिः हिंसनं, शितिं पातयति) ' शिति ' का अर्थ है नाश, उस नाशका पतन जो करता है अर्थात् नाशसे जो बचाता है, उसको ' शिति पात् ' कहते हैं। यह कर प्रजाका विनाशसे बचाव करता है। (मं० १-३)

(१७) अबलेन बलीयसे शुल्कः न क्रियते-निर्बल मनुष्य अपनी निर्बलताके कारण प्रबलको धन नहीं देता। अर्थात् यह कर निर्बल मनुष्योंका बलवानोंके अत्याचारसे पूर्ण बचाव कर सकता है। (मं० ३)।

प्रजासे कर लेकर राजाको इतनी बातें करना चाहिये। यहां ऊपर दिये हुए ये सतरह वाक्य इस सूक्तमें विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इनका विचार इसी दृष्टिसे पाठक अधिक करें और राज्यशासनके संबंधमें योग्य बोध जान लें। साधारण सूचना

करनेके लिये पूर्वोक्त वाक्योंसे प्राप्त होनेवाला बोध पुनः संक्षेपसे यहां देते हैं—

(१) राजा अपनी प्रजासे कर लेवे और उसका उपयोग प्रजाकी योग्य प्रकारकी रक्षा करनेमें, (२) प्रजाकी सब प्रकारकी धारणाशक्ति और समर्थता बढानेमें, (३) ज्ञानी, शूर, व्योपारी, कारीगर और अन्य लोगोंकी संघशक्ति बढानेमें, इन सबको संघटित करनेमें, (४) इनका राष्ट्रीय और जातीय अस्तित्व सुरक्षित रखनेमें, (५) प्रजाको ऐश्वर्यसंपन्न करनेके कार्योंमें, (६) प्रजाजनोंको प्रभावशाली बनानेमें, (७) संपूर्ण राष्ट्रके सब लोगोंकी सब श्रेष्ठ आकांक्षाओंकी सफलता करनेके साधन निर्माण करनेमें, (८) सब जनोंकी श्रेष्ठ कामनाओंकी तृप्ति करनेके साधन संग्रहित करनेमें, (९) राष्ट्रके दुःख दूर करनेमें, (१०) राष्ट्रकी रक्षा करनेके लिये संरक्षकगण नियुक्त करनेमें, (११) जैसे दिनमें वैसे रात्रीमें भी निर्भय होकर लोग सर्वत्र संचार कर सकें ऐसी निर्भयता संपूर्ण राष्ट्रमें सदा स्थिर रखनेके कार्यमें, (१२-१४) जनताको भूमिके समान ध्रुव, जलनिधि समुद्रके समान गंभीर और प्राणोंके समान जीवन युक्त करनेके कार्योंमें, (१५-१६) भय और विनाशसे प्रजाको बचानेके प्रयत्नोंमें, तथा (१७) बलवान मनुष्य निर्बलोंके ऊपर अत्याचार न करें, ऐसा सुप्रबंध संपूर्ण राज्यभरमें करनेके कार्यमें करें।"

प्रजासे लिये हुए करका उपयोग इन कार्योंमें करना राजाका कर्तव्य है। पूर्वोक्त वाक्योंसे यही भाव प्रकट हो सकता है। पाठक विचार करके इन वाक्योंसे और इन शब्दोंसे अधिक बोध प्राप्त करें। जो राजा प्रजासे कर लेता हुआ इसका उपयोग इन कर्तव्योंसे भिन्न केवल अपनेही स्वार्थसाधनके कार्योंमें करेगा वह राज्य चलानेके लिये अयोग्य होगा। यह इस सूक्तद्वारा वेदकी घोषणा समझना चाहिये।

स्वर्ग सदृश राज्य।

जिस राज्यमें राजा प्रजासे कर लेकर पूर्वोक्त रीतिसे प्रजाकी उत्तम रक्षा करता है, वह स्वर्गके सदृश ही राज्य है और जहां करसे प्राप्त हुए धनका उपयोग प्रजाके बंधन बढानेमें होता है, वह नरकके सदृश राज्य है। स्वर्गराज्यके लक्षण इसी सूक्तमें कहे हैं, उनको अब यहां देखिये—

१ स नार्कं अभ्येति

२ यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे। (मं० ३)

"(१) कर देनेवाले मनुष्य स्वर्गधाममें पंहुचते हैं;(२)जहां निर्बल मनुष्यको बलवान मनुष्यके लिये धन देना नहीं पडता।" यह स्वर्ग सदृश राज्यका लक्षण है। जहां जिस राज्यमें निर्बल मनुष्यको केवल निर्बल होनेके कारण ही बलवान मनुष्यके सामने सिर झुकाते हुए अपने पासका धन उपहारके रूपमें देना नहीं पडता, वह स्वर्गधाम है। और जिस राज्यमें बलवान मनुष्य निर्बलोंपर जो चाहे सो अत्याचार करते हैं और इन अत्याचारोंके कारण कोई उनको पूंछता तक नहीं और जहां निर्बल मनुष्य केवल बलहीन होनेके कारणही पीसे जाते हैं, वह नरक है। "नर-क" का अर्थ "हीन मनुष्य, छोटा मनुष्य, नीचली श्रेणीका मनुष्य" है। जिस राज्यमें हीन भावना वाले मनुष्य होते हैं वह नरकराज्य है और जहां श्रेष्ठ भावनावाले मनुष्य होते हैं उसको स्वर्गराज्य कहते हैं।

ब्राह्मणोंका ज्ञानका बल, क्षत्रियोंका अधिकारका बल, वैश्योंका धनका बल, शूद्रोंका कारीगरीका बल, और निषादोंका केवल शारीरिक बल होता है। ये लोग यदि स्वार्थी हुए तो इन बलोंसे मदोन्मत्त होकर अन्योंपर अत्याचार करते हैं। ऐसा अत्याचार कोई किसीपर न करे और सबको धर्मके आश्रयसे मनुष्यत्व विषयक समानताका दर्जा हो, ऐसा राज्य व्यवस्थाका प्रबंध रखना राजाका परम कर्तव्य है। जहां ऐसा उत्तम प्रबंध होता है और जिस राज्यमें शासनव्यवस्थाके आश्रयसे निर्बल मनुष्यभी बलवान मनुष्यके अत्याचारके सामने अपनी रक्षाके लिये खडा रह सकता है, और केवल निर्बलताके कारण पीसा नहीं जाता, वही राज्यशासन पद्धति वेदकी दृष्टिसे अत्यंत उत्तम है। वही "वैदिक राज्य" है।

कामना का प्रभाव।

पूर्वोक्त प्रकार राज्यव्यवस्था करना या अन्यान्य वैदिक आज्ञाओंके अनुसार मनुष्योंका सुधार करनेके यत्न करना या न करना, यह सब मनुष्यकी कामना इच्छा-संकल्प-आकांक्षा आदिके खेल हैं। मनुष्यमें जो इच्छा होती है वैसा मनुष्य चलता है और वैसा ही मनुष्य व्यवहार करता है। यह बतानेके लिये ७ वें और ८ वें मंत्रका उपदेश है। इसका पहलाही प्रश्नोत्तर देखिये—

प्रश्न— इदं कः कस्मै अदात् ? = यह कौन किसको देता है ?

उत्तर—कामः कामाय अदात् = काम ही कामके लिये देता है।

कामः दाता, कामः प्रतिग्रहीता = कामही देने और लेनेवाला है।

ये मंत्रभाग बडे महत्त्वपूर्ण उपदेशको देनेवाले हैं। मनुष्यके मनके अंदर जो इच्छा

है, जो महत्वाकांक्षा है, जो कामना है वही मनुष्यको दाता बनाती है और उसीसे दूसरा मनुष्य दान लेनेवाला बनता है। राजा राज्य करता है, सैनिक युद्ध करते हैं, नौकर नौकरी करते हैं, कोई किसीको कुछ देता है और दूसरा लेता है, यह सब व्यवहार मनके अंदरकी इच्छाके कारण होते हैं। मानो, यह कामही सबसे ये व्यवहार करा रहा है यहां तक की—

कामः समुद्रं आविवेश। (मं० ७)

" कामही समुद्रमें घुसा है। " अर्थात् समुद्रपर भी इसी कामकाही राज्य है। पृथ्वीको छोडकर जो मनुष्य समुद्रमें जहाजोंमें बैठकर भ्रमण करने जाते हैं वे भी कामकीही प्रेरणासे ही जाते हैं। और कोई विमान द्वारा आकाशमें उडते हैं वे भी कामकी प्रेरणासे ही उड रहे हैं। इस प्रकार इस जगत् का सब व्यवहार कामनाकी प्रेरणासे हो रहा है। " भूमि और अंतरिक्ष में भी सर्वत्र कामही काम अर्थात् कामना का राज्य है। (मं० ८) " सब इसीकी आज्ञाके अनुसार फिर रहे हैं। देखिये-

काम! एतत् ते। (मं० ७)

" हे काम! यह तेरा ही महाराज्य है " तेरा ही शासन सब पर है। कौन तेरे शासनसे बाहर है। कामका स्वीकार करने वाले कामी लोग जैसे अपने मनकी कामनासे प्रेरित होते हैं, उसी प्रकार कामका त्याग करनेवाले विरक्त लोग भी उसी कामनासे ही प्रवृत्त होते हैं, तात्पर्य कामका सर्वतोपरी शासन है।

काम की मर्यादा।

कामना बुरी है ऐसा कहते हैं। यदि काम उक्त प्रकार सब पर शासनाधिकार चलाता है और भोगी और त्यागी दोनों उसीके आधीन रहते हैं तो फिर कामका संयम कैसे हो सकता है? इस प्रश्नका उत्तर अष्टम मंत्रके उत्तरार्धने दिया है। इस मंत्र भागमें कहां तकके कामका स्वीकार करना और कहांसे आगेके कामको त्यागना इस महत्त्वपूर्ण विषयका विवेचन किया है। वह विषय अब देखिये—

प्रतिगृह्य अहं आत्मना मा विराधिषि,
अहं प्राणेन मा विराधिषि,
अहं प्रजया मा विराधिषि। (मं० ८)

"काम! तेरा स्वीकार करके, मैं अपनी आत्मशक्तिको न खो बैठूं, मैं अपनी प्राणशक्तिको न क्षीण करूं, और मैं अपने प्रजननको भी न हीन बनादूं। " यहां तक जितना काम स्वीकारा जा सकता है, उतना मनुष्यके लिये लाभदायी हो सकता है।

काम विषयका अत्याचार हरएक इंद्रियके कार्य क्षेत्रमें हो सकता है, परंतु इसका विशेष कार्यक्षेत्र जननेन्द्रियके साथ संबंध रखता है। इस इंद्रियसे विशेष अत्याचार करनेसे आत्माका बल कम होता है, जीवनकी मर्यादा तथा प्राणकी शक्ति क्षीण होती है और सन्तान उत्पन्न करनेकी शक्ति भी न्यून होती है और ऐसे कामी पुरुषको जो भी सन्तान उत्पन्न होते हैं वे भी क्षीण, बलहीन और दीन होते हैं। इस प्रकारका घात-पात न हो इस लिये कामका संयम करना आवश्यक है। संयम की मर्यादा यह है कि " उस मर्यादा तक काम का उपभोग लिया जावे कि जहां तक लेनेसे अपनी आत्माकी शक्ति, प्राणकी शक्ति और प्रजनन शक्ति क्षीण न हो सके, इससे अधिक कामका भोग करनेसे हानि है। "

इस मंत्रमें सभी इंद्रियोंके संबंधमें कामका उपभोग लेनेकी मर्यादा कही है, यद्यपि ऊपर के उदाहरणमें हमने एक इंद्रियको लक्ष्य करके लिखा है, तथापि पाठक उसी मर्यादाको संपूर्ण इंद्रियोंके कार्यक्षेत्रमें घटाकर योग्य बोध प्राप्त करें।

काम का यह साम्राज्य संपूर्ण जगत्में है। विशेषकर मानवी प्राणियोंमें हमें विचार करना है। इस राज्यव्यवस्थाका उपदेश देने वाले इस सूक्तमें इस काम विषयके ये मंत्र रखे हैं और कामकी धर्ममर्यादा और अधर्ममर्यादा भी बता दी है; इसका हेतु यह है कि राजा अपने राज्यमें ऐसा राज्यप्रबंध करें कि जिससे प्रजाजन काम विषयक धर्ममर्यादा का उल्लंघन न करें और अपने आत्मा, प्राण और प्रजननकी शक्तिसे युक्त हों और सब उत्तम शांतिसे स्वर्गतुल्य राज्यका आनंद प्राप्त करें। प्रजासे लिये हुए कर का इस व्यवस्थाके लिये व्यय करना राजाका आवश्यक कर्तव्य है। करसे ये कार्य होते हैं और प्रजा सुखी होती है, इसी लिये (लोकेन संमितं। मं० ४, ५) 'प्रजाद्वारा स्वीकृत और संमानित कर ' ऐसा इसका विशेषण दिया है।

जहां प्रजासे प्राप्त करका इन कार्योंके लिये उपयोग होता है, वहां की प्रजा सुखी और अभ्युदय तथा निःश्रेयस को प्राप्त करने वाली होती है। वैदिकधर्मी ऐसा प्रबंध करें कि जिससे अपने देशमें, तथा अन्यान्य देशोंमें, इसी प्रकारके वैदिक आदर्शसे चलनेवाले और चलाये जानेवाले राज्य हों और कोई राष्ट्र स्वराज्य के वैदिक आदर्शसे दूर न रहे।

एकता।

[३०]

(ऋषिः— अथर्वा। देवता-चन्द्रमाः)

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ १ ॥
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥ २ ॥

अर्थ— (स-हृदयं) सहृदयता अर्थात् प्रेमपूर्ण हृदय, (सां-मनस्यं) सांमनस्य अर्थात् मन शुभ विचारोंसे पूर्ण होना और (अ-विद्वेषं) परस्पर निर्वैरता (वः कृणोमि) तुम्हारे लिये मैं करता हूं। तुम्हारे में से (अन्यः अन्यं अभि हर्यत) हरएक परस्परके ऊपर प्रीति करे (अघ्न्या जातं वत्सं इव) जैसे गौ उत्पन्न हुए बछडेको प्यार करती है ॥ १ ॥

(पुत्रः पितुः अनुव्रतः) पुत्र पिताके अनुकूल कर्म करनेवाला और (मात्रा संमनाः भवतु) माताके साथ उत्तम मनसे रहनेवाला होवे। (जाया पत्ये) पत्नी पतिसे (मधुमतीं शन्तिवां वाचं वदतु) मधुर और शांतिसे युक्त भाषण करे ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रेमपूर्ण हृदयके भाव, मनके शुभ विचार और आपसकी निर्वैरता आप अपने घरमें स्थिर कीजिये। तुम्हारे में से हरएक मनुष्य दूसरे मनुष्यके साथ ऐसा प्रेमपूर्ण बर्ताव करे कि जिस प्रकार नये उत्पन्न हुए बछडेसे उसकी गौ माता प्यार करती है ॥ १ ॥

पुत्र पिताके अनुकूल कर्म करे, और माताके साथ मनके शुभ भावसे व्यवहार करे। पत्नी पतिके साथ सदा मधुर भाषण करती रहे ॥ २ ॥

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा। सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ ३
येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः। तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥४॥
ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि ॥ ५ ॥

अर्थ— (भ्राता भ्रातरं मा द्विक्षत) भाई भाईसे द्वेष न करे, (उत स्वसा स्वसारं मा) और बहिन बहिनसे द्वेष न करे। (सम्यञ्चः सव्रताः भूत्वा) एक मतवाले और एक कर्म करनेवाले होकर (भद्रया वाचं वदत) उत्तम रीतिसे भाषण करो ॥ ३ ॥

(येन देवाः न वियन्ति) जिससे व्यवहार चलानेवालोंमें विरोध नहीं होता है, (च नो मिथः विद्विषते) और न कभी परस्पर द्वेष बढता है, (तत् संज्ञानं ब्रह्म) वह एकता बढानेवाला परम उत्तम ज्ञान (वः गृहे पुरुषेभ्यः कृण्मः) तुम्हारे घरके मनुष्योंके लिये हम करते हैं ॥ ४ ॥

(ज्यायस्वन्तः) वृद्धोंका सन्मान करनेवाले, (चित्तिनः) उत्तम चित्तवाले, (संराधयन्तः) उत्तम सिद्धितक प्रयत्न करनेवाले, (स-धुराः चरन्तः) एक धुराके नीचे कार्य करनेवाले और आगे बढनेवाले होकर (मा वि यौष्ट) तुम मत् अलग होओ, मत विरोध करो। (अन्यः अन्यस्मै वल्गु वदन्तः एत) एक दूसरेसे प्रेम पूर्वक भाषण करते हुए आगे बढो। (वः सध्रीचीनान्) तुमको साथ पुरुषार्थ करनेवाले और (संमनसः कृणोमि) उत्तम एक विचारसे युक्त मनवाले करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ— भाई भाईसे द्वेष न करे, बहिन बहिनके साथ न लडे। एक मतसे एक कर्म करनेवाले होकर परस्पर निष्कपटतासे भाषण करो ॥ ३ ॥

जिससे कार्य व्यवहार चलानेवालोंमें कभी विरोध नहीं हो सकता और कभी आपसमें लडाई झगडा नहीं हो सकता, वैसा उत्तम ज्ञान तुम अपने घरोंमें बढाओ ॥ ४ ॥

वृद्धोंका संमान करो, चित्तमें शुभ सङ्कल्प धारण करो, उत्तम सिद्धितक प्रयत्न करो, आगे बढ कर अपने सिरपर कार्यका भार लो और आपसमें विद्वेष न बढाओ। परस्पर प्रेमपूर्वक भाषण करो, मिलजुल कर पुरुषार्थ करनेवाले बनो। इसी लिये तुम्हें उत्तम मन से युक्त बनाया है ॥ ५ ॥

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ ६ ॥
सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान् ।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥ ७ ॥

अर्थ— (प्रपा समानी) तुम्हारा जल पीनेका स्थान एक हो, और (वः अन्नभागः सह) तुम्हारा अन्नका भाग भी साथ साथ हो। (समाने योक्त्रे वः सह युनज्मि) एकही जोतमें तुमको साथ साथ मैं जोडता हूं। (सम्यञ्चः अग्निं सपर्यत) मिलजुलकर ईश्वरकी पूजा करो, (अभितः नाभिं अराः इव) चारों ओरसे नाभीमें जैसे चक्रके आरे जुडे होते हैं॥ ६ ॥

(संवननेन वः सर्वान्) परस्पर सेवा करनेके भावसे तुम सबको (सध्रीचीनान् संमनसः एकश्नुष्टीन् कृणोमि) साथ मिलकर पुरुषार्थ करनेवाले, उत्तम मनवाले और समान नेताकी आज्ञामें कार्य करनेवाले बनाता हूं। (अमृतं रक्षमाणाः देवाः इव) अमृतकी रक्षा करनेवाले देवोंके समान (सायं प्रातः वः सौमनसः अस्तु) सायं काल और प्रातः काल तुम्हारे प्रसन्न चित्त रहें ॥ ७ ॥

भावार्थ— तुम्हारा जल पीनेका स्थान सबके लिये समान हो, अन्नका भोग भी सबके लिये एक हो, समान कार्यकी एक धुराके नीचे रह कर कार्य करने वाले तुम हो, उपासना भी सब मिलजुलकर एक स्थानमें करो, जैसे चक्रके आरे नाभिमें जुडे होते हैं, वैसे ही तुम अपने समाजमें एक दूसरेके साथ मिले रहो ॥ ६ ॥

परस्परकी सहायता करनेके लिये परस्परकी सेवा करो, उत्तम ज्ञान प्राप्त करो, मन के भाव शुद्ध करके एक विचारसे एक कार्यमें दत्त चित्त हो, सबके लिये समान अन्नादि भोग मिलें। जिस प्रकार देव अमृतकी रक्षा करते हैं, इसी प्रकार सायं प्रातः तुम अपने मनके शुभसङ्कल्पोंकी रक्षा करो ॥ ७ ॥

संज्ञानसे एकता ।

इस सूक्तमें "संज्ञान" प्राप्त करके आपसकी एकता करनेका उपदेश है । मनुष्य प्राणी संघ बनाकर रहनेवाला होनेके कारण उसको आपसकी एकता रखना अत्यंत आवश्यक है । जातीय एकता न रही, तो मनुष्यका नाश होगा । जो जाती अपने अंदर संघशक्ति बढाती है वही इस जगत् में विजयी हो रही है, तथा जिस जातीमें आपसकी फूट अधिक होती है, वह पराजित होती रहती है । अतः आपसमें संघशक्ति बढाकर अपनी उन्नति करना हरएक जातीके लिये अत्यंत आवश्यक है । संघशक्ति बढानेके जो उपाय इस सूक्तमें वर्णन किये हैं, वे अब देखिये—

अंदरका सुधार ।

सबसे प्रथम व्यक्तिके अंदरका सुधार होना चाहिये । वैदिक धर्ममें यदि कोई विशेष महत्व पूर्ण बात कही होगी तो यही कही है कि संपूर्ण सुधार का प्रारंभ मनुष्यके हृदयके सुधारसे होना चाहिये । हृदय सुधर जानेपर अन्य सब सुधार मनुष्यको लाभ पहुंचा सकते हैं, परंतु हृदयमें दोष रहे तो बाह्य सुधारसे कुछ भी लाभ नहीं हो सकता । इस लिये इस सूक्तमें हृदयके सुधार करनेकी सूचना सबसे प्रथम कही है—

१ **सहृदयं**- (स-हृदयं)-हृदयके भाव की समानता। अर्थात् दूसरेके दुःखसे दुःखी और दूसरेके सुखसे सुखी होना । (मं० १)

जिनके हृदय ऐसे होते हैं वे ही जनतामें एकता करने और एकता बढानेके कार्य करनेके अधिकारी होते हैं । जो दूसरेको दुखी देखकर दुखी नहीं होता वह जनताको किसी प्रकार भी उठा नहीं सकता । हृदयका सुधार सबसे मुख्य है । इसके बाद वेद कहता है—

२ **सांमनस्यं**—(सं-मनः)-मनका उत्तम शुभ संस्कारोंसे पूर्ण होना । मन शुद्ध और पवित्र भावनाओं और श्रेष्ठ विचारोंसे युक्त होना । (मं. १)

मनके आधीन संपूर्ण इंद्रियां होती हैं । इसलिये जैसे मनके विचार होते हैं वैसी ही अन्य सब इंद्रियोंकी प्रवृत्ति होती है । इसलिये अन्य इंद्रियोंसे उत्तम प्रशस्ततम कार्य होनेके लिये मनके शुभ संकल्पमय होनेकी अत्यंत आवश्यकता है । पूर्वोक्त प्रकार सहृदयता और सांमनस्यता सिद्ध होनेके पश्चात् मनुष्यका बाह्य व्यवहार कैसा होना चाहिये यह भी इसी मंत्रने तीसरे शब्द द्वारा कहा है—

बाहरका सुधार।

३ अ- विद्वेषं= द्वेष न करना। एक दूसरेके साथ परस्पर द्वेष न करना। आपसमें झगडा न करना। (मं० १)

यह शब्द बाह्य व्यवहारका सुधार करनेकी सूचना देता है। मनुष्यका व्यवहार कैसा हो? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि " मनुष्यका व्यवहार ऐसा हो कि जिसमें कोई किसीका द्वेष न करे। " यह मनुष्यके व्यवहारका आदर्श है। द्वेष न हो। झगडा न हो। दो मनुष्य इकट्ठे आगये तो किसी न किसी की निन्दा करनेकी बात शुरू होती है, नीच मनुष्योंका यह स्वभाव ही बना है। परंतु सज्जनोंको ऐसा करना योग्य नहीं है। वे अपना आचरण निर्वैरताके भावसे परिपूर्ण रखें।

निर्वैरता का व्यवहार करनेका तात्पर्य क्या है? दो पत्थर या दो वृक्ष साथ रहते हैं और निर्वैरता के साथ रहते हैं। क्या इस प्रकारकी जड निर्वैरता वहां अभीष्ट है? नहीं नहीं, यहां का ' अ-विद्वेष ' शब्द परस्परके प्रेम पूर्ण व्यवहारका सूचक है। सबसे प्रथम सहृदयता और सांमनस्यता कही है, इनसे क्रमशः हृदय और मन की शुद्धि हुई। ये परिशुद्ध हृदय और मन जो अविद्वेषका व्यवहार करेंगे वह दो पत्थरोंके आपसके व्यवहार जैसा जड नहीं हो सकता। इस अविद्वेषके व्यवहारका उदाहरणही इस प्रथम मंत्रके उत्तरार्धमें दिया है—

अन्यो अन्यमभि हर्यत, वत्सं जातमिवाघ्न्या। (मं० १)

' एक दूसरेके साथ ऐसा प्रेम कर कि जैसा गौ अपने नये जन्मे बछडेके साथ प्रेम करती है। ' निर्वैरताका यह उदाहरण है। अहिंसाके व्यवहारका दृश्य रूप गौ माताका अपने नवजात बछडेसे व्यवहार है। गौका प्रेम अपने बछडेसे जैसा होता है वैसा अन्योंसे तुम प्रेम करो। ' अ-विद्वेष ' का अर्थ केवल " वैरका अभाव " नहीं है, केवल निषेध करनेसे किसीका बोध नहीं होता है। वैर न करना, हिंसा न करना यह तो उत्तम है परंतु इसका विधायक स्वरूप है " प्रेम करना "। अर्थात् अविद्वेष का अर्थ है दूसरे पर प्रेम करना। पहिले मंत्र में जो तीन शब्दों द्वारा मानवी धर्मका उपदेश किया उसका ही उदाहरण उत्तर मंत्र भागमें गौके उदाहरणसे दिया और दिखलाया कि दूसरोंके साथ प्रेमका व्यवहर करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे जातीय एकता सिद्ध होगी। इस उपदेशका आचरण करनेका क्रम अगले मंत्रोंमें कहा है, सब से प्रथम घरमें इस उपदेशके अनुसार व्यवहार करने की रीति अगले तीन मंत्रोंमें कही है, वह गृहस्थियोंको अवश्य मनन करना चाहिये।

"(१) पुत्र पिताके अनुकूल कर्म करे, और माताके साथ उत्तम भावनाओंसे व्यवहार करे। धर्मपत्नी पतिके साथ मीठा और शांतिसे युक्त भाषण करे ॥२॥ भाई भाईसे द्वेष न करे और बहिन बहिनके साथ झगडा न करे, सब मिल कर आपसमें मधुर भाषण करते हुए अपने कल्याणके लिये एक कार्यमें दत्तचित्त हो जाओ ॥ ३ ॥ जिससे विरोध और विद्वेष नहीं होता है ऐसा संज्ञान तुम्हारे घरके लोगोंके लिये मैं देता हूं ॥ ४ ॥

आदर्श कुटुंबका वर्णन कर रहे हैं। जो कुटुंब ऐसा होगा वह निःसंदेह आदर्श रूपही होगा। पाठक इन मंत्रोंके उपदेशको अपने परिवारमें ढालनेका यत्न करें।

इन मंत्रोंका अर्थ करनेके समय ये सामान्य निर्देश हैं यह बात भूलना नहीं चाहिये। अर्थात् "पुत्र पिताके अनुकूल कार्य करे" इस वाक्यका अर्थ 'कन्या भी मातापिताके अनुकूल कर्म करे' ऐसा है। तथा "भाई भाईसे द्वेष न करे" इसका अर्थ 'भाई बहिनसे और बहिन भाईसे द्वेष न करे' ऐसा है। 'पत्नी पतिसे मीठा भाषण करे' इसमें 'पति भी पत्नीसे मीठा भाषण करे' यह अर्थ है और (वः गृहे पुरुषेभ्यः संज्ञानं ब्रह्म कृण्मः। मं० ४) "तुम्हारे घरके पुरुषोंको यह संज्ञान ब्रह्म देते हैं," इस का अर्थ 'तुम्हारे घरके स्त्रियोंको भी यह संज्ञान देते हैं' ऐसा है। इसको सामान्य निर्देश कहते हैं। यदि पाठक इन निर्देशोंकी यह सामान्यता न देखेंगे, तो अर्थका अनर्थ हो जायगा। इसलिये कृपया पाठक इसका अवश्य अनुसंधान करके बोध प्राप्त करें।

संघमें कर्म।

पञ्चम मंत्रमें जातीके लोगोंके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, इस विषयका उत्तम उपदेश है, इसका सारांश यह है—

१ ज्यायस्वन्तः=बडोंका सन्मान करनेवाले बनो। वृद्धोंका सन्मान करो। (मं. ५)

२ मा वि यौष्ट=विभक्त मत बनो। अपनेमें विभेद न बढाओ। (मं० ५)

३ सधुराः चरन्तः= एक धुराके नीचे रहकर आगे बढो। यहां धुरा का अर्थ धुरीण, नेता, समझना योग्य है। अपने नेताके शासनमें रहकर अपनी उन्नतिके मार्गपर से कटिबद्ध होकर चलो। (मं० ५)

अपने नेताकी आज्ञामें रहकर उन्नतिका साधन करनेवाले ही अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त कर सकते हैं।

४ सध्रीचीनाः=एकही कर्मके लिये मिलकर पुरुषार्थ करनेवाले बनो। अर्थात् जो करना हो वह तुम सब मिलकर करते रहो। (मं० ५)

५ संराधयन्तः = मिलकर सिद्धिके लिये यत्न करनेवाले बनो। (मं० ५)

६ अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत = परस्पर प्रेम पूर्वक शुभ भाषण करते हुए आगे बढो। (मं० ६)

जब कभी दूसरेसे भाषण करना हो तो प्रेम पूर्वक तोलकर मीठा भाषण करो, जिससे आपसमें फिसाद न बढे और आपसकी फूट बढकर अपनी शक्ति क्षीण न हो।

इस मंत्रके "चित्तिनः और संमनसः" ये शब्द वही भाव बताते हैं कि जो प्रथम मंत्रके "सांमनस्य" शब्दने बताया है। उत्तम चित्तवाले और शुभ मनवाले बनो यही इसका आशय है।

वृद्धोंका सन्मान करना और पुरुषार्थ साधक कर्ममें दत्तचित्त होना ये दो उपदेश यहां मुख्यतः हैं। पाठक विचार करके जान सकते हैं कि मनुष्यकी परीक्षा कर्मसे ही होती है। इसलिये इस मंत्रमें अनेक शब्दों द्वारा कहा कि किसी एक कर्ममें अपने आपको समर्पित करो और वहां यदि अन्य मनुष्योंका संबंध हो तो उनके साथ अविरोधसे कर्म करो। इस कर्मसे ही मनुष्य श्रेष्ठ है वा कनिष्ठ है, इसका निश्चय हो सकता है।

खानपानका प्रश्न।

जब संघ में रहना और कर्म करना होता है तब ही खानपान का प्रश्न आता है। घरमें तो सबका एकही खानपान होता है, क्योंकि माता पिता भाई बाल बच्चे प्रायः एकही भोजन करते और एकही पानी पीते हैं। जो खानपानका प्रश्न उत्पन्न होता है वह जातीय संघट्टना के समय ही उत्पन्न होता है, इस विषयमें षष्ठ मंत्रने उत्तम नियम बताया है-

" तुम्हारा जलपान का स्थान एक हो और अन्न भाग भी एक हो, तुम सबको मैं एक धुराके नीचे रखता हूं। तुम मिलकर एक ईश्वरकी उपासना करो।" (मं० ६)

इस मंत्रमें सबका खान पान और उपासना एक हो इस विषयका उपदेश स्पष्ट शब्दोंसे कहा है। जातीय और राष्ट्रीय कार्य करनेवाले इस उपदेशका अधिक मनन करें। मंत्र कहता है, कि ' जाती चक्रके समान है, ' जिस प्रकार चक्रके आरे चारों ओर से नाभी में अच्छी प्रकार जुडे होते हैं, उसी प्रकार चारों वर्ण राष्ट्रकी नाभीमें जुडे हैं। यदि वे अपने स्थानसे थोडे भी अलग हो जांयगे तो चक्र का नाश होगा। जनता में सब लोगोंकी एकता ऐसी होनी चाहिये जिस प्रकार चक्रमें लकडियां एकत्र हुई होती हैं।

सेवाभावसे उन्नति।

सप्तम मंत्रमें " सं-वनन " शब्द है। इसका अर्थ " उत्तम प्रकार की प्रेम पूर्वक सहायता करना " है। ' वन् ' धातुका अर्थ 'प्रेम पूर्वक दूसरेकी सहायता करना' है। ' सं+वन् ' का भी यही अर्थ है। इससे संवनन का अर्थ स्पष्ट होगा। प्रेम पूर्वक दूसरोंकी सहायता करना ही सेवा—समिती का कार्य होता है। वही भाव इस शब्दमें है। अपनेको कुछ पारितोषिक प्राप्त हो ऐसी इच्छा न करते हुए जनताकी सेवा केवल प्रेमसे करना और यही परमेश्वरकी श्रेष्ठ भक्ति है, ऐसा भाव मनमें धारण करना श्रेष्ठ मनुष्यका लक्षण है। इस गुणसे अन्य मनुष्योंपर बडा प्रभाव पडता है और बहुत लोग अनुकूल होते हैं। इस विषयमें मंत्र कहता है-

संवननेन सर्वान् एकश्नुष्टीन् कृणोमि। (मं० ७)

" प्रेम पूर्वक सेवासे सबकी सहायता करता हुआ मैं सबको एक ध्येयके नीचे काम करनेवाले बनाता हूं।" जनताका सबसे बडा नेता वही है कि जो जनताका सबसे बडा निःस्वार्थ सेवक है। सच्चा राष्ट्रकार्य, सच्ची जनसेवा, करना ही मनुष्यका बडा भारी यज्ञकर्म है। जो जितना और जैसा करेगा वह उतना श्रेष्ठ नेता बन सकता है। निःस्वार्थसेवासे ही जनताके नेता होते हैं। परमेश्वर सबसे बडा इसी लिये है क्योंकि वह सबसे अधिक गुप्त रहता हुआ, अज्ञात रीतिसे जनताकी अधिक से अधिक सहायता करता है, वह उसका बडा भारी यज्ञ है, इसी लिये उसका अधिकसे अधिक सन्मान सब आस्तिक लोग करते हैं। यही आदर्श अपने सामने सत्पुरुष रखते हैं और जनताकी सेवा करते जाते हैं, इस कारण वे भी सन्मानके भागी होते हैं।

कर्मसे मनुष्यत्वका विकास।

वेदका सिद्धान्त है कि "क्रतुमयोऽयं पुरुषः।" अर्थात् "यह मनुष्य कर्ममय है।" इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसी उसकी स्थिति होती है। मनुष्यकी उन्नति कर्मके वशमें है इसीलिये प्रशस्ततम कर्म करना मनुष्यको आवश्यक है। ये कर्म ऐसे हों कि जिनसे एकता बढे और परस्पर विघात न हो यह उपदेश इस सूक्तके "सव्रताः, संराधयन्तः, सधुराश्चरन्तः, सध्रीचीनान्, एकश्नुष्टीन्" आदि शब्दोंद्वारा मिलता है। पाठक इस महत्त्व पूर्ण उपदेशकी ओर अवश्य ध्यान दें।

इस प्रकार इस सूक्तने अत्यंत महत्त्वका उपदेश किया है पाठक इन उपदेशोंका जितना अधिक मनन करेंगे उतना अधिक बोध प्राप्त कर सकते हैं।

पाप की निवृत्ति।

[३१]

[ऋषिः- ब्रह्मा । देवता-पाप्महा]

वि देवा जरसावृतन् वि त्वमग्ने अरात्या ।
व्य१ हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ १ ॥
व्यात्यी पवमानो वि शक्रः पापकृत्यया ।
व्य१ हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ २ ॥

अर्थ— (देवाः जरसा वि अवृतन्) देव वृद्धावस्था से दूर रहते हैं। (अग्ने ! त्वं अरात्या वि) हे अग्ने ! तू कंजूसीसे तथा शत्रुसे दूर रह। (अहं सर्वेण पाप्मना वि) मैं सब पापोंसे दूर रहूं। तथा (यक्ष्मेण वि) रोगसे भी दूर रहूं। और (आयुषा सं) दीर्घ आयुसे संयुक्त होऊं ॥ १ ॥

(पवमानः आर्त्या वि) शुद्धता करनेवाला पुरुष पीडासे दूर रहता है, (शक्रः पापकृत्यया वि) समर्थ मनुष्य पापकर्मसे दूर रहता है, उसी प्रकार सब पापोंसे और सब रोगोंसे मैं दूर रहूं और दीर्घायुसे संपन्न होऊं ॥ २ ॥

भावार्थ— देव वृद्धावस्थाको दूर करके सदा तरुण जैसे रहते हैं, अग्नि देव अदानी पुरुषोंको दूर करके दानी पुरुषोंको पास करता है। इसी प्रकार मैं सब पापोंको और रोगोंको दूर करके पुरुषार्थ से दीर्घ आयुष्य प्राप्त करूं ॥ १ ॥

अपनी शुद्धता रखनेवाला मनुष्य रोगादि पीडाओंसे दूर रहता है और पुरुषार्थी समर्थ मनुष्य पापोंसे दूर रहता है, उसी रीतिसे मैं पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायुष्य प्राप्त करूं ॥ २ ॥

वि ग्राम्याः पशव आरण्यैर्व्यापस्तृष्णयासरन् ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ३ ॥
वी३मे द्यावापृथिवी इतो वि पन्थानो दिशंदिशम् ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ४ ॥
त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्तीतीदं विश्वं भुवनं वि याति
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ५ ॥

अर्थ- जैसे (ग्राम्याः पशवः आरण्यैः वि) ग्रामके पशु जंगली पशुओंसे दूर रहते हैं, और (आपः तृष्णया वि असरन्) जल प्याससे दूर रहता है, उसी प्रकार मैं सब पापों और सब रोगोंसे दूर रह कर दीर्घायुसे युक्त होऊं ॥ ३ ॥

जिसप्रकार (इमे द्यावापृथिवी वि इतः) ये द्युलोक और पृथ्वी अलग हैं और (पन्थानः दिशं दिशं वि) ये सब मार्ग प्रत्येक दिशामें अलग अलग होकर जाते हैं, इसी प्रकार मैं सब पापोंसे और रोगोंसे दूर रहता हुआ दीर्घायुसे युक्त होऊं ॥ ४ ॥

जैसा (त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्ति) पिता अपनी कन्याको दहेज-स्त्री धन- देनेके लिये अलग करता है और जैसा (इदं विश्वं भुवनं वि याति) यह सब भुवन अलग अलग चलता है इसी प्रकार मैं सब पापोंसे और रोगोंसे दूर रहता हुआ दीर्घ आयुसे युक्त होऊं ॥ ५ ॥

भावार्थ- जैसे गौ आदि गांवके पशु सिंह व्याघ्र आदि जंगलके पशुओंसे दूर रहते हैं और जैसे जलके पास तृष्णा नहीं आती, उसी प्रकार मैं पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायुष्य प्राप्त करूं ॥ ३ ॥

जैसे आकाश भूमिसे दूर है और प्रत्येक दिशाको जानेवाला मार्ग जैसा एक दूसरेसे पृथक् होता है, ऐसेही मैं पापों और रोगोंसे दूर रह कर दीर्घायुष्य प्राप्त करूं ॥ ४ ॥

पुत्रीका पिता जैसा पुत्रीके विवाहके समय दामादको देनेके लिये दहेज अपने पाससे अलग करके दूर करता है और जिस प्रकार ये ग्रह नक्षत्रादि गोल अपनी गतिसे चलकर परस्पर अलग रहते हैं उसी प्रकार मैं पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायु प्राप्त करूंगा ॥ ५ ॥

अग्निः प्राणान्त्सं दधाति चन्द्रः प्राणेन संहितः। व्यर्१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ६
प्राणेन विश्वतोवीर्यं देवाः सूर्यं समैरयन्। व्यर्१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ७
आयुष्मतामायुष्कृतां प्राणेन जीव मा मृथाः। व्यर्१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ८
प्राणेन प्राणतां प्राणेहैव भव मा मृथाः। व्यर्१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ९

अर्थ- जिस रीतिसे (अग्निः प्राणान् सन्दधाति) जाठर अग्नि प्राणोंको धारण करता है और (चन्द्रः प्राणेन संहितः) चन्द्रमा-मन-प्राणके साथ रहता है, उसी रीतिसे मैं सब पापों और रोगोंसे बच कर दीर्घायुसे युक्त होऊं ॥ ६॥

जिस ढंगसे (देवाः विश्वतो-वीर्यं सूर्यं) देव सब सामर्थ्यसे युक्त सूर्य को (प्राणेन समैरयन्) अपने प्राणके साथ सम्बन्धित करते हैं उसी ढंग से मैं सब पापों और रोगोंसे दूर रहके दीर्घजीवनसे युक्त होऊं ॥ ७ ॥

(आयुष्मतां आयुष्कृतां प्राणेन जीव) दीर्घायुवाले और आयुष्यबढाने वाले जो होते हैं उनके प्राणके साथ जीता रह। (मा मृथाः) मत मरजा। उसी प्रकार मैं भी सब पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूं ॥ ८ ॥

(प्राणतां प्राणेन प्राण) जीवित रहने वालोंके प्राणसे जीवित रह, (इह एव भव) यहां ही प्रभावशाली हो और (मा मृथाः) मत मरजा। उसी प्रकार मैं सब पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूंगा ॥ ९ ॥

भावार्थ- जैसा शरीरमें जाठर अग्नि अन्नादिका पाचन करता हुआ प्राणोंको बलवान करता है और मन अपनी शक्तिसे प्राणके साथ रहकर शरीर चलाता है, इसी प्रकार मैं पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु प्राप्त करूं॥६॥

जैसे सबको बल देनेवाले सूर्यकोभी अन्य देव प्राणशक्तिसे युक्त करते हैं, उसी ढंगसे मैं पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूं ॥ ७ ॥

स्वभावतः दीर्घायु लोगोंकी जैसी प्राणशक्ति होती है और अनेक साधनोंसे अपनी दीर्घ आयु करनेवालोंकी जैसी प्राणशक्ति होती है, वैसी अपनी प्राणशक्ति बल युक्त करके मनुष्य जीवे और शीघ्र न मरे। मैं भी इसी रीतिसे पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूं ॥ ८ ॥

प्राणधारण करनेवालोंके अंदर जो प्राणशक्ति है उसको बलवान करके तूं यहां बढ, छोटी आयुमें ही मत मर जा। मैं भी पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूंगा ॥ ९ ॥

उदायुषा समायुषोदोषधीनां रसेन।
व्यं १ हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ १० ॥
आ पर्जन्यस्य वृष्ट्योदस्थामामृता वयम् ।
व्यं १ हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ११ ॥

अर्थ-(आयुषा उत्) आयुष्यसे उत्कर्ष प्राप्त कर, (आयुषा सं) दीर्घायुसे युक्त हो, (ओषधीनां रसेन उत्)औषधियोंके रससे उन्नति प्राप्त कर। इसी रीतिसे मैं भी सब पापों और रोगोंसे दूर होकर दीर्घायु बनूं ॥१०॥

(वयं पर्जन्यस्य वृष्ट्या) हम पर्जन्यकी वृष्टिसे (आ उत् अस्थाम) उन्नतिको प्राप्त करें और (अमृताः) अमर हो जांय। इसी लिये मैं सब पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घ आयुसे युक्त होऊं ॥ ११ ॥

भावार्थ— अपनी आयुसे उत्कर्षका साधन कर और उससेभी दीर्घायु बन, औषधियोंका रस पीकर नीरोग पुष्ट और बलवान् बन। इसी प्रकार मैं भी पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूं ॥ १० ॥

पर्जन्यकी वृष्टिसे जैसे वृक्षादि बढकर उन्नत होते हैं, उसी प्रकार हम उन्नतिको प्राप्त करेंगे और अमरत्व भी प्राप्त करेंगे। मैं भी पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूंगा ॥ ११ ॥

पापनिवृत्तिसे नीरोगता और दीर्घायु।

इस सूक्तमें कहा है कि पापोंको दूर करनेसे आरोग्य और दीर्घ आयु प्राप्त होती है और यह अनुष्ठान किस रीतिसे करना चाहिये इसके उपाय भी यहां बताये हैं।

पाप और पुण्य।

पाप और पुण्य क्या है, इसका यहां विचार करना आवश्यक है। पाप और पुण्य ये धर्मशास्त्रकी संज्ञाएं हैं। और धर्मशास्त्र अन्यान्य शास्त्रोंका साररूप शास्त्र है। अन्यान्य शास्त्रोंसे भिन्न धर्मशास्त्र नहीं है। अन्यान्य शास्त्र एक एक विषयके संबंधमें ज्ञान देते हैं और धर्म शास्त्र संपूर्ण शास्त्रोंका निचोड लेकर मानवी उन्नतिके सिद्धांत बनाता है, इसलिये धर्मशास्त्रके विधिनिषेध सर्वसामान्य होते हैं और अन्यान्य शास्त्रोंके विधिनिषेध उक्त शास्त्रके विषयके साथ संबंध होनेके कारण विशेष होते हैं।

पाप पुण्यका विषय इसी प्रकार है। पुण्य शब्दका अर्थ है 'पवित्र बनना' और पाप शब्दका अर्थ है 'पतनका हेतु'। अन्यान्य शास्त्रोंमें जिससे हानि होती है ऐसा लिखा है वे सब बातें धर्म शास्त्रमें 'पाप' शब्दसे बतायी जाती हैं और जो बातें उन्नति कारक समझी जाती हैं उनको पुण्यकारक धर्मशास्त्रमें कहा है। यह बात अधिक स्पष्ट करनेके लिये एक दो उदाहरण लेकर इसी विषयको विशद करते हैं—

वैद्यशास्त्र।	धर्म शास्त्र।
१ मद्यपीनेसे यकृत् और पेट बिगडता है, खूनकी कमजोरी होती है इस कारण अनेक रोग होते हैं। इ०	१ मद्य पीना पाप है।
२ व्यभिचार करनेसे वीर्यनाश होनेके कारण मस्तिष्क कमजोर होता है और अनेक बीमारियां होती हैं। इ०	२ व्यभिचार पाप है।
आरोग्य शास्त्र।	
३ स्नान करके स्वच्छता करना, घरमें तथा बाहर स्वच्छता करनेसे रोग नहीं होते, और आरोग्य बढता है। इ०	३ स्नान करना पुण्यकारक है। स्वच्छता करना पुण्य है।
४ जल छाननेसे उसमेंसे रोगजंतु या अन्य रोगबीज दूर होते हैं, और इस कारण छाना हुआ जल पीना आरोग्य कारक है	४ जल छानकर पीना पुण्यकारक है।
समाज शास्त्र।	
५ सत्य बोलनेसे मनुष्यके व्यवहार उत्तम चलते हैं। इ०	५ सत्य पुण्यकारक है।
राजशासन शास्त्र।	
६ चोरी, खून आदि करनेसे राजशासनके नियमके अनुसार फलाना दण्ड होता है।	६ चोरी खून आदि करना पाप है।

इस प्रकार हरएक शास्त्रके विषयमें पाठक देखें। अन्यान्य शास्त्रोंमें प्रत्येक कृत्यके बुरे या भले परिणाम कारणके साथ बताये होते हैं, परंतु उन सबका समीकरण करके धर्म शास्त्रमें "पाप और पुण्य" इन दो शब्दोंद्वारा वही भाव कारण न देते हुए और परिणाम न बताते हुए कहा होता है। इससे धर्म शास्त्रके पाप पुण्य भी किस प्रकार शास्त्रसिद्ध हैं इसका पता पाठकोंको लग सकता है।

ये सब पाप ही रोग और अल्पायुताके कारण हैं और पुण्य कर्म करनेसे ही नीरोगता और दीर्घायु मिलती है। यह बात मुख्यतया इस सूक्तमें ध्वनित की गई है। इस सूक्तमें प्रत्येक मंत्रका उत्तरार्ध यह है--

व्यहं सर्वेण पाप्मना, वि यक्ष्मेण, समायुषा॥ (मं. १-११)

"मैं सब पापोंको दूर करता हूं, उससे रोगोंको दूर करता हूं जिससे दीर्घायुसे युक्त होता हूं।" इस मंत्रका अर्थापत्तिसे भाव यह है कि—"मैं पुण्य कर्म करनेसे नीरोग होता हुआ दीर्घजीवी बनता हूं।" अर्थात् दीर्घायु प्राप्त करनेका मूल उपाय पापोंको दूर करके पुण्य करना ही है, इससे स्वयं रोग दूर होंगे, नीरोगता प्राप्त होगी और दीर्घायु भी मिलेगी। इस सूक्तको यही संदेश पाठकोंको देना है। यह आधा मंत्र ग्यारह वार कह कर यह संदेश पाठकोंके मनपर स्थिर करनेका यत्न इस सूक्तमें किया है। पाठक भी इसी दृष्टिसे इस मंत्र भाग का महत्त्व देखें और इससे प्राप्त होनेवाला उपदेश आत्मसात् करें।

पापको दूर करना।

सबसे पहले सब पाप दूर करनेका उपदेश कहा है (अहं सर्वेण पाप्मना वि। मं. १-११)। सब पाप का अर्थ कायिक, वाचिक, मानसिक, सामाजिक और राष्ट्रीय पाप हैं। ये सब दूर करना चाहिये। अपने मनके पाप विचार दूर हटाने चाहियें, वाचाको शुद्ध और पवित्र बनाना चाहिये, शरीरसे कोई पापकर्म करना नहीं चाहिये, इंद्रियोंको पाप प्रवृत्तिसे रोकना और उनको ऐसी शिक्षा देना चाहिये कि उनकी प्रवृत्ति उस पाप की ओर कभी न होवे। इसी प्रकार कुटुंब, जाती, समाज, राष्ट्रके व्यवहारोंमें अनेक पाप होते रहते हैं। उनको भी दूर करना चाहिये। यदि कोई कहे कि जाती और राष्ट्रके पापोंको हम दूर नहीं कर सकते तो उनको उचित है कि वे अपना – निजका– तो सुधार करें। अपनी निष्पापता सिद्ध हुई तो उसका योग्य परिणाम जातीपर भी होगा और न भी हुआ, तो भी उस व्यक्तिको तो पापसे बचनेके कारण उन्नतिका भाग

अवश्यही मिलेगा, जितना पुण्यकर्म होगा उतना फल अवश्य मिलेगा। इसमें कोई संदेह नहीं है। हरएक शास्त्रके अनुसार जो पतन का हेतु है उसे दूर करके अभ्युदयके हेतुको पास करना चाहिये। ऐसा करनेसे पाप और रोग दूर होकर दीर्घजीवन प्राप्त होगा। अब पापों और रोगोंको दूर करनेका अनुष्ठान करनेकी रीति देखिये-

देवोंका उदाहरण।

देवोंका नाम " निर्जराः " है, इसका अर्थ " जरा, वृद्धावस्था और बुढापा आदि को दूर रखनेवाले " है। देवोंने इस प्रकारके अनुष्ठान करके बुढापेको दूर किया था, और वे बडी आयु होनेपर भी तरुण जैसे दीखते थे। यह आदर्श मनुष्योंको अपने सन्मुख रखना चाहिये। और जिस अनुष्ठानसे देवोंको यह सिद्धि प्राप्त हुई थी वह अनुष्ठान करके मनुष्योंको भी यह सिद्धि प्राप्त करना चाहिये। यह बताने के लिये प्रथम मंत्रमें-

देवाः जरसा वि अवृतन्। (मं० १)

" देवोंने बुढापेको दूर रखा था " यह बात कही है। अब आगे देखिये-

अग्निका आदर्श।

अग्निभी (अग्ने ! त्वं अराल्या वि। मं० १) कंजूसोंको दूर करता है। उदार मनुष्यही जो अपने धन आदि द्वारा यज्ञ करना चाहते हैं वे ही अग्निहोत्रादि करनेके लिये तथा अन्यान्य बडे यज्ञ करनेके लिये अग्निके पास इकट्ठे होते हैं और जो कंजूस होते हैं, वे अग्निसे दूर हो जाते हैं, क्योंकि वे अपना धन यज्ञमें लगाना नहीं चाहते। इसका अर्थ यही है कि अग्नि कंजूस मनुष्योंको दूर करता है और उदार मनुष्योंको इकठ्ठा करके उनका संघ बनाकर उनका अभ्युदय करके उन्नति कराता है। जिस प्रकार यह अग्नि कंजूसोंको दूर करता है, उसी प्रकार पापों और रोगोंको दूर करना मनुष्य को उचित है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य पापियों और रोगियोंको दूर अलग रखे और पुण्यात्मा और नीरोग मनुष्योंका संघ बनाकर अपना आरोग्य बढावे।

जो पापी मनुष्य होता है उसके संगतिमें जो जो मनुष्य आवेंगे वे भी पापी बनेंगे, इस लिये पापीको समाजसे बाहर निकाल देना चाहिये; इसी प्रकार जो रोगी मनुष्य होते हैं उनके संसर्गसे भी अन्य मनुष्य रोगी होनेकी संभावना होती है, इस कारण रोगियोंके लिये विशेष प्रबंध करके उनको अलग करना चाहिये जिससे उनके रोग अधिक न फैलें। इस प्रकार युक्तिसे पापियों और रोगियोंको अलग रखनेका

प्रबंध करनेसे शेष समाज निष्पाप और नीरोग रहना संभव है. और यह प्रबंध जितनी पूर्णतासे किया जाय उतना अधिक लाभ होगा।

पवित्रता का महत्त्व।

द्वितीय मंत्रमें पवित्रता और शुद्धताका महत्त्व वर्णन किया है। पवित्रतासे पाप और रोग दूर होते हैं—

(१) पवमानः आर्त्या वि। (२) शक्रः पापकृत्या वि। (मं०२)

" (१) पवित्रता करनेवाला रोगादिकोंके कष्टोंसे दूर होता है, और (२) मनो बलसे समर्थ मनुष्य पापसे दूर रहता है।"

ये दोनों अर्थपूर्ण मंत्रभाग हैं। स्वच्छता, पवित्रता और निर्मलता करनेवाले जो होते हैं उनके पास प्रायः रोग आते ही नहीं, अथवा वे अपनी शुद्धतासे रोगोंको दूर रखते हैं। शुद्धताका अर्थ यह है कि जल आदिसे शरीर निर्मल करना, सत्यसे मनकी पवित्रता करना, विद्या और तपसे अपनी अन्य शुद्धी करना, शुद्ध विचारों और प्रेमपूर्ण आचरणोंसे परिवारकी शुद्धता करना, घरकी पवित्रता लेपनादिसे करना, अग्निमें हवन करके वायुकी शुद्धता करना, छान कर जलको शुद्ध बनाना, मलस्थानोंको शुद्ध करके नगरकी स्वच्छता करना, इसी प्रकार अन्यान्य क्षेत्रोंकी शुद्धता करनेसे रोगबीज हट जाते हैं। और मनुष्य रोगसे पीडित नहीं होता है।

इसी प्रकार सत्य, परमेश्वरनिष्ठा, तप, धर्माचरण आदि द्वारा मनका बल बढानेसे जो सामर्थ्य मनुष्यके अंदर उत्पन्न होता है वह मनुष्यको पापोंसे बचाता है। ऐसा समर्थ मनुष्य पापाचरण नहीं करता और वह पवित्रात्मा बनता हुआ जनताके लिये आदर्श बनता है। यह मनुष्य न केवल स्वयं पापों और रोगोंसे दूर रहता है प्रत्युत अन्योंको भी दूर रखता है।

ग्राम नगर और राष्ट्रोंकी पंचायतों द्वारा ग्राम नगर और राष्ट्रमें उक्त प्रकार पूर्ण स्वच्छता और पवित्रता बढानेसे भी उक्त क्षेत्रोंकी जनता पापों और रोगोंसे बची रहती है। यह द्वितीय मंत्रका उपदेश प्रत्यक्ष फल देनेवाला होनेके कारण इसका अनुष्ठान सर्वत्र होना आवश्यक है।

स्थानत्यागसे बचाव।

पापी मनुष्योंका और रोगोंका स्थान छोड देना इसको स्थान त्यागसे बचाव करना कहते हैं। इसका वर्णन तृतीय और चतुर्थ मंत्रों द्वारा हुआ है, देखिये-

१ ग्राम्याः पशवः आरण्यैः वि। (मं० ३)

२ इमे द्यावापृथिवी वि इतः। (मं० ४)

"(१) ग्रामके गौ आदि पशु व्याघ्रादि आरण्यक पशुओंसे दूर रह कर बचाव करते हैं, (२) तथा द्युलोक पृथ्वीसे जैसा दूर रहता है।" ये स्थानत्याग करके बचाव करनेके उदारण हैं। व्याघ्र, सिंह, भेडिया आदि जिस स्थानमें रहते हैं उस स्थानका त्याग करके गौ आदि ग्रामीण पशु अपना बचाव करते हैं। भूलोककी अशुद्धिसे बचने के लिये और अपनी प्रकाशमयता स्थिर रखनेके लिये द्युलोक भूलोकसे बहुत दूरीपर रहा है। इस प्रकार पापी लोगोंसे दूर रहकर पापसे बचना और रोग स्थानसे दूर रह कर रोगोंसे बचना योग्य है।

स्वभावसे बचाव।

जिनकी स्वभावसे ही पापसे बचनेकी प्रवृत्ति होती है और जिनमें स्वभासे ही रोग प्रतिबंधक शक्ति होती है वे पापों और रोगोंसे बचे रहते हैं, इस विषयमें सूक्तके कथन देखिये—

१ अपः तृष्णया वि असरन्। (मं० ३)

२ पन्थानः दिशं दिशं वि। (मं० ४)

"(१) जल अपने स्वभावसे ही प्याससे दूर रहता है और (२) विविध दिशाओंसे जानेवाले मार्ग स्वभावसे एक दूसरेसे दूर रहते हैं।" जलको स्वभावसे ही प्यास नहीं लगती। इस प्रकार जो लोग स्वभावतः पापमें प्रवृत्त नहीं होते वे पापरहित होते हुए पापके फलभोगसे बचते हैं। इसी प्रकार जिनके शरीरमें रोग प्रतिबंधक शक्ति पर्याप्त रहती है वे रोगस्थानमें रहते हुए भी रोगोंसे बचे रहते हैं। यह स्वभावका नियम देखकर हरएकको उचित है कि वह अपना स्वभाव उक्त प्रकार बनावे और पापों और रोगोंसे अपना बचाव करके दीर्घायु नीरोग और बलवान् तथा सच्छील बने।

दान।

जनताको निष्पाप और नीरोग करनेके लिये धनी मनुष्य अपने धनका कुछ भाग अलग करके दान देवें जिस प्रकार—

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्ति। (मं० ५)

"पिता पुत्रीके लिये दहेजके लिये धन योजनापूर्वक देता है।" यह धन दामादके

घरमें रहता हुआ स्त्रीधनके रूपसे इष्ट कार्य करता है, इसी प्रकार धनी मनुष्य अपने धनका कुछ भाग जनताको रोगमुक्त और पापमुक्त करनेके लिये अर्पण करें और इस इकठे हुए धनसे ऐसी संस्थाएं योजना पूर्वक चलायी जावें कि जो जनता की पाप-प्रवृत्तिसे और रोगसे रक्षा करें। इस प्रयत्नसे संपूर्ण राष्ट्र प्रतिदिन अधिकाधिक निष्पाप, नीरोग, दीर्घ जीवी, संपन्न, स्वस्थ और सुखी बने।

अपनी गतिमें रहना।

लोग एक दूसरेसे स्पर्धा करते हैं और अपना दुःख बढाते हैं। यदि वे अपनी गतिसे चलते रहेंगे और दूसरेकी गतिके साथ व्यर्थ स्पर्धा न करेंगे तो भी पापसे और रोगोंसे बच सकते हैं, इस विषयमें एक उदाहरण है—

इदं विश्वं भुवनं वियाति। (मं० ५)

" ये सब पृथिवी, सूर्य, चन्द्र, आदि गोल अपनी अपनी विविध गतिसे चलते हैं।" सूर्यकी उष्णतासे चंद्र स्पर्धा करके स्वयं उष्ण बनना नहीं चाहता और चंद्रकी स्पर्धा करता हुआ सूर्य स्वयं शीत बननेका इच्छुक नहीं है। इसी प्रकार ये सब ग्रह अपनी अपनी गतिसे अपना अपना कार्य करते हैं। विविध भुवनोंकी विविधता उपदेश देती है कि विविधतासे युक्त ये सब भुवन जिस प्रकार संपूर्ण जगत्‌के अंश बनकर अविरोधसे रहे हैं। उसी प्रकार मनुष्यभी विविध गुण धर्मोंसे युक्त होते हुए संपूर्ण राष्ट्रके अवयव बनकर राष्ट्रहित और संपूर्ण जनताका हित करनेकी बुद्धिसे आपसमें अविरोधी भावसे रहें। इस प्रकार रहनेसे पूर्वोक्त प्रकारके उपायोंका अवलंबन करके अपने आपको पापों और रोगोंसे बचा सकते हैं। अन्यथा आपसमें लडते हुए रोगोंसे मरने के पूर्वही एक दूसरेके सिर तोडकर स्वयं मर जायगे। ऐसा नाश न हो, इस लिये वेद कहता है कि अपनी गतिसे चलो और परस्पर सहायक बनकर अपनी उन्नतिका साधन करो।

पेटकी पाचक शक्ति।

मनुष्यके शरीरमें रोग बीजोंका प्रवेश तब होता है जब उसकी पाचन शक्ति बिगडी होती है। इसकी सूचना देने के लिये षष्ठ मंत्रमें कहा है—

अग्निः प्राणान् संदधाति। (मं० ६)

" जाठर अग्नि-अन्नका पाचन करनेवाला उदर स्थानका अग्नि ही-प्राणोंका सम्यक्‌तया धारण करता है। " अन्य कोई साधन नहीं है जिससे प्राणोंका धारण अच्छी प्रकार हो जावे। इस लिये जो लोग दीर्घ जीवनके इच्छुक हैं वे व्यायाम तथा अन्यान्य

योग साधनादिद्वारा अपनी पाचन शक्ति अच्छी प्रदीप्त करें। ऐसा करनेसे शरीरमें जो समर्थता आवेगी वही रोगोंको दूर रखेगी और पास आने न देगी।

दूसरी बात यह है कि जाठर अग्निके बिगाडसे यकृत हृदय और मस्तिष्क का बिगाड होता है। मस्तिष्कके बिगाडसे विचारोंमें परिवर्तन होता है अर्थात् मनुष्य पाप कर्ममें प्रवृत्त होता है। यदि पाचक शक्ति ठीक रही,तो रोग आदि वैसे प्रबल नहीं होते। इस लिये पापों और रोगोंसे बचनेके लिये तथा दीर्घायुष्यकी प्राप्तिके लिये मनुष्य अपनी पाचन शक्ति उत्तम प्रदीप्त करे। इसी मंत्रमें और कहा है—

चन्द्रः प्राणेन संहितः। (मं०६)

" चन्द्र प्राणसे मिला है। " यहां " चन्द्र " शब्दके तीन अर्थ हैं, (१) वनस्पतिसे उत्पन्न हुआ अन्न, (२) वनस्पतियोंके फलादिकोंका रस, (३) और मन। प्राणसे इन तीनोंका घनिष्ट संबंध है। यहां वनस्पतिसे प्राप्त होनेवाला शाकभोजन प्राण स्थिरी करणके लिये आवश्यक बतानेसे मांसादि सेवन दीर्घजीवन के लिये अनिष्ट होनेका उपदेश स्वयं ही प्राप्त होता है। पाठक इसका अवश्य विचार करें।

सूर्य का वीर्य।

सूर्यमें बडी भारी जीवन विद्युत् है, उसको अपने अंदर संगृहित करनेसे नीरोगता और दीर्घजीवन प्राप्त हो सकता है। इस विषयमें सप्तम मंत्रका कथन यह है—

देवाः विश्वतोवीर्यं प्राणेन समैरयन। (मं० ७)

" देव सब प्रकारके वीर्योंसे युक्त सूर्यको प्राणके साथ संबंधित करते हैं। " इसी अनुष्ठानसे देव (निर्जराः) जरारहित और (अ-मराः) मरणरहित हुए हैं। इसलिये जो लोग अपने प्राणके अंदर सूर्यकी जीवन विद्युत् का धारण करेंगे, वे भी उक्त सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। सूर्य प्रकाशमें खडे होकर या बैठकर दीर्घश्वसन द्वारा सूर्यकी विद्युत् प्राणके अंदर लेनेसे अपने अंदर सूर्यका वीर्य आजाता है;इसी प्रकार नंगे शरीर सूर्यातपस्नान करनेसे भी चमडीके अंदर सौरविद्युत्का प्रवेश होजाता है। इसी प्रकार विविध योजनाओं द्वारा सौरविद्युत् से लाभ उठाया जा सकता है। पाठक इसका विचार करके लाभ उठावें।

दीर्घायु प्राप्त करनेवाले।

जो (आयुष्मन्) दीर्घ आयु वाले मनुष्य हैं, अर्थात् विना प्रयत्न जो दीर्घआयुवाले हुए हैं,तथा जो (आयुष्कृत्) प्रयत्नसे दीर्घ आयु प्राप्त करनेवाले हैं, अर्थात् योगादि

अनुष्ठान द्वारा जिन्होंने दीर्घ आयु प्राप्त की है, (प्राणतां प्राणेन) प्राणकी प्रबल शक्तिसे युक्त पुरुषोंका प्राण कैसा चलता है इस सबका विचार करके मनुष्य दीर्घ आयु प्राप्त करनेके उपाय जान सकता है। ये ऊपर कहे मनुष्य अपना दैनिक व्यवहार कैसा करते हैं, किस ढंगके व्यवहारसे इन्होंने दीर्घ आयु कमाई, इसका ज्ञान प्राप्त करके,उनके उदाहरण अपने सन्मुख रखकर, तदनुसार अपना व्यवहार करना चाहिये। (इह एव भव) इस प्रकार इस भूलोकमें दीर्घ काल तक रहना चाहिये और (मा मृथाः) शीघ्र मरना उचित नहीं। यह उपदेश मं० ८ और ९ में है।

अपने राष्ट्रमें तथा अन्य देशोंमें जहां जहां दीर्घायु, नीरोग, बलवान्, निष्पाप और सच्छील लोग होंगे, उनके जीवन चरित्र देखकर उनके जीवनसे उचित बोध प्राप्त करना चाहिये। और उससे लाभ उठाना चाहिये।

औषधिरस।

दशम मंत्रमें औषधियोंके रसका सेवन करके दीर्घायुष्य की प्राप्ति करनेका उपदेश है–

ओषधीनां रसेन आयुषा सं उत्। (मं० १०)

"औषधियोंके रससे हम दीर्घायुष्यसे संयुक्त होंगे।" इसमें दीर्घायुष्य प्राप्तिका संबंध औषधियोंके रस प्राशन करनेके साथ बताया है। इसी सूक्तमें छठे मंत्रके विधानके साथ इसकी तुलना कीजिये।

अंतिम मंत्रमें कहा है, कि जिस प्रकार "वृष्टि होनेसे वृक्षवनस्पति आदिक उगते हैं और उन्नतिको प्राप्त करते हैं उसी प्रकार हम पूर्वोक्त साधनसे (वयं अमृताः उदस्थाम) हम अमर होकर सब प्रकारकी उन्नति प्राप्त करेंगे।" (मं० ११)

यह सत्य है कि जो इस सूक्तमें लिखा अनुष्ठान करेंगे वे इस प्रकारकी सिद्धि प्राप्त करेंगे। इसमें कोई संदेह ही नहीं है। वेदमें क्रमपूर्वक अनुष्ठान कहा है ऐसे जो अनेक सूक्त हैं उनमेंसे यह एक है। इसके मननसे वेदकी उपदेश करनेकी शैलीका भी ज्ञान हो सकता है। पाठक इसका मनन करें और अनुष्ठान करके लाभ उठावें।

षष्ठ अनुवाक समाप्त।

तृतीय काण्ड समाप्त।

अथर्ववेद का स्वाध्याय।

तृतीय काण्ड की विषयसूची।

सूक्त	विषय	पृष्ठ
	अपने राष्ट्रका विजय	२
	तृतीय काण्ड-प्रस्तावना।	३
	ऋषि देवता छंद (कोष्टक)	५
	सूक्तोंके गण	९
१	शत्रुसेनाका संमोहन	११
२	” ”	१३
	सेनाका संमोहन	१५
	इन्द्र	१६
	मघवन्	१७
	वृत्रहन्	”
	मरुतः	”
	वसवः	१८
	अग्निः	१९
	शत्रुको घबरानेकी रीति	”
३	राजाकी स्वराज्य पर पुनः स्थापना	२२
४	राजाका चुनाव	२४
	आत्मरक्षा	२७
	सोत्रामणी याग	२८
	विरोधी मनुष्य	३१
	राजाका चुनाव	३२
	प्रजाका पालन	३३
	धनोंका विभाग	३४
	शुभसंकल्प	३५
	राजाका रहना सहना	३६
	दूतका संचार	३७
	वरुण	३८
५	राजा और राजाके बनानेवाले	३९
	पर्ण मणि	४१
	राष्ट्रका निज बनाना	४२
	राजाको निर्माण करनेवाले	४३
६	वीर पुरुष	४४
	अश्वत्थकी अन्योक्ति	४६
	आनुवंशिक संस्कार	४७
	शत्रुका लक्षण	”
	गिरावट का मार्ग	”
	विजय की तैयारी	४८
७	आनुवंशिक रोगोंको दूर करना	४९
	मातापितासे संतानमें आये क्षेत्रिय रोग	४९
	हरिणके सींगसे चिकित्सा	”
	हृदय रोग	”
	औषधि चिकित्सा	”
	भगवती और तारका	५२
	द्युलोक और भूलोक में समान औषधियां	”
	जलचिकित्सा	”
८	राष्ट्रीय एकता	५२
	अधिक उच्चता	५५
	उन्नतिका मार्ग	५७
	सुधारका प्रारंभ	५८
	संवेश्य राष्ट्र	५९
	राष्ट्रीय अग्नि	६०
	राष्ट्रका पोषक	६१
	शूर पुत्रोंवाली माता	”
	राष्ट्रीय शिक्षा	६२
	दैवी सहायता	”

आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक	६२
९ क्लेश-प्रतिबन्धक उपाय	६३
सबके मातापिता, विश्वबन्धुत्व	६५
पराक्रम	६६
परिश्रमसे सिद्धि, असुर माया	६७
सैंकडों विघ्न	६८
१० कालका यज्ञ	७०
कामधेनु	७४
यम	७५
अंधकारमयी रात्री	७६
संवत्सरकी प्रतिमा, हवन	७७
कालका यज्ञ, यज्ञका कार्य	७९
शत्रुनाशक इन्द्र	८०
११ हवनसे दीर्घ आयुष्य !	८१
हवनसे दीर्घायुष्यकी प्राप्ति	८४
औषधियों के यज्ञ	,,
हवनसे रोग दूर करना	,,
हवनका परिणाम	८५
शतायु करनेवाला हवन	,,
मरणका पाश, सत्यसे सुरक्षितता	८६
सत्यपालनसे दीर्घायुष्यकी प्राप्ति	८७
१२ गृहनिर्माण	८८
घरकी बनावट	९१
र बनाने योग्य स्थान	,,
घर कैसा बनाया जावे ?	,,
संमान का स्थान	९२
प्रसन्नताका स्थान	९३
वीरतासे युक्त घन	९४
अतिथिसत्कार	९५
देवोंद्वारा निर्मित घर	९६
देवोंकी सहायता	,,
१३ जल	९७
जलके प्रवाह	९९
१४ गोशाला	१०१
गोसंवर्धन	१०३
१५ वाणिज्यसे धनकी प्राप्ति	१०४
वाणिज्य व्यवहार, पुराना बनिया	१०७
व्यापारका स्वरूप	१०८
व्यापारविरोधी	१०९
दो मार्ग	१११
ज्ञानयुक्त कर्म	११२
परमेश्वर भक्ति	,,
१६ प्रातःकाल में भगवान् की प्रार्थना	११३
प्रातःकालमें भगवान्‌की प्रार्थना	११५
सबका उपास्य देव	११६
अदीनताका रक्षक	११७
उपासनाकी रीति	,,
धारणा	११८
उपासना—धारणा	११९
सत्यका मार्ग	१२१
देवोंकी सुमति	१२१
अहिंसा का मार्ग	,,
गौवें और घोडे	१२३
भ्रमण	,,
१७ कृषिसे सुख प्राप्ति	१२४
कृषिसे भाग्यकी वृद्धि	१२७
धान्य बोनेके पूर्व हवन	,,
खादके लिये गौ और शहद !!	,,
इतिहासिक उदाहरण	१२८
गौरक्षा का समय	,,
१८ वनस्पति	१२९
सापत्न भावका भयंकर परिणाम	१३०
१९ ज्ञान शौर्यकी तेजस्विता	१३१
राष्ट्रीय उन्नतिमें पुरोहितका कर्तव्य	१३४
ब्राह्म तेजकी ज्योति	,,
पुरोहितकी प्रतिज्ञा, युद्धकी नीति	१३६

२० तेजस्विताकेसाथ अभ्युदय १३८
अग्निका आदर्श १४१
उत्पत्तिस्थानका स्मरण ,,
सम्भूय समुत्थान १४३
२१ कामाग्नि का शमन १४५
कामाग्नि का स्वरूप १४८
काम और इच्छा १५०
कामकी दाहकता १५१
न दबनेवाला १५२
इन्द्रका रथ १५३
काम शान्तिका उपाय १५४
२२ वर्चःप्राप्ति सूक्त १५८
शाक भोजनसे बल बढाना १६०
बल प्राप्तिकी रीति ,,
२३ वीर पुत्रकी उत्पत्ति १६१
वीर पुत्रका प्रसव १६३
२४ समृद्धि की प्राप्ति १६४
समृद्धिकी प्राप्तिके उपाय १६६
मुख्य दो साधन १६८
२५ कामका बाण १६९
विरुद्ध परिणामी अलंकार १७१
कामका बाण १७२
पतिपत्नीका एक मत १७३
धर्मपत्नीके गुण १७५
गृहस्थ धर्म १७६
२६ उन्नतिकी दिशा। १७७
२७ अभ्युदयकी दिशा १७९
दिशाओंके वर्णनसे तत्वज्ञान १८५
उन्नतिके छः केन्द्र ,,
दिशाकोष्टक १८५-१९१
व्यक्तिका और समाजकाजबडा १९५
दिशाओंका तत्त्वज्ञान २०१
पूर्व दिशाकी विभूति २०२
पश्चिम दिशाकी विभूति २०४
उत्तर दिशाकी विभूति २०७
२८ पशुओंकी स्वास्थ्य रक्षा २०९
पशुओंका स्वास्थ्य २११
पशुरोगकी उत्पत्ति ,,
रोगी पशु २१२
२९ संरक्षक कर २१४
राज्यशासन चलानेकेलिये कर २१७
प्राप्तिका सोलहवां भाग ,,
प्राप्तिके दो साधन २१८
राज कैसा हो, कर का उपयोग २१९
स्वर्गसदृश राज्य २२२
कामना का प्रभाव २२३
कामकी मर्यादा २२४
३० एकता २२६
संज्ञानसे एकता, अंदरका सुधार २२९
बाहरका सुधार २३०
संघमें कर्म २३१
खानपानका प्रश्न २३२
सेवाभावसे उन्नति २३३
कर्मसे मनुष्यत्वका विकास ,,
३१ पापकी निवृत्ति २३४
पापनिवृत्तिसे नीरोगता २३७
पाप और पुण्य २
पापको दूर करना २८
अग्निका आदर्श ,,
पवित्रताका महत्व २४१
स्थान त्यागसे बचाव २४२
स्वभावसे बचाव ,,
दान, अपनीगतिसे रहना २४३
पेटकी पाचन शक्ति, सूर्यका वीर्य २४४
दीर्घायु प्राप्त करनेवाले, औषधिरस २४५

वैदिक धर्म ।

[मासिक पत्र]
संपादक— पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ.से ५) रु. वी. पी. से ५।।) रु. विदेशके लिये ६।।) रु.

वर्ष २३] विषयानुक्रमणिका [अङ्क ३

१ व्रतोंका पालनकर्ता।		१०९
२ इस समयकी कठिनता।		११०
३ वेदका रहस्य। (२)	योगी अरविंद घोष	१११
४ ब्रह्माका नारायणकी नगरीमें प्रवेश।	पं० हरिश्चंद्रजी	११६
५ भारतका क्षयरोग।	पं० नरदेवजी	११९
६ वे कारावासके दिन। (२)	,, ,,	१२२
७ सदाचार। (२)	ब्र० गोपालचैतन्य देव	१२५
८ मंत्रभागे समग्रा वेदगीता।	प० जगन्नाथ शास्त्री	१३३
९ भक्तके भगवान्। (२)	श्री. रलियाराम कश्यप	१४२
१० आदर्श राष्ट्र।	प० रामचंद्रजी	१४९
११ रामायणके वीरोंके नाम। (२)	श्री. आचवल	१५४

वैदिकधर्म

क्रमाङ्क २७०

वर्ष २३ : : : : अङ्क ६

ज्येष्ठ संवत् १९९९

जून १९४२

गौओं के साथ धन।

सं गोमदिन्द्र वाजवदस्मे पृथु श्रवो बृहत्।
विश्वायुर्धेह्यक्षितम् ॥

(ऋ० १।९।७)

"हे इन्द्र! (गोमत्) गौओंसे युक्त, (वाजवत्) अन्नों से युक्त, (विश्व-आयु.) पूर्ण आयु देनेवाला, (अ-क्षितं) जिससे क्षीणता नहीं होती, ऐसा (पृथु बृहत् श्रवः) विस्तृत पर्याप्त धन (अस्मे) हमें (धेहि) दे।"

जिस धन के साथ गौवें, अन्न, दीर्घायु आदि प्राप्त हो कर क्षीणता नहीं होती, वैसा धन हमें प्राप्त हो।